प्रथमावृत्ति प्रति १०००
वीर संवत् २४७६

मूल्य सात रुपया

मुद्रक
जमनादास माणेकचन्द रवाणी
अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया (जि० अमरेली)

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

प्रस्तावना

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमोगणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ॥

भरतक्षेत्र की पुण्यभूमि में आज से २४७५ वर्ष पूर्व जगतपूज्य परम-भट्टारक भगवान श्री महावीर स्वामी मोक्षमार्ग का प्रकाश करने के लिये अपनी सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा समस्त पदार्थों का स्वरूप प्रकट कर रहे थे। उनके निर्वाण के उपरांत कालदोष से क्रमशः अपार ज्ञानसिंधु का अधिकांश भाग तो विच्छेद होगया, और अल्प तथापि बीजभूत ज्ञान का प्रवाह आचार्यों की परंपरा द्वारा उत्तरोत्तर प्रवाहित होता रहा, जिसमें से आकाशस्तम्भ की भाँति कितने ही आचार्यों ने शास्त्र गूँथे। उन्हीं आचार्यों में से एक भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव थे, जिन्होंने सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी से प्रवर्तित ज्ञान को गुरु-परंपरा से प्राप्त करके, उसमें से पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि शास्त्रों की रचना की और संसार-नाशक श्रुतज्ञान को चिरजीवी बनाया।

सर्वोत्कृष्ट आगम श्री समयसार के कर्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव विक्रम संवत् के प्रारम्भ में होगये हैं, दिगम्बर जैन परम्परा में उनका स्थान सर्वोत्कृष्ट है। सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी और गणधर भगवान श्री गौतमस्वामी के पश्चात् भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव का ही स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधु अपने को कुन्दकुन्दाचार्य की परंपरा का कहने में गौरव मानते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव के

शास्त्र साक्षात् गणधरदेव के वचनों के बराबर ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। उनके पश्चात् होने वाले ग्रन्थकार आचार्य अपने कथन को सिद्ध करने के लिये कुन्दकुन्दाचार्य देव के शास्त्रों का प्रमाण देते हैं, इसलिये यह कथन निर्विवाद सिद्ध होता है। वास्तव में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव ने अपने परमागमों में तीर्थंकर देवों के द्वारा प्ररूपित उत्तमोत्तम सिद्धान्तों को सुरक्षित रखा है, और मोक्षमार्ग को स्थापित किया है। विक्रम संवत् ९९० में विद्यमान श्री देवसेनाचार्य, अपने दर्शनसार नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि—"विदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर श्री सीमन्धर स्वामी के समवसरण में जाकर श्री पद्मनन्दिनाथ ने (कुन्दकुन्दाचार्य देव ने) स्वतः प्राप्त किये हुए ज्ञान के द्वारा बोध न दिया होता तो मुनिजन यथार्थ मार्ग को कैसे जानते?" एक दूसरा उल्लेख देखिये, जिसमें कुन्दकुन्दाचार्य देव को कलिकालसर्वज्ञ कहा गया है। 'पद्मनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य-इन पाँच नामों से विभूषित, चार अंगुल ऊपर आकाश में गमन करने की जिनके ऋद्धि थी, जिन्होंने पूर्व विदेह में जाकर सीमंधर भगवान की वन्दना की थी और उनके पास से मिले हुए श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होंने भारतवर्ष के भव्य जीवों को प्रतिबोध दिया है—ऐसे श्री जिनचंद्रसूरि भट्टारक के उत्तराधिकारी रूप कलिकालसर्वज्ञ (भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव) के रचे हुए इस षट्प्राभृत ग्रन्थ में......सूरीश्वर श्री श्रुतसागर की रची हुई मोक्षप्राभृत की टीका समाप्त हुई।' इस प्रकार षट्प्राभृत की श्री श्रुतसागरसूरि कृत टीका के अंत में लिखा है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव की महत्ता को दर्शाने वाले ऐसे अनेकानेक उल्लेख जैन साहित्य में मिलते हैं, अनेक शिलालेख भी इसका प्रमाण देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि सनातन जैन संप्रदाय में कलिकालसर्वज्ञ भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव का अपूर्व स्थान है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के रचे हुए अनेक शास्त्र हैं, जिनमें से कुछ इस समय भी विद्यमान हैं। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव के मुख से प्रवाहित

श्रुतामृत की सरिता में से भरे हुए वे अमृतभाजन वर्तमान में भी अनेक आत्मार्थियों को आत्मजीवन देते हैं। उनके समस्त शास्त्रों में श्री समयसार महा अलौकिक शास्त्र है। जगत के जीवों पर परम करुणा करके आचार्य भगवान ने इस शास्त्र की रचना की है, इसमें मोक्षमार्ग का यथार्थ स्वरूप जैसा है वैसा ही कहा गया है। अनन्तकाल से परिभ्रमण करने वाले जीवों को जो कुछ समझना शेष रह गया है वह इस परमागम में समझाया है। परम कृपालु आचार्य भगवान, श्री समयसार शास्त्र के प्रारम्भ में कहते हैं:—'काम-भोग-बंध की कथा सभी ने सुनी है, परिचय एवं अनुभवन किया है, किन्तु मात्र पर से भिन्न एकत्व की प्राप्ति ही दुर्लभ है। उस एकत्व की-पर से भिन्न आत्मा की बात इस शास्त्र में मैं निजविभव से (आगम, युक्ति, परम्परा और अनुभव से) कहूँगा।' इस प्रतिज्ञा के अनुसार समयसार में आचार्यदेव ने आत्मा का एकत्व, परद्रव्य से और परभावों से भिन्नत्व को समझाया है। आत्मस्वरूप की यथार्थ प्रतीति कराना ही समयसार का मुख्य उद्देश्य है। उस उद्देश को पूर्ण करने के लिए आचार्य भगवान ने उसमें अनेक विषयों का निरूपण किया है। आत्मा का शुद्धस्वभाव, जीव और पुद्गल की निमित्त नैमित्तिकता होने पर भी दोनों का बिल्कुल स्वतंत्र परिणमन, नवतत्वों का भूतार्थ स्वरूप, ज्ञानी के राग-द्वेष का अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व, अज्ञानी के राग-द्वेष का कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सांख्यदर्शन की ऐकान्तिकता, गुणस्थान-आरोहण में भाव की और द्रव्य की निमित्त-नैमित्तिकता, विकाररूप परिणमित होने में अज्ञानियों का अपना ही दोष, मिथ्यात्व आदि की जड़ता और चेतनता, पुण्य-पाप दोनों की बंधस्वरूपता, मोक्षमार्ग में चरणानुयोग का स्थान आदि अनेक विषयों का प्ररूपण श्री समयसारजी में किया है। इन सबका हेतु जीवों को यथार्थ मोक्ष-मार्ग बतलाना है। श्री समयसारजी की महत्ता को देखकर उल्लसित होकर श्री जयसेन आचार्य कहते हैं कि 'जयवंत हों वे पद्मनन्दि आचार्य अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य, जिन्होंने महान तत्वों से परिपूर्ण प्राभृतरूपी पर्वत

को बुद्धिरूपी मस्तक पर उठाकर भव्य जीवों को समर्पित किया है। वास्तव में इस काल में श्री समयसार शास्त्र मुमुक्षु भव्य जीवों का परम आधार है। ऐसे दुषमकाल में भी ऐसा अद्भुत, अनन्य शरणभूत शास्त्र, तीर्थंकरदेव के मुखारविंद से प्रगट हुआ अमृत विद्यमान है, यह अपना महान् सद्भाग्य है। निश्चय व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की ऐसी संकलनबद्ध प्ररूपणा अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं है। यदि पूज्य श्री कानजी स्वामी के शब्दों में कहा जाये तो 'यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है; लाखों शास्त्रों का सार इसमें विद्यमान है; जैनशासन का यह स्तम्भ है, साधकों के लिये कामधेनु कल्पवृक्ष है, चौदह पूर्व का रहस्य इसमें भरा हुआ है। इसकी प्रत्येक गाथा छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्म-अनुभव से प्रगट हुई है।

श्री समयसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव की प्राकृत गाथाओं पर आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका के लेखक (लगभग विक्रम संवत् की १०वीं शताब्दी में होगये) श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्य देव हैं। जिसप्रकार श्री समयसार के मूल-कर्ता अलौकिक पुरुष हैं, वैसे ही इसके टीकाकार भी महासमर्थ आचार्य हैं। आत्मख्याति के समान टीका आजतक किसी भी जैनग्रन्थ की नहीं लिखी गई। उन्होंने पंचास्तिकाय और प्रवचनसार की टीका भी लिखी है एवं तत्त्वसार, पुरुषार्थसिद्धयुपाय आदि स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे हैं। उनकी एकमात्र आत्मख्याति टीका का स्वाध्याय करनेवाले को ही उनकी आध्यात्मरसिकता, आत्मानुभव, प्रखर विद्वत्ता, वस्तुस्वरूप को न्याय से सिद्ध करने की उनकी असाधारण शक्ति का भलीभाँति अनुभव होजाता है। संक्षेप में ही गंभीर-गूढ़ रहस्यों को भर देने वाली उनकी अनोखी शक्ति विद्वानों को आश्चर्यचकित कर देती है। उनकी यह दैवी टीका श्रुतकेवली के वचनों के समान है। जैसे मूल शास्त्र-कर्ता ने समयसारजी शास्त्र को समस्त निज-वैभव से रचा है, वैसे ही टीकाकार ने भी अत्यन्त सावधानीपूर्वक सम्पूर्ण निज-वैभव से

टीका की रचना की है; टीका के पढ़ने वाले को सहज ही ऐसा अनुभव हुए बिना नहीं रहता। शासनमान्य भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने इस कलिकाल में जगद्गुरु तीर्थंकरदेव जैसा काम किया है और श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने मानों जैसे वे भगवान कुन्दकुन्द के हृदय में ही प्रवेश कर गये हों, इसप्रकार उसके गम्भीर आशय को यथार्थरूप से व्यक्त करके उनके गणधर जैसा काम किया है। आत्मख्याति में विद्यमान काव्य (कलश) अध्यात्मरस और आत्मानुभव की तरंगों से परिपूर्ण हैं। श्री पद्मप्रभदेव जैसे समर्थ आचार्यों पर इन कलशों ने गहरा प्रभाव जमाया है और आज भी वे तत्वज्ञान एवं अध्यात्मरस से परिपूर्ण कलश अध्यात्मरसिकों की हृदतंत्री को झंकृत कर देते हैं। अध्यात्मकवि के रूप में श्री अमृतचन्द्राचार्य देव का स्थान जैन साहित्य में अद्वितीय है।

श्री समयसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव ने ४१५ गाथाओं की रचना प्राकृत में की है। उसपर श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने आत्मख्याति नामक तथा श्री जयसेनाचार्य देव ने तात्पर्यवृत्ति नाम की संस्कृत टीकाएँ लिखी हैं। उन आचार्य भगवंतों द्वारा किये गये अनन्त उपकार के स्मरण में उन्हें अत्यंत भक्तिभाव से वंदन करते हैं।

कुछ वर्ष पहले पंडित जयचंद्रजी ने मूल गाथाओं का और आत्मख्याति का, हिन्दी में अनुवाद किया और स्वतः भी उसमें कुछ भावार्थ लिखा। वह शास्त्र 'समयप्राभृत' के नाम से विक्रम संवत् १९६४ में प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् पंडित मनोहरलालजी ने उसको प्रचलित हिंदीभाषा में परिवर्तित किया और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा 'समयसार' के नाम से विक्रम संवत् १९७५ में प्रकाशित किया गया। इसप्रकार पण्डित जयचन्द्रजी, पंडित मनोहरलालजी का और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल का मुमुक्षु समाज पर उपकार है।

श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा प्रकाशित, हिन्दी समयसार का अध्यात्मयोगी श्री कानजी स्वामी पर परम उपकार हुआ। वि. सं.

१९७८ में उन महात्मा के करकमलों में यह परमपावन चिंतामणि आते ही उन कुशल जौहरी ने इसे परख लिया। सर्वरीति से स्पष्ट देखने पर उनके हृदय में परम उल्लास जागृत हुआ, आत्मभगवान ने विस्मृत हुई अनन्त गुणगम्भीर निजशक्ति को संभाला और अनादिकाल से पर के प्रति उत्साहपूर्वक दौड़ती हुई वृत्ति शिथिल होगई; तथा पर-सम्बन्ध से छूटकर स्वरूप में लीन होगई। इसप्रकार ग्रन्थाधिराज समयसार की असीम कृपा से बाल-ब्रह्मचारी श्री कानजी स्वामी ने चैतन्य-मूर्ति भगवान समयसार के दर्शन किये।

जैसे-जैसे वे समयसार में गहराई तक उतरते गये वैसे ही वैसे उन्होंने देखा कि केवलज्ञानी पिता से उत्तराधिकार में आई हुई अद्भुत निधियों को उनके सुपुत्र भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने रुचिपूर्वक संग्रह करके रखा है। कई वर्ष तक श्री समयसारजी का गंभीरतापूर्वक गहरा मनन करने के पश्चात् "किसी भी प्रकार जगत के जीव सर्वज्ञ पिता की इस अमूल्य सम्पत्ति को समझलें तथा अनादिकालीन दीनता का नाश करदें!" ऐसी करुणाबुद्धि करके उन्होंने समयसारजी पर अपूर्व प्रवचनों का प्रारम्भ किया और यथाशक्ति आत्मलाभ लिया। आजतक पूज्य श्री कानजी स्वामी ने सात बार श्री समयसारजी पर प्रवचन पूर्ण किये हैं और इस समय भी सोनगढ़ में आठवीं बार वह अमृतवर्षा होरही है। संवत् १९९९–२००० की साल में जिस समय उनकी राजकोट में ९ महीने की स्थिति थी, उस समय श्री समयसार के कितने ही अधिकारों पर उनके (छठवीं बार) प्रवचन हुए थे। उस समय श्री जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट को ऐसा लगा कि 'यह अमूल्य मुक्ताफल बिखरे जाते हैं, यदि इन्हें झेल लिया जाये तो यह अनेक मुमुक्षुओं की दरिद्रता दूर करके उन्हें स्वरूपलक्ष्मी की प्राप्ति करादें।' ऐसा विचार करके ट्रस्ट ने उन प्रवचनों को पुस्तकाकार प्रकाशित कराने के हेतु से उनको नोट कर लेने (लिख लेने) का प्रबन्ध किया था। उन्हीं लेखों से श्री समयसार प्रवचन गुजराती भाषा में पाँच भागों में पुस्तकाकार प्रकाशित

होचुके हैं और उन्हीं का हिन्दी अनुवाद कराके श्री समयसार-प्रवचन दूसरा भाग (हिन्दी) को हमें मुमुक्षुओं के हाथ में देते हुए हर्ष होरहा है। इस अनुवाद में कोई न्यायविरुद्ध भाव न आजाये इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखा गया है।

जैसे श्री समयसार शास्त्र के मूल-कर्ता और टीकाकार अत्यंत आत्म-स्थित आचार्य भगवान थे वैसे ही उसके प्रवचनकार भी स्वरूपानुभवी, वीतराग के परम भक्त, अनेक शास्त्रों के पारगामी एवं आश्चर्यकारी प्रभावना उदय के धारी युगप्रधान महापुरुष हैं। उनका यह समयसार-प्रवचन पढ़ते ही पाठकों को उसके आत्म-अनुभव, गाढ़ अध्यात्म प्रेम, स्वरूपोन्मुख परिणति, वीतराग भक्ति के रंग में रंगा हुआ उनका चित्त, अगाध श्रुतज्ञान और परम कल्याणकारी वचनयोग का अनुभव हुए बिना नहीं रहता। उनका संक्षिप्त जीवन—परिचय अन्यत्र दिया गया है, इसलिये उनके गुणों के विषय में यहाँ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। उनके अत्यंत आश्चर्यजनक प्रभावना का उदय होने के कारण, गत चौदह वर्षों में समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, षट्खण्डागम, पद्मनन्दिपंचविंशतिका, तत्वार्थसार, इष्टोपदेश, पंचाध्यायी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अनुभवप्रकाश, आत्मसिद्धि शास्त्र, आत्मानुशासन इत्यादि शास्त्रों पर आगमरहस्य-प्रकाशक, स्वानुभव मुद्रित अपूर्व प्रवचन करके काठियावाड़ में आत्मविद्या का अतिप्रबल आन्दोलन किया है। मात्र काठियावाड़ में ही नहीं, किन्तु धीरे-धीरे उनका पवित्र उपदेश पुस्तकों और 'आत्मधर्म' नामक मासिकपत्र के द्वारा प्रकाशित होने के कारण समस्त भारतवर्ष में अध्यात्म-विद्या का आन्दोलन वेगपूर्वक विस्तृत होरहा है। इसप्रकार, स्वभाव से सुगम तथापि गुरुगम की लुप्तप्रायता के कारण और अनादिअज्ञान को लेकर अतिशय दुर्गम होगये जिनागम के गंभीर आशय को यथार्थरूप से स्पष्ट करके उन्होंने वीतराग-विज्ञान की बुझती हुई ज्योति को प्रज्वलित किया है। परम पवित्र जिनागम तो अपार निधानों से परिपूर्ण है, किन्तु उन्हें देखने की दृष्टि स्वामीजी के समागम और उनके करुणापूर्वक दिये हुए

प्रवचन-अंजन के बिना हम अल्पबुद्धिओं को वह कैसे प्राप्त होती? पंचमकाल में चतुर्थकाल की झलक दिखाने वाले शासनप्रभावक श्री कानजी स्वामी ने आगम के रहस्यों को खोलकर हमारे जैसे हजारों जीवों पर जो अपार करुणा की है उसका वर्णन वाणी द्वारा नहीं होसकता।

जिसप्रकार स्वामीजी का प्रत्यक्ष समागम अनेक जीवों का अपार उपकार कर रहा है, उसीप्रकार उनके यह पवित्र प्रवचन भी वर्तमान और भविष्यकाल के हजारों जीवों को यथार्थ मोक्षमार्ग बतलाने के लिये उपकारी सिद्ध होंगे। इस दुषमकाल में जीव प्रायः बंधमार्ग को ही मोक्षमार्ग मानकर प्रवर्तन कर रहे हैं। जिस स्वावलम्बी पुरुषार्थ के बिना—निश्चयनय के आश्रय के बिना मोक्षमार्ग का प्रारंभ भी नहीं होता उस पुरुषार्थ की जीवों को गंध भी नहीं आई है, किन्तु मात्र परावलंबी भावों को व्यवहाराभास के आश्रय को ही मोक्षमार्ग मानकर उसका सेवन कर रहे हैं। स्वावलंबी पुरुषार्थ का उपदेश देने वाले ज्ञानी पुरुषों की दुर्लभता है एवं समयसार परमागम का अभ्यास भी अति अल्प है, कदाचित् कोई-कोई जीव उसका अभ्यास करते भी हैं किन्तु गुरुगम के बिना उनके मात्र अक्षरज्ञान ही होता है। श्री समयसार के पुरुषार्थमूलक गहन सत्य मिथ्यात्वमूढ़ हीनवीर्य जीवों को अनादि अपरिचित होने के कारण, ज्ञानी पुरुषों के प्रत्यक्ष समागम के बिना अथवा उनके द्वारा किये गये विस्तृत विवेचनों के बिना समझना अत्यंत कठिन है। श्री समयसारजी की प्राथमिक भूमिका की बातों को ही सत्वहीन जीव उच्चभूमिका की कल्पित कर लेते हैं, चतुर्थ गुणस्थान के भावों को तेरहवें गुणस्थान का मान लेते हैं, तथा निरावलम्बी (स्वावलम्बी) पुरुषार्थ तो कथनमात्र की ही वस्तु है, इसप्रकार उसकी उपेक्षा करके सालम्बी (परालम्बी) भावों के प्रति जो आग्रह है उसे नहीं छोड़ते। ऐसी करुणाजनक परिस्थिति में जबकि सम्यक्-उपदेष्टाओं की अधिकांश न्यूनता के कारण मोक्षमार्ग का प्रायः लोप होगया है तब युग-

प्रधान सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने श्री समयसारजी के विस्तृत विवेचनात्मक प्रवचनों के द्वारा जिनागमों का मर्म खोलकर मोक्षमार्ग को अनावृत करके वीतराग दर्शन का पुनुरुद्धार किया है, मोक्ष के महामंत्र समान समयसारजी की प्रत्येक गाथा को पूर्णतया शोधकर इन संक्षिप्त सूत्रों के विराट अर्थ को प्रवचनरूप से प्रगट किया है। सभी ने जिनका अनुभव किया हो ऐसे घरेलू प्रसंगों के अनेक उदाहरणों द्वारा, अतिशय प्रभावक तथापि सुगम, ऐसे अनेक न्यायों द्वारा और अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा कुन्दकुन्द भगवान के परमभक्त श्री कानजी स्वामी ने समयसारजी के अत्यंत अर्थ-गंभीर सूक्ष्म सिद्धांतों को अतिशय स्पष्ट और सरल बनाया है। जीव के कैसे भाव रहें तब जीव-पुद्गल का स्वतंत्र परिणमन, तथा कैसे भाव रहें तब नवतत्वों का भूतार्थ स्वरूप समझ में आया कहलाता है। कैसे-कैसे भाव रहें तब निरावलम्बी पुरुषार्थ का आदर, सम्यग्दर्शन, चारित्र, तप, वीर्यादिक की प्राप्ति हुई कहलाती है— आदि विषयों का मनुष्य के जीवन में आने वाले सैकड़ों प्रसंगों के प्रमाण देकर ऐसा स्पष्टीकरण किया है कि मुमुक्षुओं को उन-उन विषयों का स्पष्ट सूक्ष्म ज्ञान होकर अपूर्व-गंभीर अर्थ दृष्टिगोचर हों और वे बंधमार्ग में मोक्षमार्ग की कल्पना को छोड़कर यथार्थ मोक्षमार्ग को समझकर सम्यक्-पुरुषार्थ में लीन होजायें। इसप्रकार श्री समयसार जी के मोक्षदायक भावों को अतिशय मधुर, नित्य-नवीन, वैविध्यपूर्ण शैली द्वारा प्रभावक भाषा में अत्यंत-स्पष्टरूप से समझाकर जगत का अपार उपकार किया है। समयसार में भरे हुए अनमोल तत्व-रत्नों का मूल्य ज्ञानियों के हृदय में छुप रहा था वह उन्होंने जगत को बतलाया है।

किसी परम मंगलयोग में, दिव्यध्वनि के नवनीतस्वरूप श्री समयसार परमागम की रचना हुई। इस रचना के पश्चात् एक हजार वर्ष में जगत के महाभाग्योदय से श्री समयसारजी के गहन तत्वों को विकसित करने वाली भगवती आत्मख्याति की रचना हुई और उसके उपरान्त एक हजार वर्ष पश्चात् जगत में पुनः महापुण्योदय से मंदबुद्धिओं को भी समयसार

के मोक्षदायक तत्त्व ग्रहण कराने वाले परम कल्याणकारी समयसार-प्रवचन हुए। जीवों की बुद्धि क्रमशः मन्द होती जारही है तथापि पंचमकाल के अन्ततक स्वानुभूति का मार्ग अविच्छिन्न रहना है, इसीलिए स्वानुभूति के उत्कृष्ट निमित्तभूत श्री समयसार जी के गम्भीर आशय विशेष-विशेष स्पष्ट होने के लिये परमपवित्र योग बनते रहते हैं। अन्तर्बाह्य परमपवित्र योगों में प्रगट हुए, जगत के तीन महादीपक श्री समयसार, श्री आत्मख्याति और श्री समयसार-प्रवचन सदा जयवंत रहें! और स्वानुभूति के पथ को प्रकाशित करें!

यह परम पुनीत प्रवचन स्वानुभूति के पंथ को अत्यंत स्पष्टरूप से प्रकाशित करते हैं, इतना ही नहीं किन्तु साथ ही मुमुक्षु जीवों के हृदय में स्वानुभव की रुचि और पुरुषार्थ जाग्रत करके अंशतः सत्पुरुष के प्रत्यक्ष उपदेश जैसा ही चमत्कारिक कार्य करते हैं। प्रवचनों की वाणी इतनी सहज, भावार्द्र, सजीव है कि चैतन्यमूर्ति पूज्य श्री कानजी स्वामी के चैतन्यभाव ही मूर्तिमान होकर वाणी-प्रवाहरूप बह रहे हों! ऐसी अत्यंत भाववाहिनी अंतर-वेदन को प्रकट से व्यक्त करती, शुद्धात्मा के प्रति अपार प्रेम से उभराती, हृदयस्पर्शी वाणी सुपात्र पाठक के हृदय को हर्षित कर देती है, और उसकी विपरीत रुचि को क्षीण करके शुद्धात्मरुचि जागृत करती है। प्रवचनों के प्रत्येक पृष्ठ में शुद्धात्ममहिमा का अत्यंत भक्तिमय वातावरण गुँजित होरहा है, और प्रत्येक शब्द में से मधुर अनुभव-रस झर रहा है। इस शुद्धात्मभक्तिरस से और अनुभवरस से मुमुक्षु का हृदय भीग जाता है और वह शुद्धात्मा की लय में मग्न होजाता है; शुद्धात्मा के अतिरिक्त समस्त भाव उसे तुच्छ भासित होते हैं और पुरुषार्थ उभरने लगता है। ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकाकार वाणी में क्वचित् ही देखने में आती है।

इसप्रकार दिव्य तत्त्वज्ञान के गहन रहस्य अमृतझरती वाणी द्वारा समझाकर और साथ ही शुद्धात्मरुचि को जागृत करके पुरुषार्थ का आह्वान, प्रत्यक्ष सत्समागम की झाँकी दिखलाने वाले यह प्रवचन जैन-

साहित्य में अनुपम हैं। जो मुमुक्षु प्रत्यक्ष सत्पुरुष से विलग हैं, एवं जिन्हें उनकी निरन्तर संगति दुष्प्राप्य है—ऐसे मुमुक्षुओं को यह प्रवचन अनन्य-आधारभूत हैं। निरावलम्बी पुरुषार्थ को समझाना और उसके लिये प्रेरणा देना ही इस शास्त्र का प्रधान उद्देश्य होने पर भी उसका सर्वांग स्पष्टीकरण करते हुए समस्त शास्त्रों के सर्व प्रयोजनभूत तत्वों का स्पष्टीकरण भी इन प्रवचनों में आगया है; मानों श्रुतामृत का परम आह्लाद-जनक महासागर इनमें हिलोरें ले रहा हो। यह प्रवचनग्रन्थ हजारों प्रश्नों को सुलझाने के लिये महाकोष है। शुद्धात्मा की रुचि उत्पन्न करके, पर के प्रति जो रुचि है उसे नष्ट करने की परम औषधि है। स्वानुभूति का सुगम पथ है तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के समस्त आत्मार्थियों के लिये यह अत्यंत उपकारी है। परम पूज्य श्री कानजी स्वामी ने इन अमृतसागर के समान प्रवचनों की भेट देकर भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को उपकृत किया है।

स्वरूप-सुधा की प्राप्ति के इच्छुक जीवों को इन परम पवित्र प्रवचनों का बारंबार मनन करना योग्य है। संसार-विषवृक्ष को नष्ट करने के लिये यह अमोघ शस्त्र हैं। इस अल्पायुषी मनुष्य भव में जीव का सर्व-प्रथम यदि कोई कर्तव्य है तो वह शुद्धात्मा का बहुमान, प्रतीति और अनुभव है। उन बहुमानादि के कराने में यह प्रवचन परम निमित्तभूत हैं। हे मुमुक्षुओ! अतिशय उल्लासपूर्वक इनका अभ्यास करके उग्र पुरुषार्थ से इनमें भरे हुए भावों को भलीभाँति हृदय में उतारकर, शुद्धात्मा की रुचि, प्रतीति और अनुभव करके शाश्वत परमानन्द को प्राप्त करो!

रामजी माणेकचंद दोशी,
प्रमुख—
श्री जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़

माघ शुक्ला १३,
वीर संवत् २४७६

ॐ

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत
श्री समयसार शास्त्र पर
परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन
गाथा १३ से प्रारम्भ

भूमिका

यथार्थ नव तत्त्वों के विकल्प से छूटकर निर्मल एक स्वभावता को शुद्धनय से जानना सो निश्चय-सम्यक्त्व है, यह बात तेरहवीं गाथा में कही जायेगी।

धर्म-आत्मा का निर्मल स्वभाव-आत्मा में ही स्वाधीनरूप से है वह न तो बाहर से आता है और न बाहर की सहायता से आता है; किसी भी पर से या शुभविकल्प की सहायता से आत्मा का अविकारी धर्म प्रगट नहीं होता। अज्ञानी जीव पर-संयोगाधीन विकारी अवस्था का कर्ता होकर अपने को भूलकर देहादिक तथा रागादिकरूप से पर की क्रिया करने वाले के रूप में अपने को मानता है; किन्तु परमार्थ से आत्मा सर्व से भिन्न है, प्रतिसमय अनादि अनंत, पूर्ण है और स्वतंत्र है।

आत्मा में अनंत गुण भरे हुए हैं, उसकी यथार्थ प्रतीति करके, विकारी भावों का त्याग करके निर्मल निराकुल ज्ञानानंद स्वभाव को प्रगट करने को कहा है। जो हो सकता है वही कहा जाता है। आत्मा बाहर का कुछ नहीं कर सकता इसलिये वह नहीं कहा गया है। आत्मा अपने में ही अनंत पुरुषार्थ कर सकता है, बाह्य में कुछ नहीं कर सकता।

जो कोई आत्मा अपना भला (कल्याण) करना चाहता है वह यदि स्वाश्रित हो तभी कर सकता है। यदि बाहर से लेना पड़े तो पराधीन कहलाता है। आत्मा का धर्म स्वाधीन अपने में ही है। मन, वचन, काय में आत्मा का धर्म नहीं है, भीतर जड़-कर्म का

संयोग है उसमें भी धर्म नहीं है। परवस्तु आत्मा के लिये व्यवहार से भी सहायक नहीं है। आत्मा के स्वाधीन गुणों को कोई नहीं लेगया है इसलिये कोई दे भी नहीं सकता। पुण्य-पाप का संयोग और पुण्य-पाप के शुभाशुभ विकारी भावों से अविकारी आत्मधर्म प्रगट होगा इसप्रकार जो मानता है उसे आत्मा के स्वतंत्र गुण की श्रद्धा नहीं है; वह अपने को परमुखापेक्षी और निर्वीर्य पराधीन मानता है।

आत्मा में शक्तिरूप से समस्त गुण प्रतिसमय परिपूर्ण हैं, किंतु मान्यता में अंतर होजाने से बाह्यदृष्टि के द्वारा दूसरे से गुण-लाभ मानता है। अन्य पदार्थों में अच्छाई बुराई मानना ही मान्यता का अंतर है। जो यह मानता है कि भीतर गुण विद्यमान नहीं हैं उसका अनंत-संसार विद्यमान है, और जो यह मानता है कि अंतरंग में समस्त गुण विद्यमान हैं उसकी दृष्टि भीतर की ओर जाती है तब वहाँ एकाग्रता होती है अर्थात् गुण की अवस्था निर्मल हुआ करती है और अवगुण की अवस्था का नाश होता जाता है।

जो पूर्ण निर्मलस्वरूप आत्मा की प्रतीति के बिना, पर से धर्म मानता है और देव, गुरु, शास्त्र से धर्म मानता है तथा शरीर रुपया-पैसा इत्यादि जड पदार्थों से धर्म मानता है उसकी मान्यता विपरीत है, जिसमें कौआ कुत्ता नारकी इत्यादि के अनंतभव विद्यमान हैं।

परमार्थदृष्टि के द्वारा यथार्थ सम्यक्दर्शन को प्राप्त करना ही वास्तविक कर्तव्य है। वह सम्यक्दर्शन का वास्तविक स्वरूप कहलाता है। वह परम अद्भुत, अलौकिक, अचिंत्य है। वह ऐसा स्वरूप है कि जिसे लोगों ने अनन्तकाल में न तो माना है, न जाना है और न अनुभव ही किया है। उसका रहस्य श्री कुंदकुंदाचार्यदेव को सर्वज्ञ परमात्मा के निकट से प्राप्त हुआ था और उन्होंने उसका स्वयं अनुभव किया था जोकि यहाँ तेरहवीं गाथा में कहते हैं।

जिसे अंतरंग स्वभाव के गुणों की प्रतीति नहीं जमती, और जो यह मानता है कि बाह्य में कुछ करूँ तो गुण लाभ हो, मन, वाणी, देह

तथा इन्द्रियों से और देव, गुरु, शास्त्र आदि संयोगी परवस्तु से आत्मस्वभाव प्रगट होता है वह जीव-अजीव को एक मानता है। उसे असंयोगी स्वाधीन आत्मस्वरूप की श्रद्धा नहीं है। जैसे सिद्ध भगवान देहादि संयोग से रहित अनंत गुणों से अपने पूर्ण स्वभावरूप हैं वैसे ही प्रत्येक जीव सदा परमार्थ से अनंतगुणों से परिपूर्ण है, स्वतंत्र है। एकेन्द्रिय में अथवा निगोददशा में भी स्वभाव से तो पूर्ण प्रभु ही है।

मैं अंतरंग के अनन्तगुणों से परिपूर्ण हूँ, असंयोगी हूँ, अविनाशी हूँ, स्वतंत्र हूँ और परसे भिन्न हूँ इसप्रकार स्वभाव को भूलकर जो यह मानता है कि मैं दूसरे से संतुष्ट होऊं, दूसरे को संतुष्ट करूं और किसी की कृपा से लाभ हो जाये तथा जो इसप्रकार दूसरों से गुण-लाभ मानता है उसे यह खबर ही नहीं है कि स्वतंत्र आत्मा क्या है। धर्म की प्रारंभिक इकाई (सम्यक्दर्शन) क्या है। जो यह मानता है कि पुण्य-पाप के विकारी भाव अथवा मन, वाणी या देह की सहायता से निज को गुण-लाभ होता है वह अनित्य संयोग में शरण मानता है। किसी का आधार मानने का अर्थ यह है कि अपने में निज की कोई शक्ति नहीं है यह विपरीत मान्यता ही अनंत-संसार में परिभ्रमण करने का बीज है।

जैसे पूर्ण गुण सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा में है वैसे ही पूर्ण गुण मुझमें भी हैं ऐसी श्रद्धा के बल से मलिनता का नाश और निर्मलता की उत्पति होती है। इसके अतिरिक्त यदि कोई दूसरा उपाय बताये तो वह निरा पाखंड है, संसार में परिभ्रमण करने का उपाय है।

निर्मल स्वभाव की प्रतीति करने के बाद सम्यक्ज्ञान के द्वारा वर्तमान विकारी अवस्था और संयोग का निमित्त इत्यादि जैसा है वैसा ही जानता है, किन्तु यदि उसके कर्तृत्व को या स्वामित्व को माने अथवा शुभराग को सहायक माने तो वह ज्ञान सच्चाज्ञान नहीं है। मैं शुद्धनय से एकरूप पूर्ण ध्रुव स्वभावी हूँ ऐसी प्रतीति किये बिना सम्यक्-

ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रगट नहीं होता, क्योंकि दृष्टि की भूल से ज्ञान की और चारित्र की भूल अनादिकाल से चली आरही है।

सच्चे नवतत्व के विचाररूप विकल्प शुभभाव हैं, उन्हे यथावत् जानना सो व्यवहार है, किन्तु सह अविकारी एकरूप स्वभाव के लिये सहायक नहीं है। मैं निरावलम्बी एकरूप पूर्ण हूँ ऐसी यथार्थ श्रद्धा का बल हो तो सच्चे नवतत्वों के शुभभाव के व्यवहार को निमित्त कहा जाता है, किन्तु यदि मात्र शुभभाव की श्रद्धारूप नवतत्व में रत हो तो व्यवहार–नयाभास कहलाता है।

जगत की मिठास, धन, मकान, पुत्र, प्रतिष्ठा आदि तथा रोग, अप्रतिष्ठा आदि पुण्य-पाप के संयोगों में आत्मा का किंचित्‌मात्र हित नहीं है। वह सब जोंक के समान है। अशुद्ध–विकारयुक्त रक्त को पीकर जोंक मोटी दिखाई देती है किन्तु वह कुछ समय पश्चात् मर जाती है, इसीप्रकार पुण्य–पाप के संयोग से माना हुआ बड़प्पन क्षण-भर में नष्ट होजाता है। उससे किंचित्‌मात्र शोभा मानना भगवान चिदानंद आत्मा के लिये लज्जा की बात है।

जो अविनाशी हित प्रगट करना है वह यदि शक्तिरूप से स्वभाव में ही न हो तो प्रगट नहीं होसकता। निमित्ताधीन–दृष्टि ने अड्डा जमाया है इसलिये अज्ञानी यह मानता है कि मुझे कोई दूसरा सुख दे देगा। इसप्रकार की विपरीत श्रद्धा ही संसार है, बाह्य में संसार नहीं है।

आत्मा पूर्ण परमात्मा के समान ही है, उसमें कोई परवस्तु अथवा राग-द्वेष घुस नहीं गये हैं। शुभाशुभ विकाररूप भूल स्वभाव में नहीं है, किन्तु परलक्ष्य से विपरीत मान्यता के पुरुषार्थ से उत्पन्न हुई क्षणिक विकारी अवस्था है। भूलरहित त्रिकाल अखंड स्वभाव के लक्ष्य से एक क्षणभर में अनादिकालीन भूल को दूर करने की शक्ति प्रतिसमय विद्यमान है।

अब निश्चय सम्यक्त्व के स्वरूप की गाथा कहते हैं:–

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुराणपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च।
आस्रवसंवरनिर्जरा बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ॥ १३ ॥

अर्थः—भूतार्थनय के द्वारा जाने गये जीव, अजीव, पुण्य-पाप आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष (यह नवतत्व) सम्यक्त्व हैं।

यहाँ सम्यक्त्व की चर्चा होरही है। श्रावक के व्रत और मुनित्व सम्यक्त्व के बाद ही होते हैं। निश्चय परमार्थरूप सम्यक्त्व के विना जितने भी क्रियाकांड, व्रत तप इत्यादि किये जाते हैं वे सब बालव्रत और बालतप हैं, ऐसा श्री सर्वज्ञ भगवान ने कहा है। शुभभाव भी विकारी (आस्रव) भाव हैं, उनसे आत्मा को कोई लाभ नहीं होता। ज्ञानी को भी महाव्रतादि के शुभभाव से लाभ नहीं होता, किन्तु अविकारी अखंड स्वभाव के लक्ष्य से जितनी स्थिरता प्रगट होती है उतना लाभ होता है। जबतक संपूर्ण राग दूर नहीं होजाता, वीतराग नहीं हो जाता तबतक अशुभ में न जाने के लिये व्रतादि के शुभभाव हुए विना नहीं रहते, किन्तु ज्ञानी उन्हें अपने स्वभाव का नहीं मानते। जो शुभभाव से लाभ मानते हैं उन्हें स्वतंत्र स्वभाव के गुणकी श्रद्धा नहीं है।

प्रश्नः—आत्मा के गुणों की फसल कहाँ से बढ़ती है?

उत्तरः—स्वभावाश्रित सम्यक्दर्शन रूपी बीज से, और सम्यक्दर्शन के द्वारा की गई अखण्ड स्वलक्ष्य की स्थिरता से। किन्तु स्मरण रहे कि शुभभाव से अथवा किसी भी विकार से अविकारी आत्मा को कदापि गुण-लाभ नहीं होता। गुण तो स्वभाव में ही विद्यमान हैं। गुण प्रगट नहीं होते किन्तु गुण की पर्याय प्रगट होती है, उसें व्यवहार से यह कहा जाता है कि–'गुण प्रगट हुए हैं'।

जड़ कर्माधीन जो पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्ति उठती है सो अभूतार्थ है; नव तत्त्व का विकल्प भी अस्थायी क्षणिकभाव है, इसलिये वह अभूतार्थ है, स्वभाव में स्थिर होने वाला नहीं है। नवतत्त्व के भेद तथा सर्व विकारी अवस्था के भेदों को गौण करके नित्य एकरूप ज्ञायक-स्वभाव को लक्ष में लेने वाली दृष्टि को शुद्धनय अथवा भूतार्थदृष्टि कहते हैं।

नवतत्वों का मन के द्वारा विचार करना सो शुभराग है। वह शुभविकल्प परिपूर्ण यथार्थ तत्व के समझने में बीच में निमित्तरूप से आये बिना नहीं रहता; किन्तु उस विकल्प का अभाव करके, क्षणिक विकारी अंश को गौण करके, शुद्धनय के द्वारा एकरूप अखंडज्ञायक स्वभावी आत्मा को जानकर उसकी श्रद्धा करे सो सम्यक्दर्शन है। स्वभाव के बल से निश्चय एकत्व की श्रद्धा होती है, वहाँ नवतत्व के विचार की प्रथम उपस्थिति थी इसलिये वह निमित्त कहलाता है।

स्वयं ही पूर्ण कल्याणस्वरूप स्वतंत्र है, उस स्वभाव के लक्ष्य से नवतत्व के भेद को छोड़कर निर्मल एकत्व की श्रद्धा में स्थिर होना सो उसे सर्वज्ञ भगवानने सम्यक्त्व कहा है।

टीकाः—जीवादिक नवतत्वों को शुद्धनय से जाने और जानने के बाद विकल्प को गौण करके स्वभावोन्मुख होकर एकरूप स्वभाव को जाने सो नियम से सम्यक्दर्शन है। यह धर्म की पहली सीढ़ी है। इसके बिना, व्रत, तप, पूजा, भक्ति इत्यादि शुभभाव करके राग को कम करे और तृष्णा को घटाये तो पुण्य होता है, किन्तु उससे किंचित्-मात्र भी आत्मधर्म प्रगट नहीं होता। आगे ३९ वीं गाथा में आचार्य-देव ने कहा है कि—जो शुभाशुभ भाव को आत्मा का स्वरूप मानता है वह मूढ़ है।

अंतरंग भूतार्थ (त्रैकालिक पदार्थ) नित्य पूर्ण शक्ति से भरा हुआ है; उसीकी महिमा करके, उसीका लक्ष करके अंतरंग में ढले और

मात्र नवतत्त्वों के विचार में लगा रहे तो उसे पुण्य होता है; किन्तु अनंतगुणस्वरूप द्रव्य की श्रद्धा नहीं होती। अज्ञानी जीव यह मानता है कि नवतत्त्वों का विचार करते-करते भीतर गुण प्रगट होजायेंगे, किन्तु शुभभावों के द्वारा आत्मा का स्वभाव त्रिकाल में भी प्रगट नहीं हो सकता। जो सत् है वह सत्रूप से ही रहेगा। त्रिकाल में भी सत् में असत्पन नहीं आसकता। नवतत्त्वों को राग के भेदों से रहित भूतार्थनय के द्वारा (स्वभाव की अंतरंग निर्मल दृष्टि से) जानना सो सम्यक्त्व है, इसप्रकार सर्वज्ञों ने कहा है।

यदि कोई ठीकरों का संग्रह करके उन्हें रुपया माने तो वह अज्ञानी है, इसीप्रकार जो यथार्थ वस्तु को न जानकर उससे विपरीत मार्ग में बाह्य में अपने माने हुए कार्य से संतोष माने तो वह अज्ञानी है। यदि कोई व्यवहारिक नवतत्त्वों की श्रद्धा से अथवा उनके विकल्प से, पुण्य से या देहादि जड़ की क्रिया से या शुभराग के आचरण से धर्म माने तो वह अपनी ऐसी विपरीत धारणा के बनाने में स्वतंत्र है किन्तु सर्वज्ञ वीतराग के अंतरंग मार्ग में वह विपरीत धारणा कार्यकारी नहीं होगी, अर्थात् उस विपरीत धारणा से कदापि धर्म नहीं होगा। शुभाशुभ भाव मोक्षमार्ग नहीं किन्तु बंधन मार्ग है, संसार में परिभ्रमण करने का मार्ग है भगवान ने रागरहित दर्शन ज्ञान चारित्र को सद्भूत व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा है।

आत्मा से अभेद परमार्थ स्वरूप को समझाने के लिये पहले निमित्त-रूप से तीर्थ की (व्यवहारधर्म की) प्रवृत्ति के लिये अभूतार्थ (व्यवहार) नय से नवतत्त्वों के भेद किये जाते हैं कि जो इन्हें जानता है सो आत्मा है और जो नहीं जानता सो अचेतन अजीव है। कर्म के निमित्ताधीन जो शुभाशुभभाव होते हैं सो पुण्य-पाप के विकारीभाव हैं इसलिये वे आस्रव हैं, और उनमें युक्त होने से बंध होता है। स्वभाव को पहिचानकर स्थिर होने से संवर निर्जरारूप अवस्था होती है और

स्वभाव में पूर्णरूप से स्थिर होने से मोक्षरूप पूर्ण निर्मलदशा प्रगट होती है।

इसप्रकार नवतत्वों की परिभाषा को जाने बिना परमार्थ को नहीं जाना जासकता इसलिये तीर्थ की प्रवृत्ति के लिये अनेकप्रकार के अभूतार्थ भेदों से भूतार्थ एकरूप आत्मा को कहते हैं। वास्तव में तो उससे धर्म नहीं होता तथापि उसकी उपस्थिति होती है। जब श्रद्धा में उसका अभाव करे और नवप्रकार के विकल्पों को छोड़कर एकरूप अखण्ड स्वभाव का लक्ष कर तब नवतत्व का व्यवहार निमित्त कहलाता है, वह अभावरूप से निमित्त है।

पहले यथार्थ नवतत्त्वों के समझने में (गुरु आदिक तो निमित्त हैं) एकत्व को प्रगट करने वाला शुद्धनय ही है। यदि स्वभावोन्मुख न हो और मात्र देव, गुरु, शास्त्र तथा नवतत्वों के शुभराग में अटक जाय तो वह पुण्य है।

सच्चे नवतत्वों की पहिचान में देव, गुरु, शास्त्र की पहिचान आजाती है। उसका स्वरूप संक्षेप में कहा है:—

जीव तत्वः—राग-द्वेष, अज्ञानरहित असंयोगी शुद्ध आत्मा को मानना सो निश्चयश्रद्धा है।

अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध इन पांच तत्वों को आत्मा के स्वभाव में नास्तिरूप मानना, वे हेयरूप है ऐसी श्रद्धा करना; कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र आस्रव और बंध के कारणभूत होने से हेय रूप तत्व हैं, उनकी भी हेयरूप श्रद्धा इन पांच तत्वों में आजाती है।

संवर निर्जरा:—वह निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप मोक्षमार्ग है, साधक भाव है। आचार्य, उपाध्याय, साधुरूप में जो श्रीगुरु हैं उनका स्वरूप संवर-निर्जरा मे आजाता है।

मोक्षः—पूर्ण निर्मल अवस्था मोक्ष है, अरहंत और सिद्ध परमात्मा सर्वज्ञ वीतरागदेव हैं; उनका स्वरूप मोक्ष में आजाता है।

जिसने ऐसे नवतत्वों को नहीं जाना उनकी यहाँ बात नहीं है। वीतरागदेव के शास्त्रों से या सत्समागम से जिसने सच्चे नवतत्वों को जान लिया है तथापि यदि वह नवतत्वों के विकल्प में ही लगा रहे तो उसका संसार बना रहेगा। नवप्रकार में से शुद्धनय के द्वारा एक-रूप ज्ञायक हूँ इसप्रकार एक परमार्थ स्वभाव को ही स्वीकार करना सो सम्यक्त्व है। दान, पूजा इत्यादि शुभभाव हैं और हिंसा असत्य आदि अशुभ भाव हैं। उन शुभाशुभ भावों के करने से धर्म होता है यह मानना सो त्रिकाल मिथ्यात्व है। इससे पुण्य के शुभभाव छोड़कर पाप में जाने को नहीं कहा है। विषय-कषाय देहादि में आसक्ति, रुपया-पैसा और राग की प्रवृत्तिरूप व्यवसाय इत्यादि समस्त भावों में मात्र पापरूप अशुभ भाव हैं; और दानादि में तृष्णा की कमी अथवा कषाय की मंदता इत्यादि हो तो वह शुभभाव पुण्य है, इसप्रकार पुण्य-पाप को व्यवहार से भिन्न माने किन्तु दोनों को आस्रव मानकर उससे धर्म न माने। इसप्रकार नवतत्वों को भलीभाँति जाने तो वह शुभभाव है।

धर्म की ऐसी बात यदि धीरज से एकाग्रता पूर्वक न सुने तो मूल वस्तु यकायक समझ में नहीं आती; पश्चात् भीतर ऐसा होता है कि-यदि ऐसा मानेंगे कि ऐसे पुण्य के व्यवहार से पुण्य नहीं होता तो धर्म और पुण्य दोनों से भ्रष्ट हो जायेंगे। किन्तु सत्य को समझे बिना त्रिकाल में भी संसार का अभाव नहीं होसकता। अनादिकाल से यथार्थ वस्तु की प्रतीति के बिना जितना किया और जितना माना है वह सब अज्ञान ही है, उन सब को छोड़ना पड़ेगा। जिस भाव से अनन्तकाल से संसार का सेवन किया है वह भाव नया नहीं है। धर्म के नाम पर अंतरंगस्वरूप को भूलकर अन्य सब अनन्तबार किया है किन्तु उससे धर्म नहीं हुआ; मात्र शुभ-अशुभभाव हुए हैं किन्तु उन बंधनभावों से अंश मात्र धर्म नहीं होता। पूर्वा पर विरोध से रहित सच्चे नवतत्वों को जाने तब अभूतार्थ में (व्यवहार में) आता है, वह भी पुण्यभाव है; उससे पूर्ण परमात्म पद प्रगट नहीं होता।

जो समझने के मार्ग पर हो और जिसे समझने की रुचि हो वह सत्य को समझे बिना नहीं रहता। यथार्थ समझ ही प्रथम धर्म है और समझ के अनुसार जो स्थिरता होती है सो धर्म क्रिया है।

समस्त आत्मा एकत्रित होकर एक परमात्मा है, एक सर्व व्यापक ईश्वर है, जगत का आधार है, जगत का कर्ता है; इसप्रकार मानने वाला स्वभाव का शोधक भी नहीं है; जो सत्का जिज्ञासु नहीं हैं उसे अभूतार्थ के व्यवहारनय का भी ज्ञान नहीं है। भगवान ऐसे रागी नहीं हैं कि किसी को कुछ दे दें अथवा देने की इच्छा करें। किसी के आशीर्वाद से भला होसकता है अथवा किसी की प्रार्थना करने से गुण प्रगट होसकता है इसप्रकार मानना सो घोर अज्ञान है, महा पाखण्ड है, निराभ्रम है।

मात्र नव तत्वों की श्रद्धा कर के पुण्यबन्ध करे तो स्वर्ग में जाय किन्तु आत्मस्वरूप की प्रतीति के बिना वहाँ से आकर पशु इत्यादि में और फिर नरक निगोद इत्यादि गतियों में—चौरासी के भवों में परिभ्रमण करता है। सत् तो जैसा होता है वैसा ही कहा जाता है; वह दुनिया को अनुकूल पड़ता है या नहीं उसपर सत् अवलंबित नहीं होता। जिसे मानने से अहित होता हो वह कैसे कहा जा सकता है?

जैसा यहाँ कहा है उसी प्रकार नवतत्वों का और परमार्थ श्रद्धा का स्वरूप सत् समागम करके स्वयं समझे, निर्णय करे और यथार्थ प्रतीति सहित निश्चय सम्यक् दर्शन को स्वयं पुरुषार्थ से प्रगट करे तो उसमें व्यवहार श्रद्धा निमित्त कहलाती है।

आत्मा की यथार्थ पहिचान के बिना अथवा स्वरूप की प्रतीति के बिना समस्त जाती में कोई शरण नहीं है; मात्र अखंडानंद पूर्ण शुद्ध आत्मा की प्रतीति ही अपनी परम शरण है, स्वयं ही परम शरण है।

आचार्यदेव कहते हैं कि जैसा सर्वज्ञ भगवानने कहा है उसी प्रकार नवतत्वों को प्रथम सत् समागम से जानो, पात्रता को प्राप्त कर

तत्वज्ञान का अभ्यास करो, स्वाधीन स्वरूप का परिचय करो, स्वतंत्र परमार्थ को प्राप्त करने वाले शुद्धनय के द्वारा निर्मल स्वभाव की श्रद्धा करो।

नवतत्वों के विकल्प से आत्मा का यथार्थ अभेदस्वरूप नहीं समझा जासकता किन्तु यदि उस नवप्रकार के भेदरूप मैं नहीं हूँ इस-प्रकार विकल्प और विचार का भेद छोड़कर ऐसी श्रद्धा करे कि मैं त्रिकाल पूर्ण हूँ तो आत्मा का स्वभाव समझ में आसकता है। यदि आत्मा का सच्चा सुख चाहिये है तो यथार्थता को जानकर उसकी श्रद्धा करो। पुण्य-पाप के भाव धर्म की ओर के विकारी भाव है, अभूतार्थ है, आत्मा में टिकनेवाले नहीं है इसलिये वे आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसप्रकार नवतत्वों के विकल्प में अटक जाने वाले अनेक भेदों से आत्मा को पृथक् मानकर एकरूप निर्विकल्प परमार्थ भाव से अलग चुन लेना सो सम्यक्दर्शन है। शुद्ध नयाश्रत आत्मा के एकत्व का, निरपेक्ष निर्मलता का निश्चय करना चाहिये कि मैं स्वभाव से पूर्ण हूँ, एकाकार निर्मल ज्ञायक स्वभाव में निश्चल हूँ, नवतत्वों के विकल्प से रहित हूँ; इसप्रकार शुद्धनय से स्थापित आत्मा की अनुभूति जो कि आत्म ख्याति है सम्यक्दर्शन है; इसकी प्राप्ति होती है।

ऐसी श्रद्धा के विना कि मैं अक्रिय असंग पूर्ण हूँ; भव रहितता का अनुभव नहीं होता और अतीन्द्रिय स्वानुभव के विना स्वभाव के गुण की निर्मलता प्रगट नहीं होती। देखनेवाला और जाननेवाला स्वयं और अपने को ही नहीं जाने, और वाह्य में जो शरीर, मन, वाणी की प्रवृत्ति दिखाई देती है उसे माने, एवं उससे आगे जाइये तो पापभाव को दूर कर के दया, व्रतादि के शुभभाव करे और उसी में सम्पूर्ण धर्म मान बैठे तो उसे यथार्थ कहाँ से प्राप्त होगा!

अपने को मन के शुभाशुभ विकल्प से नवतत्वों से भिन्न एकरूप ज्ञायक ध्रुवभाव से न देखे और यदि कोई वाहर की प्रवृत्ति बताये-

पुण्य की बात करे कि कन्दमूल का त्याग कर दोगे तो धर्म होगा, तो उसे जल्दी स्वीकार करले; किन्तु यह समझे कि पुण्य-पाप से भिन्न मेरा आत्मा क्या है; तो इससे यथार्थ धर्म कैसे प्राप्त होगा ! जाननेवाला तो स्वयं है किन्तु दूसरे को जानता है और अपने को भूल जाता है ! यहाँ कन्दमूल के खाने या न खाने की बात ही नहीं है किंतु बात तो यह है कि पापभाव को छोड़ने के लिये शुभभाव अवश्य करना चाहिये; लेकिन यह ध्यान रहे कि उससे धर्म नहीं होता ।

जिस से तर जाते हैं वह तीर्थ कहलाता है, उसका जो उपाय ऊपर कहा है उसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय त्रिकाल में भी नहीं होसकता । अखंड के लक्ष से नवतत्वों के शुभ राग का जो खंड होता है वह आदरणीय नहीं है, स्वभाव नहीं है; यह जानना सो भी व्यवहार है । उसका आश्रय छोड़कर, भेद का लक्ष गौण करके, उसके अभाव रूप निर्विकल्प निश्चय दृष्टि से अंतरंग में एकाग्र होकर, उस अनुभव सहित पूर्ण स्वरूप की श्रद्धा होने पर सम्यक्दर्शन होता है । उसे यथार्थ प्रतीति होती है कि मुझे परमात्मा के दर्शन हो गये अर्थात् पूर्ण निश्चय साध्य सिद्ध परमात्म स्वरूप का यथार्थ लक्ष प्राप्त होगया । सम्यक्दर्शन नहीं परमात्मा का दर्शन है ।

प्रश्नः—क्या आत्मा के साक्षात्कार में तेज (प्रकाश) दिखाई देता है ?

उत्तरः—नहीं, क्योंकि आत्मा तो अरूपी है, सदा ज्ञानानंदस्वरूप है और प्रकाश परमाणु है–पुद्गल की पर्याय है, रूपी है । अरूपी आत्मा में रूपी रजकण नहीं हो सकते ।

सर्वज्ञ के न्यायानुसार विरोध रहित यथार्थ वस्तु का आत्मा में निर्णय होता है, अर्थात् जैसा स्वाधीन पूर्ण स्वभाव है उसके घोषित होने का संतोष होता है कि अहो ! मैं ऐसा हूँ; मैं सम्पूर्ण ज्ञानानंद का पृथक् पिंड हूँ। प्रत्येक आत्मा इसीप्रकार परिपूर्ण है । उसकी एकाग्रता में

निराकुल स्वभाव की जो अनुपम शांति प्राप्त होती वह सहज है। यदि भीतर से पूर्ण स्वभाव का निःशंक विश्वास प्राप्त हो तो स्वभाव सम्पूर्ण खचाखच भरा ही हुआ है, उसमें से निर्मल स्थिरता और आनंद प्राप्त होता है। निमित्त के विकल्प से आनंद प्राप्त नहीं होता। यथार्थ तत्वज्ञान का अभ्यास होने के बाद अखण्ड स्वभाव के लक्ष से जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वह सामान्य स्वभाव में मिल जाती है; सम्यक्दर्शन की ऐसी परम अद्भुत महिमा है।

इसप्रकार शुद्धनय से आत्म सन्मुख होकर नवतत्वों का विचार करने पर एवं अखण्ड स्वभाव की ओर एकाग्र दृष्टि होने पर सम्यक्दर्शन होता है। ऐसा होनेमें यथार्थ नवतत्वों का ज्ञान निमित्त होता है इसलिये यह नियम कहा है। किन्तु यदि अन्तरंग अनुभव से निश्चय श्रद्धा न करे तो उसे वह निमित्त नहीं होता। जिसने वीतराग के द्वारा कहे गये यथार्थ नवतत्वों को ही नहीं जाना उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है।

सम्यक्दर्शन आत्मा के अनन्त गुणों में से श्रद्धा नामक गुण की निर्मल पर्याय है। यदि श्रद्धा ज्ञान और चारित्र गुण को मुख्य करके कहा जाये तो वह गुण अनादि अनन्त है। जब उसकी शुद्ध अवस्था अप्रगट होती है तब विकारी अशुद्ध अवस्था प्रगट होती है। उस अशुद्ध अवस्था को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहते हैं। स्वभाव के लक्ष से यथार्थ श्रद्धा की निर्मल अवस्था उत्पन्न होने पर अशुद्ध अवस्था बदलकर शुद्ध होजाती है, जिसे सम्यक्दर्शन कहते हैं। सम्यक्-दर्शन के होने पर तत्काल ही चारित्र में पूर्ण स्थिरता—वीतरागता नहीं होजाती।

जैसे आम में उसकी खट्टी पर्याय के समय ही खट्टाई को नाश करने वाला मीठा स्वाद शक्तिरूप से भरा हुआ न हो तो खट्टेपन का अभाव होकर मीठापन प्रगट नहीं होसकेगा। वस्तु में जो शक्ति ही न हो वह उत्पन्न नहीं हो सकती। जो यह मानता है कि आम

में मिठास नवीन ही प्रगट हुई है उसकी दृष्टि स्थूल है। पुद्गल में रस गुण अनादि अनंत है, उस गुण की अवस्था बदलती रहती है, इसलिये जिस समय रस गुण की खट्टी अवस्था प्रगट होती है, उसी समय उस खट्टी अवस्था को बदलने की और उसमें मीठी अवस्था के होने की शक्ति (योग्यता) ध्रुवस्वभावी गुण में प्रतिसमय भरी हुई है। यह सिद्धान्त सर्वत्र प्रचलित है कि:—

"नाऽसतो विद्यते भावो, नाऽभावो विद्यते सतः"

अर्थात्—जो नहीं है वह नया उत्पन्न नहीं हो सकता और जो है उसका सर्वथा नाश नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तु और गुण एक रूप ध्रुव त्रिकाल स्थायी रहता है, मात्र उसकी पर्याय बदलती रहती है। खट्टी मीठी पर्याय की शक्ति रूप रस गुण पुद्गल द्रव्य में त्रिकाल भरा हुआ है। उसकी शक्ति के बल से खट्टी पर्याय का नाश और मीठी पर्याय की उत्पत्ति होती है, वह रसगुण की ध्रुवता के कारण होती है और वह गुण द्रव्याश्रित है। इसीप्रकार आत्मा में उस का शांत अविकारी स्वभाव अनंतगुण से त्रिकाल एक रूप है। उसमें आनन्द गुण की दो अवस्थायें हैं (१) विकारी, (२) अविकारी। यदि परवस्तु के सम्बन्ध के बिना वस्तु एक स्वभाव से रहे तो विकारी न हो। विकार पर से नहीं होता किन्तु अपनी योग्यता से (वैसे भाव करने से) पर्याय में क्षणिक विकार होता है। निमित्त संयोगरूप परवस्तु है। प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है और अपने आधार से स्थिर रहकर अपनी अवस्था स्वतः बदलती है।

आत्मा ज्ञाता है। वह अपने निर्विकार अखंड एकरूप ज्ञायक स्वभाव को न देखकर, अपने स्वरूप को भूलकर पर वस्तु पर लक्ष करता है; और वह निमित्ताधीन होकर वर्तमान विपरीत पुरुषार्थ से—मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ, पर का कर्ता हूँ इसप्रकार विपरीत मान्यतानुसार क्रोध, मान, माया, लोभ की विकारी वृत्ति करता है। वह पुण्य-पाप की विकार-वृत्ति मेरी है और मैं विकारी हूँ इसप्रकार मानना सो मिथ्यादृष्टि का विषय है।

मैं एकरूप ज्ञानानंद स्वभावी निर्विकार त्रिकाल ध्रुव हूँ, ऐसी दृष्टि अविकारीस्वभाव को देखती है। पुण्य पाप की क्षणिक वृत्ति निमित्ताधीन नई होती है जो कि वर्तमान में पुरुषार्थ की अशक्ति से होती है, कोई वलात् नहीं कराता। उस क्षणिक रागद्वेष विकल्प जितना ही मैं नहीं हूँ, मैं तो त्रैकालिक अखण्ड ज्ञायकस्वभाव से एकरूप रहने वाला हूँ; उसके लक्ष से विकार का नाश करके ध्रुव एकाकार स्थिर वना रहे उस अखण्ड दृष्टि का विषय सम्पूर्ण आत्मा वर्तमान में भी पूर्ण है; उसे लक्ष में लेना सो सम्यक्‌दर्शन है।

ध्रुव सामर्थ्य के वल से वर्तमान विकारी अवस्था का क्रमशः नाश और अविकारी आनन्दरूप से निर्मल अवस्था की उत्पत्ति होती है। वाहर से गुण अथवा उसकी पर्याय नहीं आती। पाप से वचने के लिये शुभभाव होता है किन्तु वह स्वभाव के लिये सहायक नहीं है। वर्तमान अपूर्ण अवस्था का अभाव व्यवहार में पूर्ण निर्मल अवस्था का कारण है। परमार्थ से आत्मा द्रव्य अखण्डवस्तु है, वही विकारी और अपूर्ण अवस्था का नाश करने वाला और पूर्ण निर्मल अवस्था को प्रगट करने वाला निश्चय कारण है।

विकार क्षणिक है, वह अविकारी अखण्ड नित्यस्वभाव का विरोधी है ऐसा जाने तो अपने स्वभाव को विकार का नाशक मान सकता है। विकार का निमित्त कारण (संयोगी वस्तु) अजीव-जड़ पदार्थ है; ऐसे जीव और अजीव दोनों स्वतंत्र पदार्थों की वर्तमान विकार अवस्था में निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार के संबंध से नौ अथवा सात * भेद होते हैं। एक अखण्ड स्वभाव में पर की अपेक्षा के विना नौ प्रकार के विकल्प संभवित नहीं होते। निमित्ताधीन किये जाने वाले समस्त भाव शुभ अथवा अशुभ विकल्प हैं। नवतत्व के विकल्प को भगवान ने राग कहा

---

* यदि पुण्य पाप को आस्रव से अलग माना जाय तो नव भेद होते हैं और यदि पुण्य पाप को आस्रव के अन्तर्गत माना जाय तो सात भेद होते हैं।

है; उसमें जीव न लगे और पूर्ण एकरूप स्वभाव की श्रद्धा को तो नव-तत्व के व्यवहार को निमित्त कहा जाता है।

प्रश्नः—नवतत्वों के शुभभाव की सहायता तो लेनी ही होगी? व्रत संयम आदि की शुभ प्रवृत्ति के बिना आगे कैसे बढ़ा जासकता है?

उत्तरः—सम्यक्दर्शन के हुऐ बिना व्रत, तप संयमादि यथार्थ नहीं होसकते। शुभराग विकार है, उसकी सहायता से आगे नहीं बढ़ा जासकता किन्तु परमार्थ की रुचि में बीच में शुभराग आये बिना नहीं रहता। मैं विकल्प से भिन्न त्रिकाल अखण्ड अविकारी हूँ, ऐसी श्रद्धा के बल से जब विकल्प का अभाव करता है तब निर्मल पर्याय प्रगट होती है और नवतत्व के जो विचार थे उन्हें निमित्त के रूप में आरोपित किया जाता है; किन्तु यदि अखण्ड की श्रद्धा न करे तो निमित्त नहीं कहलाता। नवतत्वों के शुभ विकल्प से लाभ होगा इसप्रकार मानना सो व्यवहारनयाभास है।

जिसकी दृष्टि निमित्त पर है वह शुभराग के आस्रव की भावना भाता है कि यह व्रत, तप इत्यादि करना तो होंगे ही? किन्तु वे तो अशुभ को दूर करने के लिये शुद्ध दृष्टि के बल में आजाता है। जिसकी स्वभाव पर दृष्टि नहीं है उसका निमित्त पर भार होता है, और इस-लिये यह मानता है कि पर्याय से नास्ति से अनित्य से पुरुषार्थ होता होगा। जिसकी पर्याय पर ही दृष्टि है वह मिथ्यादृष्टि है। यद्यपि पर्याय पर ही दृष्टि रखना सो मिथ्यादृष्टि है, उससे राग सूक्ष्म होता है किन्तु राग का सम्पूर्ण अभाव कदापि नहीं होता। अखण्ड स्वभाव की श्रद्धा के बल से ही राग का अभाव होसकता है। जो लोग इस बात को नहीं समझते वे 'हमारा व्यवहार' इसप्रकार कहकर उनके द्वारा माने गये व्यवहार को ही पकड़ रखते हैं।

आत्मा की अपूर्व बात भीतर ज्ञान की समझ से ही जमती है, इस-लिये यह बात ही छोड़ दो कि 'हमारी समझ में नहीं आसकता'।

यदि आत्मा का स्वरूप आत्मा की ही समझ में न आये तो फिर उसे कौन समझेगा ? यह बेचारे शरीर और इन्द्रियादिक तो कुछ जानते नहीं हैं। सर्वज्ञ वीतराग ने जो कुछ कहा है वह सब जीव के द्वारा होसकता है, यह ज्ञान में जानकर ही कहा है। सर्वज्ञ वह बात ही नहीं कहते जो नहीं होसकती। सभी आत्मा परमात्मा के समान पूर्ण हैं, ऐसे स्वतंत्र स्वभाव की पूर्ण शक्ति को समझकर भगवान की वाणी निकली है। जिसे अपने भीतर अनुकूल नहीं पड़ता वे ऐसी धारणा की आड़ करके कि-'हमारी समझ में नहीं आसकता,' वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं समझना चाहते। इसे समझना कठिन है अथवा यह बात समझ में नहीं आसकती इसप्रकार की मान्यता ही सच्चे हितरूप स्वभाव को रोके हुए है।

पहले नवतत्व के विचार और सच्चे ज्ञान के बिना स्वभाव प्रगट नहीं होता और यदि नवतत्व के विकल्परूप विचार में लग जाये तो उस शुभराग से भी आत्मा को लाभ प्राप्त नहीं होता। नवतत्व का विचार पहले आता अवश्य है, उसके बिना परमार्थ में सीधा नहीं जासकता और उससे भी नहीं जासकता। जैसे आंगन में आये बिना घर में नहीं जासकते और आंगन को साथ में लेकर भी घर में नहीं जासकते, किन्तु यदि आंगन में पहुँचने के बाद उसका आश्रय छोड़कर अकेला घर में जाय तो ही जासकता है; इसीप्रकार सच्चे नवतत्वों को यथावत् न जाने और यह माने कि समझे बिना उपादान से आत्मा का विकास होजायेगा तो ऐसा कदापि नहीं बन सकता। उपादान का ज्ञान विकल्प के द्वारा होसकता है; यदि उसे जैसा का तैसा न जाने तो भूल होती हैं।

यदि कोई मात्र आत्मा को ही माने और आत्मा में न अवस्था को माने, न विकल्प को माने, न पुण्य-पाप को माने और नवतत्वों का व्यवहार भी न माने तो उसे त्रिकाल में भी परमार्थ की सच्ची श्रद्धा नहीं होसकती। और यदि कोई नवतत्वों को यथार्थ तो माने किन्तु साथ

ही यह भी माने कि उसके शुभभाव से गुण प्रगट होगा तो भी वह असत् ही है। मैं पररूप नहीं हूँ, क्षणिक विकाररूप नहीं हूँ, परवस्तु मुझे हानि-लाभ नहीं पहुँचा सकती तथा मैं पर का कुछ नहीं कर सकता, मैं अनंत गुणों से परिपूर्ण ज्ञायकस्वरूप हूँ, इसप्रकार यदि यथार्थ स्वभाव को जाने तो सब समाधान होजाये। स्वतंत्ररूप से त्रिकाल एकरूप स्थायी आत्मा अनंत है और परमाणु भी अनन्त हैं। पर्याय में विकार होता है वह क्षणिक अवस्था पर-निमित्ताधीन जीव में होती है और जीव उसका अज्ञानभाव से कर्ता है। अनन्त जीव स्वतंत्ररूप से (एक-एक) पूर्ण हैं। परमार्थ से प्रत्येक आत्मा की शक्ति प्रतिसमय पूर्ण सिद्ध परमात्मा के समान है। परलक्ष्य से होने वाले विकारीभाव वर्तमान एक ही समय की अवस्था तक होते हैं किन्तु प्रवाहरूप से अनादिकाल से अपनी वर्तमान भूल और पुरुषार्थ की अशक्ति से होते हैं; उस क्षणिक विकार को दूर करने वाला अविकारी नित्य हूँ, इसप्रकार अखण्ड स्वभाव के बल से भूल और मलिन अवस्था का नाश करके, स्वाश्रय के बल से स्थिरता बढ़कर क्रमशः निर्मलता के होने पर अंत में सम्पूर्ण निर्मल अवस्था प्रगट होसकती है। इसमें अनेक न्यायों का समावेश होगया है और नवतत्वों का सार आगया है।

अनादिकाल से स्वच्छन्द कल्पना के द्वारा असत् को सत् मान रखा है। परमार्थ की यथार्थ श्रद्धा करने में नवतत्व और सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की परख होनी चाहिये और सच्चा उपदेश देने वाले सत् निमित्त की उपस्थिति में एकबार सक्षात् उपदेश सुनना चाहिये; किन्तु उस निमित्त से गुण-लाभ नहीं होगा। ऐसी पराधीनता नहीं है कि गुरु-प्राप्ति के लिये प्रतीक्षा करनी पड़े। पात्रता होने पर गुरु का निमित्त उसके कारण से उपस्थित होता ही है।

सत् को समझने के लिये स्वयं पात्र होकर उसका भलीभाँति श्रवण-मनन करना चाहिये; कहीं निमित्त नहीं समझा देगा। स्वयं पात्र होकर समझे तो सत् का उपदेश और उपदेशक ज्ञानी पुरुष उपस्थित होता

है। किन्तु स्वयं अपने में स्वलक्ष्य से स्थिर होकर सत् की श्रद्धा करे तभी उसमें सफल निमित्त का आरोप होता है। यदि कोई न समझे तो वह नहीं समझा सकता इसलिये उसे वह निमित्त भी नहीं कहा जासकता।

आत्मा की बात अनादिकालीन अनभ्यास के कारण सूक्ष्म मालूम होती है किन्तु वह स्वभाव की बात है। आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र अरूपी एवं सूक्ष्म हैं, तथापि उस सूक्ष्मभाव को जानने वाला नित्य अरूपी सूक्ष्मस्वभावी और अनन्त शक्तिरूप है। यदि कोई यह माने कि ऐसी सूक्ष्म बात हमारी समझ में नहीं आसकती तो उसका उत्तर यह है कि तू स्वयं ही अरूपी सूक्ष्म है; तब स्वयं निज को क्यों नहीं जानता? दुनियादारी के सूक्ष्म दाव-पेचों को बराबर समझ लेता है, तब फिर अपने इस स्वभाव को क्यों नहीं समझता?

व्यवहार से पाप को छोड़कर पुण्य करने को कहा जाता है किन्तु परमार्थ से दोनों को छोड़ने योग्य पहले से ही माने तो पवित्र अविकारी स्वभाव का प्रेम होसकता है, किन्तु यदि राग के द्वारा अविकारी गुण का प्रगट होना माने तो वह मिथ्यादृष्टि ही रहेगा। यदि भीतर पूर्ण स्वभावरूप शक्ति न हो तो वह कहीं से आ नहीं सकती। जो यह मानता है कि अपने गुण दूसरे की सहायता से प्रगट होते हैं तो वह अपने को अकर्मण्य मानता है, उसे अविकारी गुण की खबर ही नहीं है। वर्तमान विकारी अवस्था के समय भी प्रतिसमय अनंतगुण की अपार शक्ति आत्मा में है, उसे शुद्धनय से जानकर एकरूप नित्यस्वभाव की प्रतीति करे तो उसके बल से निर्मलता का अंश प्रगट होकर पूर्ण निर्मल संपूर्ण स्वभाव की प्रतीति होती है। अवस्थाभेद को देखने से अर्थात् व्यवहारनय का आश्रय लेने से राग की उत्पत्ति होती है, उससे अविकारी ध्रुवस्वभाव की प्रतीति नहीं होती।

मुझे यथार्थ सम्यक्दर्शन होगया है यह सुदृढ़ विश्वास होने पर भव की शंका रह ही नहीं सकती। सर्वज्ञ भगवान का स्वभाव और

तेरा स्वभाव एक ही प्रकार का है। स्वभाव भव का कारण नहीं है। भव का कारण तो पराश्रयरूप राग को अपना मानना है, वह जब नया किया जाता है तभी होता है। स्वभाव में परभाव का कर्तृत्व त्रिकाल में भी नहीं होता। जिसे निःशंक स्वभाव की प्रतीति होगई है वह पूर्ण पवित्र स्वभाव को जानता है। वह एकरूप ध्रुवस्वभाव में संसार-मोक्ष के पर्यायभेद को नहीं जानता। उसे स्वभाव का ही सन्तोष है। किन्तु जिसे स्वभाव की ओर का बल नहीं है और अन्तरंग स्वभाव की दृष्टि नहीं है उसे दूसरे की प्रीति है और इसलिये उसे भव की शंका बनी रहती है। जहाँ विरोधी भाव की प्रीति होती है वहाँ अविरोधी स्वभाव की एकाग्रतारूप प्रीति नहीं होसकती। पर्याय के भेद से नहीं तरा जासकता।

शुद्धनय से नवतत्व को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है, इस हेतु से यह नियम कहा है। जहाँ विकारी होने योग्य और विकार करने वाला दोनों पुण्य हैं, तथा दोनों पाप हैं; वहाँ विकारी होने योग्य और विकार करने वाले जीव-अजीव दोनों में दो अपेक्षायें व्यवहार से हैं। जैसे सोने में परधातु के निमित्त से अशुद्धता कही जाती है उसीप्रकार यदि अशुद्ध अवस्था से भेदरूप होने की योग्यता न हो तो पर का आरोप नहीं होसकता। जीव को वर्तमान अवस्था में पर-निमित्त से विकारी होने की और कर्म को निमित्तभूत होने की—दोनों की स्वतंत्र योग्यता है।

कर्म सूक्ष्म परमाणु है उसमें दो प्रकार से निमित्त-नैमित्तिकरूप होने की अवस्था है। जीव को विकारीभाव करने में निमित्तकारण भीतर का द्रव्यकर्म है, और शरीर आदि नोकर्म बाह्य कारण हैं। स्वयं विकारी भाव करे तो संयोग में निमित्तकारण का आरोप होता है; यदि अविकारी भाव से स्वयं स्थिर रहे तो कर्म को अभावरूप से निमित्त कहा जाता है। जो निमित्त की अपेक्षा के बिना अकेला स्थिर रहता है उसे स्वभाव कहते हैं। कर्म के संयोगाधीन विकारी होने योग्य अवस्था जीव में न हो तो त्रिकाल में भी विकार नहीं होसकता। किन्तु विकारीपन स्वभाव नहीं

है। विकारी होने की योग्यता क्षणिक अवस्था है इसलिये बदली जासकती है और स्वभाव ध्रुव एकरूप ही स्थिर रहता है।

जबतक जीव विकारनाशक स्वभाव की प्रतीति नहीं करता तबतक विकार का कर्तृत्व है। जिसे पुण्य मीठा लगता है उस अज्ञानी जीव में पुराने कर्म के निमित्त से विकारी होने की और जो कर्मरूप होने की तैयारी वाले रजकण हैं उन्हें कर्मरूप होने में निमित्तरूप सिद्ध होने की योग्यता उसी जीव में है। इसप्रकार जीव की एक ही विकारी अवस्था में दो अपेक्षायें आती हैं। (१) विकारीरूप होने वाली और (२) विकार करने वाली।

जगत में अनन्त रजकण विद्यमान हैं वे सब आत्मा के विकाररूप होने में निमित्त नहीं होते। किन्तु जो रजकण पहले कर्मरूप बँध चुके हैं उन पुराने कर्मों का संयोग, जब जीव के शुभाशुभ भाव होते हैं तब निमित्तरूप कहलाता है, और जीव के वर्तमान राग-द्वेष का निमित्त प्राप्त करके ही जिस परमाणु में बन्धरूप होने की योग्यता होती है वह नवीन कर्मरूप में बँधता है।

जीव के विकार करते समय मोहकर्म के परमाणुओं की उदयरूप प्रगट अवस्था निमित्त है; उसके संयोग के बिना विकारी अवस्था नहीं होती किन्तु वह निमित्त विकार नहीं कराता। यदि निमित्त विकार कराता हो तो न तो स्वयं पृथक् स्वतंत्र कहला सकता है और न राग को ही दूर कर सकता है। दोनों स्वतंत्र वस्तु हैं। आत्मा में कर्म की नास्ति है, जो अपने में नहीं है वह अपनी हानि नहीं कर सकता। स्वयं स्वलक्ष्य से विकार नहीं किया जासकता किन्तु विकार में निमित्तरूप दूसरी वस्तु की उपस्थिति होती है। किसी की अवस्था किसी के कारण नहीं होती। जहाँ जीव के विकारी भाव करने की वर्तमान योग्यता होती है वहाँ निमित्तरूप से होने वाला कर्म विद्यमान ही होता है।

जो रजकण वर्तमान में लकड़ीरूप होने से पानी के ऊपर तैरने की शक्ति रखते हैं उन्हीं रजकणों का पिंड जब लोहे की अवस्थारूप

में होता है तब वह पानी में तनिक भी नहीं तैर सकता। इसीप्रकार पुद्गल में जिस समय जीव को विकार में निमित्त होने की और बंधने की योग्यता हुई तब अन्य अवस्था को बदलकर वह कर्मरूप अवस्था में होता है; उसरूप होने की शक्ति उसमें थी सो प्रगट होजाती है, उसमें जीव की विकारी अवस्था निमित्त है।

जब सूर्य का उदय होता है तब जो सूर्यविकासी कमल होते हैं वे ही खिलते हैं ऐसी उनकी योग्यता है; इसीप्रकार जीव के शुभाशुभ भाव का निमित्त पाकर जड़-परमाणु स्वयं कर्मरूप अवस्था धारण करते हैं, परमाणुओं में अनन्तप्रकार की अवस्थाओं के रूप में होने की शक्ति स्वाश्रित है, क्योंकि वह भी अनादि-अनंत सत् वस्तु है; उसमें अनंत प्रकार की शक्तियाँ स्वतंत्ररूप से विद्यमान हैं।

संसारी अवस्था में रहने वाले आत्मा के साथ स्थूल देह के अतिरिक्त भीतर सूक्ष्म धूल का (आठ कर्मों का) बना हुआ एक सूक्ष्म शरीर है वह कार्माण शरीर कहलाता है। कार्माण शरीर को द्रव्यकर्म भी कहते हैं। जैसे दाल, भात, साग, रोटी इत्यादि के रजकण रक्त, माँस इत्यादि अवस्थारूप में अपनी स्वतंत्र शक्ति से परिणामित होते हैं उसीप्रकार सूक्ष्म कर्मरूप होने की योग्यता जड़-रजकणों में थी जोकि अपनी शक्ति से कर्मरूप परिणामित होती है। जीव जड़ की कोई भी अवस्था नहीं कर सकता।

जीव में पुण्य-पाप के विकारी भाव करने की योग्यता है किन्तु उसके स्वभाव में वह विकार नहीं है; यदि स्वभाव में अशुद्धता हो तो वह कभी दूर नहीं होसकती। जब जीव बाह्यदृष्टि से अच्छा-बुरा मानकर पर में अटक जाता है तभी विकार होता है, वह प्रतिसमय नया होता रहता है। दया, हिंसा आदि अनेकप्रकार से पुण्य-पाप के विकारी भाव उत्पन्न होते हैं, वे भाव स्वाधीन स्वभावरूप नहीं हैं, उन विकारी भावों का नाश करने के बाद भी सिद्ध परमात्मा में प्रतिसमय निर्विकारी

अवस्था का परिणमन रहता है, अनंतआनंद की अनुभवरूप अवस्था प्रतिसमय बदलती रहती है।

अज्ञान और राग-द्वेष विकारी अवस्था को जीव की योग्यता कहा है क्योंकि वह जीव में होती है। ऐसा नहीं होता कि कोई अन्य वस्तु आत्मा से भूल करावे अथवा उसके भावों को बिगाड़े, क्योंकि आत्मा में जड़-कर्म का और समस्त परपदार्थों का अभाव है। प्रत्येक आत्मा सदा अपनेपन से है, और पररूप से अर्थात् किसी अन्य आत्मा के रूप से अथवा जड़ कर्मरूप से या शरीरादि पररूप से या पर के कार्य-कारणरूप से त्रिकाल में भी नहीं है। तुझे परवस्तु से कोई हानि-लाभ नहीं होता क्योंकि तुझमें उसका सर्वथा अभाव है। जहाँ गुण होता है वहाँ उससे विपरीतरूप वाला दोष होसकता है और ध्रुव एकरूप गुण की शक्ति के आधार से दोष को बदलकर गुण भी वहीं होसकता है; इसलिये तुझे हानि पहुँचाने वाला भाव भी तेरा ही है और उस विरोधी को दूर करने वाला भी तेरा ही स्वभाव है। जिससमय अविकारी अवस्था तुझमें तेरे आधीन होती है उसी समय कर्म की अवस्था उसके कारण बदलकर अन्यरूप होजाती है, उसमें तू नास्तिरूप से निमित्त होता है। इसप्रकार तेरा निमित्त प्राप्त करने की उसमें योग्यता थी इसलिए उसकी नैमित्तिक निर्जरारूप अवस्था हुई।

परमाणु में कर्मरूप विकारी अवस्था होने की योग्यता है और जीव में जो विकारीभाव होता है उसमें उस कर्म का निमित्त बन जाने की योग्यता है। जड़कर्म में और जीव में भी निमित्त-नैमित्तिक भाव है, इसप्रकार व्यवहार से जीव-अजीव में निमित्त-उपादान का (परस्पर निमित्त-नैमित्तिकरूप होने का) सम्बन्ध है।

इसप्रकार नवतत्व के विचार रागवान हैं, इस गाथा में यह बात उठाई है; उसमें एक-एक तत्व में दो-दो प्रकार से कथन किया है। यदि बाहर की चिंता को भूलकर एकाग्रतापूर्वक ध्यान दे तो यह सब समझ में आसकता है।

जो संस्कारी जीव हैं उन्हें बारह गाथाओं में ही यथार्थ स्वरूप समझ में आसकता है, ऐसा संक्षेप में सारभूत कथन किया गया है तेरहवीं गाथा में नवतत्त्वों को विस्तारपूर्वक समझाया गया है। वाणी से या शुभविकल्प से समझा जाता है यह व्यवहारकथन है, मैं पर-निमित्त से समझा हूँ इसप्रकार यदि वास्तव में मानले तो मिथ्यात्व है। जीव और अजीव दोनों त्रिकाल भिन्न हैं, एक पदार्थ में पर-निमित्त की अपेक्षा से भेद होता है। पर-निमित्त के बिना मात्र तत्त्व में विकार या भेद संभव नहीं है।

आत्मा में वर्तमान अवस्था में जो अपूर्णता और दुःख है वह त्रिकाल-स्थायी आनन्द गुण की—सुख गुण की वर्तमान निमित्ताधीन विकारी अवस्था है। अन्तरंग स्वभाव में दुःख नहीं है, जो पराश्रित विकार है सो वर्तमान एक-एक समय की अवस्था तक ही सीमित है; उसके अतिरिक्त संपूर्ण ध्रुवस्वभाव वर्तमान में भी पूर्ण अखण्ड निर्मल है। जो वस्तु सत् है वह नित्य स्वतंत्र होती है, अविकारी होती है, और यदि उसकी वर्तमान प्रगट अवस्था भी अविकारी ही हो तो आकुलता नहीं होसकती, किंतु वर्तमान अवस्था में आकुलता है इसलिये दुःख है। एक-एक समयमात्र की स्थिति से वर्तमान अवस्था में निमित्ताधीन भाव करने से आकुलता होती है। अपने स्वभाव की प्रतीति के कारण अनादिकाल से निराकुल शांति को छोड़कर जीव आकुलता का दुःख भोग रहा है।

विकार में पर-संयोग की निमित्तमात्र उपस्थिति है और अज्ञान-भाव से निमित्ताधीन होने की योग्यता अपनी है। परान्मुख होने से जीव में विकारी अवस्था होती है। जहाँ गुण ही नहीं होता वहाँ उस गुण की कोई अवस्था भी नहीं होती। जैसे लकड़ी में क्षमा गुण नहीं है इसलिये उससे विपरीत अवस्था क्रोध भी उसमें नहीं है। जहाँ गुण हो सकता है वहीं उस गुण की विकारी अथवा अविकारी अवस्था निज से हो सकती है; तथापि कभी भी गुण में दोष घुस नहीं जाते। गुण तो सदा एकरूप निर्मल रहते हैं। जिसे ऐसे त्रिकालस्वभाव का ज्ञान

नहीं है वह अपने में अपने ध्रुव अविकारी स्वभाव का अस्तित्व नहीं देखता और इसीलिये वह त्रिकाल एकरूप अखंड स्वभाव को नहीं मानता, प्रत्युत वर्तमान निमित्ताधीन विकार की प्रवृत्ति को ही देखता है।

आत्मा अखंड अक्रिय ज्ञानानंदरूप से ध्रुव है, उसका स्वभाव एकरूप अक्रिय है, उसे न देखकर वर्तमान अवस्था के पुण्य-पाप की क्रिया के शुभाशुभ विकार को देखता है; किन्तु वह पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्ति स्वभाव में नहीं है-स्वभावाधीन भी नहीं है, वह क्षणिक अवस्था निमित्ताधीन है। उस विकारी अवस्था का नाशक अपना ज्ञायक स्वभाव अविकारी ध्रुव है; इसे जो नहीं मानता उसे सम्यक्दर्शन नहीं होसकता। ज्ञानी क्षणिक विकारी अवस्था पर भार नहीं देता, उसकी रुचि की प्रबलता तो मात्र अविकारीपन पर होती है और वह उस स्वभाव के बल से स्थिर होने के कारण विकार का नाश करता है। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप से है और पर-वस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप से नहीं है। प्रत्येक आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावरूप से है जोकि निम्नप्रकार है:—

द्रव्यः—अपने अनन्त गुण-पर्याय का अखण्ड पिण्ड।

क्षेत्रः—अपना विस्ताररूप आकार (असंख्य प्रदेशी)

कालः—अपनी वर्तमान होने वाली प्रगट अवस्था।

भावः—अपने अनंत गुण अथवा त्रैकालिक शक्ति।

इसप्रकार प्रत्येक वस्तु अपनेरूप से है, पररूप से नहीं है। किसी के गुण अथवा अवस्था किसी दूसरे द्रव्य के कारण अथवा कार्यरूप से नहीं है, सहायक नहीं है। यदि यह माने कि पर-निमित्त से अपना कार्य होता है तो यह पर को और आत्मा को एक मानना कहलायेगा जोकि एकान्तदृष्टिरूप मिथ्यात्व है। शुभभाव से गुण-लाभ होता है इस मान्यता का अर्थ यह है कि राग मेरी सहायता करता है और जो यह मानता है वह अपने पृथक् गुणों को नहीं मानता, किन्तु रागरूप

विकार और अपने अविकारी स्वभाव को एक मानता है; और इसलिये वह भी एकान्तदृष्टिरूप मिथ्यात्व है।

प्रत्येक वस्तु अकारण स्वतंत्र है। परवस्तु के साथ व्यवहार से भी कार्य-कारण संबंध नहीं है। प्रत्येक वस्तु की निमित्त-नैमित्तिक भावरूप अवस्था स्वतंत्ररूप से होती है। किसी का बनना बिगड़ना किसी पर के आधीन नहीं है। जिसे हित करना हो उसे प्रत्येक वस्तु का ज्यों का त्यों अस्तित्व और स्वातंत्र्य मानना होगा।

अल्पज्ञ को नवतत्वों का विचार करने में द्रव्यमन* निमित्त तो है, किन्तु भीतर ज्ञान की विचार-क्रिया मन की सहायता से नहीं होती। भीतर गुण में उपादान की शक्ति है, वही शक्ति कार्य करती है। ज्ञान की जैसी तैयारी हो वहाँ सम्मुख वैसी ही अन्य जो वस्तु उपस्थित हो उसे निमित्त कहते हैं जोकि व्यवहार है, किन्तु यह मानना कि निमित्त से काम होता है सो नयाभास है। निमित्त है अवश्य, उसे जानने का निषेध नहीं करते, किन्तु ऐसा मानने से वस्तु पराधीन सिद्ध होती है कि उससे काम होता है या उसकी सहायता आवश्यक है। अपूर्ण ज्ञान के कारण और राग के कारण क्रम होता है, उसमें मन का अवलम्बन निमित्त है। पंचेन्द्रिय के विषय वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, और शब्द हैं, उनकी ओर के झुकाव को छोड़कर जब आत्मा नवतत्व इत्यादि का विचार करता है तब उसमें विचार करना सो ज्ञान की क्रिया है, जड़-मन की नहीं। शुभाशुभ विकल्परूप राग का भाव जीव में होता है, जड़ में नहीं। जड़-कर्म तो निमित्त है। नवतत्व का विचार क्रमशः होता है, मात्र स्वभावभाव से ज्ञान कार्य कर रहा हो तो क्रम नहीं होता। इन्द्रियों के विषय बन्द होजाने पर भी मन के योग से ज्ञान में भेद होजाते हैं, इससे सिद्ध हुआ कि मन भिन्न वस्तु है। मन ज्ञान से भिन्न वस्तु है यह बात ज्ञान से निश्चित् हो

---

* वक्षस्थल के मध्य भाग में आठ पंखुड़ियों वाला विकसित कमल के आकार रजकणों से निर्मित द्रव्यमन है।

सकती है। नवतत्व का विचार पंचेन्द्रिय का विषय नहीं है, और अकेला ज्ञान मन के अवलम्बन के विना कार्य करे तो एक के बाद दूसरे विचार का क्रम न हो, क्योंकि क्रम होता है इसलिये बीच में मन का अवलम्बन होता है। विचार में उसका अवलम्बन होता है किन्तु ज्ञान उसके आधीन नहीं है; ज्ञान तो स्वतंत्र है।

'मैं आत्मा हूँ' इस विचार में ऐसा अर्थ निहित है कि 'मैं कहीं भी हूँ तो अवश्य' पहले अज्ञानदशा में अपने अस्तित्व को पर में मान रखा था और परवस्तु पर लक्ष करके विकारोन्मुख होरहा था, उस पर-विषय से हटने और स्वविषय में स्थिर होने के लिये पहले ऐसे नवतत्व का विचार करना होता है कि 'मैं जीव हूँ, अजीव नहीं हूँ' मन का योग हुए विना नवतत्व का विचार नहीं होसकता, किन्तु द्रव्य-मन विचार नहीं करता, विचार तो भावमन से ही होता है। इस बात को भलीभाँति समझना चाहिये।

यहाँ पहले सम्यक्दर्शन के लिये चित्तशुद्धि के आँगन में आने की बात चल रही है। पहले अज्ञानदशा में (व्यवहार की अशुद्धि में) जो दूसरे पर गुण-दोष का आरोप कर रहा था वहाँ से हटकर अपने आँगन में (व्यवहारशुद्धि में) आगया है; उसके बाद पूर्व धारणा बदल जाती है और वह यह समझने लगता है कि विश्व में मेरे अतिरिक्त मुझे लाभ या हानि करने वाला कोई नहीं है। ऐसी मान्यता होने पर अनंत परवस्तु में कर्तृत्व की भावना नहीं रहती, और इसलिये तीव्र आकुलता दूर होजाती है।

व्यवहारशुद्धि की योग्यता में निम्नलिखित तीन प्रकार होते हैं:- (१) संसार की ओर का विचार बन्द करके, पंचेन्द्रिय के विषय के तीव्र राग से हटकर, मनशुद्धि के द्वारा यथार्थ नवतत्व की भूमिका में आजाना सो अपनी योग्यता है। (२) अपनी वर्तमान योग्यता और निमित्त की योग्यता की उपस्थिति को स्वीकार किया कि परवस्तु मुझे भूल में नहीं

डालती, किन्तु जब मैं परलक्ष्य से विकार करता हूँ तब मेरी ही योग्यता से भूल और विकार क्षणिक अवस्था में होता है; इस पाप के निमित्त से और विकल्प से किंचित् हटकर अपनी अवस्था के शुभव्यवहार में आगया, वह पुण्यभाव पूर्व का कोई कर्म नहीं कराता. यह निमित्त की अशुद्धता है। (३) निमित्तरूप जो देव, गुरु, शास्त्र हैं सो परवस्तु हैं; मेरी योग्यता की तैयारी हो कि वहाँ सच्चे देव-गुरु का निमित्त अपने स्वतंत्र कारण से उपस्थित होता है। तीर्थ-रूप व्यवहार से दूसरे को मोक्षमार्ग बताते हुए परमार्थ की श्रद्धा के लिये पहले नवतत्व के भेद करना पड़ते हैं; उस भेद से अभेद गुण में नहीं पहुँचा जाता, किन्तु अपनी निज की तैयारी करके जब अखण्ड रुचि के बल से यथार्थ निर्मल अंश का उत्पाद और विकार तथा भूल का नाश करता है तब अपने उन भावों के अनुसार निमित्त को (देव गुरु शास्त्र अथवा नवतत्व के भेदों को) उपचार से उपकारी कहा जाता है। यदि स्वतः न समझे तो अनन्तकालीन संसार संबंधी पराश्रयरूप व्यवहाराभास ज्यों का त्यों बना रहेगा।

प्रत्येक वस्तु की अवस्था निज से ही स्वतंत्रतया बदलती रहती है। किसी की अवस्था में कोई निमित्त कुछ नहीं कर सकता, दोनों पदार्थों की स्वतंत्र योग्यता को माने तब व्यवहार-पुण्यपरिणामरूप नवतत्वों की शुद्धि के आँगन में आया जाता है, और उस नवतत्व के विचार में से मात्र अविकारी स्वभाव को मानना सो सम्यक्दर्शन है। निमित्त-नैमित्तिकता अवस्था को लेकर व्यवहार से है; द्रव्य, द्रव्य का निमित्त व्यवहार से भी नहीं है।

पुराने कर्म की उपस्थिति का निमित्त पाकर (उसके उदय में युक्त होने से) जो शुभभाव किये जाते हैं उसमें अजीव निमित्त, और जीव की योग्यता उपादान होती है; और वह भावपुण्य है। दया, दान इत्यादि के शुभभाव का निमित्त पाकर जिन परमाणुओं में पुण्य बंधरूप होने की योग्यता थी वे उसके कारण से पुण्यबंधरूप हुए उसमें शुभभाव

(जीव) निमित्तकारण और पुद्गल परमाणुओं में पुण्यरूप होने की जो योग्यता है सो (अजीव की योग्यता) उपादान है; उसे द्रव्यपुण्य कहते हैं। इसप्रकार पाप-तत्व की बात भी समझ लेनी चाहिये।

भावपुण्य और भावपाप जीव की अवस्था में होते हैं तथा द्रव्य-पुण्य और द्रव्यपाप पुद्गल की अवस्था है। जिस रजकण में पुण्य-पापरूप कर्मबंध होने की योग्यता थी वह उसके द्रव्य की शक्ति से उसरूप हुआ और उसमें जीव की रागादिरूप विकारी अवस्था निमित्त हुई। इसप्रकार राग के निमित्त का संयोग पाकर द्रव्यकर्मरूप होने वाले जड़-परमाणु स्वतंत्र हैं। पूर्वबद्ध कर्मों का पाक (उदय) होने पर आत्मा उस ओर उन्मुख होकर निज लक्ष्य को भूल गया और अज्ञान-भाव से पुण्य-पाप के भाव किये अर्थात् विकारी होने की योग्यता आत्मा की है। इसप्रकार दो तरह की योग्यता अपने में और दो तरह की अवस्था सामने संयोग होने वाले पुद्गल-परमाणु में है।

जो यह कहता है कि जड़-कर्म मुझे विकार कराते हैं वह अपने को पराधीन और अशक्त मानता है। और दो तत्त्वों को (जीव और कर्म को) एक मानता है।

यदि कोई अज्ञानी यह कहे कि जैनधर्म में स्याद्वाद है इसलिये कभी तो जीव स्वयं विकार करता है और कभी कर्म विकार कराते हैं, कभी निमित्त से हानि-लाभ होता है और कभी नहीं होता; तो यह बात बिल्कुल मिथ्या है। स्याद्वाद का ऐसा अर्थ नहीं है। अरे! ऐसा 'फुदड़ीवाद' जैनधर्म में हो ही नहीं सकता। कोई वस्तु त्रिकाल में भी पराधीन नहीं है, जब स्वयं गुण-दोषरूप अपनी अवस्था को करता है तब निमित्त पर आरोप करने का व्यवहार लोकप्रसिद्ध है; किन्तु वह झूठा है। लोगों में ऐसा कहा जाता है कि यह घी का घड़ा है और यह पानी का घड़ा है, किन्तु घड़ा मिट्टी का अथवा पीतल इत्यादि का होता है।

दूसरे से गुण-लाभ होता है, दूसरे की सहायता आवश्यक है इस-प्रकार जिसने माना है उसे यह सब समझना कठिन है, क्योंकि उसने पुण्य-पाप को अपना ही मान रखा है। परन्तु पुण्य-पाप विकार हैं, व्रतादि के शुभराग से पुण्यबंध होता है किन्तु उस विकारी भाव से त्रिकाल में भी धर्म नहीं होता। जीव की वह विकारी अवस्था है और विकार के होने में पर-निमित्त है, किन्तु विकार ऊपरी दृष्टि से निमित्त होता है। विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है इसलिये आदरणीय नहीं है, ऐसा जानना सो भी व्यवहार है। अवस्थादृष्टि को गौण करके एक; रूप अविकारी ध्रुवस्वभाव के बल से अर्थात् निश्चयनय के आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट होकर सहज ही विकार का नाश हो जाता है। स्वभाव में विकार का नाश करने वाली और अनंतगुनी निर्मलता उत्पन्न करने वाली अपारशक्ति भरी हुई है; उसके बल को निमित्ताधीनदृष्टि-वाला कहाँ से समझ सकता है?

विकारी अवस्था में निमित्तभूत पूर्वकर्म का संयोग केवल उपस्थिति मात्र है, यदि मैं उसमें विकार भाव से युक्त होऊँ तो वह निमित्त कहलायेगा और यदि स्वरूप में स्थिर रहूँ तो वही कर्म अभावरूप निर्जरा में निमित्त कहलायेगा। इसप्रकार संयोगरूप परवस्तु में—निमित्त में उपादान के भावानुसार आरोप होता है।

यदि कोई कहे कि निमित्त होगा तो तृष्णा को कम करने का (दया, दान इत्यादि का) भाव होगा, अथवा कोई कहे कि यदि उसके भाग्य में प्राप्ति लिखी होगी तो मुझे दान देने का भाव उत्पन्न होगा, तो यह दोनों धारणायें मिथ्या हैं। जब स्वयं अपनी तृष्णा को कम करना चाहे तभी कम कर सकता है। बाह्य-संयोग की क्रिया अपने अधीन नहीं है किन्तु तृष्णा को कम करने का शुभभाव तो स्वयं अपने पुरुषार्थ से चाहे जब कर सकता है। अपने भाव में तृष्णा को कम करे तो दानादिक कार्य सहज ही होजाते हैं। यह विचार मिथ्या है कि अमुक व्यक्ति के पास पैसा जाना होगा तो मेरे मन में दान

करने के भाव होंगे, अथवा अमुक व्यक्ति बचने वाला होगा तो मेरे मन में दया के भाव आयेंगे; क्योंकि अशुभभाव को बदलकर स्वयं चाहे जब शुभभाव कर सकता है।

जो नवतत्त्वों को यथार्थ समझने में अपनी बुद्धि नहीं लगाता वह पर से भिन्न भगवान चिदानंद आत्मा का निःसंदेह निर्णय करने की शक्ति कहाँ से लायेगा ? सच्चे नवतत्त्वों के आँगन में आये बिना परिपूर्ण स्वभाव की यथार्थ स्वीकृति नहीं होसकती। मन की शुद्धिरूप नवतत्त्वों को जानने के बाद उन नव के विकल्प के व्यवहार का चूरा करके निमित्त और विकल्प का अभाव करे तब भेद का लक्ष्य भूलकर एकरूप स्वभाव में आया जासकता है। निमित्त और अवस्था को यथावत् जानना चाहिये, किन्तु उसका आदर नहीं करना चाहिये, उस पर भार नहीं देना चाहिये।

जो ऐसा मानता है कि पर से हिंसा या अहिंसा होती है वह दो तत्त्वों की स्वतंत्रता या पृथक्ता को नहीं मानता। वास्तव में पर से हिंसा नहीं होती किन्तु आयु के क्षय होने से जीव मरता है, किन्तु उसे मारने का जो अशुभभाव आत्मा ने किया वही आत्मा के गुणों की हिंसा है। कोई शत्रु अथवा कोई भी वस्तु पाप का भाव कराने के लिये समर्थ नहीं है, किन्तु जब आत्मा पापभाव करता है तब उसकी उपस्थिति होती है। प्रत्येक वस्तु का उपादान अपनी सामर्थ्यरूप स्वतंत्र शक्ति से है, उसका कार्य होने के समय बाह्य-संयोगरूप निमित्त अपने ही कारण से उपस्थित होता है। दोनों स्वतंत्र है; ऐसे निर्णय की एक ही कुँजी से उपादान-निमित्त के सभी ताले खुल जाते हैं। किसी वस्तु का कार्य होते हुए उस समय साथ में दूसरे की उपस्थितिमात्र होती है जिसे सहकारी निमित्त कहते हैं, किन्तु उसकी प्रेरणा सहायता अथवा कोई प्रभाव नहीं होता।

जीव की अवस्था जीव की योग्यता के कारण होती है। वह जब परोन्मुख होकर रुक जाता है तब रजकण स्वयं ही अपनी योग्यता के

कारण बँध जाते हैं और जब वह स्वोन्मुख होकर रुक जाता है और गुण का विकास करता है तब रजकण अपने ही कारण से प्रथक् होजाते हैं। उन रजकणों की किसी भी अवस्था को आत्मा नहीं कर सकता और आत्मा का कोई भाव रजकणों को नहीं बदल सकता दोनों की स्वतंत्र अवस्था अपने-अपने कारण से है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्रता को स्वीकार करना सो व्यवहारशुद्धि है।

जड़ और चेतन सम्पूर्ण वस्तुओं की अवस्था अपने-अपने आधार से होती है। किसी भी वस्तु की कोई अवस्था पर के आधार से कभी नहीं होती, कोई किसी पर प्रभाव अथवा प्रेरणा भी नहीं कर सकता; इसप्रकार मानना सो सम्यक्-अनेकान्तरूप वीतराग धर्म है। यदि यह मान जाय कि निमित्त के प्रभाव से किसी की अवस्था होती है तो व्यवहार स्वयं ही निश्चय होगया, क्योंकि उसमें त्रिकालस्थायी अनंत सत् को पराधीन और निर्माल्य माननेरूप मिथ्याएकान्त अधर्म है।

पुराने कर्मोदय में युक्त होकर जीव पुण्य-पाप के जो विकारीभाव करता है सो भावास्रव है, और उस भाव का निमित्त पाकर पुण्य-पाप रूप-कर्मरूप होने की योग्यता वाले रजकण जीव के पास एक क्षेत्र में आते हैं सो वह द्रव्यास्रव है। जीव पुण्य-पाप के आस्रवरूप जैसे भाव करता है उसका निमित्त प्राप्त करके उसी अनुपात में वैसे ही पुण्य-पापरूप रजकणों का बंध होता है। इसप्रकार व्यवहार से दोनों परस्पर निमित्त और नैमित्तिक हैं। यद्यपि जड़ रजकणों को कोई ज्ञान नहीं होता और वे जीव का कुछ भी नहीं करते किन्तु अज्ञानी मानता है कि उनका मुझ पर असर होता है और मेरे द्वारा जड़ का यह सब कारभार होता है, मैं ही कर्म की पर्याय को बाँधता हूँ और मैं ही छोड़ता हूँ।

जिसप्रकार तराजू के एक पलड़े में एक सेर का बांट रखा हो और दूसरी ओर ठीक एक सेर वजन की वस्तु रखी जाय तो उस तराजू की डण्डी ठीक बीच में आकर स्थिर होजाती है, उसमें उसे ज्ञान की

आवश्यकता नहीं होती, इसीप्रकार शुभाशुभ कर्मों में भी ऐसी ही विचित्र योग्यता है। जड़कर्मों में ज्ञान नहीं होता तथापि जीव जैसे रागादि भाव करता है वैसे ही निमित्तरूप प्रस्तुत जड़-रजकण अपने ही कारण से कर्मरूप अवस्था धारण करते हैं-उनमें अपनी ऐसी योग्यता होती है। जड़वस्तु में अपनी निज की अनन्तशक्ति है, और वह अनन्तशक्ति अपने प्रति है। रजकण एकसमय में शीघ्रगति करके नीचे के अंतिम सातवें पाताल से उठकर ऊपर चौदहराजु लोक के अग्रभाग तक अपने आप चला जाता है। उसकी शक्ति जीव के आधीन नहीं है, तथापि स्वतंत्र भाव से ऐसा निमित्त-नैमित्तिक मेल है कि जहाँ जीव के राग-द्वेष का निमित्त होता है वहाँ कर्मरूप बँधने योग वैसे रजकण विद्यमान होते हैं। दूध के मीठे रजकण दहीरूप में खट्टे होजाते हैं सो वे अपने स्वभाव से होते हैं, उन्हें कोई करता नहीं है। लकड़ी तैरती है और लोहा डूब जाता है वह उस समय की पुद्गल की अपनी ही अवस्था का स्वभाव है। आत्मा का भाव आत्मा के आधीन और जड़ की अवस्था जड़ के आधीन है, तथापि मात्र एकाकी स्वभाव में विकार नहीं होसकता। इसप्रकार दो स्वतंत्र पदार्थों में व्यवहार से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है और परस्पर एक क्षेत्रावगाहरूप संयोग होता है, तथापि एक दूसरे की अवस्था को कर सकने योग्य सम्बन्ध नहीं है; ऐसा मानना सो अभूतार्थ-नय (व्यवहार) को स्वीकार करना कहलायेगा। निमित्त और विकारी योग्यतारूप अवस्था को स्वीकार करने के बाद, पूर्ण अविकारी ध्रुवस्वभाव को देखना मुख्य रहता है। स्वभाव के बल से भीतर से निर्मल अवस्था प्रगट होती है, वारंवार अखण्ड निर्मल, एकाकार ज्ञायकस्वभाव की दृढ़ता के बल की रटन होती है। यह सम्यक्दर्शन और संवर होने की पहली बात है।

आत्मा का स्वभाव पुण्य-पाप के क्षणिक विकारीभाव का नाशक है यह जानकर उसके आश्रय से संवरभाव को प्रगट करने की अपनी योग्यता होती है। यह मानना पाखण्ड है कि अच्छे संयोग मिलें और

कर्म मुझे मार्ग दें तब धर्म करने की सूझे। जिसकी ऐसी विपरीत धारणा है कि भाग्य में अच्छा होना लिखा होगा तो धर्म होगा उसे स्वतंत्र धर्मस्वभाव की खबर ही नहीं है। अखण्ड स्वभाव में अपार गुणों की पूर्ण शक्ति भरी हुई है, उसके विश्वास से निर्मल पर्याय की उत्पत्ति और विकारी पर्याय का सहज नाश होता है।

लोग अनादिकाल से यह मानते हैं कि देहादि की क्रिया तो हम करते हैं, किंतु अनन्तज्ञानी निःशंकतया यह घोषित करते हैं कि शरीर की एक अँगुली हिलाने की भी किसी आत्मा की शक्ति नहीं है, आत्मा मात्र अपने में ही हित या अहित अथवा ज्ञान या अज्ञान कर सकता है। जबतक जीव को यह बात समझ में नहीं आयेगी तबतक अपने स्वभाव में विरोधी मान्यता बनी ही रहेगी।

निरावलम्बी एकरूप स्वभाव के बल से अशुद्धता रुक जाती है सो भावसंवर है, यह योग्यता आत्मा की है। और पुद्गल परमाणुओं का नये कर्मों के रूप में होना रुक जाय सो द्रव्यसंवर है; यह योग्यता जड़ की है। यदि पाप का भाव करे तो उदयरूप कर्म को पापभाव में निमित्त कहा जाता है, और यदि स्वभाव का आश्रय करे तो उसी कर्म को संवर करने वाले निमित्तरूप का आरोप होता है। इसप्रकार अपने भावानुसार निमित्त में आरोप करने का व्यवहार है। दोनों में परस्पर निमित्ताधीन अपेक्षा से और स्वतंत्र उपादान की योग्यता से संवार्य (संवर-रूप होने योग्य) और संवारक (संवर करने वाला) ऐसे दो भेद हो जाते हैं।

मात्र निरपेक्ष स्वभाव में नवतत्व के भेदरूप विचार का क्रम नहीं होता, और विकल्प के भेद नहीं होते। निमित्त और अपनी विकारी अवस्था ज्यों की त्यों जानने योग्य हैं, किंतु वह आदरणीय नहीं हैं। नवतत्व के विचाररूप शुभभाव भी सहायक नहीं हैं, इसप्रकार जानना सो व्यवहारनय को स्वीकार करना है।

प्रत्येक वस्तु में अनादि-अनन्त स्वतंत्र गुण हैं। परमाणुरूप वस्तु में स्पर्श, रस, गंध इत्यादि गुण अनादि-अनन्त स्वतंत्र हैं। गुण स्थिर रहते हैं और गुणों की अवस्था में परिवर्तन होता है, अवस्था में परिवर्तन होना अपने-अपने आधीन है। प्रत्येक आत्मा में ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, वीर्य इत्यादि गुण अनादि-अनन्त विद्यमान हैं। उसकी अवस्था का बदलना अपने आधीन है। आत्मा अनेक प्रकार के विकारी भावों को अलग करदे तब भी अविकारी एकरूप रहकर अवस्था को बदलने का स्वभाव रहता है।

आत्मा के स्वभाव में कभी कोई अंतर नहीं पड़ता इसलिये उसमें पर-निमित्त की अपेक्षा का भेद नहीं होता, किन्तु मैं रागी हूँ, मैं पर का कर्ता हूँ, पर मुझे हानि-लाभ कर सकता है ऐसी मान्यता से अवस्था में स्वभाव का विरोधी विकार हुआ करता है, वैसे भाव जब स्वयं करे तब होते हैं। वे क्षणिक विकार गुणों की विपरीत अवस्था से नवीन होते हैं, वह विपरीत अवस्था ही संसार है, जड़ में अथवा परवस्तु में संसार नहीं है। आत्मगुणों की सम्पूर्ण निर्मलता मोक्ष है, और स्वभावोन्मुख होने वाली अपूर्ण निर्मल अवस्था मोक्षमार्ग है। उसमें नवीन गुण प्रगट नहीं होते किन्तु गुणों की विपरीत अवस्था बदलकर प्रतिक्षण निर्मल अवस्था प्रगट होती जाती है। गुण त्रिकाल एकरूप ध्रुव है, उसकी पर्याय बदलती रहती है। विपरीत धारणा बदलकर सीधी धारणा ध्रुवस्वभाव के आधार से होती है। निमित्त के लक्ष्य से अथवा अवस्था के लक्ष्य से निर्मलदशा प्रगट नहीं होती किन्तु उलटा राग होता है।

आत्मा में दया, दान, भक्ति इत्यादि के शुभभाव तथा हिंसा, तृष्णा आदि के अशुभभाव करने की उपादानरूप योग्यता है, और उसमें निमित्तरूप होने की जड़कर्म में योग्यता है, किन्तु उपादान और निमित्त दोनों स्वतंत्र हैं, ऐसा स्वीकार करने पर दूसरे पर दोष डालने का लक्ष्य नहीं रहता; मात्र अपने ही भाव देखने होते हैं। कोई परवस्तु मुझमें

पुण्य-पाप आदि के भाव नहीं कराती। परवस्तु मेरी तृष्णा को कम या अधिक नहीं कर सकती, तथा मैं किसी अन्य को बचा या मार नहीं सकता इसप्रकार कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता, किन्तु मात्र वैसे भावरूप रागद्वेष–अज्ञान कर सकता है अथवा रागद्वेष को दूर करके ज्ञान कर सकता है। आत्म के कोई भाव वाह्य-प्रवृत्ति से नहीं होते।

यदि कोई कहे कि जसे वाह्य-निमित्त मिलते हैं वैसे भाव होते हैं–जव वाहर बुरे निमित्त मिलते हैं, शरीर में रोग इत्यादि होता है तव अशुभभाव होते हैं; और जव वाह्य में धन, पुत्र, निरोगता, अनुकूलता इत्यादि होती है तव शुभभाव होते हैं; तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है। जो इसप्रकार मानता है वह यह नहीं मानता कि वह स्वयं पर से भिन्न स्वतंत्र है। परवस्तु का क्षेत्रान्तर, भावान्तर अथवा अवस्थान्तर त्रिकाल में भी किसी के अधीन नहीं है। जो वस्तु पराधीन है वह सत् ही नहीं कही जासकती।

जिसे व्यवहार से यथार्थ नवतत्व भी समझ में नहीं आसकते उसे नवतत्वों के विकल्प का अभाव करके एकाकार परमार्थ में आने का अवकाश नहीं है। अनन्तवार वीतराग धर्म के नाम पर उत्कृष्ट क्रिया अथवा शुभभाव करके जो जीव नव-ग्रैवेयक तक गया उसने नवतत्वों के भेद को तथा देव, गुरु, शास्त्र को तो यथावत् माना था, उसके नग्न दिगम्बर दशा और निरतिचार पंचमहाव्रत भी थे, तथापि उसे एकमात्र स्वतंत्र तत्व की अंतरंग में ऐसी श्रद्धा नहीं हुई कि मैं विकल्प-रहित हूँ, उद्भूत शुभवृत्ति भी मेरा स्वरूप नहीं है, वह मुझे सहायक नहीं है, मैं तो चिदानंद ज्ञानमूर्ति हूँ; इसलिये उसे धर्म प्राप्त नहीं हुआ।

व्यवहारश्रद्धा में जिसकी भूल है, जिसे प्राथमिक चित्तशुद्धि के सच्चे निमित्त की पहिचान नहीं है, उसके परमार्थश्रद्धा करने की शक्ति नहीं है, परमार्थ की श्रद्धा के विना जन्म-मरण को दूर करने का उपाय नहीं होसकता। निमित्तरूप व्यवहारशुद्धि के आँगन में आ खड़ा हो तो

पुण्यबंध होसकता है किन्तु भवभ्रमण कम नहीं होसकता। जिस जीव को सर्वज्ञ-कथित सच्चे नवतत्वों की तथा सच्चे देव गुरु शास्त्र की व्यवहार से यथार्थ पहिचान नहीं है वह मिथ्यादृष्टि का भी उच्चपुण्य नहीं बांध सकता; क्योंकि जिसके पुण्य के निमित्त भी अपूर्ण हैं अथवा मिथ्या हैं उसके पुण्य के भाव भी पापानुबंधी पुण्य वाले अपूर्ण होते हैं।

राग को दूर करके निर्मल अवस्था उत्पन्न करने के लिए ध्रुव एकरूप स्वभाव में त्रिकाल शक्ति भरी हुई है, उसका अवलम्बन एक वीतराग-भावरूप होता है, जबकि राग के अनेक प्रकार होने से राग के अवलंबन भी अनेक प्रकार के होते हैं। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र तथा स्त्री, कुटुम्ब, देहादि सब अशुभराग के अवलंबन हैं। कुदेव आदि को मानने वाला कभी अशुभराग को अत्यधिक कम करदे तथापि वह बारहवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जासकता, और सच्चे नवतत्वों के भेद तथा सच्चे देव, शास्त्र, गुरु को मानने वाला उत्कृष्ट शुभभाव करे तो नवमें ग्रैवेयक तक जाता है। जीव राग के पक्ष से न छूटे और यथार्थ श्रद्धा न करे तबतक वह चौरासी लाख के जन्म-मरण में परिभ्रमण करता रहता है।

जो यह मानता है कि सम्यक्त्व गुण और संवर होने की योग्यता गुरु देदेंगे, और गुरु की प्रेरणा से मुझमें गुण का विकास होजायगा वह स्वतंत्रता को ही नहीं मानता। जो दूसरे से सहायता और दूसरे से हानि-लाभ मानता है वह अपनी स्वतंत्रता की शक्ति को नहीं समझता और उसने अपने स्वभाव को यथार्थतया नहीं जाना है। सम्यक्त्व होने से पूर्व और पश्चात् जहाँतक वीतरागी स्थिरता न हुई हो वहाँ तक शुभराग में निमित्त (देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि) की ओर का लक्ष्य रहता है, उसे ज्ञानी धर्म के खाते में नहीं डालते। पहले से ही अनादि-काल से माना गया (पर-निमित्त से धर्म होता है) खोटा खाता बदलने की आवश्यक्ता है।

निर्जरण के योग्य और निर्जरा करने वाले जीव-अजीव दोनों हैं। उनमें से शुभाशुभरूप अशुद्धभाव को नाश करने की स्वतंत्र योग्यता जीव की है। आत्मा के ध्रुवस्वभाव के लक्ष्य से अशुद्धता का अंशतः दूर होजाना और शुद्धता की अंशतः वृद्धिरूप अवस्था का होना सहज होता है, वह भावनिर्जरा है। अशुद्धता में जो निमित्त कर्म था उस कर्म में दूर होने की योग्यता उसके कारण होकर जो निर्जरण योग्य रजकणों की अवस्था बदली सो द्रव्यनिर्जरा है।

प्रभु ! तेरी महत्ता के गुण गाये जारहे हैं। अनंतकाल में अनंतबार नवतत्व के आँगन तक गया किन्तु भीतर प्रवेश किये बिना तू अपने आँगन से वापिस आया है। चित्तशुद्धि के आँगन में जाना पड़ता है (नवतत्व का भेदरूप ज्ञान करना पड़ता है) किन्तु आँगन को साथ लेकर घर में प्रवेश नहीं किया जाता।

समयसार परम अद्भुत ग्रंथ है। अब एक भी भव नहीं चाहिये ऐसी सावधानी के साथ पात्र होकर सत् समागम से जो समझता है वह कृतकृत्य होजाता है; व्याकुलता का नाम भी नहीं रहता। टीका में भी आचार्यदेव ने अद्भुत काम किया है। केवलज्ञानी के हृदय का अमृत प्रवाहित किया है। मात्र सत् की जिज्ञासा से मध्यस्थ होकर समझना चाहे, अंतरंग की उमंग से बराबर पात्र होकर, समागम करके, सत्य को सुने तो स्वतः उछलकर अंतरंग में यथार्थता का स्पर्श हो जाता है, तथा स्वभाव में से यथार्थता का उद्भव होकर कृतकृत्य हो जाता है ऐसी सुन्दर-सरस बात आचार्यदेव ने कही है।

जो सत् को समझने के जिज्ञासु हैं तथा जो पात्र हैं उन्हें आचार्यदेव यह सब समझाते हैं, और वे जो समझ सकें ऐसी ही बात कही जारही है। पहले आचार्यदेव ने कहा था कि मैं और तुम सब सिद्ध परमात्मा के समान हैं। इसप्रकार निज–पर के आत्मा में पूर्णता (सिद्धत्व) को स्थापित किये बिना सत्य को नहीं समझाया जासकता। तू भी परमार्थतः त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा आनंदमूर्ति भगवान है।

जो-जो पूर्ण गुण सिद्ध परमात्मा में हैं वे सभी तुझमें भी हैं और जो सिद्ध में नहीं है वे तुझमें भी नहीं हैं। ऐसा परमार्थस्वभाव वर्तमान अवस्था में भी अखंडरूप से भरा हुआ है। यदि उस पूर्ण का विश्वास न जमे और भव की शंका दूर न हो, तो कहना होगा कि तूने न तो केवलज्ञानी को माना है और न उनके उपदेश को माना है।

समस्त आत्मा ज्ञातास्वरूप हैं, तू भी ज्ञानस्वरूप आत्मा है, यह खूब जानकर कहा जारहा है, तू पन्चेन्द्रिय है अथवा मनुष्य है यह कहकर उपदेश नहीं देते हैं।

अशुभराग में संसार सम्बन्धी निमित्त होता है और शुभराग में सच्चे देव, गुरु, शास्त्र आदि शुभनिमित्त होते हैं, सम्यक्दृष्टि के राग नहीं होता, वह राग को या पर के अवलम्बन को स्वीकार नहीं करता। अवस्था में पुरुषार्थ अशक्त होता है वहाँ राग का अवलंबन अनेक प्रकार का होता है। इसमें पूर्ण होने से पहले बीच में व्यवहार तथा शुभराग में क्या निमित्त होता है उसका स्पष्टीकरण होजाता है। जहाँ राग की दिशा बदल जाती है वहाँ बाह्य-लक्ष्य में देव, गुरु, शास्त्र, पूजा, भक्ति, व्रतादि का शुभभाव होता है। शुभभाव करने पर संयोग में शुभ निमित्त का आरोप होता है, और अशुभभाव करे तो संयोग में अशुभनिमित्त का आरोप होता है; तथा यदि पर-निमित्त के भेद के बिना स्वभाव में रहकर ज्ञान ही करे तो वही संयोग (निर्जरा में) अभावरूप निमित्त कहलाते हैं। इसप्रकार निमित्त में अपने भावानुसार आरोप होता है। निमित्त से पर का कार्य नहीं होता, किन्तु कार्य के समय उसकी उपस्थिति होती है। यहाँ दो तत्वों की स्वतंत्र योग्यता को स्वीकार करने की बात है।

पर-पदार्थ की ओर लक्ष्य का होना सो राग है। पर में लक्ष्य करके रुक जाना सो पर-विषय है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द के विषय में रागद्वारा रुककर अच्छे-बुरे की वृत्ति करना सो पर-विषय है। ज्ञानी के उसका स्वामित्व नहीं होता, किन्तु अखण्ड ध्रुवस्वभाव का

स्वामित्व और उसकी ही मुख्यता है। उस अखण्ड स्वभाव के बल से प्रतिसमय निर्मलता बढ़ती है, मलिनता की हानि होती है और अशुद्धता में निमित्तभूत कर्म की निर्जरा होती है। बीच में जो राग रह जाता हैं उसमें देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति तथा व्रत, संयम इत्यादि शुभभाव के निमित्त होते हैं, किंतु निमित्त से राग नहीं होता और निमित्त के लक्ष्य के बिना राग नहीं होता। स्वभाव में भेद का निषेध है, रागरहित गुण पर पड़ी हुई दृष्टि गुणकारी है। जो राग रह गया है उसके प्रति न आदर है, न स्वामित्व है और न कर्तृत्व है।

निमित्त अथवा अवलम्बनरूप राग लाभदायक नहीं है, सहायक नहीं है किन्तु स्वावलम्बी स्वभाव की ओर दृष्टि के बल से जितना राग दूर होगया उतना लाभ होता है; अवशिष्ट शुभराग भी हानिकारक है। जहाँ पुरुषार्थ की अशक्ति होती है वहाँ राग का भाग होता है किन्तु उसमें ज्ञानी के कर्तृत्वबुद्धि नहीं होती। मैं राग नहीं हूँ, मैं विकार करने योग्य नहीं हूँ; इसप्रकार विरोधभाव का निषेध करने वाला भाव, यथार्थ श्रद्धा की रुचि हो तो शुभभाव है। स्वलक्ष्य से राग का निषेध और स्वभाव का आदर करने वाला जो भाव है वह निमित्त और राग की अपेक्षा से रहित भाव है; उसमें आंशिक अवलम्बन का भेद तोड़कर यथार्थ का जो बल प्राप्त होता है वह निश्चय-सम्यक्दर्शन का कारण होता है।

संवर का अर्थ है पुण्य-पाप के भावों को रोकना, उन विकारी भावों को रोकना मेरे पुरुषार्थ के आधीन है। उसमें कोई दूसरा सहायता करे तब गुण प्रगट हों ऐसी बात नहीं है। ध्रुवस्वभाव के आश्रय से संवरभाव की उत्पत्ति और आस्रवरूप विकारी भाव का रुकना होता है तथा उसके कारण से आते हुए कर्म रुक जाते हैं। रजकणों को बाँधना, रोकना या छोड़ना मेरे आधीन नहीं है।

निर्जरा:—स्वयं राग के उदय में युक्त नहीं हुआ और मैं ज्ञान हूँ इसप्रकार स्वलक्ष्य में स्थिर रहा तब वहाँ पूर्वकर्म का उदय अभाव

रूप निर्जरा में निमित्त कहलाता है। विकार का अभाव करके शुद्धि की वृद्धि करना सो भावनिर्जरा है और कर्म का आँशिक अभाव होना सो द्रव्यनिर्जरा है। भीतर कर्म में किसप्रकार का जोड़-मेल होता है यह दिखाई नहीं देता, किन्तु निमित्त कर्म में जितना जोड़-मेल होता है उतनी राग-द्वेष की आकुलतारूप भावना का अनुभव होने पर ज्ञान से माना जासकता है। जसे पर में सुख मानने की कल्पना अरूपी है, वह सुख पर में देखकर नहीं माना तथापि उसमें वह निःसंदेहता मान बैठा है। वह ऐसा संदेह नहीं करता कि उसमें जो सुख है उसको यदि अपनी दृष्टि से देखूँ तभी मानूँगा। कपट का, आकुलता का भाव आँखों से दिखाई नहीं देता तथापि उसे मानता है, उसे पर में देखे बिना निःसंदेह मानता है। उस मान्यता का भाव अपना है। उस मान्यता को बदलकर अपने में जोड़े तो आत्मा में अरूपी भाव को मान सकता है कि परलक्ष्य में वर्तमान अवस्था से न रुका हूँ तो राग की उत्पत्ति न हो। पर में निःसंदेहरूप से सुख मान रखा है उस मान्यता को बदलकर अविरोधी स्वभाव को माने तो स्वयं इसप्रकार निःसंदेह होसकता है कि मैं त्रिकाल स्वाधीन हूँ, पूर्ण हूँ। निर्जरा प्रत्यक्ष नहीं देखी जासकती किन्तु अनुभव में जो निराकुल शांति की वृद्धि होती है उतना तो स्वतः निश्चित होता है, और यह अनुमान हो सकता है कि उससे उसके विरोधी तत्व निमित्तकारण का अभाव हुआ है। प्रत्यक्ष तो केवलज्ञान में दिखाई देता है। भीतर जो सूक्ष्मकर्म टल गये हैं उन्हें देखने का मेरा काम नहीं है किन्तु पुरुषार्थ से अपने ध्रुवस्वभाव को स्वीकार करके जितना स्वभाव की ओर एकाग्रता की शक्ति को लगाता हूँ उतना वर्तमान में फल प्राप्त होता है। वह निःसंदेहता स्वभाव के आश्रय से आती है।

यदि कोई कहे कि मैं पुरुषार्थ तो बहुत करता हूँ किन्तु पूर्वकर्म के उदय का बहुत बल है सो इच्छित फल नहीं मिल पाता तो यह बात मिथ्या है, क्योंकि कारण की बहुलता हो और कार्य (उसका

फल) कम हो ऐसा नहीं होसकता। अपने पुरुषार्थ की कमी को न देखकर पर-निमित्त के बल को देखता है, यही सबसे बड़ा गड़बड़ घोटाला है। निमित्तदृष्टि संसार है, और स्वतंत्र उपादान-स्वभाव-दृष्टि मोक्ष है।

प्रश्न:—यदि यह सच है तो शास्त्र में ऐसा क्यों लिखा है कि वीर्यांतराय कर्म का आवरण आत्मवीर्य को रोकता है ?

उत्तर:—कोई किसी को नहीं रोकता। जब स्वयं अपने विपरीत पुरुषार्थ से हीन शक्ति को लेकर अटक जाता है तब निमित्तरूप से जो कर्म उपस्थित होता है उसमें रोकने का आरोप कर दिया जाता है। यह तो 'घी का घड़ा' कहने के समान व्यवहार की लोकप्रसिद्ध कथनशैली है, किन्तु वैसा अर्थ नहीं होता। अपने भावानुसार निमित्त में आरोप करके व्यवहार से बात कही है। जो यह कहता है कि त्रिकाल में निमित्त से कोई रुकता है तो वह झूठा है। यदि कोई अन्य वस्तु अपने को रोकती हो या हानि पहुँचाती हो तो उसका अर्थ यह हुआ कि वह स्वयं निर्माल्य है। वह स्वयं ही परलक्ष्य करके विपरीत पुरुषार्थ से अपने को हीन मानता है। यदि स्वयं ज्ञान स्वभावरूप में रहे तो विकास होना चाहिये, किन्तु उसकी जगह पर मैं अच्छा-बुरा मानकर जब स्वयं रुक जाता है तब कर्म में निमित्तता का आरोप करता है।

मात्र आत्मा में अशुद्धता को दूर करूँ ऐसा विकल्प कहाँ से आता है ? अकेले में टालने की बात नहीं होती किन्तु जहाँ पर-निमित्त में राग से रुक गया वहाँ निमित्ताधीन किये गये विकारभाव को दूर करने का विचार होता है। भीतर स्वभावरूप से त्रिकाल ध्रुव अनंत गुण की शक्ति है उस अखंड के बल से शक्ति में से निर्मल अवस्था प्रगट होती है। संसार की विकारी अवस्था की स्थिति एक-एक समयमात्र की है वह प्रति समय नई वर्तमान योग्यता को लेकर (निमित्ताधीन) आत्मा स्वयं जैसा करता है वैसा होता रहता है, निमित्त कुछ कराता।

जैसे पानी के ऊपर तैल की बूँद तैरती रहती है उसीप्रकार सम्पूर्ण ध्रुव-स्वभाव पर वर्तमान एक-एक अवस्थामात्र का जो विकारी भाव है सो तैरता रहता है। ध्रुवस्वभाव में वह प्रतिष्ठा को नहीं पाता। विकार में जीव की योग्यता और निमित्त की उपस्थिति होती है। जब दोनों को स्वतंत्र स्वीकार करते हैं तब नवतत्व का ज्ञान मन के राग के द्वारा यथार्थ किया गया कहलाता है।

बंधः—आत्मा स्वयं अपने विकारीभाव से बंधने योग्य है। उस बंधने योग्य अपनी जो अवस्था है सो भावबंध और उसका निमित्त प्राप्त करके अपनी योग्यता से जो नये कर्म बंधते हैं सो द्रव्यबंध है।

कोई किसी को नहीं बांधता। जीव बंधनरूप विकार करके, परोन्मुख होकर जब अच्छे-बुरे भाव में अटक जाता है तब पर-निमित्त होने का आरोप होता है, और यदि स्वलक्ष्य में स्थिर रहे तो निर्मल शक्ति का विकास होता है। विकासरूप न होकर पर-विषय में विकार भाव से योग करके अर्थात् वर्तमान अवस्था को उसी समय हीन कर दिया सो भावबंध है, वही परमार्थ आवरण है। उस विकाररूप होने वाले आत्मा की जो राग-द्वेषरूप अवस्था होती है सो भावकर्म है। प्रथम समय से दूसरे समय की जो अरूपी अवस्था विकाररूप में परिणत होती है सो क्रिया है; इस भावबंध का कर्ता अज्ञानता से जीव है। जीव न तो जड़-कर्म का कर्ता है और न कर्मों ने जीव को रोक रखा है।

वर्तमान एकसमय की स्थिति में होने वाले नये बंध को स्वतः रोकने की शक्ति जीव में होती है। प्रगट विकारी अवस्था के समय भी प्रतिसमय द्रव्य में त्रैकालिक पूर्ण शक्ति से अखण्डता है, जो इसे नहीं मानता उसने अपने स्वभाव को हीन मान रखा है। अपनी त्रैकालिकता को न मानने का भाव ही बंध योग्य है; जड़कर्म ने नहीं बाँध रखा है। अभीतक शास्त्र के नाम पर ऐसे पहाड़े रटता रहा है कि कर्म आवरण करते हैं, कर्म बाँधते हैं, इसलिये उन्हें बदलना कठिन

मालूम होता है। यदि स्वतंत्र वस्तु की पहिचान करे तो दोनों द्रव्य पृथक्-स्वतंत्र थे तथापि निमित्ताधीन मान्यता का संसार था इसप्रकार वह मानेगा। श्रद्धा में पूर्ण स्वतंत्र स्वरूप को स्वीकार करने के बाद पुरुषार्थ की अशक्तिरूप जो अल्पराग रह जाता है उसका स्वामी ज्ञानी नहीं है। स्वभाव में विकार नहीं है। स्वभाव तो विकार का नाशक ही है, उसे भूलकर जीव जब भावबंधन में अटक गया तब जड़कर्म को निमित्त कहा गया है।

कर्म जीव को बंध नहीं कराता और जीव परमार्थ से कर्मों को नहीं बांधते। यदि यह माना जाय कि अपने में बंध करने की योग्यता थी तो वीर्यांतराय कर्म पर भार न रहे। कर्म का संयोग तो उसकी स्थिति पूर्ण होने पर ज्ञानी अथवा अज्ञानी दोनों के नियम से छूट जाता है। कर्म बाधक नहीं होते किन्तु स्वयं जैसा भाव (विरोध अथवा अविरोध-रूप से) करता है उसका फल उसी समय उसके आकुलता या निरा-कुलतारूप में आता है।

आत्मा वस्तुत्व की दृष्टि से एकरूप रहता है तथापि उसकी अवस्था एकरूप नहीं रहती, उसीप्रकार रजकण वस्तुत्व की दृष्टि से एकरूप रहते हैं, तथापि उनकी अवस्था बदलती रहती है—एकरूप नहीं रहती। यद्यपि जड़ में ज्ञान नहीं है तथापि वह वस्तु है इसलिये त्रिकाल शक्तिवान है। प्रतिसमय पूर्ण ध्रौव्य रखकर शक्ति से अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। यह रहस्य केवलज्ञान की बारहखड़ी है। उसमें प्रत्येक वस्तु की परिपूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा होती है।

जब जीव असंग स्वभाव को भूल जाता है तब वह बंध के योग्य होता है। बंध में पूर्व का कर्म निमित्त है। जो विकारी-अविकारी अवस्था अपने में होती है वह व्यवहार है। निमित्त राग-द्वेष कराता है ऐसा मानना सो व्यवहार नहीं किन्तु व्यवहाराभास है, अज्ञान है।

नवतत्व के लक्ष्य से परमार्थश्रद्धा या निर्मल चारित्र प्रगट नहीं होता, क्योंकि भेद के लक्ष्य से विकल्प उत्पन्न होता है। निश्चयश्रद्धा

में नवतत्व के भेद नहीं होते। मोक्ष और मोक्ष का मार्ग दोनों व्यवहार-नय के विषय में जाते हैं।

प्रश्नः—नवतत्वों में मोक्ष तो साध्य है, उसे भी विकल्प मानकर क्यों अलग कर देना चाहिये?

उत्तरः—संसार और मोक्ष दोनों पर्याय हैं। संसार कर्म के सद्भाव की अपेक्षारूप पर्याय है और मोक्ष उस कर्म के अभाव की अपेक्षारूप पर्याय है। आत्मा मोक्षपर्याय जितना नहीं है। मोक्षपर्याय तो कर्म के अभाव का फल है इसलिये वह व्यवहार से साध्य कहलाती है, किन्तु निश्चय से साध्य तो ध्रुवस्वभाव है। परमार्थ साध्यरूप अखण्ड एक स्वभाव के बल से मोक्षपर्याय सहज ही प्रगट होती है, और पर्याय तो व्यवहार है, उसकी अखण्ड स्वभाव में गौणता है; क्षणिक पर्याय पर भार नहीं देना है, भार तो वस्तु में होता है।

द्रव्य में त्रिकाल की समस्त पर्याय वर्तमानरूप में हैं, उसमें कोई पर्याय भूत अथवा भविष्य में नहीं गई है, तथापि वस्तु में प्रत्येक गुण की एकसमय में एक पर्याय प्रगट होती है और वह प्रत्येक अवस्था के समय शक्तिरूप में अनन्त गुण ध्रुवरूप में विद्यमान हैं, इसलिये अनन्त शक्ति के रूप में वस्तु वर्तमान में पूर्ण है। आत्मा का स्वभाव वर्तमान एक-एक समय में त्रैकालिक शक्ति से परिपूर्ण है। जो विकारीदशा होती है उसका द्रव्य में प्रवेश नहीं है। स्वभाव विकार का नाशक है, इसलिये नवतत्व के विकल्प अभूतार्थ हैं।

मोक्षः—में विकार से और पर से मुक्त होने की अपेक्षा है। एकरूप ध्रुवस्वभाव के बल से जो पूर्ण निर्मल अवस्था उत्पन्न होती है और पूर्ण अशुद्ध अवस्था का नाश होता है सो भावमोक्ष और उसका निमित्त प्राप्त करके अपनी योग्यता से जो कर्मरज छूट जाते हैं सो द्रव्यमोक्ष है। अपने-अपने कारण से स्वतंत्र अवस्था होती है। निमित्त से हुआ है ऐसा कहना व्यवहार है, किन्तु निमित्त से किसी की अवस्था

होती है ऐसा मानना सो मिथ्यात्व है। कर्म का संयोग सर्वथा छूट गया सो जीव में अभावरूपी निमित्तकारण (मोक्ष को करने वाला) अजीव; और जो कर्म छूट गये वे मुझे निमित्त हुए इसप्रकार नास्तिरूप (अभाव रूप) आरोप से जीव व्यवहार से मोक्ष होने योग्य है।

जीव-अजीव में स्वतंत्र उपादान की योग्यता, निमित्त-नैमित्तिकता तथा नवतत्व के विकल्प हैं यह बताकर मन के द्वारा स्वतंत्रता का निश्चय कराया है; किसी का कारण-कार्यरूप पराधीनपन नहीं बताया है। मात्र स्वभाव में नवतत्व के भेद नहीं होते। निमित्त की अपेक्षा से, व्यवहार से (अवस्था में) नौ अथवा सात भेद होते हैं।

जिसे हित करना हो उसे सर्वप्रथम क्या करना चाहिये, सो कहते हैं। निराकुल सुख आत्मा में है। शरीर आदि की अनुकूलता में (अनुकूल संयोगों में) सुख नहीं है, तथापि अज्ञानी जीव उसमें सुख मान रहा है, किन्तु पर के आश्रय की पराधीनता में त्रिकाल भी सुख नहीं है। जिसने अपनें में सुख का अवलोकन नहीं किया उसे पर-संयोग की महत्ता मालूम होती है। जो यह मानता है कि पर-संयोग के आश्रय से सुख होता है वह अपने को निर्माल्य, रंक और परमुखापेक्षी मानता है, यह अज्ञानभाव की मूढ़ता से मानी हुई कल्पना है। जो पर को हितरूप मानता है वह पराश्रयरहित अविकारी आत्मस्वभाव को हितरूप नहीं मानता।

पर मेरा है, पर में सुख है, मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, ऐसी विपरीत कल्पना करने वाला अपना विपरीत ज्ञान है। जड़-देहादिक भूल नहीं कराते। आत्मा पर से भिन्न नित्यपदार्थ है, स्वयं जिस स्वभाव में है उसकी प्रतीति नहीं है इसलिये पर में कहीं भी अपने अस्तित्व की, अपने सुख की कल्पना कर लेता है। उस अज्ञान से चौरासी लाख के अवतार होते हैं। स्वतंत्र स्वभाव को यथार्थतया सत्समागम से पहिचान कर उस विपरीत मान्यतारूप भूल को दूर कर देने पर नित्य स्वभावाश्रित निर्मल आनंद की उत्पत्ति होती है। वर्तमान विकारी अवस्था के समय

भी बाह्यभाव की मान्यता को दूर करके देखे तो उस एक अवस्था के अतिरिक्त सम्पूर्ण निर्मल स्वभाव त्रिकाल शुद्धरूप में वर्तमान में भी मालूम होता है। पामरता, अशरणभाव, अवगुणभाव पामरता की भूमिका में रहकर दूर नहीं किया जासकता। पामरता के समय ही तुच्छता रहित ध्रुवस्वभाव पूर्ण महिमारूप विद्यमान होता है।

जिसने पूर्ण निर्मल परमात्मदशा प्रगट की है वह साक्षात् भगवान है। मैं भी शक्तिरूप से पूर्ण भगवान हूँ। इसप्रकार सत्‌समागम से जानकर यदि पूर्ण स्वाधीन ध्रुवस्वभाव की महिमा को लाये तो अपने में कल्पित हीनता और स्वामित्व दृष्टि में से छूट जाता है। पश्चात् वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण पर में रुक जाता था सो उस रुचि-भाव के कारण नहीं रुकता है। वह स्वभाव के बल से राग-द्वेष को तोड़ना चाहता है; विकार का अर्थात् राग की वृत्ति का स्वामित्व नहीं करता।

जो विकार का नाश करना चाहता है वह विकारस्वरूप नहीं होसकता। विकार को जानने वाला क्षणिक विकाररूप नहीं है। यदि विकार को दूर करने की शक्ति आत्मा में न हो तो जो नहीं है वह जगत में त्रिकाल में भी नहीं होसकता; किन्तु अनन्त ज्ञानी पूर्ण, पवित्र, उत्कृष्ट, परमात्मदशा को प्रगट कर चुके हैं। नित्यस्वभाव के बल से अमुक अंश में राग को दूर करके उसी रुचि से राग न होने दे या पूर्ण पुरुषार्थ से अंशमात्र राग-विकार न होने दे ऐसी आत्मा की शक्ति प्रतिसमय प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है।

यदि कोई जीव किसी दूसरे के दोषों को दूर कर सकता हो तो कोई दूसरा जीव नरक में या दुःख में भी डाल सकता है। किन्तु वास्तव में जीव के ऐसी पराधीनता नहीं है। दोषों को दूर करने में स्वयं अकेला ही समर्थ है तो स्वयं त्रिकाल पूर्ण और स्वतंत्र असंयोगीरूप में भी वर्तमान में परिपूर्ण है। जो पर-सम्बन्ध मान रखा है सो निमित्ता-धीनदृष्टि की भूल है, और यही संसार है। जब ऐसे नित्यस्वभाव के

बल से पामरता दूर होजाती है कि मैं पूर्ण प्रभुता वाला हूँ तो उसी समय आँशिक निर्मल पवित्रता प्रगट होती है।

देह पर दृष्टि रखकर विचार करता है इसलिये यह प्रतिभासित नहीं होता कि भगवान आत्मा कीड़े-मकोड़े में भी पूर्ण स्वतंत्र है, क्योंकि अपनी सर्वोत्कृष्ट महिमा निज को निज में प्रतीत नहीं हुई इसीलिये अपनी दृष्टि से अपने को हीन, अपूर्ण, विकारी मानता है। देहादिक वर्तमान संयोग को ही मानने वाला यह नहीं मानता कि मैं वर्तमान में भी त्रिकाल-स्थायी पूर्ण प्रभु हूँ, इसलिये वह अज्ञानी है; क्योंकि अपने में सुख नहीं देख सका इसलिये देहबुद्धि से किसी में अनुकूलता की कल्पना करके अच्छा मानता है और किसी में प्रतिकूलता की कल्पना करके बुरा मानता है।

स्वयं ज्ञाता होकर भी अपने को हीन मानकर पुण्य और देहादिक क्षणिक संयोगी वस्तुओं को महत्व देता है। (यदि बिच्छू कपड़े को काट खाता है तो दुःख नहीं मानता किन्तु शरीर को काटता है तो दुःख मानता है; किन्तु वस्त्र और शरीर दोनों त्रिकाल में भी अपनी वस्तु नहीं है। क्योंकि देह पर (संयोग पर) दृष्टि है इसलिये यह मानता है कि जो देखने वाला है सो मैं नहीं हूँ किन्तु जो वस्तु दिखाई देती है वह मैं हूँ। मूर्ख प्राणी शरीर को लक्ष्य करके कहता है कि 'यदि तू अच्छा रहे तो मुझे सुख हो,' किन्तु शरीर को अथवा जड़ इन्द्रियों को कुछ खबर ही नहीं होती, फिर भी मूर्ख प्राणी यह मानता है कि उनके कारण मुझे सुख-दुःख होता है। एक तत्त्व को दूसरे का अवलम्बन लेना पड़े सो वह सुख नहीं है। जो यह मानता है कि पर का आश्रय आवश्यक है, वह अपने स्वतंत्र पवित्र स्वभाव की हत्या करता है) और यही हिंसा है।

यदि अविनाशी स्वतंत्र पूर्ण स्वभाव को अपूर्वरूप में न जाने और अन्तरंग में उसकी महिमा को न लाये तो मरकर कहाँ जायगा यह विचार करो! जैसे समुद्र में फेका गया मोती मिलना कठिन है उसीप्रकार

मनुष्यभव को खोकर चौरासीलाख के अवतारों में परिभ्रमण करते हुए सत् का सुनना दुर्लभ होजायगा ।

(जैसे मात्र सोना अशुद्ध या हीन नहीं कहा जाता किन्तु वह तांबा इत्यादि के संयोग से अशुद्ध अथवा सौटंच से उतरता हुआ कहलाता है तथापि यदि वह संयोग के समय भी सौटंची शुद्ध सोना न हो तो कदापि शुद्ध नहीं होसकता; इसीप्रकार मात्र चैतन्य आत्मा में स्वभाव से विकार नहीं होसकता, किन्तु वर्तमान अवस्था में निमित्त-संयोगाधीन विकारी अवस्था नवीन होती है । इस संयोगाधीन दृष्टि को छोड़कर यदि अखंड शुद्ध ध्रुव पर दृष्टि करे तो निर्मलता प्रगट होती है ।

यदि अकेले तत्त्व में पर-निमित्त का संयोग हुए विना विकार हो तो विकार स्वभाव कहलायेगा । पर-संयोग में कर्ताभाव से (अपनेपन के भाव से) अटककर जैसे शुभाशुभ भाव जिस रस से वर्तमान अवस्था में जीव करता है उसका फल उसी समय अपने में आकुलता के रसरूप से होता है, और उसके निमित्त से बंधने वाले संयोगीकर्म का फल बाद में संयोगरूप से होता है ।

अज्ञानी की बाह्य में देह, स्त्री आदि पर दृष्टि है और भीतर सूक्ष्म कर्म पर दृष्टि है । यथार्थ नवतत्त्वों को शुभभाव से जानना भी बाह्य भाव है । इस बाह्य भाव से अन्तरंग में पैठ नहीं होसकती । मात्र आत्मा में अपने आप नवतत्व की सिद्धि नहीं होती ।

बाह्य (स्थूल) दृष्टि से देखा जाय तो जीव पुद्गल की अनादि बंध-पर्याय के समीप जाकर एकरूप में अनुभव करने पर यह नवतत्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं । यहाँ समीप का अर्थ क्षेत्र से नहीं किन्तु पर में एक-मेकपन की मान्यतारूप भाव की एकाग्रता होता है । जिसे अविकारी भिन्न आत्मस्वभाव की खबर नहीं है उसे पर-संयोग का (राग-द्वेष के विकल्प का) जो अनुभव होता है वह भूतार्थ है, भ्रम नहीं है;

राग-द्वेष का निमित्त पाकर कर्म अपनी योग्यता से अज्ञानी आत्मा के प्रदेशों से एकक्षेत्रावगाहरूप में आते हैं, यह बात भी सच है।

यदि कोई कहे कि पुण्य-पाप होते ही नहीं, जीव की वर्तमान अवस्था में भूल और विकारी भाव का होना भ्रम है, असत् है तो ऐसा कहने वाले की यह बात सच नहीं है। यह खरगोश के सींग की भाँति असत् नहीं है। यदि कोई यह कहे कि स्वर्ग और नरक वास्तव में नहीं हैं किन्तु लोगों को पुण्य का लोभ और पाप का भय बताने के लिये इनकी कल्पना की है तो ऐसा कहने वाले की बात मिथ्या है, क्योंकि स्वर्ग और नरक अनेक न्याय-प्रमाणों से सिद्ध किये जासकते हैं।

जैसे कोई भला ब्रह्मचारी सज्जनों की संगति को छोड़कर कुशील-वान व्यक्तियों के साथ आये-जाये तो यह लज्जा की बात है, इसी-प्रकार ब्रह्मानंद भगवान आत्मा परवस्तु में कर्तृत्व या अपनापन स्थापित करके अनंत ज्ञानानंद प्रभुत्व की महिमा को भूलकर और यह मानकर कि पुण्य-पाप मेरे हैं, मैं रागी हूँ, मुझे पर का आश्रय चाहिये; चौरासी के चक्कर में पड़ा रहता है और भव-भ्रमण करता रहता है। पर-संयोग में सुख मानना महा व्यभिचार है।

संयोगाधीनदृष्टि में एकाग्र होकर बंधभाव का अनुभव करने पर यह नवतत्व के भेद भूतार्थ-सत्यार्थ हैं। अज्ञानभाव से अवस्थादृष्टि के व्यवहार को पकड़कर, राग-द्वेष-अज्ञान के कारण जीव का जो परि-भ्रमण होता है सो वास्तविक है, भ्रान्ति नहीं है, असत् कल्पना नहीं है। जैसे मृगजल में वास्तव में पानी नहीं है तथापि पानी का प्रतिभास होता है, उसे वास्तविक पानी मानने की भूल होती है, वह वास्तविक भूल ही है। इसीप्रकार अज्ञानभाव से जीव परिभ्रमण करता है जोकि वास्तविक है।

जिसे आत्मा के यथार्थ स्वरूप की खबर नहीं है वह मूढ़तावश अपने को पूर्ण स्वतंत्र भगवान नहीं मानता। जिनकी ऐसी धारणा

है कि अन्य कोई मेरी सहायता करदे, मुझे कोई कुछ दे दे, दूसरे का आश्रय आवश्यक है, दूसरे का आशीर्वाद चाहिये, पुण्य का साधन आवश्यक है वे अपने को पामर-अशक्त मानते हैं। जो बाह्य में धर्म मानकर क्रिया-कष्ट से खेद-खिन्न होता है उसे आत्मा की अतीन्द्रिय शांति और भव से निःसंदेह मुक्ति का निर्णय नहीं होता। भगवान ने उनकी बाह्यक्रिया को अज्ञानरूप बालव्रत और बालतप कहा है।

जिसे भव से भय लगता है वह यह विचार करता है कि निर्मल नित्य शरणभूत वस्तु क्या है, किन्तु जो संसार में वर्तमान पुण्य की अनुकूलता को ही देखता है वह पुण्य-पाप के नाशक स्वभावरूप अविकारी भगवान आत्मा को नहीं देखता। धर्मात्मा को राग की चेष्टा में लज्जा मालूम होती है; खेद होता है। भूँड नामक प्राणी विष्टा को खाकर जैसे आनंद मानता है इसीप्रकार अज्ञानी जीव पुण्य को अच्छा मानकर उसमें हर्ष करता है। प्रतिष्ठा, धन, शरीर इत्यादि में सुख मानता है किन्तु ज्ञानियों ने पुण्य-पाप से रहित अविनाशी स्वभाव की प्रतीति में स्थिर होकर पुण्य-पाप को विष्टा की भाँति छोड़ दिया है। अज्ञानी को भूँड की उपमा देना बिल्कुल उपयुक्त है क्योंकि उसकी उस मान्यता में भूँड के अनन्त भव विद्यमान हैं।

यदि जीव पामरता करे और उस पामरतारूप अवस्था को ही अपना सम्पूर्ण स्वरूप माने और यह न माने कि अपना अवगुण का नाशक त्रैकालिक स्वभाव वर्तमान में सम्पूर्ण है तो वह चौरासी लाख के अवतार में निरंतर परिभ्रमण करता रहता है, इसलिये उसे नवतत्वों का खण्डशः अनुभव असत्यार्थ है।

यदि कोई यह कहे कि भोग योग्य कर्मों का बंध किया है सो वे विषय-भोग कराते हैं, इसमें मैं क्या कर सकता हूँ? राग-द्वेष होजाते हैं; तो ऐसा मानने वाला स्वच्छन्द चौरासी के चक्कर में भवभ्रमण करने के लिये सज्जा है।

जब कोई व्यक्ति दान में पैसा नहीं देना चाहता तब संस्था को दोष देता है और कहता है कि 'मेरे भाव दान देने के तो हैं, किन्तु आपकी संस्था वाले व्यवस्था ठीक नहीं रखते' इसप्रकार तृष्णा को कम न करने के लिये बात को गोलमगोल कर देता है, किन्तु यह स्पष्ट क्यों नहीं कह देता कि मुझे कुछ देना नहीं है। वह संस्था सुधरे या बिगड़े, उस पर तेरी तृष्णा के बढ़ने या घटने का आधार नहीं है। जिसे दानादि में मान चाहिये है अथवा दान के बाद जो आशा रखता है उसके वर्तमान तृष्णारूप पापभाव होता है। जो दान में तृष्णा को कम करता है उसका वह भाव अपने पर ही अवलंबित है। इसप्रकार परिणाम का व्यवहार से स्वतंत्र कर्तृत्व जानकर जैसे नवतत्व हैं उन्हें वैसा जाने तो व्यवहारशुद्धि होती है, किन्तु उससे जन्म-मरण नहीं मिटता, क्योंकि वह पुण्यभाव है।

असंयोगी निर्विकारी स्वभाव भिन्न है, ऐसी यथार्थ श्रद्धा होने के बाद वर्तमान अशक्ति में राग होता है, और उसमें कर्तृत्व-बुद्धि को छोड़कर पाप से बचने के लिये पुण्य-भाव की शुभवृत्ति करता है; किन्तु उसे निमित्ताधीन विकारी जानकर ज्ञानी उसका स्वामी नहीं होता।

कोई शास्त्र के पहाड़े रटकर विपरीत अर्थ ग्रहण करे कि पहले के कठिन कर्म आड़े आते हैं, निकाचित कर्म का बल अधिक है, इसलिये संसार के भोग नहीं छूटते। इसप्रकार गोलमाल करने वाले के व्यवहार नीति का भी ठिकाना नहीं है। अपने भाव से स्वभाव की निर्मलता को भूलकर मैंने दोष किया है, और मैं उसे दूर करके पवित्र आनन्द भाव कर सकता हूँ, इसप्रकार यदि अपनी स्वतंत्रता को मन से स्वीकार करे तो वह आँगन में आया हुआ माना जायेगा।

अब आगे यह कथन है कि विकल्प को अंशतः दूर करके ध्रुव-स्वभाव के लक्ष्य से शांति कैसे प्रगट की जाये और अतीन्द्रिय स्वरूप को कैसे जानना चाहिये।

आत्मा में अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुण भरे हुए हैं, जो-कि अपने ही कारण से हैं, वे किसी निमित्त को लेकर प्रगट नहीं होते। निमित्त से अथवा रागादि विकार से अविकारी दशा नहीं होसकती। आत्मा का स्वभाव कर्मसंयोग से रहित, निर्विकार और अभेद है। आत्मा में जो कर्मसंयोगाधीन क्षणिक विकारी अवस्था होती है सो अभूतार्थ है। मन के द्वारा जो शुभविकल्परूप नवतत्वों का निर्णय होता है सो वह आत्मा के मूलस्वभाव का निर्णय नहीं है। एकरूप निर्मल स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा होने से पूर्व मन के द्वारा जो इसप्रकार नवतत्व के भेद का विचार करता है कि मैं जीव हूँ, पर से भिन्न हूँ, अजीव नहीं हूँ, स्वभाव की प्रतीति से संवर होता है इत्यादि; वह विकल्प शुभराग है। एकरूप ज्ञानस्वभाव में स्थिर होना चाहिये, उसकी जगह पर-सम्बन्ध से उत्थान होता है, जो आदरणीय नहीं है; तथापि मन से उस यथार्थ नवतत्व का विचार किये बिना स्वभाव के आँगन में नहीं आया जासकता।

आत्मा देहादि की क्रिया नहीं कर सकता। देहादि से अथवा पर-जीव से प्रत्येक आत्मा त्रिकाल भिन्न ही है। पर के संबन्ध से राग-द्वेष और ममता का जो भाव अपनी अवस्था में स्वयं करता है, उस क्षणिक अवस्था के भेद से भी आत्मा परमार्थतः भिन्न है। स्वभाव के लक्ष्य से हटकर मैं पुण्य-पाप के भाव परलक्ष्य से करूँ तो वे होते हैं, किन्तु मेरी योग्यता से वह वर्तमान में नया विकार होता है। बन्धनरूप विकार भाव और अविकारी संवर, निर्जरा, मोक्ष का भाव मेरी योग्यता से होता है; उसे कोई दूसरा नहीं कराता। निमित्त का संयोग-वियोग उसकी योग्यता से होता है, इसप्रकार स्व-पर की स्वतंत्रता का निर्णय नवतत्व के भेद से करे तो जीव अभी प्राथमिक भूमिका के समीप आता है। उसके शुभराग में रुक जाना पुण्य का कारण है, वह आत्मा के धर्म का अथवा शांति का कारण नहीं है; क्योंकि थूपहले ऐसे मन के स्थूल विषय से आत्मा सच्चे नवतत्वों के पुण्यरूप

आँगन तक अनन्तबार पहुँचा है, किन्तु वहाँ से आगे विकल्प को तोड़कर ध्रुवस्वभाव में एकत्व की श्रद्धा करने की अपूर्व समझ को नहीं पासका, इसलिये संसार ज्यों का त्यों बना रहा। जिस भाव से भव-बन्ध किया उस भाव का आत्मस्वभाव के बल से यदि अंत न किया जाय तो भव का अन्त नहीं होसकता और पवित्रता प्रगट नहीं होसकती।

बिना समझे जीव ने अनन्तबार अनेक शास्त्र पढ़े, पंडित हुआ, वीतरागदेव के द्वारा कहे गये सनातन जैनधर्म का नग्नदिगम्बर साधु हुआ, नवतत्वों का मन में यथार्थ निर्णय किया, किन्तु निमित्त पर लक्ष्य बना रहा कि मन का आलम्बन आवश्यक है, शुभराग से धीरे-धीरे ऊपर जासकेंगे, और इसप्रकार पर से, विकार से गुण का होना माना; किन्तु निरपेक्ष, निरावलम्बी, अक्रिय, एकरूप आत्मस्वभाव की श्रद्धा नहीं की। मन में नवतत्वों के विचार के ओर की जो दृष्टि है सो परावलम्बन है, जबतक जीव के ऐसा भाव बना हुआ है तबतक वह राग में रंगा हुआ है।

अब परमार्थ एकरूप सम्यक्दर्शन का कथन करते हैं। नवतत्व के भेद को गौण करके (निषेध करके) एक जीवस्वभाव के निकट जाकर अभेद का अनुभव करने पर वे नवभेद अभूतार्थ हैं, वे मात्र ज्ञायकस्वभाव में प्रतीत नहीं होते। मैं नवतत्व के भेदरूप क्षणिक अवस्था जितना नहीं हूँ, किन्तु त्रिकालस्थायी वर्तमान में पूर्ण कृतकृत्य और स्वभावतः शांति से परिपूर्ण हूँ, इसप्रकार पूर्ण की श्रद्धा के बल से अतीन्द्रिय आनन्द सहित अनुभव करने पर भेद दिखाई नहीं देता। अविकारी, अभेद की श्रद्धा होने के बाद विकल्प में आने वाले विकल्प के भेद होते हैं, किन्तु एकबार अखण्ड आत्मस्वभाव में स्थिर होकर नव के भेद से कुछ हटकर स्वभाव के निकट जाये तो फिर पराश्रित भेद में स्वामित्व (कर्तृत्व) न होने दे।

अनादिकाल से जो खण्ड-खण्डरूप बंध-पर्याय में एकाग्र होता था, उसमें एकत्व मानता था और स्वभाव से दूर भागता था, वह अब त्रिकाल एकरूप निर्विकारी अखण्डस्वभाव के समीप जाकर विकल्पों का अभाव करता है। उसे परमार्थ एकत्व का ऐसा अनुभव होता है कि कोई भी परमाणु या विकल्प मात्र मेरा स्वरूप नहीं है।

जैसे सफेद स्फटिक को लाल या काले फूल के संयोग की दृष्टि से देखें तो वर्तमान अवस्था में पर-निमित्त की भेदरूप से होने वाली लाल या काली झलक दिखाई देगी; किन्तु यदि उस संयोग पर की दृष्टि को छोड़कर मात्र स्फटिक को उसके मूल स्वभावरूप में देखें तो संयोग के समय भी एकरूप स्वच्छ, और शुभ्र दिखाई देगा; इसीप्रकार भगवान आत्मा अरूपी, ज्ञानानन्द एकरूप है (स्फटिक को कोई खबर नहीं होती किन्तु आत्मा को खबर है—ज्ञान है) उसे पर-संयोगाधीन दृष्टि से देखें तो वर्तमान अवस्था में वह पुण्य-पाप के अनेक भेदरूप से दिखाई देता है, जोकि व्यवहार से यथार्थ है। त्रिकाल पूर्ण, एकरूप स्वभाव का लक्ष्य करने के लिये संयोगाधीन क्षणिक भेद को दूर करके निमित्ताधीन होने वाली अवस्था के लक्ष्य को गौण करके एकरूप निर्मल आत्म-स्वभाव को देखने पर यह प्रतीत होता है कि वे नवतत्त्व के भेद अभूतार्थ हैं, क्षणिक हैं, एकसमय स्थायी हैं। यह प्रथम सम्यक्दर्शन की बात है; इसके बाद श्रावकत्व और मुनित्व सहज ही होसकता है। पर के ग्रहण और त्याग से रहित निरपेक्ष ज्ञायक स्वभाव को समझे बिना जो यह यह मानता है कि मैं त्यागी हूँ उसके बाह्यसंयोग अन्तरायकर्म के उदय से छूट गये हैं किन्तु परमार्थतः अंतरंग से वे नहीं छूटे हैं।

परमार्थ एकत्व स्वभाव में एकाग्र अनुभव से निर्विकल्प श्रद्धा प्रगट करके, उसके अभेद विषय में जाने पर विकल्प नहीं रहते। यथार्थ प्रतीति होने के बाद शुभाशुभ राग की वृत्ति उत्पन्न होती है, किन्तु ज्ञानी उसका रुचिभाव से कर्ता नहीं होता और उसका आदर नहीं करता। वह एकाकार ज्ञायकस्वभाव को ही मुख्य मानता है।

वर्तमान संवर, निर्जरा और मोक्ष-पर्याय भेदरूप है, एकरूप आत्मा अनादि-अनंत है। निर्मल आनंदरूप मोक्ष-अवस्था आत्मा में अनन्त-काल तक रहती है, किन्तु आत्मा मात्र मोक्ष-अवस्था के भेद जितना नहीं है। संसार और मोक्ष की त्रैकालिक अवस्था मिलकर प्रत्येक आत्मा वर्तमान में एकरूप अखण्ड शक्ति से परिपूर्ण है। सम्पूर्ण वस्तुस्वभाव की परमार्थदृष्टि में संसार और मोक्ष-पर्याय का भेद नहीं है। मात्र ज्ञायकस्वभाव (पारिणामिक भाव, निर्मल स्वभावभाव) उस श्रद्धा का अखण्ड विषय है, निश्चय ध्येय है।

शुद्धनय से नवतत्व के विकल्प को गौण करके ज्ञायक स्वभावभाव से एकाग्र होने पर नव भेद नहीं होते, पानी के एकांत शीतलस्वभाव को देखने पर अग्नि के निमित्त से होने वाली उष्ण अवस्था नहीं है इसप्रकार मात्र पारिणामिक ज्ञायकस्वभावको निरपेक्ष ध्रुवदृष्टि से देखने पर नवप्रकार के भेद नहीं दिखाई देते।

इस बात को समझना भले ही अति सूक्ष्म मालूम हो किन्तु प्रभु! यह तेरी बात है। तुझे अपना नित्यस्वभाव कठिन मालूम होता है, और वह समझ में नहीं आसकता ऐसा न मान; तेरी महिमा की क्या बात कही जाये! सर्वज्ञ वीतराग की वाणी में भी तू भलीभाँति नहीं आसका। कहा भी है कि:—

जो पद दीखा सर्वज्ञों के ज्ञान में,
कह न सके उसको भी श्री भगवान हैं;
उस स्वरूप को वाणी अन्य तो क्या कहे?
अनुभव-गोचर मात्र रहा वह ज्ञान है।

(अपूर्व अवसर)

[यह सुअवसर की—पूर्ण पुरुषार्थ की भावना है]

आत्मस्वरूप ज्ञान में परिपूर्ण आता है, वाणी में पूरा नहीं आता, यह कहकर तेरी अपूर्व महिमा का वर्णन किया है। (यद्यपि तीर्थंकर

की वाणी द्वारा सम्पूर्ण भाव समझ में आते हैं) जो कोई तेरी महिमा गाता है उसका विकल्प-वाणी में युक्त होना रुक जाता है, इसलिये यह कहा है कि-उसे वाणी में नहीं गा सकते। अनुभव से पूर्ण स्व-भाव जैसा है वैसा ही परोक्ष ज्ञान से माना जासकता है। हे प्रभु! तू ऐसा त्रिकाल परिपूर्ण भगवान आत्मा है कि-सर्वज्ञ की वाणी में भी तेरी महिमा पूर्णतया नहीं आती, तथापि तू निमित्ताधीन बाह्यदृष्टि से अपनी महिमा को भूलकर पुण्य-पाप में रुककर दूसरे की आधीनता में सुख मानकर चौरासी के परिभ्रमण में अनन्त दुख पारहा है। यदि उस दुःख की बात ज्ञानी के निकट जाकर सुने तो भव का दुःख मालूम हो किन्तु तू तो विपरीतता में ही सुभट बना फिर रहा है।

यह अज्ञानी जीव वर्तमान पुण्य से प्राप्त अनुकूलता में ही बंट जाता है-उसी में तन्मय रहता है, मानो यह शरीर सदा स्थिर रहेगा। यदि किसी को केन्सर नामक असाध्य रोग होजाता है अथवा किसी का हार्टफैल होजाये तो वह समझता है कि यह तो अमुक व्यक्ति को हुआ है, मुझे थोड़े ही होना है। इसप्रकार मूढ़ता में निःशंक होकर सुख मानता है। घर में लड़के 'पिताजी-पिताजी' कहकर पुकारते हैं और सभी अनुकूल दिखाई देते हैं किन्तु वह यह नहीं समझता कि वे सब यह मोह की चेष्टा-राग को लेकर कहते हैं। और इसीलिये वह मानता है कि हमारे लड़के स्वार्थी नहीं हैं, स्त्री, पुत्रादि बहुत भले हैं। किन्तु वह यह नहीं समझता कि अरे! वे किसी के लिये विनयवान नहीं हैं, किन्तु अपने राग में जिन्हें जो अनुकूल लगता है वे उसी के गीत गाते हैं।

जो वर्तमान अवस्था में ही सर्वस्व मानते हैं वे भीतर ही भीतर प्रतिक्षण स्वभाव की मूढ़ता से अपना भाव-मरण कर रहे हैं, वे उस ओर दृष्टि ही नहीं डालते। हे भाई! यह सब यों ही पड़े रहेंगे और तू अकेला ही जायेगा, अथवा समस्त संयोग तुझे छोड़कर चले जायेंगे, इसलिये एकबार शान्तचित्त से अपनी महिमा को सुन। बाहर की ममता

के सब फल थोथे हैं। जैसे धुएँ को पकड़कर उससे कोई महल नहीं बनाया जासकता उसीप्रकार परवस्तु में तेरी कोई सफलता नहीं होसकती, और परवस्तु से सुख नहीं मिल सकता; इसप्रकार विचार करके सत्य का निर्णय कर। एकबार प्रसन्न-चित्त से अपने पवित्र मोक्ष-स्वभाव की बात सुनकर उसे स्वीकार कर, उससे क्रमशः आत्मस्वभाव की सम्पूर्ण पर्याय प्रगट होजायेगी।

यथार्थ स्वभाव को सुनकर अन्तरंग से स्वीकार करके जो अंशतः यथार्थ की रुचि में जा खड़ा होता है, वह फिर वापिस नहीं होता। पहले वह बाह्य-पदार्थों की रुचि में रागपूर्वक बारंबार एकाग्रता करता था, और अब वही भीतर ही भीतर अपूर्व रुचिभाव से गुण के साथ एकाग्रता को रटता रहता है। जो एकबार सत्समागम करके स्वभाव की रुचि से जाग्रत होजाता है और उस रुचि में दृढ़तापूर्वक जा खड़ा होता है, वह सब ओर से अविरोधी परमार्थ को प्राप्त कर लेता है; क्योंकि स्वभाव तो विकार का नाशक है, रक्षक नहीं। इस स्वतंत्र स्वभाव के लिये मन, वाणी, शरीर अथवा विकल्प की सहायता नहीं होती। स्वभाव के लिये किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। इसप्रकार सम्यक्दर्शन होने से पूर्व एक मात्र निरावलम्बी स्वभाव की स्वीकृति होनी चाहिये।

जो आत्मा के पूर्ण हितरूप स्वभाव को यथार्थतया समझता है और मानता है वही सज्जन है। जो राग-द्वेष होता है सो स्वभाव की अपेक्षा से असत् है, चिरस्थायी नहीं है। स्वभाव के लक्ष्य से राग-द्वेष को क्षण भर में बदलकर पवित्र भाव किया जासकता है, क्योंकि आत्मा में राग-द्वेष का नाशक स्वभाव प्रतिसमय विद्यमान है। यदि उसीको माने, जाने और उसमें स्थिर होजाये तो राग न तो स्वभाव में था और न नया होसकता है। स्वभाव की शक्ति में जितना स्थिर हुआ जाये उतना ही नवीन राग उत्पन्न नहीं होता।

प्रश्नः—पुण्य तो साथी है, उसके बिना आत्मा अकेला क्या करेगा ?

उत्तरः—पुण्य का निषेध करके स्वभाव में जो सम्पूर्ण शक्ति है उसकी रुचि के बल से जीव अकेला ही पहले से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ करता है। बाह्य दृष्टांत को लें तो—यदि चलनेवाला अपने पैरों से चले तो साथी (मार्ग दर्शक) निमित्त कहलाता है, किन्तु यहाँ अन्तरंग अरूपी मार्ग में किसीका अवलम्बन नहीं है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र में त्रिकाल में भी कोई बाह्य साधन नहीं है। अपनी शक्ति में वैसी तत्परता हो तो वहाँ तदनुकूल संयोग अपने आप उपस्थित होते हैं। आत्मा ऐसा पराधीन नहीं है कि उसके लिये निमित्त की प्रतीक्षा करनी पड़े।

प्रश्नः—जब उपदेश सुने तभी तो ज्ञान होगा ?

उत्तरः—उपदेश सुनने से ज्ञान नहीं होता; यदि ऐसा होता हो तो सभी श्रोताओं को एक सा ज्ञान होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता; लेकिन जिसमें जितनी योग्यता है वह स्वयं उतना समझता है; उसमें निमित्त से ज्ञान होने की बात नहीं है। कोई चाहे जितना समझाये, किन्तु स्वयं सत्य को समझकर स्वयं ही निर्णय करना चाहिये।

नवतत्व में विकारी अवस्था के भेद को दूर करके (गौण करके) अखण्ड, ध्रुव, ज्ञायकस्वभाव को भूतार्थ दृष्टि से देखने पर एक जीव ही प्रकाशमान है। इसप्रकार अन्तरंग लक्ष्य की एकाग्रदृष्टि से देखें तो ज्ञायक भाव जीव है, और जीव के विकार का भेद अजीव है। 'मैं जीव हूँ' इसप्रकार मन के योग से जो विकल्प होता है उसे यहाँ जीव-तत्त्व कहा है। जैसे जबतक राजपुत्र राज्यासन पर नहीं बैठा तबतक वह ऐसा विकल्प करता है कि-मैं राजा होने वाला हूँ, किन्तु जब राज्यासनारूढ़ होजाता है, और उसी की आज्ञा चलती है तब तत्सम्बन्धी विकल्प नहीं रहता; इसीप्रकार मैं पर से भिन्न आत्मा हूँ, अजीव नहीं हूँ ऐसे विकल्प से एकरूप परमार्थ की श्रद्धा के लिये नवतत्व का

विचार करता है, पश्चात् जब यथार्थ-अनुभवयुक्त प्रतीति होजाती है तब वहाँ नवतत्व के विकल्प गौण हो जाने पर अपने को स्वविषयरूप अखण्ड मानता है, उसे सम्यक्दर्शन कहते हैं। द्रव्य के निश्चय के कारण से स्वभाव में निःशंक होने के बाद श्रद्धा सम्बन्धी विकल्प नहीं उठते। यदि पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण राग को जल्दी दूर न कर सके तो नवतत्व के विशेष ज्ञान की निर्मलता का विचार करता है, किन्तु वह राग को करने योग्य (उपादेय) नहीं मानता। वह विकारनाशक स्वभाव की प्रतीति के बल से राग को दूर करता है।

सम्यक्दर्शन आत्मा में अनंत केवलज्ञान को प्रगट करने की पीढ़ी का प्रारम्भ है। मैं पूर्ण अरागी हूँ इसप्रकार स्वभाव की अखण्ड दृष्टि होने पर भी अस्थिरता से पुण्य-पाप की वृत्ति उत्पन्न हो तो उसका यहाँ निषेध है। पर में अच्छा बुरा मानकर उसमें लग जाने का मेरा स्वभाव नहीं हैं; किंतु लगातार एकरूप जानना मेरा ज्ञायक स्वभाव है।

आत्मा में पुण्य-पाप के विकल्प भरे हुए नहीं हैं। जैसे दर्पण की स्वच्छता में अग्नि, बरफ, विष्टा, स्वर्ण और पुष्प इत्यादि जो भी सम्मुख हों वे सब दिखाई देते हैं तथापि उनसे दर्पण को कुछ नहीं होता, इसीप्रकार आत्मा पर-संयोग से भिन्न है, भावतः दूर है, इसलिये परवस्तु चाहे जिसरूप में दिखाई दे किन्तु वह आत्मा में दोष उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। ज्ञायक * स्वभाव किसी भी संयोग में, चाहे जैसे क्षेत्र या काल में रुकने वाला नहीं है, क्योंकि आत्मा पररूप नहीं है और पर, आत्मरूप नहीं है। एकरूप निर्मल स्वभाव की श्रद्धा की प्रतीति के द्वारा स्वभाव के आश्रय से निर्मलभाव प्रगट होता है। नवतत्त्व के शुभराग से अनेक प्रकार के राग के भेद प्रगट होते हैं जोकि अन्तरंग में सहायक नहीं हैं। बाह्यदृष्टि से देखने पर पर-निमित्त के भेद दिखाई

* निरपेक्ष, अखण्ड, पारिणामिकभाव।

देते हैं; अन्तरंग दृष्टि में अभेद, ज्ञायकस्वरूप मात्र आत्मा दिखाई देता है। कर्माधीन होने वाली अवस्था के जो भेद होते हैं उनकी अपेक्षा से रहित त्रिकाल एकरूप ध्रुव-स्थायी एक ज्ञायक भाव को ही आत्मा कहा है।

तू सदा एकरूप ज्ञाता है। जानना ही जिसका स्वभाव है वह किसे न जानेगा ? और जिसका जानना ही स्वभाव है उसे पर में अच्छा बुरा मानकर रुक जाने वाला रागवान कैसे माना जासकता है ? अहो ! मैं तो ज्ञायक, पूर्ण कृतकृत्य, सिद्ध परमात्मा के समान ही हूँ। अवस्था में निमित्ताधीन विकार का भेद अभूतार्थ है, स्थायी नहीं है, इसलिये उसमें मेरा स्वामित्व नहीं है।

ज्ञान सर्व समाधान स्वरूप है। जैसे—वीतरागी, केवलज्ञानी परमात्मा एक-एक समय में लोका-लोक को परिपूर्ण ज्ञान से जानने वाले हैं, वैसा ही मैं हूँ; इसप्रकार जिसे पूर्ण-स्वतंत्र स्वभाव की महिमा की प्रतीति होजाती है उसके अंतरंग से सारे सांसारिक मल दूर होजाते हैं। उसे देहादिक किसी भी संयोग में महत्ता नहीं दिखाई देती। जिसने निमित्ताधीन-दृष्टि का परित्याग कर दिया है, उसने संसार का ही परित्याग कर दिया है, और पूर्णस्वतंत्र-मोक्ष स्वभाव को ग्रहण कर लिया है।

पुण्य-पाप के भेद मात्र आत्मा के नहीं होते इसलिये अवस्था के विकार में अजीव हेतु है; अर्थात् जीव में कर्म-निमित्तक शुभाशुभभाव नवतत्व के विकल्परूपसे हैं। और फिर पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष जिसके लक्षण हैं ऐसे तो केवल जीव के विकार हैं।

पर निमित्त के भेद से रहित आत्मस्वभाव को देखने पर आत्मा ज्ञायक एकरूप है, उसमें अवस्था पर लक्ष्य करके पर निमित्त में युक्त होकर नवतत्व का विचार करे तो राग होता है, मैं इसप्रकार संवर कर सकता हूँ, मोक्ष को प्राप्त करूँ, ऐसे विचार में लगकर जो मनके

राग में अटक रहा है सो वह (अटकने के रूप में) सत्यार्थ है। एकरूप ज्ञायक-स्वभाव नौ प्रकार के राग के भेद से रहित है, ऐसे निरावलम्बी अखण्ड स्वभाव पर एकाग्रता करने पर निर्मल पर्याय की उत्पत्ति और विकार का सहज नाश होता है। अकेली पर्याय पर लक्ष्य देने से राग की उत्पत्ति होती है, निर्मलता प्रगट नहीं होती, स्वभाव का लक्ष्य नहीं होता। अवस्थादृष्टि वह राग दृष्टि है, व्यवहारदृष्टि है। मैं वर्तमान में त्रिकाल स्थायी पूर्ण ज्ञायक हूँ, जितनी निर्मल अवस्था प्रगट होगी वह मुझसे अलग प्रगट होने वाली नहीं है। मोक्षदशा, अनंत-ज्ञानानंद, अनन्त आत्मबल इत्यादि संपूर्ण शक्ति प्रतिसमय वर्तमानरूप में आत्मा में भरी हुई हैं। ऐसे पूर्ण अखण्ड स्वभाव पर लक्ष्य देने पर विकल्प छूट जाता है।

श्रद्धा का विषय आत्मा का सम्पूर्ण त्रिकाल पूर्ण स्वभाव है। संसार और मोक्ष अवस्था है। उस अवस्था तथा मोक्षमार्ग की अवस्था के भेद का लक्ष्य श्रद्धा के विषय में नहीं है। जैसे सामान्य स्वर्ण को लेने वाला सोने की कारीगरी की अलग कीमत नहीं देता, यद्यपि सोने में वर्तमान सारी कारीगरी की योग्यतारूप शक्ति है उसे वह स्वर्णरूप में अभिन्न अनुभव करता है; इसीप्रकार आत्मा एकरूप त्रिकाल, पूर्ण शक्ति से अखण्ड है, उसे मानने वाला किसी अवस्था के भेद को पृथक्-खण्डरूप में ग्रहण नहीं करता। केवलज्ञानादिरूप समस्त शक्तियाँ वर्तमान द्रव्य में भरी हुई हैं; उस अखण्ड ज्ञायकस्वभाव के बल से निर्मल अवस्था सहज प्रगट होती है, किन्तु यदि भेद पर लक्ष्य रखकर नवतत्त्व के विकल्प में लग जाय तो स्वभाव का लक्ष्य नहीं होता, निर्मल आनन्द-शांति प्रगट नहीं होती; इसलिये भेद को गौण करके नवत्व के भेद से किंचित् छूटकर, स्वभाव जोकि एकरूप है उस पर एकाग्रता का भार देने पर एक साथ निर्मलता की उत्पत्ति, और विकार का नाश होता है, तथा क्रमशः पूर्ण निर्मल मोक्ष पर्याय सहज ही प्रगट होजाती है। अवि-कारी एकाकार पारिणामिक ज्ञायक स्वभाव की ऐसी महिमा है। निर्मल

शक्ति का बल द्रव्य में से स्वरूप स्थिरता के रूप में आता है। वह निर्मल-निराकुल शांति, सुख और आनन्द अपना स्वाद है।

समयसार का अर्थ है असंयोगी, अविकारी, शुद्ध, आत्मा का स्वभाव। सर्वज्ञ भगवान ने साक्षात् ज्ञान से प्रत्येक जड़-चेतन वस्तु की स्वतंत्रता को देखा है। कर्म के निमित्त से आत्मा में विकारी अवस्था होती है, वह क्षणिक विकार का नाशक त्रैकालिक स्वभाव प्रत्येक आत्मा में है। उसकी प्राप्ति कैसे करनी चाहिये, यह बतानेवाली वाणी सर्वज्ञ के मुख-कमल से निकलती है, जिसे संतपुरुष झेलते हैं। आत्मानुभव से उस परम सत्य को पचाकर जगत के परम उपकार के लिये संतपुरुषों ने परमागम शास्त्रों की रचना की है, उनमें से यह समयसार ग्रन्थ सर्वोत्कृष्ट है। एक-एक गाथा में त्रिकाल के सर्वज्ञ-हृदय के रहस्य भरे हुए हैं। इसे जो समझता है वह निहाल होजाता है।

जो वस्तु होती है वह नित्य स्वयंसिद्ध होती है, किसी के आधीन नहीं होती, आत्मा, जड़ इत्यादि पदार्थ त्रिकाल स्वयंसिद्ध हैं। जैसे कोई अग्नि को गरम न माने तो उससे उसका स्वभाव नहीं बदल जाता, इसीप्रकार जड़ चेतन पदार्थ त्रिकाल भिन्न हैं; किसी के कार्य कारणरूप नहीं हैं, तथापि यदि ऐसा न माने तो स्वभाव बदल नहीं जाता। अपने पृथक्त्व को भूलकर, निमित्ताधीन दृष्टि से देखनेवाले ने जिसको देखा उसीको अपना मान लिया। जो शरीर इन्द्रियादिक हैं सो मैं हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, और मैं पर का कुछ कर सकता हूँ; इसप्रकार मानता है, किन्तु अनन्तकाल में एक क्षण भर को भी यह नहीं माना कि मैं पृथक नित्य-ज्ञायक हूँ।

निमित्ताधीन दृष्टि को छोड़कर स्वाधीन स्वभाव की एकरूप दृष्टि से देखने पर जीव ज्ञायकभाव है; वह मात्र जाननेवाला ही नहीं है किन्तु अनंत सत्व-स्वरूप अन्य अनन्त गुणों से परि-पूर्ण है; उसकी वर्तमान अवस्था में पुण्य-पाप के विकार का निमित्त-

कारण अजीव है। (यहाँ यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि जीव को जड़ पदार्थ विकार कराते हैं) अपने को भूलकर निमित्त को अपने में गुण-दोष-दाता मानकर आत्मा स्वयं ही विकारी अवस्था करता है, तब परवस्तु की उपस्थिति निमित्त कहलाती है। उसके दो पहलू हैं। [१] नवप्रकार के विकल्परूप से विकारी भाव जिसका लक्षण है, वह तो जीव की अवस्था है। यदि विकारी होने की योग्यता जीव में स्वयं न हो तो नई नहीं होसकती, किन्तु वह एक-एक समय की अवस्था जितनी ही होती है इसलिये नित्य स्वभाव के लक्ष्य से क्षणभर में निर्मलरूप में बदल सकती है [२] जीव की विकारी अवस्था के नव-भेदों में निमित्तकारण जड़ कर्म है।

विकार त्रिकालीस्वभाव में से नहीं आता, किन्तु निमित्ताधीन दृष्टि से नया होता है। जब आत्मा पुण्य-पाप के राग में अटक जाता है तब गुण का विकास रुक जाता है, वह भावबंधन है। जहाँ निन्दा और प्रशंसा को सुनने के लिये रुका कि-वहाँ दूसरा विचार करने की आत्मा की शक्ति हीन होजाती है। पंचेन्द्रियों के विषयों की ओर अच्छे-बुरे की रुचि करके राग में जो रुकना होता है, सो वही परमार्थ से भावबंधन है।

यहाँ सात अथवा नवतत्त्व के शुभाशुभ विकल्प को जीव के विकार का लक्षण कहना है। दया, दान, सेवा, और भक्ति के शुभभाव जीव स्वयं परलक्ष्य से करता है, तब होते हैं। उसके निमित्त से पुण्य के जो रजकण प्रारब्धरूप में बंधते हैं सो अजीवतत्व है। एक ओर विकारी सात तत्त्व के रूप में जड़-अजीव वस्तु है और दूसरी ओर जीव की विकारी अवस्था सात प्रकार के विकल्परूप से है। उस विकार के दो-दो भेद एकरूप स्वभाव में नहीं हैं; उस भेद के लक्ष्य से निर्मल श्रद्धा प्रगट नहीं होती।

अपने में प्रतिक्षण क्या होरहा है इसका विचार तक जीव नहीं करते, घर की खिड़कियों, दरवाजों और जीने की सीढ़ियों का बराबर

ध्यान रखता है कि वे कितनी हैं और कैसी हैं, किन्तु भगवान आत्मा के शाश्वत् घर में क्या निधान है, और मैं उनका कैसा क्या उपयोग करता हूँ, इसकी कोई खबर नहीं रखता। यहाँ कोई कह सकता है कि यह चर्चा तो बहुत बारीक है, जो कि मेरी समझ में नहीं आती, किंतु यदि बाहर की कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवृत्ति बताई जाये तो झट समझ में आजाती है। अरे भाई! यह तो ऐसी बात हुई कि:—

घर में नहीं है चून चने का, ठाकुर वडीं करावें।
मुझ दुखनी को लँहगा नाहा, कुतिये झूल सिलावें॥

तेरे अपने स्वाधीन गुण की निरन्तर हत्या होती है, तेरे अविवेक से तेरी समस्त शक्तियाँ हीन होरही हैं; इससे तेरा स्वभाव प्रगट नहीं हो सकता, किन्तु विकारी पर्याय ही प्रगट होती है। तू अपने स्वभाव को लुटा रहा है। इसप्रकार आत्मा में सुख का अकाल करके मैं किसी का भला कर सकूँगा, ऐसी जो मान्यता बना रखी है सो अनादिकालीन महा अज्ञान है। जो पुण्य के संयोग में सुख मानता है सो भी मात्र आकुलता के दुःख में सुख की कल्पना कर रहा है। जैसे मूढ़ बालक विष्टा को चाटता है उसीप्रकार बाल जीव स्वभाव की शांति को भूलकर पुण्य-पाप की आकुलता को अपना मानकर उसका स्वाद लेते हैं। और वे ऐसी व्यर्थ की डींग मारते रहते हैं कि—हम नीतिवान हैं, हम परोपकारी हैं, किन्तु अरे भाई! जरा ठहर और विचार कर कि—तू कौन है, तेरा क्या स्वरूप है; क्या नहीं है, तू क्या कर सकता है, क्या नहीं कर सकता, यह सब निर्णय कर, अन्यथा चौरासी के चक्कर में परिभ्रमण करने का पार नहीं आयेगा। अज्ञान वह कोई बचाव नहीं है। जैसे शराबी मनुष्य शराब पीकर उसमें आनन्द मानता है इसीप्रकार अज्ञानी जीव अपने को अज्ञानभाव में सुखी मानता है, वे दोनों समान हैं। यह जीव अनंतकाल से चौरासी के अवतार में अनंतवार अपार दुःख भोगकर आया हैं; उन्हें यह भूल गया है। यदि स्वयं ही निजको

अपनी दया आये तो इस भव का अन्त हो। अन्तरंग में जो निराकुल आनंद है उसे भूलकर यह जीव बाहर की आकुलता के दुःख को ही सुख मान रहा है।

जो यह कहते हैं कि मैं लोगों का सुधारकर दूँगा, वे झूठे हैं। अपने राग के लिये कोई शुभभाव करे तो उसका निषेध नहीं है, किन्तु जो उसमें यह मानता है कि मैं दूसरे का कुछ करता हूँ और दूसरे के लिये करता हूँ, सो महा मूढ़ता है। जगत में सर्वत्र काँटे बहुत हैं, किन्तु तू उन सब की चिन्ता क्यों करता है? यदि तू केवल अपने पैरों में जूते पहिन ले तो बहुत है। तेरे द्वारा दूसरे का समाधान नहीं होसकेगा। जब तुझे भूख लगती है, तब दुनियाँ भर को भूलकर अकेला खा लेता है। ऐसा कोई परोपकारी दिखाई नहीं देता कि जो ऐसा निश्चय करे कि जब गाँव के सब लोग खा चुकेगें तब मैं खाऊँगा, क्योंकि ऐसा हो नहीं सकता।

कहत कबीरा सुन मेरे मुनियाँ।
आप मरे सब डूब गई दुनियाँ॥

स्वयं समझ लिया कि मैं पर से भिन्न हूँ, दूसरे के साथ त्रिकाल में भी मेरा सम्बन्ध नहीं है, पर का कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं है; इसप्रकार अपने स्वतंत्र स्वभाव का निर्णय होने के बाद, जगत माने या न माने, उस पर अपनी मान्यता अवलम्बित नहीं है। अपने परमार्थ एकरूप स्वभाव को भूलकर पुण्य-पाप की विकारी अवस्था मेरी है, इसप्रकार पर में नव प्रकार के विकल्पों से एकता मानकर उसके फल में खण्ड खण्ड भाव से राग में जीव अटक जाता है, यह बात (अटकने की अपेक्षा से) सच है।

प्रश्नः—आत्मा के साथ कर्म का संयोग कब से हुआ है?

उत्तरः—कर्म का संयोग अनादि काल से है, किन्तु वह एक-एक समय को लेकर वर्तमान अवस्था से है। जहाँ तक विकारी भाव को

दूर नहीं करेगा तब तक वह वैसा ही बना रहेगा। वर्तमान में किसी भी जीव के पास अनादिकाल के कर्म नहीं हैं। हाँ प्रवाहरूप से अनादि हैं। जीव पर से बंधा हुआ नहीं किन्तु पर से भिन्न है, तथापि अज्ञान भाव से पर को अपना मानकर परोन्मुखरूप–राग में अनादि काल से अनेक अवस्थाओं में यह जीव भटक रहा है।

जैसे कनक पाषाण में सोना, और तिल में तेल तथा खली एक साथ ही होती है, तथापि स्वभावतः भिन्न हैं इसलिये उन्हें अलग किया जासकता है; इसीप्रकार जीव और कर्म का एक साथ एक क्षेत्र की अपेक्षा से अनादिकालीन संयोगसम्बन्ध है, किन्तु दोनों भिन्न वस्तु हैं इसलिये वे अलग होसकती हैं।

कोई कहता है कि हम तो आपकी बात को तब सच माने जब कि हम उसे सुनते ही तत्काल सब समझ लें; किन्तु भाई! पाठशाला में जब पढ़ना प्रारम्भ किया जाता है, तब क्या सब कुछ उसी समय समझ में आजाता है? और व्यापार सीखने के लिये कई वर्ष तक अभ्यास करता है क्योंकि उसमें उमंग है; और क्या यह मुफ्त की चीज़ है, जो सुनते ही तत्काल मन में समा जाये। यह तो ऐसी अपूर्व बात है जिससे जन्म-मरण दूर होसकता है, इसलिये यह खूब परिचय करने पर समझ में आसकती है।

जो यह कहता है कि आप तो दिन रात आत्मा ही आत्मा की बातें किया करते हैं, आप कभी कोई ऐसी बात तो कहते ही नहीं कि जिसमें किसी का भला कर सकें; तो वह यथार्थतया यही निश्चय नहीं कर पाया कि दूसरे के लिये वह कितना उपकारी है।

प्रश्नः—जो दिखाई नहीं देता उसकी महिमा गाई जाती है, और जो दिखाई देता है, उसके सम्बन्ध में आप कहते हैं कि–इसे तू नहीं कर सकेगा, इसका क्या कारण है?

उत्तरः—आत्मा अरूपी है, ज्ञातास्वरूप है वह किसी अन्य वस्तु का कुछ करने के लिये समर्थ नहीं है, जो दिखाई देता है वह जड़ की स्वतंत्र क्रिया है। जीव तो राग-द्वेष और अज्ञान कर सकता है, अथवा राग-द्वेष और अज्ञान को दूर करके ज्ञान और शांति कर सकता है। तू कहता है कि आत्मा दिखाई नहीं देता, किन्तु यह तो बता कि यह किसने निश्चय किया कि—आत्मा दिखाई नहीं देता ? देह अथवा जड़ इन्द्रियों को तो खबर होती नहीं तब उन सब को जानने वाला कौन है ? सच्चे झूठे का निश्चय करने वाला शरीर नहीं होसकता। इसलिये शरीर से भिन्न आत्मा है, यह पहले स्वीकार कर लेने पर यह जानना चाहिये कि—उसका क्या स्वरूप है, उसके क्या गुण हैं, वह किस अवस्था में है, और भिन्न है तो किससे भिन्न है। समझने की इस पद्धति से यथार्थ को समझा जासकता है। यदि सुनकर मनन न करे तो क्या लाभ होसकता है ?

अपूर्व परम तत्व की बात कान में पड़ना भी दुर्लभ है, इसलिये उसके विचार में, सत्समागम में, अधिक समय लगाना चाहिये। भीतर से अवधारण करने का खेद होना चाहिये कि—अरे रे ! मैंने कभी अपनी चिंता नहीं की। यदि अन्तरंग में अपनी दया आये तो यह जाना जासकता है कि पर दया क्या है। अपने को पर का कर्ता मानना, अथवा पुण्य-पाप के विकाररूप मानना ही सबसे बड़ी स्वहिंसा है। अपने स्वभाव को पर से भिन्न त्रिकाल स्वाधीन जानकर, अपने को राग-द्वेष और अज्ञान से बचाना; अर्थात् एकरूप ज्ञान भाव से अपनी संभाल करना सो सच्ची अहिंसा है।

जिस भावसे जन्म-मरण दूर होता है उसकी बात यहाँ कही जाती है। धर्म के नाम लौकिक बातें करनेवाले तो इस जगत में बहुत हैं। काम, भोग, और बंध की कथा घर-घर सुनने को मिलती हैं; आत्मा पर का कर्ता है, उपाधिवाला है, इत्यादि बातें भी जहाँ-तहाँ सुनने मिलती किन्तु यहाँ तो नवतत्व की पहिचान कराकर और

फिर उस भेद को तोड़कर अभेद स्वभाव में जाने की बात कही है। वर्तमान संयोगाधीन अवस्था को गौण करके नवतत्व के भेदरूप मन के योग से जरा हटकर, सर्वकाल में अस्खलित एक जीव द्रव्य में स्वभाव के समीप जाकर एकाग्र अनुभव करने पर नव प्रकार के क्षणिक भंग अभूतार्थ हैं-असत्यार्थ हैं। वे त्रिकाल स्थायी नहीं हैं। त्रिकाल स्थायी तो स्वयं है। यह सम्यक्दर्शन की पहली से पहली बात है। अनादिकालीन विपरीत मान्यता का नाश करके परिपूर्ण स्वभाव को देखनेवाली शुद्ध दृष्टि का अनुभव होने पर दुःख का नाशक और सुख का उत्पादक पवित्र आत्मधर्म प्रगट होता है।

नवप्रकार के विचार में खण्ड-खण्डरूप से रुक कर सत् समागम से पहले मन से यथार्थ निर्णय करना होता है; किन्तु उस भेद में लगे न रहकर नवतत्व के विचार से जरा पीछे हटकर; निर्विकल्प एकरूप संपूर्ण ध्रुव स्वभाव के लक्ष्य में स्थिर होकर, एकत्व का अनुभव करने पर एक में अनेक प्रकार के भेद दिखाई नहीं देते। क्षणिक शुभ-अशुभ विकल्प ध्रुव स्वभाव में स्थान नहीं पाते। इसलिये इन नवतत्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है। इसप्रकार वह एकरूप से प्रकाशित करता हुआ शुद्धनयरूप से अनुभव किया जाता है। और जो वह अनुभूति है सो आत्मख्याति (आत्मा की पहिचान) ही है; और जो आत्मख्याति है सो सम्यक्दर्शन ही है। आत्मा की पूर्ण सुख-रूप दशा को प्रगट करने का यह मूल है।

यह सम्यक्दर्शन किसी सम्प्रदाय विशेष की वस्तु नहीं है, तथा ऐसी वस्तु भी नहीं है कि जिसे मात्र मन में धारण कर लिया जाय। प्रभु! तेरी वस्तु तेरे ही पास है जिसे ज्ञानी बतलाते हैं। तेरी महत्ता अनन्त सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु ने गाई है। जैसे चक्रवर्ती शकोरा लेकर, अथवा मिट्टी का भिक्षापात्र लेकर भीख मांगने निकल पड़े, दूसरे का मुँह ताके, और पराश्रय ढूँढ़े, तो वह उसे शोभा नहीं देता, उसीप्रकार तू अपने उत्कृष्ट

स्वभाव को भूलकर दूसरे की आशा करता है, दूसरे से सहायता चाहता है, तो वह तुझे शोभा नहीं देता।

मेरा पूर्ण स्वभाव अविकारी ध्रुव एकरूप है। ऐसे स्वभाव के बल से विकारी अवस्था के लक्ष्य को गौण करके, मैं नित्य एकस्वभावी भूतार्थ हूँ, ऐसी यथार्थ पहिचान का स्वानुभव में आना, सो निःशंक आत्मानुभूति है। यही अपूर्व आत्म-साक्षात्कार है। यही आत्मख्यातिरूप एकत्व की सच्ची श्रद्धा है, वह अखण्डस्वलक्ष्य से प्रगट होती है।

इसप्रकार यह सर्व कथन पूर्वापर दोष रहित है। लोग भी कहते हैं कि–परिचय बहुत बड़ी वस्तु है। निमित्ताधीन दृष्टि से पुण्य-पाप के बाह्यभाव में अटककर जीव अनेक प्रकार के खण्डों का अनुभव करता था, निजलक्ष्य को भूलकर पर को मानता, जानता और पर के राग में अटक रहा था; जब रुचि बदल गई तब वह एकरूप स्वभाव में आया और उससे वह अपने को मानता, जानता और उसमें स्थिर होता है। इसप्रकार जब आत्मा की पहिचान स्वयं करता है तब होती है।

प्रश्नः—जब कि सब स्वयं अपने लिये करते हैं तो गुरु उपदेश किसलिये देते हैं?

उत्तरः—वे दूसरों के लिये उपदेश नहीं देते किन्तु अपने को सत् के प्रति रुचि है इसलिये वे अपनी अनुकूलता के गीत गाते हैं। यह तो अपनी रुचि का आमंत्रण है। अपनी रुचि की दृढ़ता को प्रगट करते हुए, सत्य की स्थापना और असत्य का निषेध सहज ही हो जाता है। मैं किसी के लिये उपदेश करता हूँ यह मानना मिथ्या है। दूसरे लोग धर्म प्राप्त करें या न करें, इससे उपदेशक को लाभ या हानि नहीं होती, किन्तु प्रत्येक को अपने भाव की तारतम्यता के अनुसार फल मिलता है।

यह अपूर्व समझ की रीति कहलाती है। यह बाहरी बातें नहीं हैं। सत्य जल्दी पकड़ में न आये, और सीधी बात के समझने में देर

लगे तो कोई हानि नहीं है, किन्तु अपनी कल्पना से उल्टा कर बैठे तो अपने में बहुत बड़ा विरोध बना रहेगा। सत्य को समझे बिना राग दूर नहीं हो सकता। विपरीत ग्रहण से मूढ़ता विष चढ़ जायेगा।

कोई बालक माता से कहे कि 'मुझे बहुत भूख लगी है, घर में जो कुछ हो सो मुझे दे दे।' माता कहती है कि घर में मात्र रोटी है लेकिन उस पर विषैले जानवर का विष पड़ा हुआ मालूम होता है इसलिये वह खाने योग्य नहीं है; मैं एकाध घण्टे में दूसरा भोजन तैयार करे देती हूँ; अथवा काकाजी के घर चला जा, उनके घर मिष्टान्न तैयार हो रहा है; किन्तु उसमें दो तीन घण्टे की देर लगेगी, इतने में कुछ मर नहीं जायेगा, किन्तु यदि वह विषैली रोटी खा लेगा तो जीवित नहीं रहेगा। इसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि निर्दोष अमृतमय उपदेश में से पवित्र आत्मा के लिये सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी मिष्टान्न तैयार हो रहा है, उसे समझने का धैर्य न रखे, उसे मँहगा समझकर बाहर के पुण्य-पाप में धर्म माने, तो उस विपरीत मान्यता का चढ़ा हुआ विष ऐसा फद-फदा उठेगा कि पुण्य के शोथ की जलन का पार नहीं आयेगा; चौरासी के अवतार में कहीं भी धर्म सुनने का सुयोग नहीं मिलेगा। इसलिये सर्वज्ञ वीतराग का कथन क्या है? उसे पात्रता से, सत्समागम से निवृत्ति पूर्वक सुनकर, अविकारी-आत्म स्वभाव के स्वीकार करना चाहिये।

आत्म-प्रतीति के होने के बाद, स्वभाव के बल से विशेष राग के दूर होने पर बीच में व्रत संयम के शुभभाव सहज ही आते हैं, शुभाशुभ वृत्ति से छूटकर अन्तरंग ध्यान में एकाग्र होते समय बाह्यवृत्तिरूप विचार नहीं होता। शुभाशुभ राग अविकारी स्वभाव से विरोधभाव है; उससे त्रिकाल में भी सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं होसकता। पापभाव को छोड़ने के लिये पुण्यभाव ठीक है—उसका निषेध नहीं है, किन्तु उससे हित मानना बहुत बड़ी भूल है, क्योंकि वहाँ अविकारी स्वभाव का विरोध होता है। जिसे पूर्वा पर विरोध रहित स्वरूप की प्रतीति

नहीं है उसके सच्चे व्रत और साधुता नहीं होसकती। कषाय को सूक्ष्म करने से पुण्यबंध होता है; किन्तु भव-भ्रमण कम नहीं होता। आचार्यदेव कहते हैं कि यह सर्व कथन निर्दोष–निर्बाध है। बाह्यदृष्टि वाला जीव निर्दोषत्व अथवा दोषत्व किसमें निश्चय करेगा?

जैसे एक ढ़ाल की दो बाजू होती हैं, उनमें से जब एक बाजू देखने की मुख्यता होती है तब दूसरी लक्ष्य में गौण होजाती है; इसीप्रकार एक आत्मा को कर्म के निमित्ताधीन, विकारी क्षणिक दृष्टि से देखें, तो एकरूप स्वभाव से विरुद्ध अनेक प्रकार का रागभाव है, उसे जानकर यह मेरा मूल स्वभाव नहीं है इसलिये उस ओर आदरभाव से देखना बन्द करना चाहिये अर्थात् उसके लक्ष्य को गौणकर देना चाहिये। यदि अन्तरंग दृष्टि से दूसरी शुद्ध पवित्रता की बाजू पर देखें तो आत्मा त्रिकाल एकरूप ज्ञायक है, अनंत आनंदस्वरूप है।

भावार्थ—इन नवतत्वों को जानने के बाद, एक में अनेक प्रकार को देखने वाली बाह्य दृष्टि को गौण करके शुद्ध नय से अखण्ड एक स्वभाव की ओर उन्मुख होकर देखें तो जीव ही एक मात्र चैतन्य चमत्कार प्रकाशरूप में प्रगट होरहा है, इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न नवतत्वों के विकल्प कहीं कुछ दिखाई नहीं देते। इसप्रकार जहाँ तक जीव को अपने ज्ञायक स्वभाव की जानकारी नहीं है, वहाँ तक वह व्यवहार में मूढ़ दृष्टि वाला है क्योंकि वह भिन्न-भिन्न नवतत्वों को मानता है।

शुद्धनय के द्वारा नवप्रकार में से बाहर निकालकर आत्मा को एकरूप मानना सो सम्यक्त्व है। नवतत्वों के विकल्प के भेद की श्रद्धा को गौण करके अभेद को स्वविषय करने वाले के निश्चय सम्यकदर्शन प्रगट होता है। पहले नवतत्वों के भेद जानना पड़ते हैं, किंतु वह गुण का कारण नहीं है, स्वभाव नहीं है। स्वभाव तो त्रिकाल एकरूप शुद्ध ही है। वह विकार का नाशक, गुण का रक्षक और निर्मलता का उत्पादक है; उसके बल से धर्म का प्रारंभ होता है।

आत्मा का स्वभाव निमित्ताधीन होने वाले दोष और दुःखरूप अवगुण दशा का नाशक है। विकार का नाशक ध्रुवस्वभाव अन्तरंग में पूर्ण शक्तिरूप से भरा हुआ है, जोकि स्वयं आत्मा है। अवगुणों को दूर करने से पूर्व, उन्हें दूर करते समय अथवा दूर करने के बाद स्वयं तो एक ही प्रकार से अविकारी ज्ञानानन्द स्वरूप है। जो स्वभाव नहीं है वह नया उत्पन्न नहीं होता। वर्तमान विकारी अवस्था के समय भी विकार का ज्ञाता आत्मा, अविनाशी पूर्ण शक्ति से शुद्ध है, वह विकाररूप से क्षणिक नहीं है; स्वभाव के बल से विकार का नाश करके एकाकी रहने वाला है। वह त्रिकाल अविकारी भिन्न ही है, निमित्ताधीन विकारी अवस्था क्षणिक है, किन्तु आत्मा इतने भर के लिये भी क्षणिक नहीं है।

आत्मा मन, वाणी और देह की क्रिया तथा किसी परवस्तु की क्रिया व्यवहार से भी नहीं कर सकता, क्योंकि दो तत्व त्रिकाल भिन्न हैं। आत्मा अरूपी ज्ञातास्वरूप है, उसे किसी दूसरे का कर्ता माने तो वह विपरीतदृष्टि का अज्ञान है। क्षणिक विकार की जो शुभाशुभ वृत्ति उत्पन्न होती है उसका स्थान मेरे ध्रुवस्वभाव में नहीं है। मैं जिस अवगुण का नाश करना चाहता हूँ उसका नाशक पवित्र स्वभाव मुझमें है, उसके लिये बाहर लक्ष्य करने की आवश्यकता नहीं है। बाह्यसाधन अन्तरंग में सहायक नहीं होता। बाह्य-लक्ष्य से पुण्य-पाप के जितने भाव किये जाते हैं वे अविकारी स्वभाव से विरोधरूप होने के कारण आदरणीय नहीं हैं। जहाँ पुरुषार्थ की हीनता है वहाँ शुद्ध के लक्ष्य से अशुभ से बचने के लिये शुभभाव होते तो हैं, किन्तु उनसे गुणों को कोई सहायता नहीं मिलती। शुभभाव पुण्यबंध का कारण है, जो उस विकार को अविकारी गुण में सहायक मानता है उसे गुण के प्रति श्रद्धा नहीं है।

यद्यपि अखण्ड गुण की श्रद्धा और पूर्ण वीतरागता का ही आदर है तथापि ज्ञानी को छद्मस्थ अवस्था में अपनी अशक्ति से पुण्य-पाप का

योग होता है; उसे ज्ञानी जानता है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं स्वभाव के बल से विकार का नाशक हूँ इसप्रकार क्षणिक विकार की नास्ति को देखने वाला अविनाशी गुणरूप पूर्णस्वभाव की अस्ति को यथावत् देखकर अविकारी एकरूप ध्रुवस्वभाव को श्रद्धा में लेता है। विकार का नाशक परिपूर्ण निर्मल स्वभाव जैसा है उसे वैसा ही मानना सो सर्वप्रथम उपाय है; उसके बिना व्रत, प्रत्याख्यान आदि सच्चे नहीं होते।

आत्मस्वभाव को सम्पूर्णतया लक्ष्य में लिये बिना धर्म नहीं होता। शरीर की क्रिया और बाह्य संयोगों की प्रवृत्ति की तो यहाँ बात ही नहीं है; बाहर का लेन-देन और जड़-वस्तु का त्याग-ग्रहण त्रिकाल में भी आत्मा के आधीन नहीं है। संयोगों में लगने से या परोन्मुख होने से पुण्य-पाप की जो वृत्ति उद्भूत होती है, वह मलिन अवस्था आत्मस्वभाव की नहीं है। उसके लक्ष्य को गौण करके त्रिकाल निर्मल स्वभाव को लक्ष्य में ले तो स्वयं ही निर्विकल्प एकरूप चैतन्यचमत्कार अलग ही दिखाई देता है, (यहाँ दिखाई देने का अर्थ आँखों से दिखाई देना नहीं है, किन्तु परिपूर्ण निर्मल स्वभाव की निःसंदेह प्रतीति होना है) वहाँ भिन्न-भिन्न नवतत्त्व के प्रकार दिखाई नहीं देते। जहाँतक स्वतंत्रतया परमार्थ आत्मा का ज्ञातृत्व जीव को नहीं है वहाँतक वह व्यवहारदृष्टि वाला है, चौरासी में परिभ्रमण करने वाला है।

नवतत्व की भेदरूप श्रद्धा मिथ्यादृष्टिपन है। पुण्यभाव के करते-करते निर्मल श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र प्रगट होजायेगा, जो ऐसा मानता है उसे अविकारी भिन्न स्वभाव की श्रद्धा नहीं है, पवित्रता की रुचि नहीं है, उसे राग की भक्ति है अर्थात् वीतराग से विरोधभाव की भक्ति है। बाह्यदृष्टि वाले को यह परम सत्य कठिन मालूम होता है।

सम्यक्दर्शन होने से पूर्व शुद्धअभिप्राय प्राप्त होने की यह बात है। अविरोधी स्वभाव का आदर करने के बाद अशुभ को दूर करने के लिये भक्ति, दान, पूजा इत्यादि के शुभभाव होंगे, किन्तु उनमें कर्तृत्व,

स्वामित्व अथवा हितभाव नहीं माना जासकता। यह तो विपरीत मान्यता की पकड़ है जो जमकर बैठी है। जिसे यह समझने की परवाह नहीं है कि तीनोंकाल के वीतराग का कथन क्या है वही सत्य से विचकता है।

वर्तमान में पूर्ण वीतराग स्वभाव को माने बिना पर में, बंधन में, पुण्य-पाप के विकार में कर्तृत्वबुद्धि की पकड़ नहीं मिट सकती। निमित्ताधीनदृष्टि वाला जो कुछ मानता है, जानता है, अथवा करता है वह सब मिथ्या है। नवतत्व के विकल्प का जो उत्थान होता है सो वह स्वभाव का कर्तव्य नहीं है किन्तु परलक्ष्य की ओर झुकने से क्षणिक अवस्थामात्र का होने वाला विकार है। मैं दया, दान, का करने वाला हूँ, देह की क्रिया का कर्ता हूँ, मेरी प्रेरणा से सब कुछ होता है, यदि मैं न करूँ तो यह नहीं होसकता इत्यादि मान्यता स्वतंत्र, अक्रिय आत्मस्वभाव की हत्या करने वाला महा मिथ्यात्व है। जीव पुण्य-पाप के विकारीभाव को अज्ञानभाव से करता है। जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं वही मैं हूँ यह मानकर जो विकारभाव में अटक जाता है और जो शुभविकार के भाव को संवर-निर्जरारूप धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में अभेद है, स्वतंत्र है; और पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप से नहीं है। आकाश-क्षेत्र में संयोग-वियोग होता है, इसलिये दो मिटकर एक नहीं होसकता जीव सदा सोपयोगी (ज्ञाता-दृष्टा) अरूपी है, वह मिटकर कदापि और किसी भी अवस्था में जड़रूप नहीं होसकता। परनिमित्त में सम्बन्ध मानकर राग-द्वेष में अटक जाये तथापि क्षणिक अवस्था के रागरूप से पूरा नहीं होसकता। इसप्रकार प्रत्येक आत्मा स्वभाव से पूर्ण निर्मल है। नवतत्व की भेदरूप अवस्था कर्म के निमित्त से और अपनी योग्यता से जीव में होती है। उस भेद को उलंघन करके स्वभाव में आने पर शुद्धनय के द्वारा अवस्थादृष्टि को गौण करके, अखण्ड ज्ञायक अविकारी स्वभाव को देखने पर नवतत्व के विकल्प से परे निर्मल ज्ञाना-

नंद एकरस से पूर्ण पवित्र भगवान आत्मा सदा एकरूप रहने वाला वर्तमान में भी पूर्ण है ऐसी श्रद्धा होती है । साथ ही अतीन्द्रिय आनंद होता है ।

ज्ञानी यह जानता है कि मैं अविकारी, असंयोगी, एकरूप ज्ञाता-दृष्टा और स्वभावतः नित्यस्थायी हूँ; तथा जो पुण्य-पाप के विकल्प की क्षणिक संयोगी वृत्ति उत्पन्न होती है सो वह आत्मा का स्वरूप नहीं है । वह श्रद्धा के लक्ष्य में निमित्ताधीन किसी भेद को स्वीकार नहीं करता, क्षणिक वर्तमान अशक्ति से पुण्य-पाप की वृत्ति होती है तथापि उसका कर्ता और स्वामी नहीं होता । जो आत्मा पराश्रयरूप व्यवहार में अटक रहा है वह पुण्य-पाप के विकार में मूढ़ होकर स्वामीरूप से राग का–पुण्य का कर्ता होता है । जिसभाव से बंधन होता है उस भाव को वह गुण में सहायक मानता है इसलिये वह गुण की हत्या करता है । विरुद्धभाव वाला व्यक्ति मन में रटता रहे इसलिये अन्तरंग की मूढ़ता दूर नहीं होजाती । ज्ञानी धर्मात्मा के जागृतस्वभाव का निरंतर विवेक रहता है । जब स्वभाव में स्थिर नहीं रह सकता तब पुण्य-पाप की वृत्ति में योग होजाता है किन्तु उसमें उसका स्वामित्व नहीं होता, वह अपनी अशक्ति को छोड़ना चाहता है । अनंत पवित्रस्वभाव की श्रद्धा के बल से वह वर्तमान क्षणिक अशक्ति का कर्ता नहीं होता ।

यह अपूर्व बात है, त्रिकाल के ज्ञाता इसप्रकार समझ का मार्ग बताते हैं । लोगों ने यह बात इससे पहले कभी नहीं सुनी थी । लोगों की ऐसी योग्यता है कि कानों में सत्य नहीं पड़ता और आग्रह की पकड़ बाधक होती है । सब स्वतंत्र प्रभु हैं! जो पुण्य-पाप के क्षणिक विकार को अपना मानता है वह अविनाशी निर्विकारी स्वभाव को नहीं मानता । जो पुण्य का–विकार का कर्ता होना चाहता है वह उसका नाशक नहीं होना चाहेगा । यदि अविकारीस्वभाव को स्वीकार करले तो पराश्रय के भेद पर भार न रहे, निमित्ताधीनदृष्टि न रहे । सत्य के

आदर में असत्य का आदर न रहे। सत्य क्या है यह मध्यस्थ भाव से समझना चाहिये, तीनलोक और तीनकाल में सत्य नहीं बदल सकता।

प्रश्नः—आत्मा पृथक् नहीं है तथापि उसे पृथक् क्योंकर मानना चाहिये ?

उत्तरः—आत्मा सदा पृथक् ही है, किन्तु बाह्य देहादि पर दृष्टि है इसलिये एकमेक माना है। जैसे गाड़ी के नीचे चलने वाला कुत्ता अपने अभ्यास से ऐसा मानता है कि मेरे आधार पर गाड़ी चल रही है; इसीप्रकार आत्मा स्वयं अरूपी ज्ञानानंद है, उसे भूलकर देहाभ्यास से मैं बोलता हूँ, मैं चलता हूँ, मैं पुरुष हूँ इत्यादि रूप से पर में एकत्व मान रखा है और इस विपरीत मान्यता ने अड्डा जमा रखा है। एक क्षेत्र में पानी और कंकड़ इकट्ठे रहते हैं इसलिये वे एकमेक नहीं होजाते, इसीप्रकार यह आत्मा सदा अरूपी है, वह रूपी शरीर के साथ एकत्रित रहने से त्रिकाल में भी रूपी नहीं होजाता। जड़पदार्थ तो अन्ध होते हैं, उन्हें कुछ खबर नहीं होती। देहादिक रजकणों में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श इत्यादि हैं; जोकि जड़ के (पुद्गल के) गुण हैं, और जो मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि के रूप आकार हैं सो भी जड़ की पर्यायें हैं। आत्मा सदा ज्ञानस्वरूप है, अरूपी है, त्रिकाल में सदा पर से भिन्न है, वह देहादि की क्रिया का कर्ता नहीं है, प्रेरक नहीं है तथा उसे कोई प्रेरणा नहीं करता। मैं दूसरे का कुछ कर सकता हूँ, और अन्य मेरा कर सकता है इसप्रकार अनादिकाल से मान रखा है, जोकि बहुत बड़ी भूल है। जड़ और चेतन को स्वतंत्ररूप से भिन्न स्वीकार किये बिना किसी को भी पृथक्त्व की पहिचान और पृथक्त्व के स्वतंत्र आनंद की प्राप्ति नहीं होती। मैं शरीर हूँ, पर का कर्ता हूँ, पुण्य-पाप विकार मेरे हैं, अन्य मुझे सुधार या बिगाड़ सकता है, इस-प्रकार की मान्यता की प्रबलता चौरासी लाख के अवतार का कारण है। स्वयं विकार की क्षणिक अवस्थामात्र के लिये नहीं है। यदि प्रतीति

करे तो प्रतिसमय पूर्ण निर्मल परमात्मा जितना तथा स्वभावतः विकार का नाशक है। वर्तमान अवस्था में विकार करने का विपरीत पुरुषार्थ है, उसकी अपेक्षा त्रैकालिक स्वभाव में वर्तमान में ही अनंतगुनी पवित्र-रूप में अनुकूल शक्ति है। जो यह मानता है कि पूर्वकृत कर्म बाधा डालते हैं, उसकी बहुत प्रबलता है, राग-द्वेष स्वयं ही होजाते हैं, इस-प्रकार पराधीनता को मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।

सर्वज्ञ वीतराग ने जिसप्रकार वस्तु का स्वतंत्र स्वभाव कहा है उसे उसप्रकार जाने बिना कोई चाहे जितना सयाना कहलाता हो, शास्त्रों का पंडित माना जाता हो, तथापि वह वीतराग के मार्ग में स्थित नहीं है। वीतराग को कोई पक्ष नहीं है, वीतराग को अपनी पीढ़ी या वंश-परम्परा बनाये नहीं रखनी है। जो प्रत्येक की स्वतंत्रता को घोषित करता है वही वीतराग है। जो यह कहता है कि पुण्य से धर्म होता है, दूसरे मेरा कहा मानें तो कल्याण हो, अथवा आशीर्वाद से सुखी होना माने वह आत्मा को पराधीन, परमुखापेक्षी एवं निर्वीर्य मानता है।

अज्ञान के कारण से अवस्था में पर-सम्बन्ध के द्वारा अनेक भेद-रूप से, पर में कर्तारूप से, विकाररूप से स्वयं अपने को भासित होता था, किन्तु जब शुद्धनय से स्वाश्रित निरावलम्बी स्वभाव को स्वीकार करके जड़-चेतन का स्वतंत्र स्वरूप पृथक्-पृथक् देखने में आया तब यह पुण्य-पाप आदि भेदरूप नवतत्व ध्रुववस्तुरूप से दिखाई नहीं देते। परलक्ष्य से निमित्ताधीन होने वाले क्षणिक विकार उत्पन्नध्वंसी हैं; उनका ध्रुवस्वभाव की श्रद्धा द्वारा नाश किया है। श्रद्धा के निर्मल लक्ष्य से एकाकार अनुभव करने पर, स्वभाव में कोई विकल्प का भेद नहीं आता। अखण्ड की श्रद्धा में वर्तमान क्षणिक संयोगी खंडरूप भाव का स्वीकार ज्ञानी के नहीं होता। ज्ञानी को एकरूप अविकारी स्वभाव की श्रद्धा का बल है। जब एकाग्र-स्थिर नहीं रह सकता तब पुण्य-पाप की वृत्ति में (छोड़ने की बुद्धि से) रुक जाता है, तथापि उसमें धर्म नहीं मानता।

पुद्गल कर्म के निमित्ताधीन होने वाले भेद अविकारी आत्मा की एकरूप श्रद्धा होने पर मिट जाते हैं। पश्चात् बारंबार निर्मल स्वभाव के लक्ष्य के बल से स्थिरता बढ़ते-बढ़ते पूर्ण निर्मल मोक्षदशा प्रगट होजाती है। अवस्था में जो निमित्त-नैमित्तिक भाव था वह सर्वथा समाप्त होजाता है। वर्तमान में विकार होता है, तथापि सम्यक्दृष्टि उसे स्वामी के रूप में स्वीकार नहीं करता।

प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, पराधीन नहीं है। विकार से किसी को गुण-लाभ नहीं होता। मात्र स्वभाव से ही धर्म होता है, उसमें बाह्य-साधन किंचित्मात्र भी सहायक नहीं होते। ऐसी प्रतीति के बिना कदापि किसी का भला नहीं होसकता। यदि अज्ञानभाव से धर्म के नाम पर शुभभाव करे तो पापानुबंधी पुण्य का बंध करता है; किन्तु सर्वज्ञ वीतरागदेव ने कहा है कि इससे भव-भ्रमण कम नहीं होता।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, वह पुण्य-पाप का रक्षक नहीं है, कर्ता नहीं है, वह विकार का नाशक एवं अनन्त गुणों से परिपूर्ण है, ऐसी श्रद्धा के बिना विकार को अपना मानकर पराश्रयरूप व्यवहार का लक्ष्य करके धर्म के नाम पर पुण्यबंध करके यह जीव अनन्तबार नवमें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु भव-भ्रमण कम नहीं हुआ।

प्रत्येक अजीव तत्व में उसकी त्रिकालशक्ति वर्तमान में परिपूर्ण है। उसके द्रव्य, गुण, पर्याय किसी पर अवलंबित नहीं हैं। इसीप्रकार प्रत्येक जीव में अनन्त गुण की शक्तिरूप त्रिकालशक्ति वर्तमान में परिपूर्ण है; उसके द्रव्य, गुण, पर्याय किसी पर अवलम्बित नहीं हैं। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से त्रिकाल अखंडित है। आत्मा पर वस्तुरूप में, पर आकाररूप में, पर अवस्थारूप में अथवा पर भावरूप में कदापि नहीं है; इसलिये वह परवस्तु का कर्ता नहीं है। परवस्तु (देहादिक) की अवस्था का परिवर्तन जड़-वस्तु स्वयं करती है। आत्मा त्रिकाल में भी दूसरे की अवस्था के बदलने में समर्थ नहीं है। देहादिक पर की क्रिया से आत्मा को पुण्य-पाप या धर्म नहीं होसकता। जो

यह मानता है कि देहादिक पर की क्रिया से अपने में गुण-दोष होते हैं, उसे पृथक् तत्व की खबर नहीं है। यह प्राथमिक भूमिका की बात है। जीव सधन अथवा निर्धन चाहे जिस स्थिति में यथार्थ परिचय की प्रतीति करके अंतरंग में शांति का भोग कर सकता है ऐसी स्वाधीन स्वधर्म की यह बात है। आत्मा का स्वभाव पुण्य-पाप के विकार का नाशक है, उसके धर्म में पुण्य का राग अथवा पंचमहाव्रत का शुभराग भी सहायक नहीं है। अशुभ में न जाने के लिये व्रतादि के शुभभाव आते हैं किन्तु वे बन्धनभाव हैं, उनके द्वारा मोक्षभाव को लाभ नहीं होता। यदि ऐसी प्रथम श्रद्धा न करे तो अविकारी स्वभाव का अनुभव नहीं होता। जैसा है वैसे स्वभाव को स्वीकार न करें तो वहाँ पहले यथार्थ श्रद्धा ही नहीं होसकती।

पहले निमित्ताधीन पुण्य-पाप के संयोगी भाव का (नैमित्तिक विकारी भाव का) श्रद्धा में नाश किया कि वह मेरा स्वरूप नहीं है। तो फिर स्वभाव की श्रद्धा के बल में स्थिरता के अनुसार शुभाशुभ व्यवहार के भेद छूटते जाते हैं, क्योंकि उनका पहले से ही आदर नहीं था। जहाँ पूर्ण स्वरूपस्थिरता के द्वारा पूर्ण विकारी नैमित्तिक भाव का (संयोगी भाव का) नाश किया वहाँ पूर्ण निर्मल एकप्रकार अविनाशी असंयोगी वीतरागभाव पूर्णानंदरूप से रह जाता है, उसी का नाम मोक्ष है। विकार से मुक्त होकर अविकारी गुणरूप में रहना सो मोक्ष है। सम्पूर्ण आत्मा में और उसकी समस्त अवस्थाओं में सभी गुण एक साथ अखण्ड रहते हैं, वे भिन्न-भिन्न खानों में-कोठों में भरे नहीं होते।

प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है। रजकण से तथा अन्य आत्माओं से प्रत्येक आत्मा त्रिकाल भिन्न है। पर से नास्तित्व और स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, और स्वभाव से प्रत्येक का अस्तित्व अपने में स्वतंत्ररूप से है। जो पर से त्रिकाल भिन्न है वह अपने से भिन्न का कुछ भी नहीं कर सकता, और स्वयं पर से भिन्न है इसलिये दूसरे से अपने को कोई हानि-लाभ नहीं होसकता; इसलिये पर में अच्छा-बुरा मानने का

प्रश्न ही नहीं रहता, और मात्र अपने में ही देखना रह जाता है। इतना यथार्थ निश्चय करने पर अनंत पर-पदार्थों के साथ के अनंत कर्तृत्व का तीव्र राग-द्वेष कम होजाता है। जो सन्मुख–आंगन में आगया है वह अपना कितना बुरा करेगा? अपनी अवस्था में पर-निमित्ताधीन दृष्टि से क्षणिक विकार पुण्य-पाप की वृत्ति उत्पन्न होती है, वैसा आत्मा नहीं है। त्रिकाल अविकारी स्वभाव में क्षणिक अवस्था की नास्ति है, अनंत गुणरूप ध्रुवरूप स्वभाव विकार का नाशक है, ऐसी प्राथमिक समझ के बिना सम्यक्दर्शन को प्राप्त करने की तैयारी नहीं होती। जिसकी दृष्टि क्षणिक अवस्था पर है वह नीति और व्रतादि के चाहे जितने शुभभाव रखे किन्तु उसे विकारी बंध के नाशक स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती।

कोई कहता है कि हमें अनेक प्रकार की भूल और गुण-दोष जानने की माथापच्ची में क्यों पड़ना चाहिये? हम तो इतना जानते हैं कि राग-द्वेष दूर करके समभाव रखना चाहिये। किन्तु ऐसा कहनेवाला सत्य को न समझकर मूढ़ता को बढ़ाता रहेगा। जड़ ज्यों की त्यों बनी रहे और ऊपर से वृक्ष के मात्र पत्ते तोड़कर कोई यह मानले कि मैंने उनकी सफाई करदी है, किन्तु यह उसका भ्रम है, क्योंकि कुछ समय के बाद उसी वृक्ष में पुनः पत्ते उग आयेंगे। इसीप्रकार यदि कोई धर्म के नाम पर शुभराग करके उसमें लग जाये और तत्वज्ञान की चिंता न करे तो वह मूढ़ होजावेगा, और फिर उसकी मूढ़ता फूलती-फलती जायेगी। क्योंकि उसके त्रिकाल अज्ञान के अभिप्राय की जड़ मौजूद है इसलिये उसके चौरासीलाख के अवतार की फसल बढ़े बिना नहीं रहेगी; काँच और हीरे की परीक्षा किये बिना किसे रखेगा और किसे फेंक देगा? इसीप्रकार पहले सत्य-असत्य का निर्णय किये बिना ही यदि राग को कम करने की बात करे तो उल्टा मिथ्यात्व को दृढ़ करके मनुष्यत्व को ही खो बैठेगा। पाप को छोड़कर पुण्य करने का निषेध नहीं है किन्तु उसका पूरा हिसाब-किताब जानने की बात है।

प्रश्नः—शुद्ध पर दृष्टि रखकर पहले शुभ में आये और फिर धीरे-धीरे शुभ से शुद्ध में पहुँचा जासकता है या नहीं ?

उत्तरः—नहीं, विकार से अविकारीपन अंशमात्र भी प्रगट नहीं होसकता। शुभभाव चाहे जैसा हो तथापि वह राग है। जो भाव गुण से विरुद्ध हो उसे गुणकारी मानना बहुत बड़ी भूल है। अशुभ-भाव, शुभभाव और शुद्धभाव यह तीनों प्रकार भिन्न हैं। यदि शुभ से शुद्ध में पहुँचा जासकता हो तो अशुभ में रहकर शुभभाव होना चाहिये। किन्तु जैसे शुभभाव के पुरुषार्थ से अशुभ का दूर होना और शुभ का होना एक साथ होता है उसीप्रकार शुभाशुभ दोनों विकार हैं ऐसी प्रतीति के बल से जितनी निर्विकल्प स्थिरता होती है उतना ही शुभाशुभ राग का अभाव उसी समय होता है। अशुभ से बचने के लिये पुण्यभाव ठीक है, किन्तु वह विकारी रागभाव है; उसकी सहायता से अविकारी गुण का कार्य त्रिकाल में भी नहीं होसकता।

यह बात भलीभाँति समझने योग्य है। निमित्ताधीन शुभाशुभ राग की जो वृत्ति उत्पन्न होती है, वह मैं नहीं हूँ, ऐसी भूतार्थस्वभाव की अविकारी श्रद्धा के बल से मिथ्या श्रद्धा का नाश, विकार का आंशिक-नाश, और उसी समय भूलरहित अविकारी अवस्था की उत्पत्ति होती है; आगे-पीछे नहीं।

प्रश्नः—जैसे "कंटकेनैव कंटकम्" अर्थात् कांटे से कांटा निकाला जाता है, उसीप्रकार राग को दूर करने के लिये व्यवहार भी तो चाहिये?

उत्तरः—यहाँ राग एक काँटा है और उस राग को दूर करने वाला अरागी, मोक्षमार्ग दूसरा काँटा है, ऐसा समझना चाहिये। दूसरे काँटे से पहला काँटा निकाला जासकता है। मैं अवगुणों का नाशक त्रिकाल पूर्णशक्तिवान हूँ, ऐसी श्रद्धा का स्वलक्ष्य में जितना बल आता है उतना स्वरूप की स्थिरता का व्यवहार प्रगट होता है। उस अंशतः अरागी स्थिरता के व्यवहाररूपी काँटे से शुभाशुभ रागरूपी अशुद्धता का काँटा नष्ट होता

है। मैं अक्रिय अखण्ड ज्ञायक हूँ, अविकारी हूँ ऐसा लक्ष्य करना सो निश्चय है, और अंशतः स्वलक्ष्य में स्थिरता करके राग को दूर करना सो व्यवहार है। पर-निमित्त का आलम्बन लेने से गुण होता है ऐसा मानना सो व्यवहार है अथवा मात्र शुभ में लगजाना सो व्यवहार है। इसप्रकार अपनी कल्पना से व्यवहार माने तो वह भूल है। जो लोग आत्मा में निश्चय, और देह की क्रिया में अथवा मात्र पुण्यभाव में व्यवहार मानते हैं उनकी अत्यंत स्थूल जड़-बुद्धि है। सर्वज्ञ वीतराग ने जैसा स्वतंत्र वस्तुस्वरूप कहा है वैसा यथार्थतया जानकर वस्तु का निर्णय करना सो निर्मल श्रद्धा को प्रगट करने का उपाय है; उसमें बाहर का कोई साधन उपयोगी नहीं है।

अपना स्वभाव स्वतंत्रतया राग का नाशक है, जिसे इसकी प्रतीति नहीं है वह बाह्यदृष्टि से पराश्रयरूप राग का बल देखता है। अकषाय स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा के बाद कषाय के बल से अरागी स्थिरता के बढ़ने पर जो कुछ राग रहता है उसमें अशुभराग के दूर होने पर व्रतादि का शुभराग आता है; जहाँ शास्त्रों में ऐसी बात आती है वहाँ मूलस्वभाव के बल की बात को भूलकर लोग अपनी मानी हुई बात को आया हुआ मानते हैं, वे पराश्रय से अंतरंग की हीनता को रखना चाहते हैं। जिसे राग का आश्रय अनुकूल पड़ता है वह उससे गुण का होना मानता है, उसे वीतरागता अनुकूल प्रतीत नहीं होती। स्वभाव की प्रतीति के बाद ज्ञान की रमणतारूप स्थिर दशा को भगवान ने चारित्र दशा कहा है। शुभराग चारित्र नहीं है, मैं अवगुणों का नाशक हूँ इसप्रकार नित्यस्वभाव के बल के बिना विकाररूपी काँटे को निकालने वाला स्वाश्रित पुरुषार्थ का काँटा हाथ में नहीं आता।

आत्मा अनादि-अनंत अपने अनंत गुणों का तथा त्रिकाल समस्त अवस्थाओं का अखण्ड पिंड है। गुण तो शक्तिभाव से एकरूप है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, किन्तु एक गुण की एक समय में

एक अवस्था विकारीरूप से अथवा अविकारीरूप से प्रवृत्तमान होती है। गुण तो अपने आधार से होता है किन्तु जब जीव पर-संयोगाधीन लक्ष्य करता है तब उस अवस्था में विकार नया होता है। स्वभाव में से दोष उत्पन्न नहीं होता। मैं त्रिकाल अविकारी ज्ञायक हूँ ऐसी श्रद्धा के बल से भूल का नाश होकर क्रमशः सर्व विकारी भावों का नाश होसकता है।

स्वद्रव्य= स्वयं त्रिकाल अनंत गुण-पर्याय के आधाररूप अखण्ड द्रव्य।

स्वक्षेत्र= अपना आकार।

स्वकाल= वर्तमान में वर्तने वाली स्व-अर्थ की क्रियारूप अवस्था।

स्वभाव= अपनी त्रिकाळ शक्तिरूप अवस्था अथवा गुण।

इसप्रकार प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ त्रिकाल में अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप से सत् है और अपने से पर-पदार्थ के द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप से असत् है, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ का पर से पृथक्त्व अथवा असंयोगीपन है। जो आत्मा को परमार्थ से स्वतंत्ररूप नहीं जानता वह अपने को क्षणिक विकारी अवस्था जितना मानता है। जो विकार से-पुण्य से गुण का होना मानता है वह अविकारी नित्यस्वभाव को नहीं मानता।

सर्व जीव हैं सिद्धसम, जो समझे सो होय।
सद्गुरु आज्ञा जिन दशा, निमित्त कारण सोय॥

[आत्मसिद्धि गाथा १३५]

अपने उपादान की तैयारी में सहज ही अखण्ड का ज्ञान और ज्ञान की स्थिरता का व्यवहार आता है, उसमें बीच में सच्चे निमित्त का बहुमान अपने गुण की रुचि के लिये आता है। वर्तमान क्षणिक अवस्था में जो विकार दिखाई देता है उतना ही मैं नहीं हूँ, यह विकारी अवस्था मेरा स्वरूप नहीं है, अखण्ड के लक्ष से भेद को गौण करके अखण्ड स्वभाव के बल से निर्मल सम्यक्दर्शन प्रगट होता है।

मोक्ष का कारण वीतरागता, वीतरागता का कारण अराग चारित्र, अराग चारित्र का कारण सम्यक्‌ज्ञान और सम्यक्‌ज्ञान का कारण सम्यक्‌-दर्शन है। पूर्ण अविकारी अखण्ड स्वभाव के बल से श्रद्धा ज्ञान चारित्र की निर्मल पर्याय प्रगट होती है। अपूर्ण निर्मल अवस्था और सम्यक्‌दर्शन पर्याय है। भेद के लक्ष से विकल्प-राग होता है, निर्मलता नहीं होती, इसलिये अवस्थादृष्टि को गौण करके निश्चय अखण्ड स्वभाव का लक्ष्य करना चाहिये। ध्रुव स्वभाव के बल से विकार का व्यय और अविकारी पूर्ण निर्मलता की उत्पत्ति होती है, अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक भाव का सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है और वस्तु का अनंत गुणरूप निजस्वभाव वस्तुरूप से एकाकार रहता है, इसलिये शुद्धनय से जीव को जानने से ही सम्यक्‌दर्शन की प्राप्ति होसकती है।

प्रभु ! तूने अपनी स्वतंत्र प्रभुता को कभी नहीं सुना। वर्तमान प्रत्येक अवस्था के पीछे अनंत शक्तिरूप पूर्ण पवित्र गुण की शक्ति अखण्ड स्वभावरूप से भरी हुई है, उस सत् की बात अपूर्व भाव से अन्तरंग से तूने कभी नहीं सुनी, तूने अपनी महिमा को नहीं जाना। जिसने अवि-कारी पूर्ण स्वभाव को माना है वह अपने स्वाधीन अनंतसुख में समा गया है; जो उसे मानेगा सो वह भी अक्षय अखण्ड शांति में समाविष्ट होकर अनंतसुख का अनुभव करेगा। यथार्थ स्वभाव की प्रतीति होने पर वर्तमान में परम अद्भुत शांति अंशतः वेदी जाती है।

अनंत पवित्र ज्ञानानंद स्वभाव की अंतरंग से हाँ कहने वाले की शक्ति का भाव वर्तमान में अनन्त है। विकार को जानने वाला उस विकाररूप नहीं होता, विकार तो क्षणिक अवस्थामात्र के लिये होता है, उसका नाशक स्वभाव वर्तमान में पूर्ण पवित्र है; उसकी प्रतीति के बल से विकार की शक्ति दिखाई नहीं देती। जैसा स्वभाव होता है वैसी मान्यता होती है और जैसी मान्यता होती है वैसा स्वभाव होता है। इसप्रकार पवित्र, अविकारी, असंग स्वभाव की एकरूप श्रद्धा के

वल से नवतत्व के राग के विकल्प टूट जाते हैं। जो दो तत्व भिन्न थे वे भिन्न ही रह जाते हैं।

जैसे सूत के पुड़े में गांठ आंट और कलफ इत्यादि एक भाव में संयोग-सम्बन्ध से विद्यमान हैं, किन्तु वह सब सीधे सूत के लक्ष्य से गिनती में नहीं आते। इसीप्रकार आत्मा में मिथ्यात्वरूपी गाँठ और राग-द्वेषरूपी आँट जो अवस्था के एक भाग में डाली गई थी उसमें द्रव्यकर्मरूपी कलफ का संयोग था, वह सीधे ज्ञायकस्वभाव के लक्ष्य से नाश किया जाता है। जैसे गाँठ, आँट की अवस्था छूटकर सूत में समा गई वैसे ही एकरूप स्वभाव में मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याचारित्र की अवस्था बदलकर जो निर्मल एक भावरूप अवस्था होती है सो वह स्वभाव में समा जाती है। आत्मा के पूर्ण त्रिकाल स्वभाव को जो शुद्धनय से जानता है सो सम्यक्दृष्टि है। जबतक भिन्न-भिन्न नव-पदार्थों को जानता है और आत्मा को पुण्य-पाप के अनेक प्रकार से मानता है तबतक पर्यायबुद्धि है।

अब उस अर्थ का कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

चिरमिति नवतत्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योति रुद्योतमानम् ॥ ८ ॥

इसप्रकार नवतत्वों के रागमिश्रित विचारों में चिरकाल से रुकी हुई-छुपी हुई इस आत्मज्योति को जैसे वर्णों के समूह में छुपे हुए एकाकार सुवर्ण को बाहर निकालते हैं उसीप्रकार शुद्धनय से बाहर निकालकर प्रगट भिन्न बताई गई है। इसलिये हे भव्यजीवो ! अब इसे सदा अन्य द्रव्यों से तथा उनसे होने वाले नैमित्तिक भावों से भिन्न एकरूप देखो। यह ज्ञायकज्योति पद-पद पर अर्थात् प्रति पर्याय में एकरूप चैतन्यचमत्कारमात्र प्रगट है।

अनादिकाल से आत्मा एकरूप स्वभाव का लक्ष्य चूककर कर्म के संयोगाधीन लक्ष्य से नवतत्वों के राग मिश्रित विचारों में अटकता था सो वह क्षणिक अवस्था जितना नहीं है, किन्तु नित्य अविकारी स्वभाव वाला है, इसप्रकार शुद्धदृष्टि के द्वारा एकरूप शुद्ध आत्मा का प्रकाश किया अर्थात् यथार्थ पहिचान करली। जैसे ताम्र के संयोग से सोने को लाल इत्यादि रंग के भेद वाला माना था, किन्तु उसे तपाकर एकाकार शुद्ध सोना अलग कर लिया जाता है, इसीप्रकार नवतत्वों के अनेक भेदरूप राग में आत्मा को मान रखा था, उसे शुद्धनय के द्वारा बाहर निकालकर अविकारी, ध्रुव, एकरूप आत्मा को भिन्न बताया है। आत्मा वर्तमान अवस्था जितना ही नहीं है। आत्मा में अनंतकाल तक स्थिर रहने की पूर्णशक्ति प्रतिसमय की अवस्था में परिपूर्ण भरी हुई है। वह किसी में रुका हुआ, पर-सत्ता से दबा हुआ अथवा किसी में मिला हुआ नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि सम्पूर्ण पवित्र स्वभाव को स्वीकार करके निरंतर एक ज्ञायक का ही परम संतोष पूर्वक अनुभव करो।

जैसे घास और मिठाई को एक साथ खाने वाले अविवेकी हाथी को उन दोनों के पृथक् स्वाद की प्रतीति नहीं होती, और जैसे कोई राजा मदिरापान करके अपना सुवर्ण-सिंहासन छोड़कर मलिन स्थान पर बैठा हुआ भी आनंद मानता है, इसीप्रकार श्री गुरुदेव कहते हैं कि हे भगवान आत्मा! तू पर को अपना स्थान मानकर पुण्य-पाप की विष्टा में लोट रहा है और उसमें आनंद मानता है, किन्तु वह तेरा स्थान नहीं है। तेरा सुवर्णरूप उत्कृष्ट पद तो परमात्मपद है। तू अपने पद को देख। तू तीव्र मोह के वेग से पागल होगया है इसलिये तुझे हिताहित का विवेक नहीं है। मृत्यु के समय कोई साथी-सगा नहीं होता। जब भयंकर रोग होगा तब महा आर्त-रौद्रध्यान होगा। मैंने ऐसा किया, मैंने वैसा किया इसप्रकार यदि पर के कर्तृत्व में लगा रहा और आत्मस्वभाव की चिंता नहीं की तो चौरासी के अनंत दुःख सहन करना पड़ेंगे।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे योग्य जीवो ! तुम्हें आत्मा की अपूर्व अचिंत्य महिमा की बात सुनने का लाभ मिला है, इसलिये अन्य द्रव्यों से, देहादि से, जड़कर्म के संयोग से तथा निमित्ताधीन होने वाली पुण्य-पाप की भावना से भिन्न वीतरागी एकरूप ध्रुव स्वभावी आत्मा को नित्य पवित्र स्वभावरूप से देखो (स्वीकार करो, मानो) चैतन्य-ज्योति प्रतिसमय अपने स्वभाव में से निर्मलरूप से प्रगट होती है।

आत्मा में मात्र लाभ की ही बहुतायत रहती है, वह कदापि विकार में एकमेक नहीं होता। अनादिकाल से विकार को अपना मान रखा है, यह मान्यता ही अनंत-संसार का कारण है। उस मान्यता का दोष दूर होने के बाद, पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण अल्प-राग रहता है, किन्तु अरागी स्वभाव के बल से ज्ञानी उसका कर्तृत्व नहीं होने देगा। आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने से तत्काल ही सब त्यागी होकर चले नहीं जाते। गृहस्थदशा में राग होता है, तथापि ज्ञानी मानता है कि राग करने योग्य नहीं है। जिसे तत्व की प्रतीति नहीं है उसका बाह्य त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। तत्वज्ञान होने के बाद स्वभाव की स्थिरता के बल से त्याग सहज ही होता है, और वह क्रमशः बढ़कर पूर्ण वीतराग दशा की प्राप्ति होती है।

यहाँ सम्यक्त्व की बात चल रही है। श्रीमद् राजचंद्रजी ज्ञानी थे तथापि पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण वे जवाहरात का व्यापार करते थे; किन्तु उसमें उनका अंतरंग से रुचिभाव नहीं था। पर से उदासीन भाव से ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति में वे स्थिर रहते थे। गृहस्थ दशा में रहकर सर्व विरतित्व अथवा मोक्षदशा भले ही प्रगट न हो तथापि एकावतारी हुआ जासकता है। पुरुषार्थ की अशक्ति से पुण्य-पाप की वृत्ति उत्पन्न होती है किन्तु ज्ञानी के उसका स्वामित्व नहीं होता, वह शुभविकल्प को भी लाभदायक नहीं मानता। बाह्यदृष्टि वाला ज्ञानी के हृदय को नहीं पहिचान सकता। जो ज्ञानी है वह अज्ञानी जैसा स्वच्छंद नहीं होता। अज्ञानी त्याग को देखादेखी उत्कृष्ट मानता है।

पर का कर्तृत्व मानकर अज्ञानी चाहे जैसा त्याग करे तथापि वह अनन्त संसार के भोग का हेतु है। बाह्यक्रिया करे, बाह्य चारित्र पाले, और उसमें तृष्णा एवं मानादि को कम करके यदि शुभभाव करे तो पुण्यबंध होता है, किन्तु धर्म नहीं होता। यदि तत्वज्ञान का विरोध करे तो अनन्तकाल के लिये एकेन्द्रिय निगोद में जाता है। सब स्वतंत्र हैं, किसी में किसी को जबरन समझाने की शक्ति नहीं है।

जब शुद्धनय के द्वारा भेद को गौण करके एकरूप पवित्र स्वभाव को माना तब से लेकर निश्चयदृष्टि के बल से प्रत्येक अवस्था में निर्मल एकत्व बढ़ता है और भेदरूप व्यवहार छूटता जाता है। शुद्ध-दृष्टि होने से पूर्व भगवान आत्मा अनेक पुण्य-पाप की भावनारूप से भटकता हुआ खण्ड-खण्डरूप से दिखाई देता था; उसे शुद्धनय से देखने पर वह त्रिकाल निर्मल एकरूप दिखाई देता है। इसलिये पर्याय-भेद का लक्ष्य गौण करके निरंतर अखण्ड शुद्ध परमार्थ स्वभाव का अनुभव करो! अवस्थादृष्टि का एकान्त मत रखो। अपनी अशक्ति से अवस्था में विकार होता है, किन्तु ऐसा मत मानो कि मैं उतना ही हूँ। यह अवस्था ही मेरी है, उसके लक्ष्य से गुण-लाभ होगा इसप्रकार यदि व्यवहार को पकड़ रखे तो एकान्त-मिथ्यादृष्टि है।

टीकाः—अब, जैसे नवतत्वों में एक जीव को ही जानना भूतार्थ कहा है उसीप्रकार एकरूप निर्मल स्वभाव से प्रकाशमान आत्मा के अधिगम के (बताने वाले) उपाय जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं वे भी निश्चय से अभूतार्थ हैं। रागमिश्रित ज्ञान के भेद भी निश्चय से एकत्व में अभूतार्थ हैं उसमें भी आत्मा एक ही भूतार्थ है, क्योंकि वस्तु का निश्चय करने के विकल्प तो एक के अनुभव में छूट जाते हैं। जैसे घेवर लेना हो तो पहले घी, आटा, शकर इत्यादि के सम्बन्ध में जान लिया जाता है कि वे कैसे हैं और बनाने वाला कौन है। यह सब जानकर और भाव-ताव करके उसे तुलवाया जाता है, इसप्रकार इतने विकल्प करने पड़ते हैं, किन्तु उसके बाद घेवर का स्वाद लेते

समय (खाते समय) उपरोक्त विकल्प और तराजू बाँट इत्यादि के विकल्प नहीं रहते। इसीप्रकार भगवान आत्मा अखंड ज्ञायक है, उसे पहले अविरोधी-रूप से निश्चय करने के लिये प्रमाण* नय निक्षेप के भाव से सम्पूर्ण प्रमाणज्ञान करने के लिये रुकना पड़ता है।

भगवान आत्मा अविकारी, अनंत-ज्ञानानंदमय, पूर्ण अखण्डशक्ति का पिंड है। देहादिरूपी संयोगों से भिन्न अरूपी ज्ञानघन है। उसे अखण्ड निर्मल स्वभाव के पक्ष से जानना सो निश्चयनय है, वर्तमान अवस्था के भेद को जानना सो व्यवहारनय है और दोनों को मिलाकर सम्पूर्ण आत्मा का ज्ञान करना सो प्रमाण है।

वस्तु के एक देश (भाव) को जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। प्रमाण तथा नयज्ञान के अनुसार जाने हुए पदार्थ को नाम में, आकार में, योग्यता में, और किसी भावरूप अवस्था में भेदरूप से बताने का व्यवहार करना सो निश्चय है।

निक्षेप के चार भेद हैं:—नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप।

(१) नामनिक्षेपः—जिस पदार्थ में जो गुण नहीं है उसे उस नाम से कहना सो नामनिक्षेप है। जैसे किसी को दीनानाथ कहते हैं किन्तु उसमें दीनानाथ के गुण अथवा लक्षण नहीं हैं, या किसी को चतुर्भुज के नाम से बुलाते हैं, किन्तु उसके चार भुजायें नहीं होतीं, वह तो नाममात्र है।

(२) स्थापनानिक्षेपः—यह वह है, इसप्रकार अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का प्रतिनिधित्व स्थापित करना सो स्थापना निक्षेप है। जैसे भगवान महावीर की तदाकार मूर्ति में भगवान महावीर की स्थापना करना, इसे तदाकार स्थापना कहते हैं। दूसरी अतदाकार स्थापना भी होती

---

*प्रमाण (प्र=विशेष करके+मान=माप)=जो सच्चा माप करता है सो सम्यग्ज्ञान है। यहाँ प्रमाण का विकल्प अभूतार्थ है, यह कहा है।

है; जैसे शतरंज की गोटों में ऊँट, घोड़ा और हाथी का आकार न होने पर भी उनमें ऊँट, घोड़ा और हाथी की स्थापना करली जाती है।

(३) द्रव्यनिक्षेपः—वर्तमान से भिन्न अर्थात् अतीत या अनागत पर्याय की अपेक्षा से वस्तु को वर्तमान में कहना। जैसे भविष्य में होनेवाले राजा को (राजकुमार को) वर्तमान में ही राजा साहब कहना; अथवा जो वकालत का काम छोड़ चुका है उसे वर्तमान में भी वकील कहना।

(४) भावनिक्षेपः—वर्तमान पर्यायसंयुक्त वस्तु को भाव निक्षेप कहते हैं। जैसे साक्षात् केवलज्ञानी भगवान को भावजीव कहना अथवा पूजा करते समय ही किसी व्यक्ति को पुजारी कहना।

आत्मा को यथार्थ समझने के लिये प्रमाण, नय, निक्षेपरूप शुभ-विकल्प का व्यवहार बीच में आये बिना नहीं रहता, किन्तु आत्मा के एकत्व के अनुभव के समय वह विकल्प छूट जाता है, इसलिये वह अभूतार्थ है, आत्मा के लिये सहायक नहीं है। वस्तु का अभेदरूप से निर्णय करते हुए और उसमें एकाग्ररूप से स्थिर होते हुए बीच में नव-तत्व तथा नय-प्रमाण इत्यादि के रागमिश्रित विचार आये बिना नहीं रहते किन्तु उससे अभेद में नहीं जाया जाता। आँगन के छोड़ने पर ही घर में भीतर जाया जाता है, इसीप्रकार व्यवहाररूप आँगन के छोड़ने पर ही स्वभावरूपी घर में जाया जाता है।

कोई कहता है कि इतनी सूक्ष्म बातों को जानने से क्या लाभ है? एकान्त ध्यान में बैठने से राग-द्वेष छूट जायेगा? उससे ज्ञानी कहते हैं कि यथार्थ अविरोधी आत्मस्वभाव की प्रतीति करने से पूर्व राग-द्वेष परमार्थ से दूर नहीं होसकता, उल्टी मूढ़ता बढ़ जायेगी। इसीप्रकार तो वृक्ष के भी ध्यान है, और बाह्य परिग्रह का त्याग पशु के भी है, किन्तु आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझे बिना सच्चा ध्यान या सच्चा त्याग नहीं होसकता।

जैसे राजा को भलीभाँति पहिचानकर यदि उसे योग्य विधि से बुलाया जाये तो ही राजा उत्तर देता है और यदि उसकी सेवा करे तो धन देता है; इसीप्रकार आत्मा को जिस विधि से परिपूर्णतया समझना चाहिये उसीप्रकार सत्समागम से जानकर उसमें एकाग्रता करे तो भगवान आत्मा प्रसन्न हो, उत्तर दे और उसमें विशेष लीनता करे तो अनन्त मोक्षसुख दे। जिससे रुचि हो उसका पूर्ण प्रेम करके परिचय करना चाहिये।

आत्मा अनंत गुणों का अविनाशी पिंड है, देहादि संयोग और संयोगाधीन होने वाला पुण्य-पाप का भाव क्षणिक है। अनादिकाल से अपनी विस्मृति और दूसरे का सारा अभ्यास चला आरहा है। यदि वास्तविक हित करना हो तो उसे पहले यथार्थ निर्णय करने के लिये सत्समागम का परिचय करके, पात्र होकर वीतराग भगवान ने जैसा स्वतंत्र आत्मा बताया है वैसा ही उसकी विधि से समझना होगा। लोकोत्तर अरूपी सूक्ष्म धर्म लोगों के द्वारा बाहर से मानी गई प्रत्येक कल्पना से बिल्कुल भिन्न है। जगत में धर्म के नाम पर अन्धश्रद्धा और अनेक मतमतांतर चल रहे हैं।

कोई कहता है कि ईश्वर हमें सुधारता-बिगाड़ता है, सुखी-दुःखी करता है, कोई कहता है कि पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म बनाते-बिगाड़ते हैं, सुखी-दुःखी करते हैं, कोई कहता है कि सब मिलकर एक आत्मा है, कोई कहता है कि देहादिक जड़ की क्रिया आत्मा कर सकता है, दूसरे का कर्त्ता-भोक्ता होसकता है। कोई एकान्तपक्ष से आत्मा को वर्तमान दशा में भी बिल्कुल शुद्ध मानता है, कोई आत्मा को अकेला बंधन वाला और पाप-पुण्य वाला मानता है, कोई यह मानता है कि शुभराग के विकार से धीरे-धीरे गुण-लाभ होगा, कोई यह मानता है कि निमित्त की सहायता से अथवा आशीर्वाद से पार हो जाऊँगा; इत्यादि विविध प्रकार से वस्तु को अन्यथा मानते हैं। जगत का यह समस्त भ्रम दूर करने के लिये सर्वज्ञ वीतराग के न्यायानुसार तत्व का रहस्य जानने के

लिये सत्समागम प्राप्त करके, यथार्थ श्रवण-मनन और अभ्यास करना चाहिये ।

यथार्थ श्रद्धा होने के बाद स्वभाव के निर्णय सम्बन्धी विकल्प नहीं रहते, और पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण जितना राग रहता है उसका ज्ञानी को आदर नहीं है, उसका कर्तृत्व नहीं है । ज्ञान की विशेष निर्मलता के लिये और अशुभ से बचने के लिये शास्त्रज्ञान से, प्रमाण, नय, निक्षेप, नवतत्व इत्यादि से तत्वविचार में लगने पर शुभराग होता है, किन्तु उस रागमिश्रित विचार को ज्ञानी गुणकारी नहीं मानता। वह स्थिरता के द्वारा उन समस्त विकल्पों को तोड़ना चाहता है। सम्यक्त्व होने से पूर्व ऐसा अभिप्राय करके पूर्ण वीतरागता को ही उपादेय मानना चाहिये ।

आत्मा को जानने के लिये पहले निमित्तरूप से रागमिश्रित ज्ञान का व्यवहार आता है। आत्मा का यथार्थ स्वरूप जाने बिना अरूपी, अतीन्द्रिय भगवान आत्मा की सच्ची श्रद्धा नहीं होती और अंतरंग एकाकार स्थिरता का आनंद नहीं आता, तथा पवित्र स्थिरता के बिना वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट नहीं होता ।

आत्मा को जानने का उपाय प्रमाण ज्ञान है। त्रिकाल नित्यस्वभाव और वर्तमान अवस्था दोनों को एकसाथ सम्पूर्ण वस्तु के रूप में जानना सो प्रमाण ज्ञान है। जो स्वपर को जानता है सो पूरा प्रमाण ज्ञान है परवस्तु निमित्त है उसे जैसी की तैसी भिन्नरूप से जानना चाहिये। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है।

यहाँ जीव अपने से ही जानता है, किन्तु अपूर्ण अवस्था होने से इन्द्रिय और मन का अवलम्बन करके विचार करे ऐसा राग मिश्रित ज्ञान है। ऐसा निर्णय किये बिना वर्तमान वस्तुस्थिति नहीं जानी जाती। इन्द्रिय तथा मन के संबन्ध में प्रवर्तमान रागयुक्त ज्ञान अविकारी गुण की सहायता नहीं करता, तथापि उस खण्डरूप ज्ञान को अपनी ओर उन्मुख

किये बिना तत्व को नहीं समझा जासकता, इसलिये प्रमाणादि वस्तु को मन के द्वारा निश्चित् करने के लिये शुभराग के आँगन में आये तब, शुद्ध का लक्ष्य हो तो व्यवहारशुद्धि होती है। उससे भीतर नहीं घुसा जासकता, किन्तु स्वभाव की अंतरंगदृष्टि से एकाग्रता में उन्मुख होने पर अंतरंग आनन्दरूप अरूपी अनुभव होते समय नय-प्रमाण के रागमिश्रित विचार अस्त होजाते हैं, भेद का लक्ष्य छोड़ देने पर सम्यक्दर्शन होता है।

सभी कहते हैं कि आत्मा है, किन्तु वह कैसा है, कितना बड़ा है, कैसा नहीं है, क्या कर सकता है, क्या नहीं कर सकता उसे सर्वज्ञ वीतराग के न्याय से रागमिश्रित नय-प्रमाण के द्वारा निश्चित् न करे तो सत्य-असत्य का तोल करके परम हितस्वरूप आत्मा का आदर नहीं किया जासकता। इस मनद्वार के बिना वस्तु नहीं समझी जासकती, किन्तु इससे भी नहीं समझी जासकती; जब श्रद्धा की स्थिरता से विकल्प का अभाव करता है तब आत्मानुभव होता है; इसलिये निश्चय अनुभव में वे विकल्प अभूतार्थ हैं।

यदि ध्यान रखे तो यह सब समझ में आता है। अन्तरंग की, अरूपी मार्ग की यह बात है। अपना अरूपी भाव आँखों से नहीं देखा जासकता तथापि निरन्तर उस भाव की अनुभूति और विचार को जान रहा है। यदि पूर्व के ज्ञान को याद करना हो तो अन्तरंग में धैर्यपूर्वक रुकना पड़ता है, वह बाहर से निश्चित् नहीं होता। निश्चित् करने वाला नित्य ज्ञातास्वरूप से आत्मा है। देह, वाणी और जड़ इन्द्रियों को यह खबर नहीं है कि हम कौन हैं। भीतर जानने वाले को नहीं जाना इसलिये अविकारी आत्मस्वभाव को न देखकर बाह्यदृष्टि से दूसरे को देखता है। पुण्य-पाप, राग और देहादिरूप से अपने को मानता है। मैं देहादि की क्रिया कर सकता हूँ, इसके द्वारा धर्म होसकता है ऐसा मानकर धर्म के नाम से जीव बाह्यदृष्टि में अटक रहा है। नवतत्वों को नय, प्रमाण, निक्षेप के माप से अनन्तबार मन में रटा

है, किन्तु ऐसी प्रतीति नहीं हुई कि मैं मनके विकल्प से भिन्न हूँ, राग का नाशक हूँ, स्वतंत्र हूँ और मेरा मार्ग भी निरावलम्बी है। अशुभ में न जाने मात्र के लिये बीच में शुभ अवलम्बन का भेद आता है, किन्तु ज्ञानी के उसका स्वामित्व नहीं होता।

प्रमाण के दो प्रकार हैं:—परोक्ष और प्रत्यक्ष। जो इन्द्रियों से स्पर्शित होकर (सम्बंधित होकर) प्रवृत्ति करता है तथा जो बिना ही स्पर्श के मन से ही प्रवृत्त होता है—इसप्रकार दो पर-द्वारों से प्रवर्तित होता है वह परोक्ष है और जो केवल आत्मा से ही प्रतिनिश्चित् रूप से प्रवृत्ति करता है सो प्रत्यक्ष है। (प्रमाण ज्ञान है, वह ज्ञान पांच प्रकार का है—मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल। इनमें से मति और श्रुत दो ज्ञान परोक्ष हैं, अवधि और मन:पर्यय विकल-प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है, इसलिये यह दो प्रकार के प्रमाण हैं।)

किसी वस्तु का नापतौल करने के बाद उस नापतौल को छोड़ देना पड़ता है, इसीप्रकार पहले आत्मा को बताने में प्रयोजनभूत वस्तु-नवतत्व; देव, गुरु, शास्त्र तथा जड़-चेतन वस्तु के द्रव्य गुण पर्याय जैसे हैं वैसे नय, प्रमाण, निक्षेपरूप माप से निश्चित् करना होते हैं और फिर परमार्थ स्वभाव में जाने के लिये उन विकल्पों को छोड़ना पड़ता है। अखण्ड के लक्ष्य से स्वभावोन्मुख होने पर अभेद अनुभव के समय बुद्धिपूर्वक के विकल्प छूट जाते हैं, उसके बाद चारित्र के बल से सर्वथा छूट जाते हैं।

परोक्ष ज्ञान भी सच्चा ज्ञान है। जीव ने जो यह माना है कि पर में सुख है सो वह पर में देखकर निश्चित् नहीं किया है, किन्तु भीतर अरूपी कल्पना से निश्चित् किया है, उसे जीव देखता नहीं है तथापि उसमें नि:शंक है, वह यह नहीं कहता कि वह भाव दिखाई दे तभी मानूँगा। उस अरूपी भाव को देखने के लिये परिश्रम भी नहीं किया तथापि उसे प्रत्यक्ष की भाँति मानता है; इसीप्रकार आत्मा का

निर्णय परोक्ष प्रमाण के द्वारा प्रत्यक्ष की भाँति यथार्थ समझ के अभ्यास से होसकता है।

जो ज्ञान पांच इन्द्रियों और मन के द्वारा जानने में प्रवृत्त होता है वह परोक्षज्ञान है। परोक्ष के जानने के कार्य में बीच में निमित्त का अवलम्बन आता है, किन्तु जीव इन्द्रियों से नहीं जानता; जीव स्वयं निज से जानता है। इन्द्रियाँ पर पदार्थों के जानने में निमित्त हैं। निज का जानने में इन्द्रियाँ या मन निमित्त नहीं है। पांच इन्द्रियों के उपयोग में जो पर-पदार्थ का संयोग होता है वह पदार्थ को जान सकता है, और मन के द्वारा तो चाहे जितने दूर क्षेत्र अथवा पदार्थ का विचार ज्ञान कर सकता है, उसमें दूर रहने वाले पदार्थों को निकट आने की आवश्यका नहीं है।

पंचेन्द्रियों की ओर का लक्ष्य छोड़कर जब अंतरंग में विचार किया जाता है तब मन निमित्त होता है। वक्षस्थल में आंठ पंखुड़ियों के कमल के आकार का सूक्ष्म रजकणों का बना हुआ मन है। जैसे आँख का गटा (कौड़ी) जानने का काम नहीं करता, किन्तु उसके द्वारा ज्ञान जानता है, इसीप्रकार मन आँख के गटा की भाँति निमित्त है। इंद्रियाँ और मन नहीं जानते।

पर-पदार्थों के निश्चित् करने में—इंद्रिय ज्ञान मिथ्या नहीं हैं; जो खारा-खट्टा है, उसे ज्यों का त्यों जानता है, किन्तु वह ऐसा नहीं जानता कि मैं खारा-खट्टा हूँ। प्रस्तुत जानने योग्य पदार्थ ज्ञेय हैं; बीच में इंद्रियों और मन का निमित्त है और उसे जानने वाला स्वपर-प्रकाशक मेरा ज्ञान है। इसप्रकार ज्ञेय निमित्त और ज्ञान उपादान, जैसा है वैसा जानकर सर्वज्ञ के कथनानुसार स्वतंत्र पदार्थ का नय-प्रमाण विचार के द्वारा निर्णय करे तब आत्मा के भीतर प्रविष्ट होने के द्वार-रूप चित्तशुद्धि होती है। योग्यता से सत्य स्वरूप को जाने बिना अनादिकालीन मूढ़ता की गड़बड़ी बनी रहती है।

देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानना पड़ता है, किन्तु वे निर्णय नहीं कराते। यदि वे स्वयं स्वतः निर्णय करें तो निमित्त हुए कहलाते हैं। जीव अनंतबार साक्षात् प्रभु के पास होआया और धर्म के नाम पर अनेक शास्त्र रट डाले, किन्तु यथार्थ आत्मनिर्णय नहीं किया इसलिये भवदुःख दूर नहीं हुआ। पर से ज्ञान होता है, पर-पदार्थ मेरी सहायता करता है ऐसी निमित्ताधीन बाह्यदृष्टि से जीव अनादिकाल से दुःख भोग रहा है। कुछ समय के लिये पुण्य के उदय से यदि बाह्य में थोड़ा सा दुःख कम दिखाई देता है तो उसे भ्रम से सुख मानता है। स्वयं राग को कम करे तो उतने समय तक मंद आकुलता रहती है। ऐसे संसार में आकुलतारूप दुःख के बिना जीव क्षणभर को नहीं रहा है। शरीर में रोग होने का दुःख नहीं है, किन्तु शरीर में जितना मोह है उतना दुःख है। जब कोई महीनों से रोग में ग्रसित होकर दुःखी होरहा हो तब उसकी स्त्री कहती है कि अरेरे! तुमने पूर्व भव में छुरी से बकरे को काटा होगा और मैंने उसकी अनुमोदना की होगी इसलिये मुझे तुम्हारा यह दुःख देखना पड़ रहा है, किन्तु लाचार हूँ कि मैं तुम्हारे दुःख में भाग नहीं बँटा सकती। कोई किसी के दुःख में भाग नहीं ले सकता।

प्रत्येक आत्मा भिन्न है, और आत्मा से शरीर एवं इन्द्रियाँ भी भिन्न हैं। कोई आत्मा इन्द्रियों से नहीं जानता। ज्ञान इन्द्रियाधीन नहीं है। जवानी में सत्ताप्रिय प्रकृति में अपना बड़प्पन और दूसरे की हीनता मानकर तीव्र तृष्णारूपी वासना का सेवन किया होता है, उस वासना की गन्ध जम गई है, वहाँ इन्द्रियाँ निमित्त थीं। वृद्धावस्था में शरीर और इन्द्रियाँ शिथिल होगईं, मन भी नीरस होगया, किन्तु तृष्णा का करने वाला वैसा का वैसा तीव्र तृष्णा किया करता है, वहाँ उसे इन्द्रियों का आधार नहीं है। स्वयं देहादि से अलग है, पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इसप्रकार यदि अविकारी पृथक् स्वभाव की प्रतीति करे तो तृष्णा को कम करके स्वयं अपने में शक्ति का अनुभव कर सकता है।

यहाँ इतना समझ लेना चाहिये कि आत्मा ज्ञान के द्वारा अपनी योग्यता के अनुसार जानता है, किन्तु जहाँ ज्ञान हीन होता है वहाँ इन्द्रियों का निमित्त होता है, तथापि ज्ञान इन्द्रियों पर अवलम्बित नहीं होता। जिसने आत्मा की यथार्थ प्रतीति की है कि मैं देह से भिन्न हूँ, क्षणिक विकार की वासना मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उसका नाशक हूँ, पवित्र हूँ, और जिसने नित्य पवित्र असंयोगी स्वभाव का निर्णय दृढ़ता पूर्वक किया है उसके शरीर में रोग आये, वृद्धावस्था आये या मन और इन्द्रियाँ क्षीण होजायें तथापि अखण्ड, अविकारी, ज्ञानानंद आत्मा के स्वभाव का निर्णय हीन नहीं होता, उसकी समता कम नहीं होती।

यहाँ कहते हैं कि जानने वाले का ज्ञान, उसमें इन्द्रियों का निमित्त और प्रस्तुत ज्ञेय पदार्थों की जैसी स्वतंत्र वस्तुस्थिति है वैसा निर्णय नय, प्रमाण और निक्षेप के माप से मनःशुद्धि के द्वारा न करे तो अतीन्द्रिय स्वभाव के आँगन में नहीं आसकेगा; तथा उसमें कोई ले जाये अथवा दूसरे की सहायता से जासके सो भी बात नहीं है।

ज्ञान में ऐसी दोहरी सामर्थ्य है कि वह अपने को जानता है और पर को भी जानता है। ज्ञान की अवस्था की हीनता के कारण, जानने में बीच में मन-इन्द्रिय का निमित्त होता है उसे भी ज्ञान जानता है। पर-निमित्त में लगने से तो पर ज्ञात होता है; निज को जानने में पर-लक्ष्य और इन्द्रियों की ओर का संयोग छोड़ना पड़ता है। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के जानने में इन्द्रियाँ और संकल्प-विकल्प जानने में मन निमित्त होता है, किन्तु निज को जानने में कोई निमित्त नहीं है। स्वभावोन्मुख होकर निमित्त और राग का लक्ष्य गौण करे तब स्वलक्ष्य होता है और स्वलक्ष्य की स्थिरता रह सकती है। स्वलक्ष्य की स्थिरता ही चारित्ररूप निज आचरण की क्रिया है।

परोक्ष ज्ञान से जानने के व्यापार में बीच में निमित्त का अवलम्बन आता है, किन्तु उसमें रुकना ठीक नहीं है। ज्ञानी होने के बाद जितने अंश में स्वभाव में स्थिरता नहीं रहती उतना परावलम्बनरूप राग के

योग से रुकना पड़ता है। मैं उस क्षणिक अशक्ति का नाशक हूँ, इसप्रकार अपार सबल स्वभाव के बल से ज्ञानी राग का स्वामी नहीं होता।

प्रत्येक आत्मा में ज्ञान-गुण अनादि-अनंत एकरूप है, उसकी पाँच अवस्थाएँ हैं। उसमें जिसके मति-श्रुतज्ञान की अवस्था प्रगट होती है उसके इन्द्रिय-मन द्वारा परोक्षज्ञान होता है। अवधिज्ञान (जो मन और इन्द्रियों के निमित्त के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा से रूपी पदार्थ को स्पष्ट जानता है) और मनःपर्ययज्ञान (जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा से दूसरे के मनोगत रूपी पदार्थ को स्पष्ट जानता है) दोनों देशप्रत्यक्ष हैं। जो लोकालोक की त्रैकालिक स्थिति को एक ही साथ ज्ञान की प्रत्येक अवस्था में सहज ही जानता है वह केवलज्ञान सर्वप्रत्यक्ष है।

आत्मा अपने ज्ञान-गुण से अपने को जानता है और अपने ज्ञान-गुण की अवस्था की स्वच्छता में पर-वस्तु सहज ज्ञात होती है; किन्तु पर-संयोग से या पर से जानना नहीं होता। व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि घड़ा, शास्त्र इत्यादि पर-पदार्थ को जान लिया, किन्तु निश्चय से तो अपनी योग्यता के अनुसार ज्ञान अपनी अवस्था को ही जानता है। ज्ञान-गुण के अतिरिक्त आत्मा के अन्य गुणों में स्व-पर को जानने की शक्ति नहीं है।

मति श्रुतज्ञान के लिये एक दृष्टान्तः—जो आम को नहीं जानता वह उसे जानने के लिये किसी ऐसे बागवान के पास जाता है जिसने अपने बगीचे में आम के पेड़ को बोकर इतना बड़ा किया है और तभी वह उसके पास से आम की उत्पत्ति की सारी कहानी जान सकता है। बागवान उसे बताता है कि जो आम पेड़ की डाल में पकता है उसका स्वाद अधिक मीठा होता है। आम का वह वर्णन सुनकर पहले सामान्यरूप से आम का स्थूल ध्यान आता है, वह 'मति में स्थूलरूप से अवग्रह ज्ञान हुआ, उसके बाद आम के जानने में कुछ विशेष विचार हुआ सो ईहा है, पश्चात् यह निश्चय किया कि यह आम ही है सो अवाय

है, और ज्ञान में दृढ़तापूर्वक धारण कर लिया कि यह आम ऐसा ही है, अन्यरूप नहीं है; उसमें संशय या विस्मरण न हो सो धारणा है। यहाँ-तक मतिज्ञान में अन्तिम धारणा का भेद हुआ। पश्चात् यह आम इष्ट प्रतीत हुआ इसप्रकार उसमें जो विशेषता ज्ञात हुई सो मति में से बढ़ता हुआ तार्किकज्ञान-श्रुतज्ञान है। वह मति-श्रुतज्ञान परोक्ष है। उस यथार्थ आत्मज्ञान से सम्यक्प्रमाण होनेपर केवलज्ञान का बीज होता है।

जैसे बागवान से आम का वर्णन सुना उसीप्रकार केवलज्ञान लक्ष्मी के बागवान श्री तीर्थंकरदेव अथवा उन्हें भली-भाँति जानने वाले छद्मस्थ-ज्ञानी श्रीगुरु के पास से निज को समझने की चिंता की, सत् सुनने को आया और आत्मा का वर्णन सुनते ही उसने अंतरंग से उमंगित होकर बहुमान से स्वीकार किया सो वह स्वभाव का अव्यक्त व्यंजनावग्रह मतिज्ञान का प्रथम प्रकार हुआ। भीतर यथार्थ निश्चय का जो अव्यक्त अंश प्रारम्भ हुआ उसमें पहले सामान्य-स्थूलरूप से आत्मा सम्बन्धी ज्ञान हुआ; फिर विचार के निर्णय की ओर उन्मुख हुआ सो ईहा है। जो निर्णय हुआ सो अवाय है। और दृढ़तापूर्वक आत्मबोध को ग्रहण कर रखा कि ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है सो धारणा है। वहाँतक तो परोक्षभूत मतिज्ञान में धारणा तक का अन्तिम भेद हुआ। पश्चात् यह आत्मा अनंत ज्ञानानंद शांतिस्वरूप है इसप्रकार मतिज्ञान में से बढ़ता हुआ जो तार्किकज्ञान है सो श्रुतज्ञान है।

अनंत द्रव्य त्रिकाल अखण्ड परिपूर्ण है और उसे बताने वाले सर्वज्ञ हैं। उन्होंने जो स्वरूप बताया है उसे स्वीकार करने वाला मैं भी अखण्ड ज्ञान-दर्शन से पूर्ण हूँ। निमित्त, परवस्तु, अनन्त आत्मा और पुद्गल इत्यादि अजीव वस्तु हैं, उसे जानने वाला ज्ञान स्वपरप्रकाशक है और पर से भिन्न अपने में अभिन्नरूप से है। नित्य-अनित्य, शुद्ध-अशुद्ध, और अखण्ड-खण्ड इसप्रकार सामान्य-विशेष दोनों पहलुओं को देखने वाली निश्चय-व्यवहारनय की संधि बताई है। सत्समागम से मनद्वारा ऐसे निर्णय से अपने ज्ञान को व्यवहार से प्रमाणरूप बनाये तब चित्त-

शुद्धि के आँगन में आकर शुभ में आखड़ा होता है। इसमें छहकाय की दया का स्वरूप बताने वाली वीतराग की आज्ञा भी आजाती है। जो सर्वज्ञ वीतराग हैं वही छहकाय के जीव, उनकी रक्षा का ज्ञान और छह द्रव्यों का परिपूर्ण स्वरूप बताने वाले हैं। सर्वज्ञ के अखण्ड ज्ञान स्वरूप की मर्यादा को स्वीकार करने पर अपने को ही स्वतंत्र अखण्डरूप से स्वीकार किया जाता है। अपने सतत जानने वाले स्वरूप में कहीं भी अच्छा-बुरा मानकर राग-द्वेष में अटकना नहीं होता। इसप्रकार अनंतकाल में नहीं माने गये अपने स्वरूप में सर्वज्ञ की आज्ञा का निश्चय होने पर अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ देखा और अपने अखण्ड स्वभाव के लक्ष्यरूप स्वदया में वीतराग कथित छहद्रव्य, उसके गुण और पर्याय तथा छहकाय के जीवों का स्वरूप भी जाना, और स्वलक्ष्य से रागद्वेष, अज्ञान से अपने अखण्ड गुण को बचानेरूप स्वदया में परदया का ज्ञान भी आगया। इसप्रकार अपने अखण्ड स्वरूप का निश्चय और स्वाश्रित सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप व्यवहार ऐसे निश्चय-व्यवहार की संधि अपने ज्ञान में करने पर स्वतंत्र निमित्त-उपादान का सम्पूर्ण स्पष्टीकरण प्रमाणज्ञान में आजाता है।

प्रश्नः—देह, इन्द्रियों से आत्मा को अलग करके किसी ने नहीं बताया, इसलिये आत्मा को देह से भिन्न कैसे माना जाये?

उत्तरः—बहुत से मृत शरीर देखे हैं जिनमें जानने वाला (आत्मा) नहीं होता, उनमें से जानने वाला अन्यत्र चला गया है, क्योंकि जो है उसका सर्वथा नाश नहीं होसकता; वह अवस्था को बदलकर स्थिर हो रहता है। कोई कहता है कि शरीर के साथ मेरा भी नाश होगया है, किन्तु नाश होना किसने जाना है? तेरे नाश के कथन में तेरे अस्तित्व की स्पष्ट घोषणा देह से भिन्न लक्षणरूप में होती है। देह में ज्ञातृत्व नहीं है। और यदि देह तथा इन्द्रियाँ ही आत्मा हों तो मोटे शरीर में अधिक ज्ञान और शाँति होनी चाहिये, तथा पतले शरीर में ज्ञान और शाँति कम होना चाहिये, एवं आँख कान के फूट

जाने पर आत्मा का नाश होजाना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता। जानने वाला पर में सुख मानता है, किन्तु वह यह नहीं देखता कि वह अरूपी मान्यता किस जगह की है, तथापि उसे प्रत्यक्षवत् ही मानता है। जड़ देहादि को कुछ खबर नहीं है। रागद्वेष की भावना शरीर में नहीं होती। इसप्रकार शरीर और आत्मा लक्षणभेद से त्रिकाल भिन्न हैं। पानी और कंकड़, पत्थर और सोना, दूध और पानी एकक्षेत्र में एकत्रित होने पर भी भिन्न हैं, क्योंकि यदि वे पृथक् न हों तो पृथक् नहीं किये जासकते।

समाधान करने वाला ज्ञान है। लड़के ने सट्टे में दसहजार रुपया गमा दिये हों तो भी वह किसीप्रकार मन में समाधान कर लेता है कि यदि लड़के को डाटें-धमकायेंगे या बुरा-भला कहेंगे तो वह विष खाकर मर जायेगा। इसमें किसी पर-निमित्त ने समाधान नहीं कराया है। जब कोई सीख देने आता है तब अपने को रुचता है तो अपने भाव से मानता है। प्रमाणरूप यथार्थज्ञान का स्वभाव स्वीकार करने में ज्ञान का विकाश होता है।

अनंत पर-पदार्थों की स्वतंत्रता को स्वीकार करने वाला स्वयं अनन्त ज्ञानमय है। यथार्थ सानुकूल पदार्थ को समझकर भूल को दूर करने वाला स्वयं स्वतंत्र है। पहले मन के द्वारा तत्वज्ञान के अभ्यास से नव-तत्व, छहद्रव्य तथा उसमें गुण-पर्याय रागमिश्रित नय और प्रमाण के ज्ञानद्वारा निश्चित् करे वहाँतक तो शुभराग की भूमिका है, वहाँ रुककर पुण्यबंध करके जीव अनन्तबार वापिस हुआ है, इसलिये उस राग की भूमिका भी निश्चय अनुभव में अभूतार्थ है स्थायी नहीं है। मैं पर से भिन्न हूँ, निरावलम्बी अक्रिय स्वभावी हूँ, राग का नाशक हूँ ऐसा यथार्थ निश्चय सत्समागम से करना चाहिये। जिसने तत्व को समझने की परवाह नहीं की उसने अपने प्रथक् स्वतंत्र स्वभाव का अपने में बहुत विरोध किया है, इसलिये भगवान कहते हैं कि महामहिम मूल्यवान मनुष्य भव को हारकर एकेन्द्रिय वनस्पति में महामूढ़ होकर अनंतकाल तक अनंत

जन्म-मरण में तीव्र आकुलता के दुःखों को भोगेगा। अनंतकाल तक परिभ्रमण करके भी ज़ोंक-शंख इत्यादि का भव पाना भी कठिन होजायेगा, इसलिये सर्वसुयोग आगया हैं ऐसा समझकर अपनी चिंता करने की आवश्यक्ता है।

आत्मा और उसके अनंतगुण अनादि-अनन्त एकरूप स्थिर रहते हैं, उस ध्रुव अखण्ड स्वभाव की पहिचान करके पर से (विकार से) भिन्न स्वभाव की महिमा लाकर, रागमिश्रित श्रद्धा का नाश करके, एकरूप स्वभाव का निर्णय करे फिर विकल्प से (मन के अवलम्बन से) कुछ हटकर ठहरे तो वहाँ अपूर्व सम्यक्‌दर्शन होता है। सम्यक्त्व होने से पूर्व राग-मिश्रित ज्ञान से सर्वज्ञ कथित नवतत्व तथा छहवस्तु के द्रव्य गुण पर्याय को जानकर उसका नय-प्रमाणरूप ज्ञान के द्वारा मन से निर्णय करना सो वहाँतक तो व्यवहारशुद्धि कहलाती है। ऐसी समझ के बिना क्रिया-काण्ड में अटकने वाले जीव को व्यवहाराभास की भी खबर नहीं होती, उसकी यहाँ बात नहीं है, यहाँ तो ज्ञान का विषय चल रहा है।

प्रमाता= जानने वाला आत्मा।

प्रमाण= मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानरूप ज्ञानगुण की पाँच अवस्थायें।

प्रमेय= आत्मा के ज्ञान में जानने योग्य स्व-पर पदार्थ, ज्ञान के द्वारा जानने योग्य समस्त वस्तुएँ ज्ञेय होती हैं।

परवस्तुः—अनंत जीव-अजीव पदार्थ हैं। देव-गुरु-शास्त्र, वीतराग की मूर्ति इत्यादि निमित्त हैं, इसप्रकार ज्ञान भलीभाँति जानता है और तभी ज्ञान सच्चा कहलाता है।

कोई कहता है कि 'सब मिलकर एक ही आत्मा है' किन्तु यह भूल है। कोई कहता है कि 'ज्ञान अकेला निज को ही जानता है, परवस्तु अनेक प्रकार से भासित होती है जो कि माया का भ्रममात्र है।' ऐसा कहने वाले का ज्ञान ही भ्रमरूप मिथ्या सिद्ध होता है। परवस्तु है तो अवश्य,

किन्तु आत्मा के स्वरूप में पर अथवा पर का कोई भेद नहीं है। खट्टा-खारा जानने पर कहीं जीव खट्टा-खारा नहीं होजाता। एक के दुःख से दूसरा दुःखी नहीं होजाता, एक व्यक्ति के शांति रखने से विश्व को शांति नहीं होजाती, क्योंकि सब भिन्न-भिन्न हैं। कोई कहता है कि 'यहाँ पर भले ही आत्मा अलग हो, किन्तु मोक्ष में जाने पर जोत में जोत समा जाती है;' किन्तु यह बात भी मिथ्या है, क्योंकि यहाँ दुःख भोगने में तथा राग-द्वेष में तो अकेला है और राग-द्वेष का नाश करके अनंत पुरुषार्थ से पवित्र निरुपाधिकदशा प्रगट की तब किसी पर-सत्ता में मिलकर पराधीन होजाये तो अपने में स्वाधीन सुख भोक्ता ही नहीं रहा, अर्थात् अपना ही नाश होगया; तो ऐसा कौन चाहेगा।

स्वतंत्र वस्तु का जैसा यथार्थ स्वरूप केवलज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग ने दिव्यध्वनि में कहा है वैसा ही पूर्वा पर विरोधरहित कहने वाले सर्वज्ञ के शास्त्र हैं। उनके अर्थ को गुरु-ज्ञान से समझे और अपने भाव में यथार्थतया निश्चित् करे तब शास्त्र निमित्त कहलाते हैं। यदि शास्त्र से तर सकते हों तो शास्त्र के पन्नों का भी मोक्ष होजाना चाहिये। शास्त्र को पहले भी जीव अनंतवार बाह्यदृष्टि से पढ़ चुका है। यहाँ तो ज्ञान में यथार्थ वस्तु को स्वीकार करने की बात है। आत्मा को देह से पृथक् जानने पर ज्ञानी को यह स्पष्ट प्रतीत होजाता है कि देव, गुरु पर हैं, निमित्त हैं।

मति-श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान हैं, उसमें मन और इन्द्रियाँ निमित्त हैं, इस-प्रकार ज्ञान से ज्ञान में जानता है, निमित्त से ज्ञान नहीं होता। जबतक वर्तमान में ज्ञान हीन है तबतक दूसरे को जानने के लिये मन और इंद्रियाँ निमित्त हैं। भीतर स्वलक्ष्य में मन और इंद्रियाँ निमित्त नहीं हैं। जीव उससे अंशतः अलग होता है तब स्वतंत्र तत्व का ज्ञान करके उसमें स्थिर होसकता है।

इंद्रियों तो एक-एक प्रकार को ही जानने में निमित्त हैं। इन्द्रियाँ नहीं जानती। यदि कान, आंख इत्यादि इन्द्रियों की ओर का लक्ष्य बन्द

करे तो भीतर मन के द्वारा विचार का काम ज्ञान करता है, तथापि वह जानता अपने से ही है; मन और इन्द्रियाँ तो बीच में व्यर्थ ही थोथी सिद्ध होती हैं, उनकी तो उपस्थिति मात्र होती है, तथापि वह अल्पज्ञान में निमित्त हैं, उनका ज्ञान में निषेध नहीं है, किन्तु उनसे ज्ञान होता है इस विपरीत-मान्यता का निषेध है। मैं क्रमशः जानता हूँ, मेरे ज्ञान में क्रम होता है, अक्रमरूप से मेरा ज्ञान ज्ञात नहीं होता इसलिये बीच में निमित्त का अवलम्बन आजाता है, इसलिये वह परोक्ष ज्ञान है। वर्तमान में हीन अवस्था है किन्तु स्वभाव इतना मात्र नहीं है, हीन नहीं है; अल्पज्ञान में निमित्त है। राग-रहित पूर्ण ज्ञान में निमित्त का सम्बन्ध नहीं होता, क्रम नहीं होता, प्रथम समय में दर्शन का व्यापार हो और दूसरे समय में ज्ञान का व्यापार हो ऐसे भेद केवलज्ञान में नहीं होते।

मतिज्ञान में सामान्यरूप से जानना होता है। श्रुतज्ञान में विशेष-रूप से विस्तार पूर्वक और अधिक सूक्ष्म ज्ञात होता है। यह शब्द अमुक भाई का ही है, और पहले जो आवाज सुनी थी वैसी ही यह आवाज है; इसप्रकार का ज्ञान मतिज्ञान का भेद है। उसके बाद ज्ञान को तनिक और खींचकर जहाँ यह ज्ञात होता है कि उसकी आवाज मीठी है, धीमी है सो यह श्रुतज्ञान है। स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा वायु का स्पर्श हुआ सो उसे जानना मतिज्ञान है फिर यह विशेष जानना कि वह वायु ठंडी है या गर्म है सो श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञान से जानने में इन्द्रियाँ निमित्त नहीं हैं किन्तु भीतर जो मन है वह निमित्त है। स्व-स्वरूप का अभेद लक्ष्य करने में जितने अंश में मन का अवलम्बन छूट जाता है उतना प्रत्यक्ष स्वलक्ष्य होता है।

आत्मा का स्वतंत्र स्वरूप ज्ञानी के निकट से सुनकर निमित्त की ओर का लक्ष्य छोड़कर भीतर इसप्रकार विचार में मग्न होजाता है कि अहो ! यह आत्मा देहादिक संयोग से भिन्न स्वतंत्र और पूर्ण गुण-स्वरूप प्रतीत होता है, ज्ञान और शांति मुझमें विद्यमान से हैं, जो

स्वतंत्र होता है उसे पराश्रय की आवश्यकता नहीं होती, मेरा अस्तित्व सदा मुझसे ही है, देहादि के संयोग से मेरा अस्तित्व नहीं है, मैं असंयोगी ज्ञातास्वरूप हूँ, किसी के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मेरा ज्ञान सदा एकरूप रहता है, मेरे ज्ञान की शक्ति में ज्ञात होने वाले अनेक प्रकार के ज्ञेय मुझसे भिन्न-भिन्न हैं और वे वैसे ही प्रतीत होते हैं, मैं पर से नहीं जानता, मैं ऐसा प्रतिबन्ध वाला नहीं हूँ कि अमुक क्षेत्र, काल, संयोग और राग-द्वेष में रत होऊँ तो जान सकूँ, ज्ञान में विकार नहीं है, ज्ञान का अटकने का स्वभाव नहीं है, अटकना तो परोन्मुख होने वाली क्षणिक अवस्था से होता है जोकि राग का कार्य है, स्वभाव तो राग का नाशक और अनंत गुण का रक्षक है।

वस्तु है सो नित्य है। मैं नित्य हूँ तो स्वतंत्र हूँ या नहीं? यदि स्वतंत्र होऊँ तो स्वतंत्रता दिखाई देनी चाहिये; किन्तु मैं अपनी अशक्ति के कारण वर्तमान अवस्था में राग में अटका हुआ हूँ; और यही पराधीनता है; त्रिकाल स्वभाव में पराधीनता नहीं है। यदि स्वभाव के विश्वास का बल हो तो पर की ओर अटकना स्वयं ही छोड़ सकता है। मैं स्वतंत्र हूँ इसप्रकार पहले यदि निःशंक निर्णय करे तो फिर आत्मस्वभाव में स्थिर होकर वीतराग परमात्मा होसकता है। पूर्ण निर्मल मोक्ष होने से पूर्व मोक्ष की 'हाँ' कहने वाले को स्वतंत्र पूर्णस्वभाव की महिमा प्राप्त होती है, उसीकी यह बात है।

मतिज्ञान से पर को जानने में इन्द्रियाँ तथा मन निमित्त होते हैं। मतिज्ञान के बाद श्रुतज्ञान के होने में मात्र मन निमित्त होता है। जड़ इन्द्रियाँ पर के जानने में निमित्त होती हैं, वे आत्मा के जानने में निमित्त नहीं होतीं। जबकि शब्दादिक पर-विषयों को बाहर झाँक-कर जान लेता हूँ, तो फिर सीधी रीति से मैं अपने को क्यों नहीं जानूँगा? मैं स्वावलम्बी नित्य एकरूप पूर्ण ज्ञानस्वभाव हूँ, इसप्रकार स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ज्ञान से स्व-विषय करे ऐसा मति-श्रुतज्ञान का

स्वभाव है । स्वतंत्र स्वभाव के मानने में एक अंश भी आलंबन नहीं है; आलंबन तो पराधीनता की दृष्टि है ।

आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे गये अपने अविनाशी चैतन्य शक्ति के माल को पहिचानकर तौल करने के लिये पहले अपने ज्ञान को प्रमाणरूप बना । जैसा हम कहते हैं वैसा यदि तू जानले तो जैसा हमारा भव का अभाव हुआ है वैसा ही तेरा भी होजायेगा ।

जैसे मिठास मिश्री में है, थैले में नहीं, इसीप्रकार ज्ञान-शाँति इत्यादि समस्त गुणरूप स्वधर्म मुझमें त्रिकाल अभिन्नरूप से विद्यमान है । वह देहादि में नहीं है, देह की क्रिया में नहीं है; और बाह्यसाधन अथवा आलम्बन से गुण नहीं आता । गुण भीतर विद्यमान है, इसलिये उसकी एकाग्रता के बल से वह प्रगट होता है । उस अतीन्द्रिय स्वभाव को किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं है तथा उसमें कोई कमी नहीं है । जबतक अपने को स्वभाव से हीन या पराधीन मानता है तबतक मान्यता में संसार है । पूर्णस्वभाव की प्रतीति करने के बाद अवस्था में क्षणिक अशक्ति होती है, किन्तु ज्ञानी उस क्षणिक अशक्ति का स्वामी नहीं होता। वह अभूतार्थभाव का कर्ता नहीं किन्तु नाशक है ।

मति-श्रुतज्ञान अपने को जानने के लिये प्रत्यक्ष हैं—एक देश प्रत्यक्ष हैं; और पर को जानने के लिये परोक्ष हैं । वर्तमान में मेरी योग्यता से होनेवाला, इन्द्रियों में अटकने वाला पराधीन ज्ञान आदरणीय नहीं है; किन्तु भीतर पूर्ण निर्मल अखण्ड स्वभाव में निरपेक्ष, निश्चय दृष्टि के बल से यदि मैं स्थिर होऊँ तो पूर्ण केवलज्ञान की निर्मल अनंतशक्ति स्वयं प्रगट कर सकता हूँ । वह पूर्णज्ञान प्रगट न हुआ हो उससे पूर्व आत्मा में किसी के अपूर्ण ज्ञान की अवस्था-अवधिज्ञान प्रगट होता है, उसमें इहलोक और परलोक के रूपी पदार्थ अमुक क्षेत्र और काल की मर्यादा को लिये हुये ज्ञात होते हैं । ज्ञान को कहीं बाहर दूर नहीं जाना पड़ता

और परज्ञेय भीतर ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होजाते। जबकि मैं स्वतंत्र हूँ तो फिर निमित्त के बिना क्यों नहीं जानूँगा? मुझमें अवधिज्ञान की शक्ति विद्यमान है ऐसा समझना चाहिये। इसप्रकार अवधिज्ञान प्रमाण की विवक्षा की है।

ज्ञान की चौथी अवस्था मन:पर्ययज्ञान है। जो दूसरे प्राणी के मनमें रमने वाले रूपी पदार्थ सम्बन्धी संकल्प-विकल्प को बिना ही निमित्त के जानता है सो मन:पर्ययज्ञान है। जबकि मैं स्वतंत्र हूँ तो उसकी श्रद्धा के बल से स्थिर होकर यदि निर्मलता प्राप्त करूँ तो वह क्यों न ज्ञात होगी? अवश्य ज्ञात होगी। यह मन:पर्ययज्ञान की स्वीकृति है।

अवधि और मन:पर्ययज्ञान रूपी परपदार्थों को एकदेश प्रत्यक्ष जानते हैं। मन:पर्ययज्ञान में अवधिज्ञान की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मता (निर्मलता) है। अवधि और मन:पर्यय का विषय पर का है। मति-श्रुतज्ञान निज का एकदेश प्रत्यक्ष और पर का सब परोक्ष जानता है, किन्तु ज्ञान पर की सभी अवस्थाओं को नहीं जानता। केवलज्ञान में प्रत्येक समय की एक-एक अवस्था में तीनकाल और तीनकाल के समस्त भाव एक साथ ज्ञात होते हैं। पूर्णरूप से अनन्त को जानने वाला अपने गुण से अनन्त है। ऐसी स्वतंत्र वस्तु के पूर्णज्ञान को स्वीकार करने वाला मैं हूँ। प्रस्तुत जगत में वस्तु अनादि-अनन्त है, उसे जानने का स्वभाव-वाला मैं क्यों न जानूँगा? इसलिये केवलज्ञानी के जैसा सर्वप्रत्यक्ष ज्ञान है वैसा मेरे भी है। उनमें जितने और जैसे अनंतगुण हैं उतने और वैसे ही मुझमें भी प्रतिसमय विद्यमान हैं। इसप्रकार अपार-अनंत को एक साथ स्वीकार करने वाला ज्ञान है। ज्ञान का थैला ही इतना बड़ा है कि उसके विश्वास में पूर्ण स्वभाव और पूर्ण पुरुषार्थ स्वरूप स्वयं समा जाता है। मैं अपूर्ण अथवा उपाधि वाला नहीं हूँ। मेरे भव नहीं है। मैं पूर्ण स्वतंत्र तत्व हूँ। मुझे पर से बन्धनबद्ध कहना शोभा नहीं देता।

मैं नित्य वस्तु हूँ। प्रतिसमय पर्याय बदलती रहती है। अपूर्ण ज्ञान के समय निमित्त होता है, किन्तु निमित्त से जानना नहीं होता। निमित्त

में जाकर जानता नहीं है किन्तु निज में जानता है। सम्यक्दृष्टि के पाँचों ज्ञान तथा मिथ्यादृष्टि के कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञान होते हैं। इसप्रकार जब ज्ञान का रागमिश्रित निर्णय किया तब उच्च शुभभाव हुआ। ऐसे शुभभाव से भी जीव अनन्तबार पीछे हट आया है।

यह दोनों प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय के भेद को अनुभव करने पर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं, और जिसमें सर्व भेद गौण होगये हैं ऐसे एक जीव के स्वभाव का अंतर निर्मलदृष्टि से अनुभव करने पर वे (रागमिश्रित विचार) अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं, अर्थात् रागादिक निज में टिकने वाले नहीं हैं। जगत में जो परवस्तु है सो स्व-वस्तु से असत् है, अर्थात् अपने में नहीं है पर-निमित्त अपूर्ण अवस्था में होता है, किन्तु त्रिकाल स्वभाव अपूर्ण नहीं है। उसके विचार में रुकने का राग अभूतार्थ है।

इन्द्रियाँ क्षणिक संयोग से नाशवान हैं, मन से निर्णय किया सो वह रागमिश्रित था। वह पर का अवलम्बन कहाँतक टिक सकता है? कहा जाता है कि लिया-दिया कहाँतक टिक सकता है? यदि जीव अभूतार्थ राग का आश्रय छोड़कर नित्यस्वभाव का आश्रय करे तो स्वाश्रय में राग नहीं है।

कोई कहता है कि यहाँ सुनते हैं तबतक अच्छे विचार रहते हैं, फिर नहीं रहते; किन्तु यह तो निमित्ताधीन दृष्टि है। जैसे सिगड़ी को छाती से नहीं बाँधा जाता, किन्तु सालमपाक और गरम मसाले खाने से यदि पुण्योदय हो तो भीतर गर्मी आजाती है, इसीप्रकार मेरा कोई सहायक नहीं है, मुझपर किसी निमित्त का असर नहीं होता, मैं पर से भिन्न अकेला पूर्ण शक्तिवान हूँ ऐसा निर्णय करके, विश्वास करके स्वभाव की निराकुल गर्मी उत्पन्न करे तो निमित्ताधीन दृष्टि का भार न आये और पराधीनता न देखे।

जब जीवों की तैयारी होती है तब परम-सत्य सुनने को मिलता है, किन्तु उसके शुभराग में न रुककर अपूर्व पुरुषार्थ करना चाहिये, जो-

कि अपनी भीतरी तैयारी से होता है। आचार्यदेव ने सर्व शास्त्रों का रहस्य ऐसी अद्भुत संकलना से संक्षेप में क्रमशः उपस्थित किया है कि जो यथार्थ पात्रता से समझता है वह पीछे नहीं हटता। ज्ञान, ज्ञेय और निमित्त इत्यादि जो कहा गया है सो उसे जानकर यदि जीव स्वतंत्र स्वभाव में से वल लगाये तो विकल्प टूटकर स्वानुभव से निर्मल अंश प्रगट हों और स्थिरता के बढ़ते-बढ़ते पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान परमात्म दशा प्रगट हो। यथार्थ सम्यक्दर्शन से अनुभव हुआ कि तत्काल ही घर छोड़-कर सब चले नहीं जाते। जबतक वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति रहती है तबतक अपूर्ण दशा में रुका रहता है किंतु अपूर्ण का आदर नहीं है। भीतर चिदानंद का गोला पृथक् प्रतिभासित होता है। किसी विकारी प्रवृत्ति या विकल्पमात्र का कर्तृत्व नहीं है। एकाकार पूर्ण वीतरागता पर जिस जीव की दृष्टि है वह राग को छोड़कर अल्पकाल में पूर्ण वीतराग होजाता है। पहले यहाँ नवतत्वों में से एक को अलग बता-कर एकरूप निश्चय-श्रद्धा का स्वरूप बताया है।

सम्यक्त्व प्राप्त करने से पूर्व नवतत्वों का और प्रमाण का ज्ञान तो होता ही है, कोई विस्तार से जाने या कोई संक्षेप में जाने, किन्तु स्वरूप के आँगनरूप चित्तशुद्धि का व्यवहार आये विना नहीं रहता। सभी तत्वों के नाम आयें ऐसा नियम नहीं है। किसी पशु के भी सम्यक्दर्शन होता है। वह तो यथार्थ आनंद-शांति का अनुभव करता है और उसे हित-अहितरूप भाव का भास भलीभाँति होता है। जैसे कुत्ते को लाल, पीले, काले इत्यादि नामों की खबर नहीं होती, और हमसे कुत्ता कहते हैं इसकी भी उसे खबर नहीं है, तथापि उसके देहदृष्टि से अनुकूलता-प्रतिकूलता का ऐसा ज्ञान विद्यमान होता है कि यह मेरा विरोधी है और यह मुझे अनुकूल है। इसीप्रकार शब्द-ज्ञान न हो किन्तु भाव ज्ञान होता है कि आत्मा पर से सदा निराला है, पर का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है, कोई सहायक नहीं है मैं स्वतंत्र हूँ, पर से कोई लाभ-हानि नहीं होती; मेरा स्वरूप अखण्ड ज्ञान शांतिरूप है

जोकि आदरणीय है, और जो विकल्प की भावना उत्पन्न होती है वह मेरा स्वरूप नहीं है; निमित्ताधीन लक्ष्य करके विकल्प में रुकना-आकुलता में रुकना भी आदरणीय नहीं है। पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष के आशयरूप से और संक्षेप में हेय-उपादेय का ज्ञान स्वभावाश्रित होने से पशु के भी होता है।

आत्मा त्रिकाल एकरूप स्थायी अनन्त गुणस्वरूप पूर्ण शक्ति वाली वस्तु है। वह सदा अरूपी ज्ञानाकार है। जीव अपना नित्य अखण्ड स्वभाव न माने और कर्म के संयोग के आधीन होने वाली क्षणिक अवस्था जितना अपने को माने तो यह उसकी श्रद्धा में भूल है। आत्मा वर्तमान अवस्था जितना ही नहीं है, उसमें रागद्वेष नहीं भरे हैं, किन्तु वाह्यलक्ष्य करने से एक-एक अवस्था जितना नवीन विकार भाव करता है। किन्तु उसी समय उसका नाश करने वाला जीव का स्वभाव शक्तिरूप से पूर्ण निर्मल है। उसका यथार्थतया निर्णय करने से जन्म-मरण का नाश करने वाले स्वभाव की प्रतीतिरूप सम्यक्दर्शन की प्राप्ति जीव को होती है।

पहले नवतत्व के भेद जानकर, भेद के लक्ष्य से छूटकर, भूतार्थ एक स्वभाव का आश्रय करने की रीत बताई थी। यहाँ दूसरी रीति से वही बात बताते हैं कि प्रमाण, नय, निक्षेप आत्मा को जानने का उपाय है, इसलिये रागमिश्रित विचार के द्वारा पहले आत्मा का प्रमाणरूप यथार्थ निर्णय करना चाहिये।

पहले प्रमाण के प्रकार कहे जाचुके हैं, अब नय (ज्ञान की अपेक्षारूप दृष्टि) का स्वरूप बताते हैं। नय के दो प्रकार हैं-द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। इनमें से जो द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तु में द्रव्य का मुख्यतया अनुभव कराये सो द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय का मुख्यतया अनुभव कराये सो पर्यायार्थिक नय है।

प्रत्येक आत्मा तथा प्रत्येक वस्तु में सामान्य-विशेष और नित्य-अनित्य आदि दो पहलू हैं। उसे देखने वाली दृष्टि से उस-उस पहलू का ज्ञान किया जासकता है। दो पहलुओं से एक ही साथ सम्पूर्ण वस्तु को ध्यान में लेना सो ज्ञान प्रमाण है। आत्मा में त्रिकालस्थायी निर्मल अखण्ड गुण स्वभाव है वह राग-द्वेष और भूल का नाशक है, उस नित्यस्वभाव के पहलू से देखने वाला ज्ञान का अंश द्रव्यार्थिक नय है। गुण से जो विरोध भाव है सो अवगुण है वह क्षणिक अवस्था मात्र के लिये पर की ओर के रागरूप झुकाव से नया होता है। वह आत्मा के साथ नित्यस्थायी नहीं है; इसलिये वह अभूतार्थ है। मुझे अवगुण नहीं चाहिये अर्थात् मुझे पवित्र वीतरागभाव रखना है! उसे रखने वाला त्रिकालस्थायी है यह जानकर अवस्था बदली जासकती है। उस भेद का जो लक्ष्य किया सो व्यवहारनय अथवा पर्यायार्थिक नय है।

जैसे सोना नित्यस्थायी वस्तु है, वह कुण्डल इत्यादि की अवस्था में एकरूप रहने वाला सामान्य सोना ही है। इसप्रकार नित्य एकरूप स्वभाव के पहलू से देखना सो द्रव्यार्थिक नय है और कुण्डल, माला, हार इत्यादि की पर्यायदृष्टि से देखना सो पर्यायार्थिक नय है। दोनों दृष्टियाँ मिलकर सम्पूर्ण सोना एक ही वस्तु है। ऐसा जानना सो प्रमाण है। संसार और मोक्ष की सब पर्यायें मिलकर त्रैकालिक अवस्था का अखण्ड पिंड अनादि-अनंत वस्तु अपना आत्मा है। वह मात्र शुद्ध या अशुद्ध अवस्था जितना ही नहीं है। प्रगटरूप से एक समय में एक ही अवस्था होती है। संसार की विकारी दशा एक समय की स्थिति वाली होने पर भी प्रवाहरूप से अनादिकाल से है। प्रतिसमय उस पर्याय के पीछे त्रिकालस्थायी अनंत गुण की शक्तिरूप स्वभाव है। उसके बल से उस विकारी दशा का नाशक स्वभाव प्रत्येक आत्मा में है; किन्तु इसकी जिसे खबर नहीं है वह बाह्यदृष्टि से पर में अच्छा-बुरा मानकर अटक जाता है। वर्तमान अवस्थामात्र तक जो राग-द्वेष होता है उसे अपना भले ही माने किन्तु स्वयं उसरूप नहीं होजाता।

नित्यस्थायी सोना अपने ही आधार से अँगूठी, कड़ा, कुंडल इत्यादि अवस्थाओं में बदलता रहता है। जो सोने को अँगूठी के ही आकार में सीमित मानता है उसे नित्य एकरूप स्थायी सोने की खबर ही नहीं है। वस्तु में सदा स्थायी स्वभाव को देखना सो द्रव्यदृष्टि है और पर्याय (अवस्था) बदलती है सो उसका लक्ष्य करना पर्यायदृष्टि है। पानी को एकरूप देखना सो द्रव्यदृष्टि है और उसमें उठने वाली तरंगों को देखना सो पर्यायदृष्टि है।

यदि ध्यान रखे तो यह बात सबकी समझ में आसकती है। जो सब आत्मा हैं सो भगवान् हैं, कोई आत्मा स्त्री या पुरुषरूप नहीं है। भगवन्! ऐसा मत मान कि तेरी ही बात तेरी समझ में नहीं आसकती। जो-जो सर्वज्ञ परमात्मा हुए हैं उन्होंने पहले सच्ची पहिचान करके फिर अंतरंग स्थिरता करके पूर्ण निर्मल परमात्मदशा प्रगट की है। इसीप्रकार अनन्त सिद्ध हुए हैं। तीर्थंकर परमात्मा ने साक्षात् केवलज्ञान से जगत को जन्म-मरण दूर करने का—पवित्र मोक्षदशा प्राप्त करने का सत्य उपाय बताया है। उन्होंने अकषायी करुणा से जो निर्दोष उपदेश दिया है वह ऐसा है कि जिसे जगत के प्राणी भलीभाँति समझ सकते हैं। उन्होंने कुछ ऐसा नहीं कहा है कि जिसे नहीं समझा जासकता, अथवा पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं किया जासकता या कर्म आड़े आसकते हों।

आत्मा स्वभावतः प्रतिसमय निर्मल ध्रुव है, पराश्रित रागादि विकार क्षणिक हैं। उसे जानने वाला विकार का नाशक स्वभाव है, जोकि क्षणिक नहीं है। एक-एक समय की क्षणिक अवस्था बदलती रहती है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु अपनेपन से नित्य एकरूप बनी रहती है। जीव में से राग की विकारी अवस्था दूर करदी जाये तो अविकारी अवस्था-रूप से पर्याय बदलती रहती है। यदि प्रतिसमय बदलने वाली अवस्था को दूर कर दिया जाये तो ध्रुव वस्तु न रहे। जैसे सौ वर्ष की आयु वाले पुरुष में से एक-एक समय की अवस्था को दूर कर दिया जाये तो

सम्पूर्ण पुरुष नहीं रहसकता। यदि ऐसा माने कि मैं वर्तमान अवस्था तक ही सीमित हूँ तो ध्रुव-स्थायी वस्तु के बिना पर्याय किसके अधार से होगी? जीव निरंतर विचार बदलता रहता है किन्तु उन विचारों को बदलाने वाला तो नित्य एकरूप स्थायी रहता है। इसप्रकार एक वस्तु में नित्य और अनित्यरूप दो दृष्टियाँ हैं।

कोई चाहे जितना नास्तिक हो किन्तु यदि कोई उसके लड़के के टुकड़े करना चाहे तो वह उसे ठीक नहीं मानेगा, और वह बुरा कर्म नहीं होने देगा। वह यह स्वीकार करता है कि लड़के को दुःख न हो ऐसी अनुकूल परिस्थिति रखनी चाहिये। इसका अप्रगट अर्थ यह हुआ कि बुराई से रहित भलाई उपादेय है और भलाई को रखने वाला नित्य स्थिर रह सकता है। बुरी अवस्था को छोड़ने की स्वीकृति में पवित्रता और भलेपन से स्थायित्व स्वीकार किया है; इसप्रकार नास्तिक में दो दृष्टियाँ मानने की आस्तिकता उपस्थित होती है। उसे सत्य की प्रतीति नहीं है तथापि बुरी अवस्था के समय यदि सज्जनता का अप्रगट सद्भाव न हो तो भले-बुरे का ध्यान कहाँ से आये? राग-द्वेष और भूल-रूप विकार के समय भी अविकारी स्वभाव शक्तिरूप से है। जैसे दिया-सलाई में शक्तिरूप से अग्नि विद्यमान है, वही प्रगट होती है। इसलिये प्रत्येक वस्तु में सदा स्थायीरूप से शक्ति और बदलनेरूप से प्रगट अवस्था इसप्रकार दो पहलुओं को देखने की दृष्टि की आवश्यक्ता है।

भगवान आत्मा सदा एकरूप रहने वाली वस्तु है और वर्तमान प्रगट अवस्था में राग-द्वेष विकार है जोकि एकसमय मात्र के लिये होता है। उस अवस्था के पीछे उसी समय विकार नाशक के रूप में अविकारी स्वभाव है; इसलिये मैं अवगुणरूप नहीं हूँ किन्तु नित्य, निर्दोष गुणरूप हूँ यह जानकर त्रिकाल एकरूप निर्मल स्वभाव की अखण्डता की दृष्टि से देखना सो द्रव्यार्थिक नय है, अवस्था को देखना सो पर्याया-र्थिक नय है; और दोनों दृष्टि से सम्पूर्ण वस्तु को जानना सो प्रमाण है। प्रमाण ज्ञान में गौण-मुख्य का क्रम नहीं है।

आत्मा को जो एकान्त पक्ष से नित्य ही मानता है उसके यहाँ राग को दूर करके आनंद को प्रगट करना अथवा पुरुषार्थ करके अवस्था को बदल देना कैसे होसकता है? इसलिये यह मानना होगा कि प्रत्येक द्रव्य में अवस्थाओं का बदलना होता रहता है। एक वस्तु में एक ही साथ दो दृष्टियाँ हैं, उनका क्रमशः विचार होता है। नित्य अखण्ड की दृष्टि से देखने पर खंडरूप अवस्था का लक्ष्य गौण होता है और अवस्था के विचार को मुख्य करने पर नित्य अखण्डता का लक्ष्य गौण होता है। यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी है अवश्य, किन्तु जीव जबतक रागमिश्रित विचार में लगा रहता है तबतक मन के सम्बंध से राग की उत्पत्ति होती रहती है, किन्तु निर्विकल्प अभेद स्वभाव का लक्ष्य और शांति का अनुभव नहीं होता। इसलिये उसके विचारों को छोड़कर स्वरूप में एकाग्रता प्रगट करने को एकरूप स्वभाव की श्रद्धा करके अखण्ड स्वभाव के बल से अवस्था के भेद का लक्ष्य गौण होकर (विकल्प टूटकर) निर्मल आनन्द का अनुभव होता है।

यद्यपि जीव चित्तशुद्धि के आँगन में अनन्तबार आया है, किन्तु उसे लाँघकर एकरूप स्वभाव का लक्ष्य कभी नहीं किया। इसलिये निर्विकल्प स्वभाव को पहिचानकर, वस्तु की महिमा को जानकर पूर्ण की ओर की रुचि करना चाहिये। जब यथार्थ स्व-लक्ष्य के बल से निर्विकल्प शाँति के अनुभवरूप अंतरंग एकाग्रता होती है तब सम्यक्दर्शन की निर्मल अवस्था प्रगट होती है और भ्रान्ति का नाश होता है। जैसे रोग के मिट जाने पर कुछ अशक्ति रह जाती है जिसकी स्थिति अधिक लम्बी नहीं होती, वह पथ्य सेवन से दूर होजाती है; इसीप्रकार स्वभाव में विरोधरूप मान्यता का नाश करने के बाद वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति अधिक समय तक नहीं रहती। विकार के नाशक स्वभाव की प्रतीति के बल से अल्पकाल में पूर्ण निरोग परमात्मदशा प्रगट होती है। शरीर में तो उदयानुसार होता है, किन्तु स्वतंत्रस्वभाव में अपना कार्य बराबर होता ही है।

पहले आत्मा का निर्णय करते समय दो नयों का विचार आता है, जोकि उस काल में सत्यार्थ है, किन्तु मैं उस विकल्परूप नही हूँ, इसप्रकार भेद का लक्ष्य छोड़कर एकरूप स्वभाव का अनुभव करने पर वे विकल्प अभूतार्थ हैं। शुभविकल्प से अभेद स्वभाव का लक्ष्य और एकाग्रतारूप अनुभव नहीं होता। अंतरंग के मार्ग में कोई परावलम्बन या व्रतादि का शुभराग भी सहायक नहीं है।

प्रश्न:—सभी के लिये इसीप्रकार है या कोई दूसरी रीति है ?

उत्तर:—तीनलोक और तीनकाल में ऐसा ही है; किसी के लिये प्रथक् मार्ग नहीं है। जहाँ शुद्ध में स्थिर नहीं हुआ जासकता वहाँ अशुभ में न जाने के लिये व्रतादि के शुभभाव बीच में होते हैं; किन्तु उनसे अविकारी स्थिरतारूप चारित्र नहीं होता। भीतर गुणों की शक्ति भरी हुई है, उसके बल से निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की एकता होती है। पूर्वा पर विरोध से रहित परिचय हीन व्रत को उपचार से भी व्रत नहीं कहा जासकता। कोई कहता है कि "हमारा व्यवहार ही उड़ जायेगा," किन्तु बुरे का अभिमान भले ही उड़ जाये इसमें डर क्या है। वीतराग के द्वारा कहा गया व्यवहार नहीं उड़ता है। पुण्यभाव को छोड़कर पाप में जाने के लिये ज्ञानी नहीं कहते हैं।

सम्यक्दर्शन के होने पर एकाकार शांति का अनुपम अनुभव होता है और जब विशेषरूप से ज्ञान में स्थिरता करता है तब सिद्ध परमात्मा के समान आंशिक आनन्द का स्वाद गृहस्थदशा में भी ज्ञानी के होता है। कोई चक्रवर्ती राजा हो तो भी वह अपने में एकाग्र होकर ज्ञान-ध्यान का आनन्द ले सकता है। अपनी अशक्ति के कारण वह स्त्री, पुत्र, महल इत्यादि के निकट गृहस्थ दशा के राग में विद्यमान दिखाई देता है तथापि वह किसी प्रवृत्ति या संयोग का स्वामी नहीं है; उसके ऐसी आंतरिक उदासीनता विद्यमान रहती है कि रागद्वेष की वृत्ति मेरा कार्य नहीं है। उसे निरंतर ऐसी प्रतीति रहती है कि मैं ज्ञानानंद हूँ।

यहाँ तो अभी यह कहा जारहा है कि सम्यक्‌दर्शन के होने पर कैसी स्थिति और क्या निर्णय होता है। जो मुनि और सर्वज्ञ केवली होगये हैं उनके लिये यह उपदेश नहीं है।

यहाँ जो कहा जारहा है वैसी प्रतीति चौथे गुणस्थान में गृहस्थदशा में महाराजा श्रेणिक, भरत चक्रवर्ती और पांडव इत्यादि धर्मात्माओं के थी। यह ऐसी बात है कि वर्तमान में भवरहित होने की अपूर्व साक्षी स्वयं छलककर आजाये। किन्तु लोगों को सत्य सुनने को नहीं मिला इसलिये यह बात नई और अद्‌भुत सी लगती है, किन्तु यदि मध्यस्थ होकर परिचय प्राप्त करे तो स्वयं समझ सकता है। तीनोंकाल के ज्ञानियों का यही कथन है। अजान को ऐसा भ्रम होता है कि समयसार में बहुत उच्चप्रकार की भूमिका की बातें हैं इसलिये वे हमारी समझ में नहीं आसकतीं; जो इसप्रकार पहले से ही समझने का द्वार बन्द रखे तो उसे जन्म-मरण को दूर करने का अमोघ उपाय कहाँ समझ में आसकता है? जैसे कचहरी से अज्ञात किसान वहाँ जाते हुए अनेक शंकायें करके डरता है; इसीप्रकार भ्रम से यह मानकर कि यह बात कठिन है, जीव पहले से ही अंतरंग में अभ्यास करने से इन्कार करता है। यदि कोई यह माने कि समयसार में तो केवली के लिये कहा गया है तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है। यह तो ऐसी बात है कि जो गृहस्थ-दशा में भी सहज होसकती है, अंतरंग में अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ उत्पन्न होसकता है, तथा भव का भय और जन्म-मरण की आशंका दूर होसकती है। सत्‌समागम से यदि अपने स्वभाव की महिमा को एकबार भलीभाँति सुनले तो किसी से पूछने को नहीं जाना पड़े और कृतकृत्य होजाये। किन्तु जो कभी भी परमार्थ के आँगन का अभ्यास करने को न आये तो उसे सत्य अथवा असत्य क्या है—इसे समझने का अवकाश ही नहीं है।

जैसा सर्वज्ञ ने कहा है वैसा ही यथार्थ श्रवण-मनन करके, स्वभाव को पहिचानकर, शुद्धनय के आश्रय से पर्याय के लक्ष्य को गौण

करके यदि स्वभाव के बल से एकाग्र हो तो पूर्ण मुक्त-स्वभाव की अपूर्व श्रद्धा अवश्य होगी। ज्ञानी धर्मात्मा गृहस्थदशा में हो और वहाँ यदि प्रसंग उपस्थित होने पर युद्ध में जाना पड़े तो युद्धक्षेत्र में खड़ा रहकर भी उसके अन्तरंग से यह प्रतीति नहीं हटती कि मैं भिन्न हूँ, मैं किसी पर-प्रवृत्ति का स्वामी नहीं हूँ, विकल्प मात्र का कर्ता नहीं किन्तु साक्षी हूँ, और मुझे किसीप्रकार का राग इष्ट नहीं है।

प्रश्नः—क्या ऐसी प्रतीति निरन्तर रहती होगी?

उत्तरः—हाँ, जैसे यह याद नहीं करना पड़ता कि मैं अग्रवाल या खण्डेलवाल वणिक हूँ, इसीप्रकार मैं स्वतंत्र ज्ञाता हूँ, ध्रुव हूँ, इसप्रकार की प्रतीति दूर नहीं होती। जैसे देह के अभ्यास से, यदि कोई स्वप्न में भी नाम लेकर बुलाये तो तत्काल ही उत्तर देता है। यहाँ एक भव के शरीर का इतना परिचय होजाता है कि उसके नाम को नहीं भूलता, तो जिसे ऐसी यथार्थ प्रतीति होगई है कि मैं पर से भिन्न अनादि-अनन्त ज्ञानस्वभाव वाला हूँ, वह कैसे भूल सकता है?

प्रश्नः—क्या ज्ञानी होकर लड़ाई में जायेगा?

उत्तरः—यदि ज्ञानी मुनि हो तो वह लड़ाई में नहीं जायेगा, क्योंकि उसके राग नहीं है, किन्तु गृहस्थ दशा में कोई राजा धर्मात्मा हो तथापि युद्ध का प्रसंग आने पर और स्वयं वर्तमान अशक्ति से उस युद्ध के राग को न छोड़ सके तो वह युद्ध में भी लग जायेगा। यद्यपि उसे अपनी उस अशक्ति का खेद होता है और आत्मप्रतीति विद्यमान रहती है। उसके युद्ध के समय भी ऐसी भावना होती है कि समस्त राग को तोड़कर, मुनि होकर परिपूर्ण होजाऊँ। यद्यपि वह युद्ध करता हुआ दिखाई देता है तथापि सर्वज्ञ भगवान ने कहा है कि उसके तीव्र तृष्णा नहीं है। मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा उसके अनंता मन्दराग है, अल्प-परिग्रह और अल्प-संसार है; और मिथ्यादृष्टि बाह्य में त्यागी होकर ध्यान में बैठा हो तथापि उसके अंतरंग आशय में तीव्र मूर्च्छारूप राग और अत्यधिक परि-

ग्रह भरा है, इसलिये वह अनंत-संसारी है। यद्यपि वह बाहर से त्यागी दिखाई देता है तथापि उसके अंतरंग में देह की क्रिया और पुण्य-पाप के भाव का स्वामित्व विद्यमान है; वह विकार को सहायक मानता है इसलिये उसने अनंत राग को उपादेय मान रखा है। जबतक दृष्टि राग पर पड़ी हुई है तबतक भले ही उग्र तपस्या करे तथापि भगवान उसे बाल-तप कहते हैं। यह जीव अनन्तबार नवमें ग्रैवेयकतक गया तथापि भव कम नहीं हुआ, तो उसने क्या बाकी रखा होगा यह विचार करना चाहिये।

स्वरूप में पूर्ण स्थित नहीं हुआ उससे पूर्व परमार्थ को पकड़ने और स्थिर होने के लिये दृढ़ता से नवतत्व, नय, प्रमाण और निक्षेप के राग-मिश्रित विचार आये बिना नहीं रहते, किन्तु जब उन्हें छोड़े तभी तो परमार्थ प्रगट होता है। स्वभाव के बल से अनुभव में स्थिर होता है कि विकल्प छूट जाते हैं और राग का आंशिक अभाव होकर निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

जो नय हैं सो प्रमाण (श्रुतज्ञान) के भेद हैं, और निक्षेप ज्ञेय के भेद हैं। ज्ञान के अनुसार निश्चित हुई वस्तु में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के रूप में भेद करके जानने का जो व्यवहार है सो निक्षेप है।

'भगवान' शब्द सुनते ही चार प्रकार से प्रश्न उठता है कि किसी को नाम मात्र 'भगवान' कहकर नाम के व्यवहार मात्र का काम है, या वीतरागरूप से तादृश वीतराग भगवान की प्रतिमा को भगवान कहते हैं, या द्रव्य अर्थात् अल्प समय में ही भगवान होने की सन्मुखता (योग्यता) जिसमें है उसे भगवान कहते हैं, अथवा वर्तमान में जिसके भगवत्ता प्रगट हुई है उसकी बात है।

जैसे पिता की मूर्ति अथवा चित्र देखकर कहा जाता है कि यह मेरे पिताजी हैं और पिता के विरह में अपनी रुचि के अनुसार उनके गुणों को याद करता है; इसीप्रकार यह सर्वज्ञ वीतराग

भगवान ही हैं यों भगवान की स्थापना अपने उत्कृष्ट स्वभाव की पुष्टि के लिये करना सो स्थापना निक्षेप है। जिसे पूर्ण वीतराग होजाने वालों की यथार्थ पहिचान है किन्तु अपनी पूर्णदशा प्रगट नहीं हुई है, उन्हें पूर्ण वीतराग का स्मरण करते-करते पूर्ण निमित्त के प्रति गुण के बहुमान-रूप से भक्ति छलकने लगती है। वीतराग भगवान की प्रतिमा के प्रति एक तो वीतराग के शुभराग नहीं होता और दूसरे अज्ञानी मूढ़ को नहीं होता; किन्तु जिसे यथार्थ सत्यस्वभाव की रुचि होगई है उसे संसार की ओर का अशुभराग बदलकर वीतरागता के स्मरण का शुभराग हुए बिना नहीं रहता, ऐसा त्रिकाल नियम है। ऐसी वस्तुस्थिति बीच की दशा में होती है ऐसा जो नहीं जानता उसे व्यवहारशुद्धि के प्रकारों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान नहीं है; अर्थात् अपने परिणाम सुधारते हुऐ बीच में शुभराग में क्या निमित्त होता है इसकी खबर नहीं होती और इसप्रकार वह अज्ञानभाव से सत् का अनादर किया करता है।

देव, गुरु, शास्त्र, नवतत्त्व तथा अपूर्ण-ज्ञान में इन्द्रियाँ इत्यादि निमित्त हैं, उसे ज्ञान बराबर जानता है; उपादान-निमित्त की स्वतंत्रता को यथा-वत् जानता है; वह यह नहीं मानता कि निमित्त से काम होता है या किसी की सहायता आवश्यक है। निमित्ताधीन दृष्टि वाले तो इसप्रकार निमित्त पर भार देते हैं कि जब निमित्त मिलता है तब काम होता है। उन्हें यह खबर नहीं होती कि स्वतंत्र स्वभाव में पूर्ण शक्ति है।

अरूपी वस्तु रूपी पदार्थ में कोई प्रेरणा नहीं कर सकती और परवस्तु आत्मा में कोई असर नहीं कर सकती; क्योंकि प्रत्येक वस्तु पर से भिन्न और स्वतंत्र है। जो इतना नहीं मानता वह दो तत्त्वों को पृथक् नहीं मानता।

नाम, स्थापना और द्रव्य यह तीनों निक्षेप द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं; भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है। नाम और स्थापना दोनों निक्षेप निमित्त को संज्ञा से तथा आकार की स्थापना से पहिचानने के व्यवहार के लिये प्रयोजनवान हैं यदि द्रव्य-निक्षेप अपने में घटाये तो

वह स्वरूप सन्मुखतारूप होने से वर्तमान भाव निक्षेप का उपादान कारण है। भाव निक्षेप उसका वर्तमान प्रगट फल है।

नाम निक्षेपः—लोक-व्यवहार में वस्तु को पहिचानने के लिये नाम की संज्ञा दीजाती है। उसमें किसी गुण, जाति या क्रिया का सम्बन्ध होने की आवश्यक्ता नहीं होती, मात्र नाम से काम होता है। लोक में महावीर, चतुर्भुज, सदासुख इत्यादि अनेक प्रकार के जैसे चाहे नाम चाहे जिस व्यक्ति के रख लिये जाते हैं, उनका गुण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। यदि इसे समझले तो नाम का झगड़ा न रहे। किसी का नाम धर्मविजय हो और वह घोर पापी हो तो उसका वह नाम बदल नहीं दिया जाता।

स्थापना निक्षेपः—'यह वह है' इसप्रकार अन्य वस्तु का प्रतिनिधित्व स्थापित करना (प्रतिमारूप स्थापित करना) सो स्थापना निक्षेप है। जो वीतराग स्वभाव की शक्ति को देखता है वह भगवान की मूर्ति में उसके परिचयपूर्वक बहुमान स्थापित करता है। दृष्टि के विकसित होने के बाद 'सर्व जीव हैं सिद्धसम' इसप्रकार अपनी गुणदृष्टि का विकास करके, सभी आत्माओं में सिद्धत्व स्थापित करता है।

स्थापना निक्षेप में समझने योग्य बात है। सत्य में पक्ष नहीं है। योग्य जीव वीतराग की मूर्ति को देखकर उसे अक्रिय पूर्णपवित्र शांत ज्ञानघन स्वभाव का स्मरण करने में निमित्त बनाते हैं। अपनी पहिचान के पूर्ण साध्यभाव की स्थापना गुण की रुचि के लिये करते हैं। यह वही वीतराग परमात्मा हैं, साक्षात् भगवान विराज रहे हैं, इसप्रकार वह स्मरण करता है जिसने अपने परमार्थ का निर्णय कर रखा है। मेरा ऐसा पूर्णस्वभाव शक्तिरूप से है, इसप्रकार स्वानुभव सहित पूर्ण की महिमा वर्तती है। जहाँतक पूर्ण नहीं होता वहाँतक राग रहता है, इसलिये संसार सम्बन्धी राग को बदलकर वीतरागमुद्रा—जिनप्रतिमा में अपने भाव की स्थापना करता है। जिसे वीतराग की

यथार्थ श्रद्धा हो गई है उसे वीतराग की प्रतिमा पर परमात्मापन की स्थापना करने का भक्ति-भाव तरंगित हुए बिना नहीं रहता ।

"जिन प्रतिमा जिन सारखी, भाखी आगम माँहि"

अपना साधकभाव अपूर्ण है इसलिये पूर्ण साध्यभाव का बहुमान उछालकर उसमें पूर्ण निर्मलभाव की स्थापना की है, और उसका आरोप शांत वीतराग की मूर्ति पर करता है। जिसे पूर्ण की पहिचान है वह गुणों के स्मरण के लिये भक्ति-भाव को छलकाता है। निमित्त के लिये गुण नहीं किन्तु गुण के लिये निमित्त है । उसमें जो राग रह गया है सो वह गुणकारी नहीं है किन्तु भीतर जो वीतराग स्वभाव की रुचि का झुकाव है सो गुणकर है । भक्ति के बहाने अपनी रुचि में एकाग्रता बढ़ाता है। भक्ति-स्तुति में राग का भाग रहता है, किन्तु राग मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो राग का नाशक हूँ । राग सहायक नहीं किन्तु पूर्ण वीतराग स्वभाव की रुचि सहायक है; इसप्रकार के स्वभाव का जिसे निर्णय नहीं है वह भगवान के पास जाकर क्या स्मरण करेगा ? किसकी पूजा-भक्ति करेगा ? वह तो राग की ही पूजा-भक्ति करेगा ।

सर्वज्ञ भगवान पूर्ण वीतराग ज्ञानानंद से परिपूर्ण हैं । वे यहाँ नहीं आते। अपूर्ण भूमिका में साधक को अनेकप्रकार का राग रहता है, इसलिये राग के निमित्त का अवलम्बन भी अनेक प्रकार से होता है । किसी के शास्त्र-स्वाध्याय की मुख्यता होती है, किसी के वीत-राग की पूजा-भक्ति होती है, तो किसी के ध्यान, संयम इत्यादि की मुख्यता होती है । ऐसी स्थिति साधकदशा में होती है, इसप्रकार जो नहीं जानता उसे यह ज्ञात नहीं होता कि निम्नभूमिका में शुभराग के कौन से निमित्त होते हैं; और इसलिये ज्ञान में भूल होती है । सम्यक्ज्ञान चौथे गुणस्थान से ही होता है तथापि पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई है इसलिये उसे पूर्ण वीतरागी का बहुमान रहता है, और

शुभराग में वीतराग की प्रतिमा के देखने पर गुण का आरोप आजाता है। जैसे अपने पिता के चित्र पर प्रेम उत्पन्न होता है उसीप्रकार धर्मात्मा को पूर्ण वीतराग की मूर्ति देखकर उस ओर भक्ति छलकने लगती है, ऐसी त्रिकाल स्थिति है। भक्ति इत्यादि का शुभराग भी गुणकारी नहीं है, किन्तु अकषायी स्वभाव की रुचि के बल से राग को दूर करके गुण की रुचि में जितना स्थिर होता है उतना निराकुल-भाव गुण करता है, इसप्रकार अंतरंग गुण की दृष्टि में प्रतीति होती है।

प्रश्नः—जबकि राग हानिकारक ही है तो फिर ज्ञानी पुरुष राग में युक्त क्यों होता है?

उत्तर:—जैसे किसी को सौ रुपया दंड में देना हो तो वह उसकी जगह किसी भी प्रकार से पाँच रुपया दंड देकर पँचानवे रुपया बचाना चाहता है और उसका अभिप्राय यह रहता है कि एक पैसा दंड में न देना पड़े, इसीप्रकार धर्मात्मा जीव के पूर्ण वीतरागता की ही स्वीकृति होती है। वह जानता है कि अंशमात्र भी राग मेरा स्वरूप नहीं है, किसीप्रकार का राग करने योग्य नहीं है, तथापि अशक्ति है इसलिये अशुभ से बचने के लिये शुभ आलम्बन में अर्थात् व्रत, तप, संयम, भक्ति के शुभभाव में हेयबुद्धि से आना पड़ता है, किन्तु उस राग पर भार नहीं है, हितबुद्धि नहीं है। दृष्टि गुण पर पड़ी है इसलिये राग की आकुलता का निषेध पाया जाता है। इसप्रकार शुद्धदृष्टि के होने पर भी उसरूप से पूरा स्थिर नहीं होसकता वहाँ राग रहता है, और राग में भी निमित्त होता ही है, इसलिये वहाँ वीतराग भगवान की मूर्ति का शुभ अवलम्बन आये बिना नहीं रहता। जिसे पूर्ण वीतरागता की रुचि है उसे परिपूर्ण निमित्त अर्थात् वीतराग की मूर्ति देखते ही इसप्रकार बहुमान उत्पन्न होता है कि यह वही है, और तब भक्ति का शुभराग आये बिना नहीं रहता।

"कहत बनारसी अलप भवथिति जाकी,
सोई जिन प्रतिमा प्रवांनै जिन सारखी ॥"

(समयसार नाटक अधिकार १३)

जिसके अंतरंग निर्मल ज्ञान में जिनेन्द्र भगवान के न्याय का प्रवेश है वह जीव संसार-सागर को पार करके किनारे पर आगया है। वीतरागदृष्टि में भव का अभाव है। वैसा सुयोग्य जीव जिन प्रतिमा में शाश्वत् जिनेन्द्र परमात्मा का आरोपण करता है, उसका नाम स्थापना-निक्षेप है। उसमें वास्तव में सत् का बहुमान है। जो भगवान होचुके हैं उन्हें पहिचानकर भगवान का सेवक पुरुषार्थ के द्वारा अपनी हीनता को मिटाकर भगवान होजाता है। परमात्मा को पहिचानने वाला परमार्थ से परमात्मा से अपूर्ण नहीं होता। उस व्यवस्थित पूर्ण गुण को बढ़ाकर उसमें उत्साह लाकर, पूर्ण पवित्र स्वभाव का स्मरण करके बहुमान के द्वारा इष्ट-निमित्त (प्रतिमा) में साक्षात् परमात्मपन का आरोप करता है। व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि वह निमित्त का बहुमान करता है किन्तु अपनी अपूर्ण अवस्था को गौण करके अपने आत्मा में पूर्ण परमात्मदशा की स्थापना करता है। कोई जीव वास्तव में परद्रव्य की भक्ति नहीं करता। धनवान को पहिचानकर, धनवान की प्रशंसा करने वाला उस व्यक्ति के गुण नहीं गाता, किन्तु अपने को लक्ष्मी की रुचि है इसलिये उस रुचि की प्रशंसा लक्ष्मी के राग के लिये करता है। दृष्टान्त एक देशीय होता है। पुण्य हो तो लक्ष्मी मिलती है किन्तु यहाँ पवित्रता का लाभ अवश्य होता है।

परमार्थ से आत्मा निरावलम्बी असंयोगी है। निमित्ताधीन किसी के गुण नहीं होता, ऐसे स्वाधीन स्वरूप को स्वीकार करके, धर्मात्मा अपने शुद्ध उपयोग में नहीं टिक सकता तब तीव्र कषाय में से बचने के लिये सत् निमित्त का बहुमान करता है; उसमें जो राग का अंश है सो उसका निषेध होता है। जिसे वीतराग का राग होता है उसे राग

का राग नहीं होता। वीतराग पर भार देने पर यह वीतरागता सदा बनी रहे ऐसी पूर्णता की रुचि का पुरुषार्थ झलक उठता है।

अपने ज्ञान की स्वच्छता में सन्मुख निमित्त वीतराग की प्रतिमा दिखाई देती है, किन्तु धर्मात्मा परद्रव्य को न देखकर उस निमित्त सम्बन्धी अपने ज्ञान को देखता है, ज्ञान की परिणतिरूप क्रिया करता है। अनंत पूर्ण स्वभाव को लक्ष्य में लेकर गुण का बहुमान करता है। आन्तरिक प्रतीति में पूर्ण वीतरागता की भावना प्रबल बनी रहती है, वह भाव अनंत-संसार का नाश करने वाला सच्चा पुरुषार्थ है। प्रतिमा के समक्ष भक्ति के समय जिनस्तुति में निमित्तरूप द्रव्यवचन खिरते हैं वे परमाणु की जसी योग्यता होती है तदनुसार खिरते हैं, इसप्रकार ज्ञाता जानता है। मैं उसका कर्ता नहीं हूँ, मैं तो सदा अरूपी ज्ञाता साक्षी हूँ, शब्दादिक विषयों से भिन्न अरागी, अखण्ड ज्ञायक हूँ, निरावलम्बी हूँ, देव-गुरु-धर्म भी पूर्ण पवित्र वीतरागी हैं, इसप्रकार परिचय का बहुमान जिसे हुआ है उसे सच्चे निमित्त का भी बहुमान होगा ही, क्योंकि वह वास्तव में अपनी अकषाय रुचि का बहुमान है। जहाँ पवित्र वीतराग धर्म की रुचि होती है वहाँ संसार के अप्रशस्त राग की दिशा इसप्रकार बदलती है। जो अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यादर्शन शल्य में फँसा हुआ है उसे सच्चे निमित्त का वास्तविक बहुमान अथवा भक्ति जागृत नहीं होती।

वीतराग की रुचि वाला वीतराग की विशेष दो प्रकार से करता है। (१) विकल्प दशा में हो तब शुद्ध के लक्ष्य से युक्त राग को तोड़ने का पुरुषार्थ करता है, किन्तु उसमें अपनी अशक्ति से जो राग रह जाता है वह शुभभाव है और उसमें शुभ-निमित्त होता ही है। इसप्रकार वह व्यवहार धर्म की भक्ति और प्रभावना अपने लिये करता है। (२) निर्विकल्प स्वरूपस्थिरता के समय अभेद एकाकार वीतरागभाव की दृढ़ता की जमावट करता है सो निश्चय प्रभावना है। गुण से गुण विकसित होता है, निमित्त से नहीं। निमित्त की उपस्थिति मात्र होती है।

जब गुण प्रगट होता है तब निमित्त को उपकारी कहा जाता है यह लोकोत्तर विनय है। व्यवहार से यह कहा जाता है कि निमित्त उपकारी है, किन्तु निश्चय से तो अपना उपादान ही स्वयं अपना उपकार करता है।

वीतराग की मूर्ति अस्त्र, वस्त्र, माला, अलंकार और परिग्रह इन पाँच दोषों से रहित होती है। वह नग्न सुंदर शांत गम्भीर और पवित्र वीतराग का ही ध्यान दिलाती है। जो तदाकार वीतराग भगवान का प्रतिनिधित्व व्यक्त करती है वही प्रतिमा निर्दोष वीतराग की (जिनमुद्रा-वाली) प्रतिमा कहलाती है।

माया मिथ्या और निदान-इन तीनों शल्यों से रहित पवित्र वीतराग स्वरूप की जिसे रुचि है और जिसे राग-द्वेष अज्ञान रहित केवल वीत-राग स्वभाव के प्रति ही प्रेम है उसे सर्वोत्कृष्ट, पवित्र निमित्त परम उपकारी निर्दोष देव गुरु धर्म के प्रति तथा धर्मात्मा के प्रति अमुक भूमिका तक धर्मानुराग रहता है। छट्ठे गुणस्थान तक वीतराग का राग रहता है।

जिसे दृष्टि में राग हेय होता है उसे वीताराग की रुचि होती है। जहाँ यह प्रतीति है कि जो राग है सो मैं नहीं हूँ, वहाँ वीतराग की भक्ति आदि का शुभराग होता है, किन्तु वह राग को बन्धन मानता है। जिसके राग का निषेध विद्यमान है ऐसे जीव के अकषायपन के लक्ष्य से राग का ह्रास और शुद्धता की वृद्धि होती है। स्वभाव के बल से जितना राग दूर होता है उतना वह गुण मानता है और शेष को हेय मानता है।

मैं स्वाधीन स्वरूप से पूर्णानन्द अभेद वीतराग हूँ, इसप्रकार सत् की रुचि को बढ़ाकर वीतराग की प्रतिमा को निमित्त बनाकर, परमात्मा का स्वरूप सम्हालकर, पूर्ण वीतरागभाव की अपने ज्ञान में स्थापना करता है और प्रगट गुण के द्वारा पूर्ण का आदर करता है;, यह वीतराग

भगवान की अपने में स्थापना है इसप्रकार स्थापना निक्षेप है, यों सर्वज्ञ देव ने कहा है।

द्रव्य निक्षेपः—वस्तु में जो अवस्था वर्तमान में प्रगट विद्यमान नहीं है किन्तु उसमें योग्यता को देखकर भूतकाल में हुई अथवा भविष्यकाल में होने वाली अवस्था की दृष्टि से उसे वर्तमान में कहना सो द्रव्य निक्षेप है। जैसे राजपुत्र में राजा होने की योग्यता को देखकर उसे वर्तमान में भी राजा के रूप में पहिचानना अथवा जो इसी भव से मोक्ष जाने वाले हैं उन्हें वर्तमान में ही मुक्त कहना। जो अभी तेरहवें गुणस्थान में नहीं पहुँचे हैं (प्रगटरूप से तीर्थंकर नहीं हैं) उन्हें इन्द्र और देव इत्यादि जन्मकल्याणक के समय तीर्थंकर मानकर जन्मोत्सव मनाते हैं; यह भावी द्रव्य निक्षेप कहलाता है। आगामी चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर होने वाला श्रेणिक महाराजा का जीव वर्तमान में पहले नरक में है, तथापि उसे वर्तमान में तीर्थंकर कहना सो भावी द्रव्य निक्षेप है, और उसे मगधदेश के राजा के रूप में पहिचानना सो भूत द्रव्य निक्षेप है, क्योंकि दोनों प्रकार का भाव वर्तमान में प्रगट नहीं है, किन्तु शक्ति-रूप योग्यता है इसलिये उसका वर्तमान में आरोप करके उसरूप से पहिचानने का व्यवहार है।

श्रेणिक महाराजा का जीव आगामी चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर होगा। जैसे वर्तमान चौबीसी में अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर थे लगभग वैसी ही स्थिति उस समय प्रथम तीर्थंकर की होगी। वे अभी प्रथम नरक-क्षेत्र में चौरासी हजार वर्ष की आयु को भोग रहे हैं। उन्होंने एक महामुनि की अविनय की थी, उनके गले में मरा हुआ साँप डाल दिया था इसलिये चींटियों ने चढ़कर मुनिराज के शरीर को खा डाला था। इसप्रकार श्रेणिक राजा ने वीतरागी साधक धर्म का अनादर किया था, इस तीव्र कषाय का फल नरकक्षेत्र के रूप में प्राप्त हुआ, इसलिये वहाँ की आयु का बंध हुआ। यद्यपि उस क्षेत्र में तीव्र प्रतिकूलताओं का संयोग है तथापि वह क्षायिक सम्यक्त्वी हैं इसलिये वहाँ भी आत्मा की

शांति को भोगते हैं। जो त्रिकषाय जितना राग है सो अपनी अशक्ति मात्र का दुःख है, संयोगजन्य दुःख नहीं है। वहाँ की आयु पूर्ण होने से छह महीने पूर्व नई आयु का बंध होगा, तब भविष्य में होने वाले तीर्थंकर की माता के पास इन्द्र आकर नमन करके रत्नों की वर्षा करेंगे और जब वह नरकायु को पूर्ण करके माता के गर्भ में आयेंगे तब इन्द्र माता की स्तुति करके महा महोत्सव करेंगे; फिर जन्म के समय इन्द्रगण चरणों की सेवा करेंगे और जैसे वर्तमान में साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा हैं उसीप्रकार भक्ति के द्वारा वीतरागता का बहुमान करेंगे। इन्द्र स्वयं सम्यक्दृष्टि है, उसे पूर्ण वीतरागता की रुचि है, उसे निकट लाने के लिये वर्तमान में वीतरागता का आरोप करके भक्ति करता है।

प्रश्नः—नरक में पाप और दुःख का संयोग है वहाँ आत्मा की शांति कहाँ से लायेगा ?

उत्तरः—अनेक बार न्याय से कहा जाता है कि संयोग के कारण सुख-दुःख और पुण्य-पाप नहीं होते; धर्म भी संयोग के कारण नहीं होता। अपने भावानुसार निमित्त-संयोग में आरोप करके कहने का व्यवहार है। पर-संयोग से किसी को दुःख नहीं होता; किन्तु जीव मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ और परवस्तु या जीव मेरा सुधार या बिगाड़ कर सकता है, ऐसी मान्यता ही राग-द्वेषरूप दुःख की खान है; पर में अपनापन मानकर उसमें अच्छे-बुरे की आकुलता में लगना सो यही दुःख है। तीव्र पाप का फलरूप जो नरकक्षेत्र है सो संयोग है, तथापि जीव सातवें नरक में भी अपूर्व आत्मप्रतीति प्राप्त करके आंशिक शांति पा सकता है। अंतरंग में शक्तिरूप से पूर्ण शुद्ध है, वह उसमें स्थिर होने की रीति को बराबर जानता है किन्तु पुरुषार्थ की अशक्ति से जितना राग करता है उतना दुःख होता है। नरक में भी सम्यक्दृष्टि को अमुक स्थिरता का आनन्द होता है।

कोई महापाप करके नरक में जाता है तो उसे वहाँ जाति-स्मरण ज्ञान होता है अथवा उसकी पात्रता के कारण पूर्व भव का मित्र कोई धर्मात्मा देव उसे समझाने आता है अथवा मात्र दारुण दुःख की वेदना के समय भीतर विचार में लीन होने पर पूर्वकृत सत्समागम याद आता है कि अहो ! मैंने ज्ञानी के निकट आत्मकल्याण की यथार्थ बात सुनी थी किन्तु तब उसकी दरकार नहीं की थी। सत्य बात का अंशतः स्वीकार किया किन्तु परिपूर्णरूप से अंतरंग में उस सत् की रुचि नहीं की थी; इसलिये तीव्र पाप में फँस गया, जिसका यह फल है। इस-प्रकार विचार करने पर किंचित् विकल्प छूटकर, अंतरंग में एकाग्र होने पर नवीन सम्यक्दर्शन प्राप्त करता है। सातवें नरक में भी ऐसी यथार्थ प्रतीति होती है ।

श्रेणिक राजा वर्तमान में पहले नरक में हैं, किन्तु वहाँ उन्हें क्षायिक सम्यक्दर्शन है जोकि कभी नहीं छूट सकता। पुरुषार्थ से यद्यपि बहुत कुछ कषाय को नष्ट कर दिया है तथापि वहाँ चौथा गुणस्थान है, और जो शेष कषाय है सो अपने पुरुषार्थ की कमी है। श्रेणिक राजा को वर्तमान में द्रव्य निक्षेप से तीर्थंकर कहा जाता है। अष्टा-पद पर्वत पर भरत महाराज ने तीन चौबीसी के तीर्थंकरों के रत्नमय जिनबिंब बनवाकर उनकी वंदना की थी, उसमें आगामी चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर होनेवाले श्रेणिक भगवान के जीव की भी स्थापना का समावेश था ।

निमित्त में अखण्ड वीतरागता को स्वीकार करनेवाला उपादान में स्वयं अखण्ड है, इसलिये वीतराग को निकट लाना चाहता है। वहाँ शुभराग से निमित्त को याद करके द्रव्य निक्षेप से वंदना करता है। मध्यस्थ होकर धीरज से समझने योग्य यह बात है। बहुत से जीव निक्षेप को नहीं समझते इसलिये अपनी कल्पना से गड़बड़ कर देते हैं। स्थापनानिक्षेप में त्रिकाल में जो वीतराग की मूर्ति है उसे भाव में मान लेता है, निमित्त को और शुभराग को एक मानता है; शुभराग को

आत्मा के लिये सहायक मानता है, जोकि त्रिकाल मिथ्या है। विकार-रूप कारण को अधिक सेवन करूँ तो अधिक गुण-लाभ होगा, इस-प्रकार वह विष को अमृतरूप से मानता-मनवाता है।

जन्म-मरण की उपाधि को नाश करनेवाला सर्वप्रथम उपाय सम्यक्ज्ञान है। जिसे जिसकी आवश्यक्ता प्रतीत होती है उसमें उसका पुरुषार्थ हुए विना नहीं रहता। वस्तु की कीमत होने पर उसकी महिमा आये विना नहीं रहती और परिपूर्ण स्वतंत्र सत् को बताने वाले निमित्त ऐसे पूर्ण वीतराग ही होते हैं, इसप्रकार स्वीकार करने वाले अपने भाव में पूर्ण की महिमा गाये विना नहीं रहते। जैसे पूर्ण वीतराग सिद्ध परमात्मा हैं वैसा ही मैं हूँ, इसप्रकार पूर्णता का यथार्थ आदर होने पर संसार-पक्ष में तुच्छता ज्ञात हुऐ विना नहीं रहती। देहादिक अनित्य संयोग में, पुण्य-पाप, प्रतिष्ठा, पैसा इत्यादि में जो शोभा मानता था, पर में अच्छा-बुरा मानता था वह भूल थी; यह जानकर स्वभाव की महिमा लाकर पर की ओर की रुचि को दूर करके पुण्यादिक संयोग को सड़े हुए तृण के समान मानता है, और पुण्य की मिठास छूट जाती है। जो बाह्य संयोगों का अभिमान करता था, शुभाशुभ का स्वामी बनता था, पुण्य, देह और इन्द्रियों में सुख मानता था उसमें तुच्छता और मात्र वीतरागी पूर्ण स्वभाव की महिमा होने पर दृष्टि में उसी क्षण, पर का आदर छूटकर सम्पूर्ण संसार-पक्ष के त्याग का अनुभव होता है। अर्थात् पर में कर्तृत्व, भोक्तृत्व से रहित पृथक् अविकारी ज्ञायक ही हूँ ऐसा अनुभव साक्षात् प्रगट होता है।

पुण्य-पाप की प्रवृत्ति मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो उसका नाशक हूँ, ऐसा जानने पर भी उसी समय जीव सम्पूर्ण राग को दूर नहीं कर सकता। श्रद्धा में परवस्तु के राग का त्याग किया, पर में कर्तृत्व का त्याग किया तथापि वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति से पुण्य-पाप में लग जाता है और अशुभ से बचने के लिये शुद्धता के लक्ष्य को स्थिर करके व्रत संयमादि शुभभाव में युक्त होता है; किन्तु रुचि में कोई राग

का आदर नहीं है। जिस भाव से इन्द्रपद मिलता है, तीर्थंकर नामकर्म बँधता है वह पुण्यभाव भी विकार है। विकारी भाव और उसका फल संयोगी नाशवान वस्तु है, उसका जिसे आदर है उसे अविकारी नित्य-स्वभाव का आदर नहीं है, क्योंकि पुण्य के संयोग भी फूटे हुए काँच के समान हैं वे आत्मा के साथ रहने वाले नहीं हैं।

प्रभु! यह तेरी महत्ता के गीत गाये जारहे हैं। तुझे अनादिकाल से परपदार्थ की ही धुन लगी है कि पर मेरा भला कर सकता है। वीतराग भगवान कहते हैं कि तेरी अनंत शक्ति तेरे लिये स्वतंत्र है। पराधीन होकर मानता है कि मैं किसी को देदूँ, कोई मुझे सहायता करे, किन्तु यह तेरी मान्यता की भूल है। तीनकाल और तीनलोक में किसी का स्वरूप पराधीन नहीं है। तू जागकर देख! अब विपरीतता से बस कर! अब भव नहीं चाहिये, तेरी मुक्तदशा की प्रभुता कैसे प्रगट हो, इसकी यह कथा चल रही है। जैसे बालक को सुलाने के लिये उसकी माता प्रशंसा के गीत गाती है इसीप्रकार यहाँ जागृत करने के लिये सच्चे गीत गाये जारहे हैं। 'शोर हुए रजपूत छुपे नहिं;' जब युद्ध का नगारा बजता है तब क्षत्रिय का शौर्य उछलने लगता है ऐसी योग्यता उसमें होती है, इसीप्रकार मुक्त होने का नाद सुनकर उत्साहित होकर हाँ कह कि अहो! मेरे बड़प्पन के गीत अपार हैं मैं वर्तमान में पूर्ण भगवान हूँ, मुक्त हूँ। तुझमें भगवान होने की शक्ति है, उस शक्ति के बल से अनंत भगवान हो चुके हैं। जो शक्ति तीर्थंकर प्रभु ने प्रगट की है उसे तू भी प्रगट कर सकता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पूर्व क्रमशः पाप भाव को दूर करके नवतत्त्व, नय, प्रमाण और निक्षेप के शुभ व्यवहार में आने के बाद वह राग मैं नहीं हूँ, इसप्रकार स्वभाव के लक्ष्य से श्रद्धा में राग का अभाव करके अप्रगट वीतरागी स्वभाव की प्रतीति करनी चाहिये। सत् की अविरोधी बात को सुनकर, यथार्थ हाँ कहकर सत् का आदर किया सो वह भी भविष्य का सम्यक्त्वी है। वह वीतराग भगवान होने वाला है।

इसप्रकार जिसने सत् की यथार्थ जिज्ञासा की है उसे वर्तमान सम्यक्दर्शन न होनेपर भी सम्यक्दृष्टि कहना अथवा वीतराग होने की योग्यता वाले जीव को देखकर, वह वर्तमान में वीतराग नहीं है तथापि वर्तमान में वीतराग है इसप्रकार द्रव्य निक्षेप से कहने का व्यवहार है।

भाव निक्षेपः—वर्तमान पर्याय से वस्तु को वर्तमान में कहना सो भाव निक्षेप है। जैसे राज्यासन पर राजा बैठा हो तथा उसकी आज्ञा चलती हो तभी उसे राजा कहना, सो भाव निक्षेप है।

इन चारों निक्षेपों का अपने-अपने लक्षण भेद से अनुभव करने पर वे भूतार्थ हैं। व्यवहार से सत्यार्थ हैं और भिन्न लक्षण से रहित एक अपने चैतन्य लक्षणरूप जीव स्वभाव का अनुभव करने पर यह चारों अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। जैसे सच्चे मोती का हार खरीदते समय मोती, धागा और सम्पूर्ण हार को भलीभाँति देखा जाता है, किन्तु कीमत लगाकर खरीद लेने के बाद पहिनते समय उसका विचार नहीं किया जाता; किन्तु सारा हार पहिनने की शोभा के आनन्द का अखण्ड अनुभव करता है। इसीप्रकार नवतत्व, नय, निक्षेप और प्रमाण के द्वारा पहले तत्व-निर्णय करने के लिये रागमिश्रित विचार में लग जाता है; तत्पश्चात् उस भेद से अलग होकर एकरूप अविकारी जीवस्वभाव का अनुभव करने पर परम संतोष होता है; उसमें विकल्प के कोई भेद नहीं होते। इस अनुभव के समय जो सूक्ष्म अव्यक्त विकल्प है सो केवलीगम्य है। निज को उस समय ध्यान नहीं होता। ऐसा अपूर्व सम्यक्दर्शन गृहस्थ दशा में भी हो सकता है।

संसार में जिसप्रकार पुण्य होता है वैसा ही वक्ता की वाणी का निमित्त बन जाता है। तेरहवीं गाथा अत्यन्त विस्तार पूर्वक कही गई है, उसमें बहुत सी बातें और उसके रहस्य अत्यधिक स्पष्टता पूर्वक और विस्तार से कहे गये हैं। उसका विशेष अभ्यास करके अंतरंग की परिणति से मेल बिठाना चाहिये और परमतत्व का लाभ प्राप्त करना चाहिये।

अपने में यथार्थता की महिमा का अभ्यास किया जाये तो स्वयं बहुत सा लाभ प्राप्त कर सकता है। शास्त्र और वाणी तो निमित्त मात्र हैं।

तत्वज्ञान का न्याय अनेक दृष्टियों से कहा गया है। यदि उसे ध्यान पूर्वक सुने तो एक घंटे की शुभ सामायिक के बराबर लाभ प्राप्त हो, और उससे ऐसे पुण्य का बंध हो कि जिससे ऐसा तत्वज्ञान पुनः सुनने को मिले; किन्तु यथार्थ निर्णय करने में वर्तमान में अपूर्व नवीन पुरुषार्थ करना चाहिये। पुण्य क्षणिक संयोग मिलाकर छूट जाता है। प्रचुर पुण्य के बिना उत्तम धर्म की वाणी का निमित्त नहीं मिलता, किन्तु वर्तमान पुरुषार्थ से तत्व का अभ्यास करके अपूर्व निर्णय न करे तो मात्र शुभभाव होता है, किन्तु भव कम नहीं होता।

भावार्थः—प्रमाण, नय और निक्षेप का विस्तृत कथन तद्विषयक ग्रंथों में से जानना चाहिये, (तत्त्वार्थ-सूत्र व्यवहार का ग्रन्थ है, उसकी विस्तृत टीकायें सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिक के नाम से सुविख्यात हैं। सर्वार्थसिद्धि टीका में प्रत्येक सूत्र के शब्दों के प्रत्येक अर्थ की अविरोधरूप से सिद्धि की है) उनसे द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप वस्तु की सिद्धि होती है। वे साधक अवस्था में तो सत्यार्थ ही हैं क्योंकि वे ज्ञान के ही विशेष हैं। उनके बिना-सर्वज्ञ के न्यायानुसार यथार्थ समझ के बिना अपनी कल्पना से वस्तु को चाहे जैसा मानले तो विरोध बना रहेगा। अज्ञान कोई बचाव नहीं है। इसलिये यह जानना आवश्यक है कि त्रिकाल द्रव्यस्वभाव क्या है, वर्तमान अवस्था क्या है और निश्चय-व्यवहार ग्रन्थ की अविरोधता क्या है। यथार्थ वस्तु को जानने के बाद भी जबतक वीतराग नहीं हुआ तबतक अस्थिरता के राग को दूर करने के लिये उसका अवलंबन होता है, उसमें ज्ञान की विशेष निर्मलता करने के लिये शास्त्रज्ञान के सूक्ष्म न्यायों को अनेक दृष्टियों से जानना चाहिये।

जैसे हीरे का व्यापार सीखना हो तो पहले उसका परीक्षक बनना होता है, और फिर उसके विशेष अभ्यास से तत्सम्बन्धी

विविध कलायें विकसित होती हैं; इसीप्रकार जैसा सर्वज्ञ वीतराग ने साक्षात् ज्ञान से जानकर कहा है और जो त्रिकाल में भी परिवर्तित न होने वाला परम सत्य है उसका बराबर अभ्यास करके जाने और अंतरंग में उसका मेल बिठाये तो पूर्ण स्वभाव की यथार्थ महिमा को पाकर आंतरिक समृद्धि को भलीभाँति जानले। पश्चात् शास्त्रज्ञान की सूक्ष्मता में गहरा उतरे तो वहाँ केवलज्ञान की पहुँच का आनंद पाता है। समयसार के प्रत्येक पृष्ठ में केवलज्ञान की कला विकसित होती हुई दिखाई देती है। वैसी पात्रता सभी में भरी हुई है। यदि तत्पर हो तो वस्तु की प्राप्ति दूर नहीं है।

यदि आत्मा को जानने का प्रयत्न न करे तो वह कहीं यों ही नहीं मिल जाता। वह किसी के आशीर्वाद से भी प्रगट नहीं होसकता। जिसकी पवित्र स्वरूप के आँगन में आने की तैयारी नहीं है वह यदि पुण्यबंध करे तो भी वह पापानुबंधी पुण्य होता है। संसार के प्रति, और देहादिक परपदार्थों के प्रति तीव्र प्रेम रखता है और दूसरी ओर यह कहता है कि मुझे परमार्थ स्वरूप पवित्र आत्मा के प्रति प्रेम है, सो यह निरा कपट है।

अवस्थानुसार व्यवहार के अभाव की तीन रीतियाँ हैं सो कहते हैं।

प्रथम अवस्था में सम्यक्दर्शन से पूर्व नय-प्रमाणादि से यथार्थ वस्तु को जानकर सम्यक्दर्शन-ज्ञान की सिद्धि करना चाहिये। पहले व्यवहार से, पर से विकार से पृथक् हूँ ऐसा माना। शास्त्र में जो भेद कहे हैं सो सर्वथा न हों ऐसी बात नहीं है, किन्तु उन भेदों के विकल्पों का श्रद्धा में अभाव करके, विकल्प मेरा स्वरूप नहीं है इसप्रकार एकरूप ध्रुवस्वभाव के लक्ष्य से अवस्था का लक्ष्य गौण करके, स्वभाव में एकाग्र होनेपर निर्विकल्प आनन्द के अनुभवपूर्वक त्रिकाल एक यथार्थ स्वरूप की प्रतीति आत्मा में होती है जोकि चौथी भूमिकारूप सम्यक्दर्शन है। ज्ञान-श्रद्धान के सिद्ध होने के बाद स्वतंत्र स्वरूप का निर्णय करने के लिये नय-प्रमाणादि के अवलम्बन की कोई आवश्यक्ता नहीं होती।

ज्ञानी गृहस्थ दशा में राजा के रूप में हो और अनेक प्रवृत्तियों में लगा हुआ दिखाई दे सो वह चारित्र सम्बन्धी अपनी अशक्ति का दोष है। सम्यक्दर्शन हुआ इसलिये तत्काल ही सब मुनि होजायें ऐसी बात नहीं है। सम्यक्दर्शन के बाद उसकी निम्न भूमिका का व्यवहार छूट गया है, किन्तु चौथे गुणस्थान के बाद जबतक यथाख्यात चारित्रदशा प्रगट नहीं होती तबतक व्यवहार की दूसरी भूमिका में चौथे, पाँचवें और छट्ठेगुणस्थान में बुद्धिपूर्वक विकल्प में योग रहता है, वहाँ जो राग-रूप व्यवहार है सो उसका क्रमशः स्वभाव की स्थिरता की शक्ति के अनुसार अभाव होजाता है। चौथी भूमिका से श्रद्धा के लिये नय-प्रमाण से शास्त्रज्ञान का विचार नहीं रहता, किन्तु राग को दूर करने और ज्ञान की विशेष निर्मलता करने के लिये श्रुतज्ञान के व्यवहार का अव-लम्बन रहता है, क्योंकि सम्पूर्ण राग दूर नहीं हुआ है। स्वभाव की निर्मलता का विकास करने के लिये अकषाय स्वभाव के बल से जितनी शुद्धि की वृद्धि करता है उतना भेदरूप व्यवहार छूट जाता है। तेरहवीं वीतराग भूमिका में कोई नय-प्रमाणादि के भेद का आलम्बन नहीं है। बीच में चौथे, पाँचवें और छट्ठे गुणस्थान तक बुद्धिपूर्वक राग होता है, सातवीं भूमिका से बुद्धिपूर्वक राग नहीं रहता, दसवें गुणस्थान तक केवलीगम्य सूक्ष्म विकल्प होता है, छद्मस्थ को ध्यानदशा में उसका विचार नहीं आता।

चौथे पाँचवें और छट्ठे गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक राग होता है, वहाँ पदवी के अनुसार दान, पूजा, भक्ति, व्रत, तप, संयम और शास्त्राभ्यास इत्यादि के शुभभाव अकषाय के लक्ष्य सहित होते हैं। दृष्टि तो अखण्ड गुण पर होती है। स्वलक्ष्य की जितनी स्थिरता रखकर राग को दूर किया उतना गुण मानता है, और जो राग रह जाता है उसका निषेध है। भूमिका के अनुसार बाह्य प्रवृत्ति सहज होती है, किन्तु उसके आधार से गुण नहीं होते। चारित्रदशा बाह्य क्रिया, वेश अथवा किसी परिकर में नहीं है। व्रतादि का शुभभाव भी गुण में सहायक नहीं है,

ऐसी श्रद्धा के साथ वीतरागी स्वभाव के लक्ष्य में स्थिर होकर, विकल्प रहित जितनी निरावलम्बी स्थिरता बढ़ाई उतना चारित्र है ऐसा जानना सो सद्भूत व्यवहार है। जो व्रतादि का शुभराग रह गया सो वह सहायक नहीं है, आदरणीय नहीं है, मेरा स्वरूप नहीं है; इसप्रकार जानना सो असद्भूत व्यवहार है। राग मेरी अशक्ति से निमित्ताधीनरूप से युक्त होने से होता है; उस राग और राग के निमित्त को यथावत् जानना सो असद्भूत व्यवहार है। भूमिका के अनुसार जो राग और राग के निमित्त हैं उन्हें न माने तो व्यवहार का लोप हो जाये, और व्रतादि के शुभराग से गुण का प्रगट होना माने तो वह व्यवहाराभास है; उसे तो जो राग रूप व्यवहार है सो वही गुणरूप निश्चय हो गया है सो वह विपरीत मान्यता है।

श्रद्धा के एकरूप लक्ष्य में संसार, मोक्ष और मोक्षमार्ग के भेद का स्वीकार नहीं है। निरपेक्ष अखण्ड पूर्ण स्वभावभाव का लक्ष्य करना सो शुद्ध दृष्टि का और श्रद्धा का विषय है। ज्ञान में त्रिकाल स्वभाव, वर्तमान अवस्था तथा निमित्त को जानता है, किन्तु श्रद्धा में कोई दृष्टि भेद नहीं है। अविकारी एक रूप ध्रुवस्वभाव की महिमा पूर्वक स्वरूप में एकाग्र होने पर अपूर्व शाँति का अनुभव होता है। उस समय प्रमाण, नय इत्यादि के कोई विचार बुद्धिपूर्वक नहीं होते।

दूसरी अवस्था में प्रमाणादि के अवलम्बन द्वारा विशेष ज्ञान होता है, और राग-द्वेष मोह कर्म के सर्वथा अभावरूप यथाख्यात चारित्र प्रगट होता है; जिससे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। केवलज्ञान होने के बाद प्रमाणादि का आलम्बन नहीं रहता। तत्पश्चात् तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है, वहाँ भी कोई अवलम्बन नहीं है। इसप्रकार सिद्ध अवस्था में प्रमाण, नय, निक्षेप का अभाव ही है।

अब इस अर्थ का सूचक कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥९॥

अर्थः—आचार्यदेव शुद्धनय का अनुभव करके कहते हैं कि इन सर्व भेदों को गौण करने वाला जो शुद्धनय का विषयभूत चैतन्य-चमत्कारमात्र तेज:पुंज आत्मा है, उसका अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती; प्रमाण अस्त को प्राप्त होता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है यह हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहें ? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता ।

यहाँ चतुर्थ गुणस्थान का प्रारम्भ होने पर और फिर जब विकल्प से किंचित् छूटकर अखण्ड स्वभाव के बल से एकाग्ररूप से अंतरंग की ओर उन्मुख होता है तब ऐसे किसी विचार का विकल्प नहीं रहता कि मैं आत्मा हूँ, और आनन्द का संवेदन करता हूँ। यह केवली की बात नहीं है किन्तु चतुर्थ गुणस्थान के प्रारम्भ होने पर जो स्थिति होती है उसकी मुख्यता से यह बात है। मुनि को इस वस्तुस्थिति का सहज अनुभव होता है वहाँ इस उपदेश की आवश्यक्ता नहीं है। आचार्यदेव छट्ठे गुणस्थान में आकर सम्यक्दर्शन के लिये शुद्धनय के अनुभव की बात शिष्य से कहते हैं। सम्यक्दर्शन और उसके अभेद अनुभव का कारण आत्मा स्वयं ही है। जो पहिचान की है सो स्वभाव के लक्ष्य के बल से आंतरिक शक्तिरूप बल की ओर, एकाग्रतारूप अभेद अनुभव होनेपर निर्मलदशा का उत्पाद और रागरूप अशुद्धता का नाश होता है। उसमें कोई शुभराग के विकल्प अथवा कोई निमित्त कारण नहीं है। जो भेदरूप रागमिश्रित निर्णय किया था सो व्यवहार का अभाव निश्चय स्वभाव के बल से किया है। जब उस व्यवहार का व्यय होगया सो उसे निमित्त कहा गया।

भेद अभेद का कारण नहीं होता, इसलिये जो शुद्धनय है सो अखण्ड ध्रुवस्वभाव को एकरूप लक्ष्य में लेकर अवस्था के लक्ष्य को गौण करता है। जैसे द्वार तक आने के बाद फिर द्वार को भीतर नहीं ले जाया जाता और मिष्टान्न खाते समय तराजू, बाँट पेट में नहीं डाले जाते; इसीप्रकार नवतत्व, नय और प्रमाण के रागमिश्रित विचार मनशुद्धि के भेद हैं किन्तु उन्हें साथ में लेकर शुद्धता में नहीं पहुँचा जासकता।

आत्मा स्वयं त्रिकालस्थायी तत्व है, उसे भूलकर अपने को वर्तमान अवस्था मात्र का मानता है। संसार में जिसके इकलौता पुत्र होता है वह उसपर पूरे प्रेम से देखता है, और वह यही भावना भाता है कि वह चिरकाल जीवित रहे तथा उसके विवाहादि के प्रसंग पर तत्सम्बन्धी राग में ऐसा एकाग्र होजाता है कि अन्य समस्त विचार सहज ही गौण होजाते हैं। अंतरंग में जो अविकारी नित्य स्वभाव है उसकी रुचि को बदलकर पर में महत्ता मानकर राग में एकाग्र होता है और पुण्यादिक जड़ में चमत्कार मानता है; किन्तु जड़ विचारे अन्ध हैं उन्हें कुछ खबर नहीं होती। जानने की शक्ति आत्मा में ही है। पर में तुच्छता जानकर पृथक्त्व का निश्चय करके, आन्तरिक चिदानन्द विभूति पर दृष्टि न डाले तो शाश्वत टंकोत्कीर्ण एकरूप चैतन्य भगवान का अनुभव नहीं होसकेगा।

अनादिकाल से वर्तमान विकार पर दृष्टि स्थापित करके जीव अच्छा-बुरा करने में लगा हुआ है, यदि उससे अलग होकर स्वभाव की ओर उन्मुख हो तो वर्तमान अवस्था और पर-निमित्त तथा त्रिकाल स्वभाव को यथावत् ज्ञान में जाने; और फिर क्षणिक विकारी दृष्टि को गौण करके एकरूप ध्रुव स्वभाव की ओर उन्मुख होने पर शुद्धनय के अनुभव से युक्त सम्यक्दर्शन प्रगट होता है। वहाँ बुद्धिपूर्वक का विकल्प छूट जाता है, गौण हो जाता है। इसलिये कहा है कि शुद्ध अनुभव में द्वित्व मालूम नहीं होता। रागमिश्रित विचाररूप नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती; अर्थात् अत्यन्त गौण होजाती है।

एकबार भयंकर अकाल पडा, लोग एक-एक दाने को तरसने लगे, तब एक महिला अपनी ससुराल से खरे मोतियों की एक थैली भरकर अपने पिता के घर गई और पिता से उन मोतियों के बदले में अन्न माँगा, किन्तु पिता ने मोतियों से अन्न का विनिमय नहीं किया; ऐसी स्थिति में अन्न का मूल्य बढ़ जाने से खरे मोतियों का मूल्य गौण हो गया; इसीप्रकार पूर्ण चिदानन्दस्वरूपी आत्मस्वभाव की एकाग्रता होने पर नयों के विकल्परूप लक्ष्मी की कीमत कम होगई।

शुद्धनय के द्वारा भेद की गौणता होती है, उसका दृष्टान्त:—भोजन के समय थाल में लड्डू, शाक, पूरी इत्यादि विविध वस्तुऐं रखी हों तो उनमें से जिसकी जठराग्नि और पाचनशक्ति प्रबल हो उसकी मुख्य दृष्टि गरिष्ठ-पौष्टिक पदार्थों पर जाती है; और तब हलके पदार्थों का लक्ष्य गौण होजाता है। इसीप्रकार आत्मा में अनन्तशक्ति का अखण्ड पिंड ज्ञानघन स्वभाव है उसे पचाने की-सहन करने की विशेष शक्ति जिसके श्रद्धागुण में विद्यमान है उसकी मुख्य दृष्टि अखण्ड ध्रुव-स्वभाव पर जाती है। वहाँ अवस्थादृष्टि का लक्ष्य और नयों का विचार गौण हो जाता है।

जीव अपने को समझे विना अनंतकाल में एक-एक समय में अनन्त दुःख पा चुका है, क्योंकि वह स्वयं अनन्त शक्तिशाली, और अनन्त सुख स्वरूप होकर भी उलटा जा गिरा है इसलिये अनन्त दुःख को भोगता है। किन्तु यदि स्वभाव को प्राप्त हो तो उससे अनन्त गुना सहज सुख प्राप्त करे।

अपने स्वतंत्र स्वभाव का विरोध करके, जीव ने अनन्त भव धारण किये हैं। यदि उसका सम्पूर्ण वर्णन सुने तो भव का त्रास हो और कहे कि अरे ! अब और भव नहीं चाहिये। ज्ञानी कहता है कि तू जैसे-तैसे मनुष्य हुआ और वहाँ पुण्य पैसा प्रतिष्ठा इत्यादि के संयोग में फँस गया। अनन्त जन्म-मरण को नाश करने का यह सुयोग मिला है सो भी नहीं मानता। सत्य-असत्य का निर्णय नहीं कर

धर्म में जो कुछ चला आया है उसी को स्वयं करता है और उसे ही स्वीकार करता है, इसप्रकार कोई धर्म की ओट में या बाहर से त्यागी होजाता है तो वह मान बैठता है कि मैं त्यागी हूँ; और इसप्रकार बाह्य में सब कुछ मानता है। इसप्रकार अनेक तरह से अपनी कल्पना से या शास्त्र के नाम पर मान लेता है; किन्तु यह नहीं मानता कि मैं राग का नाशक हूँ, राग मेरा सहायक नहीं है, मैं पर के आश्रय से रहित वर्तमान में पूर्णशक्ति से स्वतंत्र परमात्मा हूँ। जैसे पहला घड़ा उल्टा रख देने से उसपर जितने ही घड़े रखे जाते हैं वे सब उल्टे ही रखे जाते हैं; इसीप्रकार जहाँ पहली मान्यता विपरीत होती है वहाँ सारी मान्यताएँ विपरीत होती हैं।

स्वतंत्र चैतन्य की जाति और उसके परम अद्भुत चमत्कार की स्पष्ट बात करके आचार्य महाराज ने समयसार में केवलज्ञान का रहस्य उद्घाटित किया है। वर्तमान में लोगों में धर्म के नाम पर बहुत अंतर हो गया है। तीर्थंकर देव के द्वारा कथित सत्य बदल गया। काल बदल गया है। लोगों की योग्यता ही ऐसी है। सत्य को समझने के लिये तैयारी कम है और साधन भी अल्प हैं, इसलिये पक्ष का मोह सत्य को असत्य मनवाता है और असत्य को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। अनादिकाल से ऐसी मान्यता चली आरही है। अविकारी आत्मा का धर्म राग का नाशक और निर्मलता का उत्पादक है। उसमें बाह्य साधन सहायक नहीं हैं। नय, प्रमाण, निक्षेप और नवतत्व की विकल्परूप व्यवहारश्रद्धा परमार्थश्रद्धा में सहायक नहीं है। जबतक ऐसी दृढ़ता नहीं होती तबतक सम्यक्दर्शन तो हो ही नहीं सकता किन्तु उसके यथार्थ आँगन तक भी नहीं पहुँचा जासकता।

यदि पहले गुरुज्ञान से यथार्थता को विरोधरहित समझ के मार्ग से जाने तो आत्मा में एकाग्र अनुभव हो। वहाँ बुद्धिग्राह्य रागमिश्रित विकल्प छूट जाते हैं। सूक्ष्म अव्यक्त विकल्प का ध्यान नहीं रहता। परम आनन्द का अनुभव होता है। जैसा सिद्ध परमात्मा को आनंद

होता है उसीप्रकार का आंशिक आनंद सम्यक्दृष्टि के प्रत्यक्ष होता है। जैसे अंधा आदमी मिश्री को अपनी आँखों से नहीं देखता किन्तु उसे स्वाद तो वैसा ही आता है जैसा कि किसी भी दृष्टिवान बड़े से बड़े ज्ञानी को आता है। इसीप्रकार यहां अपूर्ण ज्ञान में आत्मा को परोक्षज्ञान से परिपूर्ण स्वीकार किया है, किन्तु उसे अनुभव प्रत्यक्ष है और इसलिये वह स्वाद भी प्रत्यक्ष लेता है।

किसी निमित्त के आश्रय के बिना-विकल्प के बिना स्वभाव के लक्ष्य के बल से, अंतरंग में पूर्ण शक्तिरूप में एकाग्र लक्ष्य से उन्मुख होने पर अपूर्व अनुभवयुक्त सम्यक्त्व प्रगट होता है। उसमें शुभराग कारण नहीं है। श्रद्धा से पूर्व शुभराग होता है, बाद में भी होता है। व्यवहारज्ञान के बिना परमार्थज्ञान नहीं होता, उसके बिना सम्यक्त्व और चारित्र प्राप्त नहीं होता किन्तु उससे गुण-लाभ या सहायता नहीं मिलती। द्रव्य में पूर्ण शक्ति है, उसके लक्ष्य से निर्मल पर्याय की उत्पत्ति और अशुद्धता का आंशिक त्याग होजाता है। उसका कारण द्रव्य स्वयं ही है। उस परमार्थ को यथार्थ तत्वज्ञान से पहिचानकर, उस परमार्थ का बल मिलने पर, वस्तु का बहुमान करके एकरूप स्वभाव की श्रद्धा के दृढ़तर बल से स्थित हुआ कि फिर यह नहीं दिखाई देता कि नय निक्षेप के विकल्प कहाँ उड़गये? आचार्यदेव कहते हैं कि इससे अधिक क्या कहें? द्वित्व क्या है इसका भी ध्यान नहीं रहता। अपूर्ण ज्ञान में एक ही साथ दोनों ओर लक्ष्य नहीं होता, और एक वस्तु का विचार करने में असंख्यात समय लग जाते हैं; उसके बाद ही दूसरे स्थान पर लक्ष्य बदलता है।

ऐसा सुनकर कोई माने कि इसप्रकार ध्यान में बैठकर स्थिर होजायें, किन्तु हे भाई! हठ से ध्यान नहीं होता। उसप्रकार की पात्रता और सत्समागम से उसके लिये अभ्यास करना चाहिये। मैं पर का कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कर सकता है, यह सारी मान्यता छोड़कर निजस्वभाव पर आना होगा। निज की दरकार से, अपूर्व तैयारी से

केवल अपने परमार्थ के लिये रात-दिन लगे रहने के बिना उसके द्वार नहीं खुलते। रुपया-पैसा, प्रतिष्ठा और महल इत्यादि की प्राप्ति होगई तो उससे आत्मा को क्या लाभ है? पर के अभिमान का शौय चढ़ा हुआ है जिससे स्वभाव की दृढ़ता का लोप होता जारहा है। अपना स्वभाव पर-सम्बन्ध से रहित स्वाश्रित है, पर के कर्तृत्व भोक्तृत्व से रहित स्वतंत्र है, उसका अनादर कर रहा है। जिसे बहुत से लोग अच्छा कहते हों वह अच्छा ही हो ऐसा नियम नहीं है। बाह्य-प्रवृत्ति और देह की क्रिया आत्मा के आधीन नहीं है, किन्तु भीतर कर्म के निमित्ताधीन करने पर शुभभाव सहित आत्मा के सच्चे ज्ञान के उपाय का विचार किया जाये तो वह भी रागरूप होने से अभूतार्थ कहा गया है। श्रद्धा के अनुभव में उसका अभाव होता है, इसलिये वह आत्मा के साथ स्थायी न होने से असत्यार्थ है। यदि वह सहायक नहीं है तो फिर बाह्य में कौनसा साधन सहायक होगा?

तेरी महिमा सर्वज्ञ की वाणी द्वारा भी परिपूर्णतया नहीं कही जा सकती, किन्तु वह तो मात्र ज्ञान में ही आसकती है। स्वभाव की पहिचान होते ही विश्व की अनंत प्रतिकूलताओं को नहीं गिनता, और इन्द्रपद जैसे अनुकूल पुण्य को सड़े हुऐ तृण के समान मानता है। जो चैतन्य भगवान की महत्ता और दृढता को स्वयं अपनी ही उमंग से नहीं समझता उसे कोई बलात् नहीं मनवा सकता।

कोई कहता है कि आपकी बात सच है, किन्तु पर का कुछ अवलम्बन तो आवश्यक है ही? पुण्य आदि के आश्रय के बिना कैसे चल सकता है? इसप्रकार परमुखापेक्षी बना रहना चाहता है, यह चैतन्य भगवान की हीनता है—उसका अपमान है। जो भला साहूकार होता है वह पौनेसोलह आने चुकाने में भी लज्जा का अनुभव करता है। इसीप्रकार तू प्रभु है, तेरी पूर्ण केवलज्ञानानंद की शक्ति प्रतिसमय स्वाधीन है; तू उसे हीन कहे परमुखापेक्षी माने, और यह कहे कि विकार की सहायता आवश्यक है तो यह तुझे शोभा नहीं देता।

मैं स्वतंत्र हूँ, अपनेपन से हूँ, पररूप से-विकाररूप से नहीं हूँ पर के कर्तारूप नहीं हूँ; इसप्रकार यदि यथार्थ मार्ग को समझे तो उसका फल सम्यक्‌दर्शन प्राप्त करने में अधिक समय नहीं लगेगा। सत्‌समागम से सुनकर जिस जीव की समझ में एक भी न्याय अविरोधरूप से आजाये उसे तत्काल ही स्वभाव के बल से अनुभवसहित निश्चय श्रद्धारूप फल प्राप्त होता है। स्वभाव में स्थिर होने पर नवतत्व इत्यादि का कोई भी विकल्प अनुभव में नहीं आता और भेद अत्यंत गौण होजाता है। यदि एकदम समझ में न आये तो प्रेमपूर्वक इसे स्वीकार करके कि सत्य तो यही है उसके अविरोधी निर्णय के लिये प्रयास करना चाहिये। इसमें किसी पूर्व के प्रारब्ध से अथवा किसी संयोग से काम नहीं होता। यह बात मिथ्या है कि यदि भाग्य में लिखा होगा तो सद्‌बुद्धि सूझेगी। बाह्यसंयोग तो उसके कारण से मिलते हैं, वह वर्तमान पुरुषार्थ का कार्य नहीं है। स्वभाव में अपना सब कुछ कर सके सो यह अपने वर्तमान पुरुषार्थ का कार्य है।

शुद्ध अखण्ड गुण को मुख्य करके सामान्य एकाकार स्वभाव के बल से एकाग्र होनेपर भेदरूप अवस्था और उसका लक्ष्य अत्यंत गौण होजाता है। वहाँ सामान्य गुण में लीनतारूप अभेद शांति का अनुभव होता है। लीनता का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

सम्यक्‌दर्शन स्वभाव से प्रगट होता है। वह किसी घेरे की वस्तु नहीं है, वह किसी की कृपा से न तो मिल सकता है और न शाप से दूर होसकता है। स्वयं जिस स्वरूप है वैसा ही अपने को यथार्थतया मानकर अपने विश्वास को एकाकाररूप से मनन करे तो रागरहित श्रद्धा आत्मा के द्वारा प्रगट होती है, उसमें बाहर का कोई कारण नहीं होता।

भावार्थ:—भेद को-रागमिश्रित विचार को अत्यंत गौण करके कहा है कि प्रमाण, नयादि भेद की तो बात ही क्या, शुद्ध अनुभव होने पर द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता; मात्र विकल्परहित, एकाकार चिदानन्द स्वयं ही दिखाई देता है।

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदान्ती कहते हैं कि अन्त में तो परमार्थरूप अद्वैत का ही अनुभव हुआ, द्वित्व की भ्रान्ति का अभाव हुआ। यही हमारा मत है; आपने इसमें विशेष क्या कहा?

समाधानः—*आपके मत में सर्वथा अभेदरूप एक वस्तु मानी जाती* है। यदि सर्वथा अद्वैत माना जाये तो बाह्य वस्तु का अभाव ही हो जाये, और ऐसा अभाव तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। हमारे (ज्ञानियों के) मत में अविरोधीदृष्टि से कथन है कि अनन्त आत्मा त्रिकाल भिन्न हैं और जड़-पदार्थ भिन्न हैं। उसका भेदज्ञान करके, स्वभाव का निर्णय करके, उसमें एकाग्रता होने पर विकल्प टूट जाता है, उस अपेक्षा से शुद्ध अनुभव में द्वैत ज्ञात नहीं होता—ऐसा कहा है। यदि बाह्य वस्तु का और अपनी वर्तमान अवस्था का लोप किया जाये तो जानने वाला मिथ्या सिद्ध हो और शून्यवाद का प्रसंग आजाये।

यदि एक ही तत्व हो तो एक में भूल क्या? दुःख क्या? और दुःख को दूर करने का उपाय भी क्यों किया जाये? विश्व में अनन्त वस्तुएँ स्वतंत्र और अनादि-अनंत हैं। द्वैत नहीं है यह कहने का तात्पर्य यह है कि अपने स्वरूप में पर नहीं है। यदि सब एक हों तो कोई यह नहीं मान सकता कि मैं अलग हूँ। जो तुझसे अलग हैं उन्हें यदि शून्यरूप कहे तो वे सब शून्य होंगे, उनकी वाणी शून्य होगी और तत्सम्बन्धी जो विचार जीव करता है वे भी शून्य होंगे तथा तेरी एकाग्रता भी शून्य होगी; इसप्रकार 'सर्वं शून्यं' सिद्ध हो जायेगा, इसलिये यह मान्यता मिथ्या है। हम तो अपेक्षादृष्टि से कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा अपनी अपेक्षा से सत् है और पर की अपेक्षा से त्रिकाल असत् है। पर अपनेरूप नहीं है और स्वयं पररूप नहीं है इसलिये पर अपना कुछ कर सकता है या स्वयं पर का कुछ कर सकता है ऐसा मानना सो बहुत बड़ी भूल है।

'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र सत् है, किन्तु उसकी अवस्था (पर्याय) प्रतिक्षण बदलती रहती है, वह

सर्वथा मिथ्या नहीं है। वर्तमान अवस्था में जीव पर-निमित्ताधीन राग-द्वेषमोह भाव करता है तब होता है। वह अवस्था है। स्वयं त्रिकाल-स्थायी है इसलिये उस क्षणिक अवस्था मात्र तक सीमित नहीं है, अतः वर्तमान अवस्था के अतिरिक्त सम्पूर्ण ध्रुवस्वभाव शक्तिरूप से शुद्ध ही है। उस स्वभाव की अपेक्षा से देखने पर आत्मा में राग-द्वेष नहीं है। जीव अवस्था में राग-द्वेष करता है जोकि अज्ञान है और उसे अपना मानकर जीव दुःख भोगता है।

आत्मा अनंत हैं। प्रत्येक आत्मा देह से भिन्न पूर्ण परमात्मा के समान है और विकार निमित्ताधीन अवस्था में होता है। अनंत जड़ पदार्थ सत् हैं। इस लोक और परलोक में पुण्य-पाप के फल भोगने के असंख्य स्थान हैं। स्वर्ग, नरक, मनुष्य और पशु यह चार गतियाँ पुण्य-पाप के भावों का फल भोगने की निमित्त हैं; इसे न्यायपुरस्सर सिद्ध किया जासकता है। यदि कोई कहे कि स्वर्ग, नरक तो समाज की व्यवस्था रखने के लिये कल्पित किये गये हैं, तो यह बात यथार्थ नहीं है। प्रत्येक वस्तु त्रिकाल में विद्यमान है। और जो है उसका आदि-अन्त कैसा? तथा जो नहीं है उसकी बात ही कैसी? यदि तू अपने को जानकर पुण्य-पाप का विकल्प दूर करके एकाग्र स्थिरता का अनुभव करे तो तेरे स्वभाव में विकल्प नहीं है।

तेरा ज्ञान अनन्त सामर्थ्यरूप से नित्य है। यदि तू उसकी अनंत शक्ति से इन्कार करे तो तेरे अनन्त ज्ञानस्वभाव का निषेध होता है। यह संग्रहात्मक जगत का समूह अमुक आकाश क्षेत्र में है, उसके बाद अनंतानन्त अलोकाकाश है, उस अनन्त को अनन्तरूप से जानने का तेरा सहज स्वभाव है। तेरे ज्ञान की स्वपरप्रकाशक शक्ति अनन्त है। तूने अपने वैभव को नहीं सुना और उसपर विचार नहीं किया। यदि 'अनन्त' शब्द पर विचार करे तो अनन्त द्रव्य, अनन्त क्षेत्र, अनन्तकाल और अनन्त भाव के विचाररूप से अनन्त का ज्ञान अल्पकाल में राग-मिश्रित अवस्था में रहकर कर सकता है। यदि राग को दूर करदे तो

प्रत्येक समय में जो अनन्त पदार्थ विश्व में हैं उन्हें और अपने को एक साथ ज्ञान में जानले, ऐसी अपार गम्भीर शक्ति ज्ञानगुण की प्रत्येक अवस्था में प्रगटरूप से होती है; इससे निश्चित् होता है कि प्रस्तुत अनन्त पदार्थ ज्ञेयरूप से भिन्न न हों और तेरा ज्ञान अनन्त भावरूप से देह जितने क्षेत्र में न हो तो एकस्थान में रहकर अनन्त क्षेत्र-कालादि का विचार नहीं कर सकेगा।

परवस्तु में अनन्त भाव हैं, उस अनन्त का ध्यान तेरे ज्ञान की शक्ति में आजाता है; मात्र आकाश का अन्त नहीं। काल भी अनादि-अनन्त है। क्रमशः अनन्त काल भविष्य में से भूतकाल में चला गया तथापि काल कम नहीं होसकता। उस अनन्त का एकक्षण में विचार करने वाला स्वयं अनन्त ज्ञानस्वभावी अपनेरूप से है, पर-रूप से नहीं है। परवस्तु ज्ञान में ज्ञेयरूप है, यदि उस पर को अवस्तु माने तो अपना ज्ञान अवस्तुरूप मिथ्या सिद्ध होता है। जैसे दर्पण में सामने के समस्त पदार्थ दिखाई देते हैं, और इधर यह माना जाये कि वे हैं ही नहीं तो यह मिथ्या है; ऐसा मानने पर दर्पण और उसकी स्वच्छता दोनों को मिथ्या मानना होगा; इसीप्रकार चैतन्य ज्ञानरूपी दर्पण है, उसके ज्ञान की स्वच्छता की सहज शक्ति ऐसी है कि अपने स्वच्छ ज्ञायकस्वभाव के द्वारा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इत्यादि पुद्गल के गुण तथा पर द्रव्य, क्षेत्र, काल इत्यादि सब सहज ज्ञात होते हैं। यदि उसे असत्य माने तो अपने को और ज्ञानगुण को शून्य मानने का प्रसंग आयेगा।

यदि मात्र पवित्र वीतरागदशा माने तो वर्तमान अवस्था में भी शुद्धता चाहिये। जो एकबार शुद्ध होजाता है वह फिर अशुद्ध नहीं होता। जैसे मक्खन का घी बन जाने पर वह फिर मक्खन नहीं बन सकता, उसीप्रकार सिद्ध होने के बाद फिर संसार में परिभ्रमण नहीं होता। अविनाशी स्वभाव के लक्ष्य से एकबार अमुक राग को दूर किया और फिर उतने राग को न आने दे तो पूर्ण पुरुषार्थ से सर्वथा राग दूर करके पूर्ण निमित्त दशा प्रगट करके वह फिर कभी संसार में

न आये। वर्तमान होने वाले भावरूप से जीव ने अनन्त भव धारण किये हैं, उन अनन्त भवों के विचारों को वढ़ाने पर, अनन्तभव के संयोग में असंयोगी पृथक् रहा है। तुझमें अनन्त पर से अनन्त पृथक्त्व की अनन्त शक्ति प्रतिसमय विद्यमान है।

यद्यपि निज से ही जानता है किन्तु यदि परवस्तु न हो तो उसे ज्ञान नहीं जान सकता। जगत में अनन्त पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हैं, उनकी अपने में नास्ति है, किन्तु वे द्रव्य अपने आप में त्रिकाल अस्तिरूप हैं। यदि ऐसा न माना जाये और यही माने कि एक आत्मा ही है तो ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। गुण को मिथ्या कहने पर गुणी (आत्मा) मिथ्या सिद्ध होजायेगा; इसप्रकार शून्यवाद का प्रसंग आयेगा। जब निश्चय स्वभाव के वल से जीव स्वाश्रय में स्थिर होता है तब अभेद अनुभव में नवतत्व, प्रमाण, नय और निक्षेप के रागमिश्रित विचार का भेद भी नहीं रहता; यह कहकर सर्वज्ञ वीतराग के मत में अद्वैतपन कहा है, पर नहीं है ऐसा नहीं कहा। अनेकत्व प्रत्यक्ष ध्यान में आता है उसे जो अवस्तु कहता है उसका ज्ञान और अनुभव दोनों मिथ्या सिद्ध होते हैं। अपनी कल्पना के अनुसार वस्तु को चाहे जैसा मानकर यदि शुद्धता का अनुभव करना चाहे तो वह नहीं होसकता। इसलिये वीतराग के न्यायानुसार वस्तुस्वरूप को यथार्थतया जानना चाहिये।

यदि कोई कहे कि इन्द्रियाधीन ज्ञान में अभी कुछ दूसरा ही दिखाई देता है, ज्यों-ज्यों ऊपर की भूमिका पर जाते हैं त्यों-त्यों अन्यप्रकार दिखाई देता है। और सर्वज्ञ होने के वाद निश्चय से एक अद्वैत ही दिखाई देता है, तो ऐसी मान्यता भी विलकुल मिथ्या है। वर्तमान अपूर्ण ज्ञान में सम्यक्दृष्टि को जगत में रहने वाले सर्व परद्रव्यों की तथा अपने स्वतंत्र स्वरूप की यथार्थ श्रद्धारूप सच्ची पहिचान होती है। सर्वज्ञ भगवान अपने पूर्ण ज्ञान में जैसा जानते हैं वैसा ही अल्पज्ञ अपने वर्तमान निर्मल ज्ञान से प्रथम भूमिका से ही जानता है, उसमें किंचित्

मात्र भी विपरीत नहीं जानता, किन्तु मन के अवलम्बन सहित जानने के कारण परोक्ष-प्रत्यक्ष का अन्तर होता है। किन्तु सर्वज्ञ के ज्ञान से विपरीत ज्ञातृत्व नहीं होता। यह मानना मिथ्या है कि ज्यों-ज्यों भूमिका बढ़ती है त्यों-त्यों अलग जानता है और जब केवलज्ञान होता है तब अलग जानता है।

दृष्टि तो पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से पहले से ही सम्यक् होती है, और तभी पूर्ण की अपेक्षा से अपूर्ण और पूर्ण परमात्मस्वरूप स्व-साध्य की अपेक्षा से साधक कहलाता है। अपने पूर्ण एकत्व के लक्ष्य के बिना जीव विपरीत है, वह न साधक है और न शोधक ही है।

परद्रव्य का तथा आत्मा का स्वभाव जैसा है वैसा पहले से ही परोक्षरूप से निःसन्देह ज्ञात होता है। तीनकाल और तीनलोक में स्थित समस्त पदार्थ ज्ञान-गुण की प्रत्येक समय की अवस्था में सहज ही ज्ञात हों ऐसा सर्वज्ञत्व प्रत्येक जीव में शक्तिरूप से विद्यमान है। अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य से पूर्ण प्रत्येक आत्मा पर से त्रिकाल भिन्न है। सर्वज्ञ के न्यायानुसार सत्समागम से स्वयं उसका निर्णय करके, अपने एकरूप स्वभाव को मुख्य करके पूर्ण स्वाधीन स्वभाव के लक्ष्य से श्रद्धा की स्थिरता के द्वारा सिद्ध परमात्मा होता है।

कुछ लोग समभाव की उल्टी परिभाषा करते हैं और कहते हैं कि यथार्थ-अयथार्थ का निश्चय करने में राग-द्वेष होता है, इसलिये सबको समान मानो, किन्तु यह तो मूढ़ता है, अविवेक है। वस्तु को यथार्थरूप से मानना, अन्यथा न मानना सो इसमें समभाव है। ज्ञानी बबूल को वर्तमान में चन्दन नहीं जानेगा, नीम के स्वाद को कड़वा ही जानेगा, रोटी को रोटी ही जानेगा विष्टा नहीं जानेगा, हाँ, जब विष्टा की अवस्था होगी तब उसे ऐसा जानेगा, क्रोध अवस्था वाले को क्रोधरूप में देखेगा शांत नहीं देखेगा। मिथ्या को मिथ्या जानना समभाव है, द्वेष नहीं है, पक्षपात नहीं है प्रत्युत सत् का बहुमान है।

सत् की स्थापना करने पर असत् का निषेध सहज ही होजाता है। 'कपट नहीं करना चाहिये' ऐसा उपदेश देते हुए कपट करने वाले पर द्वेष का भाव नहीं होता, इसीप्रकार सत्य को सत्य कहने में सत्य की दृढ़ता है, अभिमान नहीं है और किसी पक्ष के प्रति द्वेष नहीं है। ज्ञान विवेकयुक्त है, व्यवस्थापूर्वक जानने वाला है। प्रस्तुत व्यक्ति जिस सम्बन्ध में जो कुछ भाव कहना चाहता है उसीप्रकार वह वैसा ही सुनता और जानता है।

जगत के पदार्थ एक दूसरे से भिन्न त्रिकाल स्वतंत्ररूप से स्थिर होकर आकाश क्षेत्र में रह रहे हैं। निश्चय से सब अपने निजक्षेत्र में व्याप्त होकर पर से भिन्न हैं। देह के रजकण और आत्मा संयोगरूप से आकाश क्षेत्र में एकत्रित दिखाई देते हैं तथापि प्रत्येक के स्वभाव भिन्न भिन्न हैं। छहों पदार्थ तथा उनके द्रव्य गुण पर्याय को सर्वज्ञ भगवान जिसप्रकार जानते हैं उसीप्रकार अल्पज्ञ परोक्ष प्रमाण ज्ञान से बराबर जानता है। जो अन्यथा जानता है सो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। जानने वाला सदा-सतत ज्ञातास्वभाव से स्थिर होकर जानता ही रहता है। जिसका स्वभाव जानना है सो वह किसे न जानेगा? जानने में मर्यादा कैसी? प्रत्येक आत्मा का पूर्ण सर्वज्ञ स्वभाव है, वह पूर्ण शक्ति वर्तमान में अल्पज्ञ के राग के कारण रुकी हुई है, तथापि अपूर्ण प्रगट ज्ञान जानने में तो व्यवस्थायुक्त है। अज्ञानी विपरीतदृष्टि के कारण स्वपर के स्वरूप को अन्यथा मानता है। अल्पज्ञ सम्यक्दृष्टि अपने को स्वभाव से सर्वज्ञ वीतराग ही मानता है और जगत के जीव-अजीव समस्त पदार्थों के स्वरूप को आगम प्रमाण से यथावत् जानता है। अनंत जड़ पुद्गल परमाणु प्रत्येक स्वतंत्र हैं। प्रत्येक परमाणु में अनादि-अनंत पूर्ण शक्तिरूप से स्थिर रहने की और प्रतिक्षण अवस्था को बदलने की अनन्त सामर्थ्यरूप-अनन्त वीर्य-शक्ति है। उसे सर्वज्ञ के न्याय से जानता है, तथा छहों द्रव्यों के स्वतंत्र भिन्न-भिन्न स्वभाव को जानता है। छहों द्रव्यों का स्वभाव अनन्त शक्तिरूप से प्रतिसमय पूर्ण है ऐसा ज्ञात होगा।

(१) द्रव्य से:—संख्या में जीवद्रव्य की अपेक्षा परमाणु द्रव्य अनंतानंत हैं। उनमें अनन्त पिंडरूप से मिलना, पृथक् होना, गति होना इत्यादि अनन्तप्रकार की विचित्र शक्तियाँ अपने स्वभाव से अनन्त हैं, वे किसी की प्रेरणा से नहीं हैं।

(२) क्षेत्र से:—आकाश अपने अपार विस्तार से अनन्त प्रदेशी है, उसका अवगाहन गुण भी अनंत है। एक प्रदेश में अनंत वस्तु का समावेश होने दे ऐसा उसका स्वभाव है। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त द्रव्यों को अवगाहना देने का स्वभाव है।

(३) काल से:—असंख्यात कालाणु अन्य पाँचों द्रव्यों के परिणमन में प्रतिसमय उदासीनरूप से सहकारी हैं।

(४) भाव से:—ज्ञाता आत्मा प्रत्येक गुण से अनन्त शक्तिरूप है। उसमें मुख्य ज्ञानगुण से देखें तो एक-एक समय में तीनकाल और तीनलोक की अनन्तता को एक साथ जानता है क्योंकि जानने का स्वभाव नित्य है। किसी में अटकनेरूप अथवा न जाननेरूप स्वभाव नहीं होता। केवलज्ञान की प्रत्येक समय की एक अवस्था में लोकालोक को जाने और यदि अनन्त लोकालोक हों तो भी जाने ऐसी अनन्त गम्भीर ज्ञायक शक्ति प्रत्येक जीव में है।

लोकाकाशप्रमाण अखण्ड अरूपी धर्मास्तिकाय द्रव्य एक है, वह जीव-पुद्गल की गति में उदासीनरूप से सहकारी है। उस अनन्त को गतिरूप होने दे ऐसा उसका अनन्त स्वभाव है।

लोकाकाशप्रमाण अखण्ड अरूपी अधर्मास्तिकाय द्रव्य एक है। उसमें जीव-पुद्गल की स्थिति में उदासीनरूप से सहायक होने का अनन्त गुण है।

ज्ञान की महिमा तो देखो! वर्तमान रागमिश्रित दशा में इन्द्रियाधीन होने पर भी क्षणभर में अपार-अनन्त का विचार ज्ञान में माप लेता है; तब सर्व राग-द्वेष और आवरण से रहित शुद्ध पूर्ण केवलज्ञान-

दशा में एक-एक समय की प्रत्येक अवस्था में तीनकाल और तीन-लोक के सर्व पदार्थसमूह को सर्वप्रकार से एक ही साथ जानने की अपार प्रगट शक्ति क्यों न होगी ? अवश्य होगी। इसमें सम्यक्दृष्टि ज्ञानी को शंका नहीं होती। सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा को भलीभाँति मानने वाला स्वयं शक्तिरूप से उतना बड़ा हो तभी वह पूर्ण को पहिचान सकेगा। अपूर्ण ज्ञान में भी ज्ञान का ज्ञातृत्व व्यवस्थामय है। प्रत्येक जड़-पुद्‌गल परमाणु में स्वतंत्ररूप से अनंत वीर्य-शक्ति विद्यमान है, उसकी अवस्था की व्यवस्था का कर्ता वह पुद्‌गल है। कोई ईश्वर कर्ता नहीं है, इस बात को ज्ञानी जान लेता है।

जगत में देहादि के संयोग-वियोग तथा उसकी सम्पूर्ण अवस्था और उसके स्पर्श, रस, गंध एवं वर्ण गुण की अवस्था का अनन्त गुणित हीनाधिकरूप से बदलना इत्यादि जड़ की रचना उस प्रत्येक पुद्‌गल-द्रव्य की स्वतंत्र उपादान की शक्ति के आधार से होती है। वह पुद्‌गल-परावर्तन चक्र प्रत्येक परमाणु स्वतंत्रतया, प्रेरणा के विना, अपने कारण से और अपने ही आधार से करता है। देहादिक सर्व परद्रव्य की संयोग-वियोगरूप अवस्था की व्यवस्था उसके कारण से जैसी होने योग्य है वैसी ही होती है। ज्ञानी जानता है कि उसके कारण किसी को हानि-लाभ नहीं होता। जो यह जानता है कि पर से मेरा कोई सम्ब-न्ध नहीं है उसे निज में ही देखना शेष रहता है। उसमें अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ होता है। परवस्तु की अपने में नास्ति है इसलिये देहादिक परवस्तु को प्रेरणा करना अथवा अँगुली का हिलाना भी आत्मा के आधीन नहीं है। देहादि का तथा पर आत्मा का कोई काम कोई दूसरा आत्मा किसी अपेक्षा से नहीं कर सकता। प्रस्तुत जीव निमित्त पर अपने भावानुसार आरोप करता है। जब प्रस्तुत जीव समझता है तब कहा जाता है कि इसने मुझे समझाया है, और जब नहीं समझता तो निमित्त नहीं कहलाता। इसलिये निमित्त से किसी का कार्य नहीं होता। आत्मा तो सदा अरूपी ज्ञातास्वरूप है। व्यवहार से देहादिक

परवस्तु का कोई कार्य कोई आत्मा कभी नहीं कर सकता। प्रतिसमय मात्र जान सकता है अथवा अपने को भूलकर विपरीत मानता है कि इसे मैंने किया है। जड़ देहादि के आधार से किसी के गुण-दोष नहीं होते, किन्तु अपने विपरीत पुरुषार्थ से दोष (दुःख) होते हैं और अनुकूल पुरुषार्थ से दोषों का नाश और सुख की उत्पत्ति होती है।

जीव की आज्ञा से देहादिक परद्रव्य में कुछ नहीं होता। जीव इच्छा करे और पुण्य के संयोग से इच्छित होता हुआ दिखाई दे तो वह स्पष्ट भूल है। उस समय भी जड़ का कार्य उसकी योग्यता के अनुसार जैसा होना हो वैसा ही होता है। गाड़ी के नीचे चलने वाला कुत्ता यह मानता है कि गाड़ी मेरे द्वारा ही चल रही है, किन्तु वह भ्रम है। इसीप्रकार जब शरीरादिक स्वतः चलते हैं तब जीव यह मानता है कि देहादिक मुझसे चल रहे हैं, किन्तु यह भ्रम है। जगत को यह बात समझना कठिन मालूम होती है किन्तु वास्तव में बात ऐसी ही है। दो वस्तुएँ त्रिकाल भिन्न स्वतंत्र हैं, यह निश्चित किये बिना पर का स्वामित्व नहीं छूट सकता। जहाँ यह माना कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ वहाँ दो एक होगये, और यह एकान्त मिथ्यामत है।

ज्ञान स्व-पर को जानने वाला है, वह जाननेरूप क्रिया करता है। कलम में ग्राह्य और हाथ में ग्राहक योग्यता है तभी हाथ से कलम पकड़ी जाती है, इसे ज्ञान ने पहले से ही जाना है, किन्तु यह नहीं जाना कि आकाश पकड़ा जासकता है और दस मन वजन पकड़ा जासकता है। ज्ञान यह जानता है कि इस लोटे में एकसेर पानी बन सकता है, एक घड़ा पानी नहीं बन सकता। पानी इस स्थान पर आ सकेगा, उसकी धार बनेगी, यह सब जड़ की अवस्था है, इसे ज्ञान जानता ही है। यदि पानी मुँह में जायेगा तो प्यास बुझेगी यह भी ज्ञान जानता ही है; पुद्गल स्वयं स्वतंत्र जड़ है, मात्र उसमें चेतनता नहीं है। जानने वाला जानता है कि इसका कार्य यों हुआ है, उसकी जगह में ऐसा

होगया हूँ, मैंने पर का कार्य किया है, इत्यादि मिथ्या-मान्यता है। जानने वाला देह पर दृष्टि रखकर उसकी क्रिया को अपने में मानता है, यह अनादि की भूल है। निद्रा में यह ध्यान नहीं था कि देह की क्रिया मैं करता हूँ, तथापि क्रिया होती रही; फिर जागने पर यह मानने लगता है कि वह क्रिया मुझसे हुई थी। जीव पुद्गल के स्वभाव को जान सकता है किन्तु कर नहीं सकता। शरीर में क्षुधारूप से परमाणुओं में जो खलबलाहट होती है उसे जानता है और यह जानता है कि भोजन का संयोग मिले तथा पुण्य का उदय हो तो भूख दूर होसकती है। कहीं कंकड़-पत्थर नहीं खाये जासकते और मूत्र नहीं पिया जाता; पानी का स्वभाव पथ्य है, इसलिये वह पिया जाता है। आकाश पर निराधार नहीं सोया जासकता, इसे ज्ञानी जानता है, और यह जानता है कि इसका कार्य यों हुआ है, किन्तु यह नहीं जानता कि मैं ऐसा हुआ हूँ।

पृथक्त्व की प्रतीति नहीं है, इसलिये मैं पर का कर्ता हूँ, पर मेरा कर सकता है; इसप्रकार सबको शक्तिहीन और पराधीन ठहराता है। मैं निजरूप से हूँ और पररूप से नहीं हूँ, इसप्रकार जाने तो पर को, अपनी विकारी अवस्था को यथावत् जान सकता है। मैं और प्रत्येक आत्मा अपने में अनन्त उल्टा-सीधा पुरुषार्थ कर सकता है। जो निरंतर जानने का स्वभाव है वह मर्यादा वाला नहीं है। वर्तमान में जो राग की वृत्ति उठती है उतना मात्र मैं नहीं हूँ। प्रत्येक आत्मा जानने की शक्ति की गंभीरता से कई गुना बड़ा है, क्षेत्र से बड़ा नहीं है। दूरस्थ पदार्थ को जानने के लिये ज्ञान को लम्बा नहीं होना पड़ता, किन्तु अंतरंग गुण में एकाग्र होना पड़ता है।

ज्ञान का स्वभाव स्व-पर-प्रकाशक (जानने वाला) है, उसकी जगह कोई यह माने कि ज्ञान में जहाँतक अनेक ज्ञात होते हैं वहाँतक द्वैतपन का भ्रमरूप दोष है, इसलिये यदि उस द्वैत के ज्ञातृत्व को दूर कर डालूँ तो मैं अखंड अकेला रहूँ और अद्वैत का अनुभव हो, यों

मानकर हठयोग द्वारा जड़ देह की क्रिया से ज्ञान को प्रगट करना चाहता है वह जीव विकास को रोककर मूढ़ता का अभ्यास करता है, और धर्म के नाम पर अज्ञान का सेवन करता है, वह भी दया का पात्र है।

आत्मा को ज्ञानमात्र से स्व-क्षेत्र में व्यापक न मानकर जो सर्व-क्षेत्र में व्यापक मानता है उसकी दृष्टि स्थूल है। भीतर ज्ञान में स्थिरता होने पर अनन्तशक्ति का विकास होता है। उसमें तीनलोक और तीनकाल सहज ज्ञात होजाते हैं, इसप्रकार जिसे भाव की सूक्ष्म गम्भीरता नहीं जमी, वह बाह्य क्षेत्र में स्थूलदृष्टि से जीव को सर्वक्षेत्र व्यापक मानता है। इसप्रकार अनेकप्रकार के मिथ्याअभिप्राय वाले लोगों ने सर्वज्ञकथित अनेकान्त स्वरूप का विरोध अपने भाव में किया है, इसलिये उनने स्वाधीन वस्तुत्व का निषेध किया है। वस्तुस्वभाव वैसा नहीं है इसलिये उनका अनुभव मिथ्या होता है। अतः जैसा सर्वज्ञ वीतराग देव कहते हैं उसीप्रकार प्रत्येक शरीर में पूर्ण आनन्दघन एक-एक आत्मा है, वह पर से भिन्न है, किन्तु वर्तमान अवस्था में निमित्ताधीन विकार स्वयं करता है ऐसा निर्णय करके, अवस्था को गौण करके शुद्धनय के द्वारा अखंडस्वभाव के लक्ष्य से अभेद अनुभव होसकता है। सत्समागम से पहले समझकर स्वाधीन पूर्ण चिदानंदस्वरूप में स्थिर हुआ कि वह भगवान आत्मा ही अपनी संभाल करेगा, अर्थात् वह राग-द्वेष अज्ञानरूपी संसार में गिरने से बचायेगा।

अब चौदहवीं गाथा की सूचना के रूप में यह कहते हैं कि शुद्धनय कैसे प्रगट होता है। तेरहवीं गाथा में नवतत्व, नयादि के विकल्प से भिन्न और अपने त्रिकाल स्वभाव में एकरूप आत्मा बताया है। यहाँ पर से भिन्न, क्षणिक संयोगाधीन विकार से भिन्न आत्मा शुद्ध-नय से माना है, सो कहते हैं।

त्रिकाल में भी आत्मा में पर-संयोग नहीं है। आत्मा में परमार्थ से विकार भी नहीं है। जो क्षणिक अवस्थामात्र के लिये राग होता

है सो परद्रव्य से जीव स्वयं करता है; किन्तु वह क्षणिक-उत्पन्नध्वंसी है। उसीसमय विकार नाशक स्वभाव पूर्ण अविकारी अस्तिरूप है। पर-निमित्त के भेद से रहित, पर्याय के भेद से रहित, प्रत्येक अवस्था में त्रिकाल पूर्ण शक्ति अखण्ड शुद्ध स्वभावरूप है। उस निरपेक्ष पारिणामिक स्वभाव को श्रद्धा के लक्ष्य में लेने वाला ज्ञान शुद्धनय कहा जाता है।

समयसार की प्रत्येक गाथा में से चैतन्यमणि-रत्नों के अद्भुत न्याय-निर्झर बहते हैं। इसे समझ लेने पर पूर्ण समाधान हो जाता है। ज्ञान के प्रतीति भाव से वर्तमान में मोक्ष है। यदि अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ करे तो भव का अभाव हो, यह ऐसी परम अद्भुत बात है।

चमार की दुकान में से चमड़े के टुकड़े निकलते हैं, जौहरी की तिजोरी में से हीरे निकलते हैं और चक्रवर्ति के रत्नकोष में से बहुमूल्य हार निकलते हैं, इसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकर देव के श्रीमुख से निकले हुऐ परमतत्व के बोध को सत्समागम से ग्रहण करे तो उससे मोक्षरत्न की प्राप्ति होती है।

अब आगे जो शुद्धनय का उदय होता है उसका सूचक श्लोक कहते हैं:—

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-
मापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं
प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१०॥

शुद्धनय आत्मा के स्वभाव को प्रगट करता हुआ उदयरूप होता है। शाश्वत चैतन्यस्वभावी आत्मा विकार का नाशक है। उसकी वर्तमान अवस्था में संयोगाधीन दृष्टि से क्षणिक विकार होता है, उस समय भी स्वयं विकार के नाशक स्वभाव से पूर्ण गुणस्वरूप है,

क्षणिक अवस्था जितना नहीं है, ऐसा निर्णय करके उसमें धैर्यपूर्वक स्थिर हो तो विकार का नाश होकर निर्मल शांत स्वभाव प्रगट होता है।

पानी में उष्णता के समय शीतलता प्रगट दिखाई नहीं देती, तथापि स्वभावदृष्टि से जल पूर्ण शीतल है ऐसा प्रथम विश्वास करता है। ताँबे का संयोग होते हुए भी सोने में सौटंची शुद्ध सुवर्णत्व मानता है; पर-संयोग के भेद का लक्ष्य गौण करके मूल-असली स्वभाव को देखता है। उसमें जैसे संयोगी भेद को क्षणिक अवस्था तक मानकर जीव मूल शुद्ध स्वभाव को मान सकता है, उसीप्रकार यहाँ आत्मा अपने में नहीं मानता, इसलिये परलक्ष से रागद्वेष की वृत्ति होती है। वह वृत्ति प्रतिक्षण नाशवान है किन्तु उसे जानने वाला उसरूप नहीं है, उसके नाशक के रूप में है; इसलिये अवस्था की ओर के लक्ष्य को गौण करके अपने त्रिकालस्थायी निर्मल एक स्वभाव को देखे तो उसमें बंध-मोक्ष की पर्याय के विकल्प नहीं उठते। श्री बनारसीदास जी कहते हैं कि:—

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहिं और॥

(समयसार नाटक, जीवद्वार २०)

एक शुद्धनय के द्वारा सम्पूर्ण ध्रुवस्वभाव को लक्ष्य में लेने पर बंध मोक्ष इत्यादि सर्व भेदों का लक्ष्य गौण होजाता है। इसप्रकार एकरूप स्वभाव के बल से एकाग्र होने पर, पर से भिन्न अविकारी निर्मल स्वभाव की घोषणा होती है और इसीप्रकार स्वभाव की स्थिरता से मोक्षदशा प्रगट होती है।

शुद्धनय का विषय ही सम्यक्दर्शन का विषय है। यह शुद्धनय आत्मस्वभाव को कैसा प्रगट करता है? परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से होने वाले अपने विभाव-ऐसे परभावों से भिन्न बताते हैं। देहादिक संयोग प्रगट लक्षणों से ही मुझसे भिन्न दिखाई देते हैं। भीतर आत्मा के साथ द्रव्यकर्म आवरणरूप से निमित्तरूप हैं, जोकि

सूक्ष्म रज है, और उसके उदयरूप फल उसमें आते हैं। पुद्गल के संयोगी भाव में अच्छा-बुरा जानकर राग-द्वेष होना सो भावकर्म (जीव का विकारी भाव) है। शुद्धनय समस्त परभावों से आत्मा को भिन्न बताता है।

जैसे-जिसपर से विश्वास चला गया है उसे जीव ठीक नहीं मानता, उसका आदर नहीं करता, और जिसे यथावत् पहिचानकर पक्का विश्वास करता है उसी को हितरूप से आदरणीय मानता है और उसका आश्रय लेता है। उसीप्रकार जीव देहादि, रागादि पर को अपनेरूप मानता था तबतक अच्छा-बुरा मानकर पुण्य-पापरूप उपाधि का आदर करके पर में कर्तृत्व-स्वामित्व मानता था, किन्तु जब यह जाना कि वह मैं नहीं हूँ, तब क्षणिक संयोग और विकार मेरा रूप नहीं है, मैं विकार का नाशक हूँ, मुझमें समस्त गुण भरे हुए हैं, इसप्रकार अपने में अपना सम्पूर्ण विश्वास लाये तथा अवस्था का लक्ष्य गौण करे तो दूसरे में हित न माने, और एकमात्र स्वाश्रय में ही रमना-स्थिर होना रहे। फिर यह शंका नहीं रहेगी कि मैं मैला हूँ, हीन हूँ, उपाधिवान हूँ, अथवा पराधीन हूँ।

अनादिकाल से अपने को भूलकर, पर का आश्रय मानकर, बंधनरूप उपाधिभाव की और सम्पूर्ण जगत की ममता एवं परमुखापेक्षा करता है, किन्तु यदि एकबार पर से भिन्न अविकारी पूर्ण चिदानन्द भगवान आत्मा की पहिचान करके स्वभाव में स्थिर होजाये तो फिर पुण्य-पाप का राग और उसके संयोग का आदर न हो, एवं किसी के प्रति आकुलता न हो।

स्वरूप को समझे बिना त्रिकाल में भी निबटारा नहीं होसकता। यदि कोई सीधे शब्दों में किसी को गधा कहदे तो वह झगड़ा करने को तैयार होजाये। किन्तु जिस भाव में वैसे अनंत भव विद्यमान हैं उस भाव का नाश नहीं करता, इसलिये उसे इस भूल का परिणाम भोगना पड़ेगा, इससे प्रतिसमय अपने परिणामों की जाँच करनी चाहिये।

यहाँ समझ पर भार दिया है। जीव समझ में विपरीत मानकर पर में अच्छे-बुरे रूप से राग-द्वेष करता है, अथवा अनुकूल मानकर राग-द्वेष को तोड़कर वीतराग भाव कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह दूसरा कुछ नहीं कर सकता। इसलिये यदि सत्यस्वभाव को न समझा तो जैसे समुद्र में फेका गया मोती फिर हाथ नहीं आता, वैसे ही इस मनुष्यभव को पुनः चौरासी के चक्कर में डाल देने पर फिर से मनुष्यभव का प्राप्त करना महादुर्लभ है। रुपया, पैसा इत्यादि जो बाह्यसंयोग प्राप्त होते हैं सो उनमें समझ की आवश्यक्ता नहीं है, वे सब पूर्वपुण्य के कारण आ मिलते हैं, किन्तु आत्मा को समझने में अनंत अनुकूल पुरुषार्थ चाहिये, क्योंकि वहाँ जैसा कर्म कराते हैं वैसा नहीं होता।

आत्मस्वभाव समस्तरूप से (पारिणामिक भाव से) पूर्ण है, इसप्रकार शुद्धनय बताता है। 'आत्मस्वभाव पूर्ण है' यह कहने में निरपेक्ष ध्रुवस्वभाव की पूर्ण स्वतंत्र मर्यादा बताई है। 'समस्तरूप से पूर्ण' कहने में सम्पूर्ण द्रव्य बताया है। जैसे सोने के पाँसे लेते समय उनमें विश्वास होता है कि इनमें से विविध कलापूर्ण आभूषण बन सकेंगे, किन्तु वह उसमें अलग भेद नहीं करता। इसीप्रकार आत्मा में केवलज्ञान शक्ति भरी हुई है जोकि प्रगट होने वाली है, उसके भेद से रहित सम्पूर्ण स्वभाव को देखते समय उसमें शुद्धनय भेद नहीं करता। जैसे ताँबे का संयोग होते हुए भी यदि मूलस्वभावरूप से देखें तो वह सोना सौटंची शुद्ध ही है, उसीप्रकार क्षणिक निमित्ताधीन विकार के समय भी भगवान आत्मा अपने मूलस्वभाव से पवित्र पूर्ण शुद्ध ही है, इसप्रकार अवस्था को गौण करके जानना सो शुद्धनय है। आत्मस्वभाव समस्त लोकालोक को जाननेवाला है—यह शुद्धनय बताता है। केवलज्ञान तो अवस्था है। संसार और मोक्ष पर्याय है। उसमें कर्म के संयोग-वियोग की अपेक्षा होती है। उस परनिमित्त के भेद की अपेक्षा से रहित शुद्धदृष्टि से वर्तमान में पूर्ण एकरूप स्वभाव को देखने पर, निर्मल सम्यक्दर्शन का विषय जो परिपूर्ण पारिणामिकभावरूप सम्पूर्ण

स्वभाव है सो लक्ष्य में आता है। उसमें किसी भेद या विकल्प के आश्रय की आवश्यक्ता नहीं है। पूर्ण निर्मल आत्मस्वभाव के प्रगट होने से पूर्व श्रद्धा-ज्ञान में पूर्ण का स्वीकार होता है। सम्यक्दृष्टि अपने पूर्ण शुद्ध पारिणामिक भाव को ही मानता है। उसके लक्ष्य से विकल्प टूटकर स्थिरता का बल बढ़ता है। अल्पकाल में मोक्ष ही है, उसे उसके संदेश निज में से निःसन्देह रूप से आते हैं।

पूर्ण स्वभाव में हीन या पूर्ण अवस्था के भेद नहीं होते। मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञान इत्यादि कर्म के निमित्त की अपेक्षा बताते हैं; उपशम, क्षयोपशम, उदय और क्षायिकभाव इन सबमें पर की अपेक्षा का भेद होता है, वह सब भेद शुद्धनय में गौण है। शुद्धनय का विषय निरपेक्ष पूर्ण स्वभाव होने से वह शुद्धनय पारिणामिक द्रव्य-स्वभाव सहज एकरूप अखण्डरूप से बताता है, ऐसा ही सम्यक्दर्शन का स्वविषय है। उसे प्रगट करनेवाले शुद्धनय का स्वाश्रित अनुभव चौथे गुणस्थान में विकल्प को तोड़कर होता है। उसमें बाह्य साधन नहीं हैं, स्वभाव स्वयं ही कारण है।

श्रावक और मुनि होने से पूर्व की यह बात है। वस्तुस्वरूप ऐसा है, तथापि यदि कोई उससे इन्कार करे तो उससे दूसरा कुछ नहीं होसकता। मूल समझ के बिना यदि 'साधु' नाम धारण करे तो नाम रखने से कौन इन्कार कर सकता है? यदि किसी अन्धे आदमी का नाम नयनसुख रखा जाये तो वह नाम निक्षेप से ठीक ही है, उसमें गुण की आवश्यक्ता नहीं होती। यदि कोई एक थैले पर यह लिखदे कि इसमें चालीस रुपये मन के भाव की शक्कर भरी हुई है और उसके भीतर कड़वे नीम के पत्ते और लकड़ियाँ भरी हों तो ऊपर लिखे गये नाम मात्र से वे कहीं मीठी नहीं होसकतीं। इसीप्रकार पूर्वापर विरोधरहित आत्मस्वभाव को जाने बिना कोई यह माने कि—मैं धर्मात्मा हूँ, चारित्रवान हूँ तो इससे यदि अन्तरंग में गुण न हो तो आ नहीं जाते। सर्वज्ञ वीतराग ने सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का जैसा

स्वरूप कहा है वैसा माने और जाने बिना अन्तरंग में निराकुल स्थिरतारूप चारित्र नहीं होता।

और फिर वह शुद्धनय आत्मस्वभाव को आदि-अन्त से रहित प्रगट करता है। जैसे पानी का शीतल स्वभाव किसी ने बनाया नहीं है, उसीप्रकार अनन्तगुण समुदाय की रचना के रूप में पवित्र वीतराग आत्मस्वभाव त्रिकाल एकरूप अपनेरूप से है और पररूप से नहीं है, इसे किसी ने बनाया नहीं है, वह किसी समय उत्पन्न नहीं हुआ है। जो 'है' उसकी उत्पत्ति या नाश किसी संयोग, क्षेत्र, काल या भाव में नहीं होता। अखण्ड स्वयंसिद्ध आत्मा की रचना किसी ने नहीं की है, वह किसी पर अवलम्बित नहीं है, और प्रतिसमय परिपूर्ण है—ऐसे नित्य पारिणामिक भाव को शुद्धनय जानता है।

और फिर वह, आत्मस्वभाव को एक—सर्व भेद भावों से (द्वैत भावों से) रहित एकाकार प्रगट करता है; और जिसमें समस्त संकल्प-विकल्प के समूह विलीन होगये हैं ऐसा प्रगट करता है। ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म, राग-द्वेषादि भावकर्म और देहादि नोकर्मरूप ही मैं हूँ, इसप्रकार पर में एकत्व का निश्चय सो संकल्प है और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में जो भेद मालूम होना है सो विकल्प है।

रागद्वेष आत्मा का स्वभाव नहीं है, किन्तु वह निमित्ताधीन क्षणिक होने से दूर होजाता है इसलिये जड़ है। व्यवहार से वह जीव में होता है। उस सबमें अपनेपन की कल्पना करना सो विपरीत श्रद्धा-रूप संकल्प है। पर से हानि-लाभ होता है, शुभाशुभ राग से गुण-लाभ होता है, पर की सहायता आवश्यक है, इसप्रकार जो मानता है वह दो द्रव्यों को एक मानता है। मैं निर्वीर्य हूँ ऐसा मानकर उसने सभी को ऐसा मान रखा है। उसे अक्रिय भिन्न स्वभाव की खबर नहीं है, वह जीव परमार्थसत्य नहीं बोल सकता। बोलने में ज्ञानी व्यवहार से कहता है कि यह शरीर इत्यादि मेरा है, तथापि अंतरंगभाव में बहुत अन्तर होता है। मैं पृथक् हूँ. पर का कर्ता नहीं हूं. तथापि जितना राग

है उस भूमिका के अनुसार लौकिक-व्यवहार जैसा बोलना पड़ता है, किन्तु वह भाव में पृथक्त्व को बराबर समझता है। देह, शब्द, रस, गंध, वर्ण, स्पर्श आदि से मैं भिन्न हूँ, वाणी मेरी नहीं है, मैं उसका कर्ता नहीं हूँ, सदा एकरूप साक्षी ज्ञायक ही हूँ, इसप्रकार वह समझता है; राग-द्वेष की अस्थिरता होती है तथापि दृष्टि में उसका निषेध है। ज्ञानी राग का कर्ता नहीं किन्तु नाशक है। देह धन पुत्रादिक मेरे हैं, इसप्रकार अज्ञानी जीव निश्चय से मानता है इसलिये अज्ञानभाव से वह पर का कर्ता-भोक्ता और रक्षक है।

प्रश्नः—घर का आदमी होता है, तो वह सेवा करता है न?

उत्तरः—कोई पर की सेवा नहीं कर सकता। सब अपने लिये ही अच्छे-बुरे भाव कर सकते हैं। जबतक पुण्य होता है तबतक बाह्य में अनुकूलता सी दिखाई देती है। वास्तव में अनुकूलता या प्रतिकूलता बाह्य में नहीं है। स्वयं अपने में कषाय की आकुलता को कम करके जितनी शांति रखे उतना सुख है। निराकुल स्वतंत्र स्वभाव को जाने बिना आकुलता दूर नहीं होती। स्त्री, देह, धनादि का संयोग मुझे सहायता देगा, इसप्रकार माननेवाले की आकुलता दूर नहीं होसकती। जो यह मानता है कि पर का आश्रय चाहिये, नौकर-चाकर चाहिये, स्त्री चाहिये, उसे निर्दोष एकाकीपन और स्वातंत्र्य अच्छा नहीं लगता। वह पराधीनता का आदर करता है और अपने स्वतंत्र स्वभाव का अनादर करता है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने अपनी सोलह वर्ष और पाँच माह की आयु में एक अद्भुत झनकार की थी कि:—

"सर्वज्ञ का धर्म, सुशर्ण जानो,
आराध्य आराध्य प्रभाव आनो;
अनाथ एकान्त सनाथ होगा,
इसके बिना कोई न बाह्य होगा।"

अपने आत्मा को परिपूर्ण मानकर, उसका बहुमान करके, उसका ही आदर कर, आश्रय कर। उसीका सेवन कर और परमुखापेक्षिता को छोड़; यदि रंकता को छोड़ दे तो पर में जो मूर्च्छारूप अनाथता है वह छूटकर एकान्त स्वाश्रय से सनाथता आजायेगी। जबकि पर में–विकार में स्वामित्व-कर्तृत्व हीन होगा तो संसार स्वतः उड़ जायेगा। जिसने स्वाश्रय को ग्रहण किया उसकी श्रद्धा में समस्त संसार ही उड़ गया। जैसे लग्नमंडप में पहुँचकर यदि दूल्हा को अविवाहित ही वापिस होना पड़े तो वह अति लज्जा की बात मानी जाती है; उसीप्रकार साक्षात् तीर्थंकर की वाणी तक पहुँचकर वैसी ही न्याययुक्त अमृत जैसी निर्दोष वाणी कानों में पड़े और फिर भी अंतरंग से न रीझे और यों ही वापिस चला जाये तो घोर लज्जा की बात है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने छोटी-सी आयु में अपूर्व जागृति की ज्वाला प्रज्वलित की थी। उन्होंने इस तथ्य को समझा और कहा था कि एक स्वाधीन आत्मा की आराधना कर, पर की आशा में या पर की सेवा में कहीं भी शरण नहीं है। ऐसी परमुखापेक्षिता चैतन्यप्रभु के लिये हीनता की बात है कि–मैं बीमार होता हूँ तब श्री पुत्रादिक सेवा करने वाले चाहिये। सर्वज्ञकथित अविनाशी धर्म अर्थात् स्वतंत्र स्वभाव को मानो, वही शरणभूत है; उसकी प्रतीति के बिना, आश्रय के बिना इन्द्रों का वैभव भी अशरण है।

बड़ा देव होगया हो, किन्तु यदि आत्म-प्रतीति न हो, और पर में खूब मूर्च्छा का सेवन किया हो, उसकी पुण्य की स्थिति पूर्ण होने आई हो, या आयु पूर्ण होने में छह मास शेष हों तो वहाँ कल्पवृक्ष, देवभवन और विमान इत्यादि निष्प्रभ दिखाई देने लगते हैं। उसे स्वाधीन स्वरूप की प्रतीति नहीं होती इसलिये वह रोता–चिल्लाता और विलाप करता है। वह मरते समय खूब रौद्रध्यान करता है क्योंकि उसने सत्य का अनादर किया है। जो धर्मात्मा होता है सो आनन्द मानता है कि–मैं उत्तम मनुष्य कुल में जाकर दीक्षा ग्रहण करके मोक्ष में जाऊँगा; और

वह वहाँ तीर्थंकर भगवान की शाश्वत मूर्ति के चरणों में नतमस्तक होकर शांतिपूर्वक शरीर को छोड़ता है।

यहाँ संकल्प का अर्थ है सामान्य में भूल अर्थात् त्रिकाल सम्पूर्ण-स्वभाव की श्रद्धा में भूल, जोकि दर्शन मोह है; वह अनन्त-संसार में परिभ्रमण करने का मूल है।

जो विकल्प है सो विशेष में भूल है, वह चारित्रमोह है। ज्ञान से देहादिक अनेक संयोगों का परिवर्तन ज्ञात होता है, उसमें पर-ज्ञेयों के बदलने पर मैं खंड-खंड होगया हूँ, मेरा जन्म हुआ है, मैं वृद्ध होगया हूँ, मुझे रोग हुआ है, शरीर में जो भी क्रिया होती है वह मेरी क्रिया है, ऐसा मानकर पर में अच्छे-बुरे भाव से पुण्य-पाप की वृत्ति उठती है सो वह अनेक भेदरूप से मैं हूँ ऐसा विकल्प (विशेष आचार) चारित्र मोह है। निमित्त तथा रागादिरूप मैं हूँ, इसप्रकार पर में भटक जाना, राग में एकाग्र होना सो अनन्तानुबन्धी कषायरूप चारित्र मोह है।

चैतन्य आत्मा के ज्ञान की स्वच्छता में जो कुछ दूर या निकट की परवस्तु ज्ञात होती है, उसकी अवस्था में जो परिवर्तन होता है उसे वह अपने में ही जानता है, इसप्रकार की मान्यतारूप जो प्रवृत्ति है सो विकल्प है। पराधीनता का और राग-द्वेष औपाधिक भाव का आदर एवं स्वतंत्र चिदानन्द आत्मा का अनादर सो अनन्तानुबन्धी क्रोध है; परवस्तु और निमित्तरूप कर्म मुझे राग-द्वेष-मोह कराते हैं और मैं पर का कुछ कर सकता हूँ—यह मानना सो अनन्तानुबन्धी मान है; अक्रिय, स्वतंत्र स्वभाव को न मानना, देहादि-रागादि से ठीक मानना सो अनन्तानुबंधी माया है; मैं परवस्तु में लुब्ध होगया हूँ, यदि पुण्यादि साधन हों तो मुझे गुण-लाभ हो, शुभाशुभभाव मेरे हैं, उनका मैं कर्ता हूँ; इत्यादि प्रकार से मूर्च्छित होजाना सो अनन्तानुबन्धी लोभ है। संकल्प-विकल्प का नाश करने वाला जो सम्यक्संकल्प है सो सम्यक्-दर्शन है, और इन्द्रियों की ओर के योग के बिना स्वरूप सन्मुख जो

आंशिक स्थिरभाव प्रवर्तमान होता है सो स्वरूपाचरणरूप सम्यक्‌विकल्प है। वह ज्ञान की क्रिया है।

धर्म के नाम पर प्रमाण, नय, निक्षेप, नवतत्व, छहद्रव्य, इत्यादि का मन द्वारा विचार करने पर तत्सम्बन्धी अनेक विकल्परूप राग में एकाकार होकर अनेक भेदों को प्राप्त करना और यह भूल जाना कि मैं पृथक् साक्षी ज्ञायक ही हूँ सो अज्ञानी के विकल्प हैं। ज्ञानी के तो वह ज्ञेय हैं, क्योंकि उसकी दृष्टि अखण्ड गुण पर पड़ी है। पूर्ण एकत्वस्वरूप शुद्ध साध्य की रुचि की महिमा अखण्ड ज्ञानरूप से आत्मा में ही प्रवर्तमान रहती है। वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति से शुभाशुभ विकल्प में युक्त होता है, किन्तु साथ ही पृथक्त्व की प्रतीति है और राग का निषेध रहता है इसलिये एकरूप ज्ञायकस्वभाव का लक्ष स्थिर करके अनेक भेदरूप परविषय को जानते हुए भी अपने में अखण्ड ज्ञानस्वभाव का ही अनुभव करता है। मैं अपने को जानता हूँ, इसप्रकार के एकत्व का निश्चय ज्ञानी का संकल्प है, और ज्ञेयों के भेद को भिन्नरूप से जानने पर दूसरे की ओर की वृत्ति को खींचकर एकाकार ज्ञानमात्र का अनुभव करना सो ज्ञानी का विकल्प (विशेष आचार) है।

अहो! इस तेरहवीं गाथा में भूल को भूला ही दिया है। सम्पूर्ण समयसार की प्रारम्भिक जड़ इसी गाथा में विद्यमान है। अरे! पूर्व की भूल थी भी या नहीं, इसप्रकार भूल को भुला देने वाली यह गाथा है। इसे न समझा जासके, ऐसी तो बात ही नहीं है। भूल तो है ही कहाँ? थी ही कब? भूल कभी है ही नहीं। स्वभाव ही त्रिकाल प्रकाशमान है।

सम्पूर्ण मार्ग स्वसन्मुख पुरुषार्थदशा का है। इस समयसार की प्रत्येक गाथा मोक्षदायिनी है। गाथा में मोक्ष नहीं किन्तु समझ में मोक्ष है।

राग-द्वेष युक्त अवस्था के समय भी आत्मा का शुद्धस्वभाव प्रकाशमान है। स्वभाव की शक्ति त्रिकाल है, इस शुद्धस्वभाव का अनुभव कर! इसप्रकार श्री परमगुरु आशीर्वाद देते हैं।

चौदहवीं गाथा की भूमिका

शुद्धनय के द्वारा स्वाश्रय से शुद्ध श्रद्धासहित निर्मल आत्मधर्म प्रगट होता है। परद्रव्य, परभाव और द्रव्यकर्म के सम्बन्ध से अपनी अशुद्ध योग्यता से होने वाला जो विकार है-उस सबसे भिन्न, निरपेक्ष, निर्विकार, एकान्त बोध स्वरूप, अखण्ड ज्ञायक आत्मा है। उसके लक्ष्य से, शुद्धनय के अनुभव से जो एकाग्र हुआ सो आत्मानुभवरूप धर्म है। इसप्रकार तेरहवीं गाथा में शुद्धनय की महिमा को सुनकर योग्य शिष्य को यह समझने की जिज्ञासा हुई है कि-शुद्धनय कैसा है और वह आत्मा को किसप्रकार बतलाता है। मैं असंग और अविकारी हूँ-यह अन्तरंग में विचार करने पर समझ में आजाता है; किन्तु विशेष निर्णय के लिये स्वभाव के लक्षण से समझाइये कि शुद्धनय का प्रगट अनुभव अथवा सम्यक्दर्शन किसप्रकार होता है?

शुद्ध पारिणामिक भाव अथवा पूर्ण आत्मस्वरूप को पाँच भावों से जानने पर एकरूप, निर्मल स्वभावरूप से आत्मा का अनुभव होता है। आत्मा स्वयं परमेश्वर है उसके दर्शन होते हैं-यह बात चौदहवीं गाथा में कहते हैं:—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १४ ॥

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतम्।
अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ॥ १४ ॥

अर्थः—जो नय आत्मा को बन्धरहित और पर के स्पर्श से रहित, अन्यत्वरहित, चलाचलितारहित, विशेषरहित और अन्य के संयोग से रहित ऐसे पाँच भावरूप देखता है उसे हे शिष्य! तू शुद्धनय जान।

यहाँ परमार्थरूप का निर्णय कराते हैं। वर्तमान अवस्था में बंधन और विकार व्यवहार से है। निश्चय से आत्मा विकाररहित और

अबन्ध है। व्यवहार से यह कहा जाता है कि समुद्र को बांध दिया है, किन्तु वास्तव में तो समुद्र के निकट स्थित नगर का किनारा बाँधा जाता है; इसीप्रकार आत्मा ज्ञानानंदरूप से अनन्त है, वह किसी से बंधा हुआ नहीं है, विकार-दोष-दुःखरूप नहीं हुआ है। भेद को गौण करके वर्तमान में भी मुक्तस्वभाव, पूर्ण हूँ, इसप्रकार प्रथम श्रद्धा करना सो सम्यक्दर्शन है।

अरूपी भगवान आत्मा को पर का बन्धन नहीं हुआ, मात्र वर्तमान अवस्था में पर का बन्धन मान लिया है। आत्मा तो सदा ज्ञायकस्वभाव ही है, पृथक् ही है उसे न किसी ने बाँधा है और न किसी ने रोका है। इसका एक दृष्टान्त देकर यहाँ समझाया जारहा है:—

एक मकान के भीतर तीसरे कमरे में जो भोंयरा (तलघर) है; उसमें एक तिजोरी रखी हुई है, उसके भीतर अन्तिम खाने में एक डिब्बी में हीरा रखा हुआ है। यद्यपि वह बहुत दूर है और उसके मालिक ने आँखें बन्द कर रखी हैं तथापि वह हीरा ज्ञान में स्पष्ट झलक रहा है; उसके जानने में बीच में आने वाली बड़ी-बड़ी दीवारें बाधा नहीं डाल सकतीं। हीरे को रखते समय भले ही राग-द्वेष किया हो, किन्तु उसके ज्ञान की स्मृति के समय राग-द्वेष साथ में नहीं आते, इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान में विकार नहीं है। जब उसे याद करना चाहता है तब चाहे जिस क्षेत्र में याद कर सकता है, इसलिये उसे किसी क्षेत्र, काल, संयोग का बंधन नहीं है। शरीर को कारागार में बन्धन से बांध रखा हो, फिर कहे कि-घर सम्बन्धी, राज्य सम्बन्धी या दूसरी कोई व्यक्तिगत बात को याद नहीं करेंगे तथापि यदि याद करना चाहे तो याद कर सकता है, क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मा बन्धनबद्ध नहीं है—खुला हुआ है, वह किसी के आधीन नहीं हैं। बाह्य संयोगी वस्तुऐं बन्धन या मुक्ति उसके कारण से हुआ करती है, किन्तु आत्मा को यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाये तो उसे पर से बंधन या मुक्ति नहीं है।

जो अपने को बन्धन या उपाधियुक्त देखता है उसे अवस्थादृष्टि से संसार ही है। जिसने अखण्ड ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करली है वह तो मुक्त ही है। तू पूर्णज्ञानानंद की मूर्ति, और सबका ज्ञाता है। इसे भूलकर यह मानना कि मैं अपूर्ण हूँ, हीन हूँ या परमुखापेक्षी हूँ, अथवा पर से बद्ध और दबा हुआ हूँ तो यह भगवान आत्मा के लिये कलंकरूप है। बन्धन तो पर की अपेक्षा से और पराश्रयरूप व्यवहार से कहलाता है। यदि स्वाश्रयदृष्टि से देखे तो तुझमें त्रिकाल में भी बन्धन नहीं है।

जीव आँख की कौड़ी (गटा) से नहीं किन्तु ज्ञान से देखता है। जैसे—यदि आँख पर पट्टी बाँध दी जाये तो दिखाई नहीं देता और जब पट्टी दूर कर दी जाती है तो दूरस्थ पदार्थ दिखाई देने लगते हैं। किन्तु पट्टी का बन्धन पट्टी में है, आँख के लिये बंधन नहीं है; इसप्रकार यदि पहले पट्टी के पृथक्त्व तो न जाने तो पट्टी दूर नहीं की जासकती; इसीप्रकार आत्मा में कर्म के संयोग से, व्यवहार से राग-द्वेष, अज्ञान का बन्धन अपनी योग्यता से है, किन्तु उसीसमय पृथक्त्व स्वभाव की प्रतीति करके असंयोगी, पवित्रस्वभावी दृष्टि का बल (झुकाव) करे तो अवस्था में निर्मल होजाता है। निश्चय से पर की अपेक्षारूप बन्ध-मोक्ष ध्रुवस्वभाव में नहीं है। वर्तमान विकारी योग्यता, बन्धनरूप संयोग तथा संसार-मोक्षरूप अवस्था, समस्त प्रकारों को जानने वाला हूँ, ऐसा देखने पर असंयोगी एकरूप ज्ञानस्वभाव त्रिकाल अबन्ध ही है, किसी के साथ एकमेक नहीं होगया है।

कोई स्वयं अपने को भूलकर भले ही यह माने कि कर्मों ने मुझे मार डाला, मैं बंध गया; मैं हैरान होगया; किन्तु क्षणिक संयोग को जानने वाला संयोगरूप, दोषरूप या द्विविधारूप नहीं होजाता। यदि वास्तव में बन्धनरूप या पराधीन होगया हो, उपाधियुक्त या रागी-द्वेषी होगया हो तो क्षणभर को भी उस स्थिति से अलग नहीं रह सकता। एकक्षण पूर्व जैसा क्रोध होता है उसीप्रकार का

क्रोध पुनः नहीं कर सकता । जो जिसका स्वभाव होता है वह उससे किसी भी परिस्थिति में अलग नहीं होसकता ; ज्ञानस्वभाव आत्मा में ऐसा स्वतंत्र है कि कभी भी आत्मा से अलग नहीं होता, और वह किसी में पकड़ा हुआ या बंधा हुआ नहीं है । इसलिये अनन्त गुण स्वरूप आत्मा को शुद्धनय से देखने पर त्रिकाल में भी बन्धन नहीं है ।

भगवान आत्मा स्वभाव की महिमा को भूलकर अहंकार का ऐसा घटाटोप करता है कि—मैं संसार और शरीरादि के काम कर सकता हूँ, मैं पर की व्यवस्था कर सकता हूँ; और इसप्रकार बाह्यप्रवृत्ति में अति उत्साह और अपना बल बतलाता है । वह अपनी भगवत्ता को भूलकर पुण्य-पाप की विष्टा का आदर करता है, किन्तु उसे यह भान नहीं है कि इसप्रकार तो अविकारी, स्वतंत्र स्वभाव की हत्या होती है । बाहर से जो पुण्य के धूरे दिखाई देते हैं सो वह तेरी वर्तमान चतुराई या सयान का फल नहीं है । बहुतों को हस्ताक्षर करना तक नहीं आता और बुद्धि का कोई ठिकाना नहीं रहता तथापि वे लाखों रुपया कमाते हैं; दूसरी ओर अनेक बुद्धिमानों को पच्चीस-पचास रुपया तक नहीं मिलते; इससे सिद्ध हुआ कि बाह्य वस्तु तेरे अधीन नहीं है । उससे तुझे गुण-दोष नहीं होता । स्वतंत्र चिदानन्द स्वभाव को देख । जिस स्वरूप को तू समझ सकता है उसी की बात तुझसे कही जारही है । यदि पर में एकमेक होगया हो तो ऐसी ध्वनि नहीं उठ सकती कि—बंधन और दुःख का नाश करूँ । जिससे मुक्त होने की ध्वनि उठे उस पर दृष्टि करे तो ऐसे एकाकी स्वतंत्र स्वभाव की प्रतीति हो कि मैं बंधनरूप, पर की उपाधिरूप नहीं हूँ । और उसकी दृष्टि बंध से हट जाय । यद्यपि कर्म संयोग वाली अवस्था है तथापि श्रद्धा में निषेध होगया है इसलिये एक दृष्टि से मुक्त होगया है । परमार्थ से बन्धन उपाधि नहीं है, फिर व्यवहार से चारित्र की अपेक्षा से पुरुषार्थ की अशक्तिरूप अल्प अस्थिरता का जो राग रह जाता है उसका प्रतीति

के बल से अभाव होता हुआ देखता है। मैं त्रिकाल मुक्तस्वभाव हूँ, संयोगरूप या विकाररूप नहीं हूँ; इसप्रकार मुक्तस्वभाव को समझकर स्वीकार करने पर अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ आजाता है। एकरूप स्वभाव की दृष्टि में स्वयं अनन्त ज्ञानानन्द स्वभाव से पूर्ण पुरुषार्थ से भरा हुआ है; इसे स्वीकार करने पर, अनन्त-संसार टूट जाता है। स्वभाव की प्रतीति में विद्यमान रहकर देखने वाले को भव दिखाई नहीं देता। और वह यह जानता है कि जैसे सिद्ध भगवान हैं वैसा ही मैं हूँ, जो उनमें नहीं है वह मुझमें भी नहीं है।

जैसे-एक डिब्बी में हीरा रखा हुआ है, किन्तु वह मुक्त ही है। डिब्बी डिब्बी में, और हीरा हीरे में है। ऐसा मानना वह दृष्टि में मुक्ति, और एकाग्रता से ग्रहण कर लेना सो स्थिरता में मुक्ति है। जैसा कि पिछली गाथाओं में कहा गया है वैसा आत्मस्वरूप जानकर वर्तमान अवस्था में राग-द्वेष और कर्म का निमित्त तथा देह का संयोग है तथापि अवस्था को गौण करके, असंयोगी मुक्त ज्ञायकस्वभाव को उसके परमार्थ स्वरूप से देखना, मानना सो उस अपेक्षादृष्टि से मुक्ति और स्वभाव के बल से स्थिरता पूर्वक विकार का नाश करने पर मात्र आत्मा रह जाता है सो चारित्र की अपेक्षा से मुक्ति है। जैसे-हीरा डिब्बी से और डिब्बी के मेल से भिन्न था इसलिये वह अलग हो सका, उसीप्रकार आत्मा स्वरूप से देहादिक तथा रागादिक से भिन्न था इसलिये उसे भिन्न मानकर और जानकर स्थिरता से अलग-मुक्त होसकता है।

पहले ही मुक्त हूँ-ऐसे निर्णय का स्वाश्रित बल उस अवस्था में मुक्त होने का कारण है। अन्तरंगदृष्टि से स्वभाव में एकाग्र होने पर अल्पकाल में पुण्य-पाप के विकार से मुक्ति होती है। बाह्यसंयोग अपने ही कारण से छूट जाते हैं यह सब अन्तरंग मार्ग की बात है। लौकिक मार्ग से बिल्कुल भिन्न मात्र अध्यात्म की प्रयोजनभूत बात है। उसमें यथार्थ निश्चय-व्यवहार क्या है, इसका ज्ञान आजाता है। यह

परम सत्य है, इसे समझकर स्वाधीन सत् की शरण में आना पड़ेगा। व्यवहारिक नीति का पालन करे, तृष्णा को कम करे, यह सब पाप को दूर करने के लिये ठीक है, किन्तु यदि उसमें संतोष मानले तो स्वभाव की शांति नहीं मिलेगी। लोग बाह्य में ही धर्म मान बैठे हैं, अन्तरंग तत्व क्या है इसकी उन्हें रुचि नहीं है। पूर्वा पर विरोधरहित न्याय से जो वस्तु को जानता है उसे अन्तरंग से अपना निःसंदेह निर्णय प्राप्त होता है। त्रिकाल के ज्ञानियों ने परमतत्व का सार-समयसार ऐसा ही कहा है, अन्यप्रकार नहीं। जगत माने या न माने, किन्तु यह तीनलोक और तीनकाल में बदल नहीं सकता।

आत्मा को बन्धरहित कहने पर यह निश्चय होता है कि वह कर्म से स्पर्शित एवं सम्बन्धित नहीं है। उसका किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में, किसी भी संयोग में परवस्तु के साथ स्पर्श नहीं हुआ है। जिसने घी का घड़ा देखा है किन्तु घी के संयोग से रहित अलग घड़ा नहीं देखा वह व्यवहार से यही कहता है कि यह 'घी का घड़ा है,' तथापि मिट्टी का ही है; इसप्रकार अज्ञानी ने अनादिकाल से देह को ही आत्मा मान रखा है. उसने असंयोगी भिन्न आत्मा को नहीं देखा। उसने व्यवहार से देहवान-इन्द्रियवान मनुष्यादि को जीव कहा है और वही मैं हूँ, उसकी जो क्रिया है सो मेरी क्रिया है, जो उसके गुण हैं सो मेरे गुण हैं इसप्रकार जिसने मान रखा है उसे देह से, देह की क्रिया से, रागादि से भिन्न बताने के लिये ज्ञानी शुद्धनय का उपदेश देते हैं। देहादिक अचेतन हैं वह तेरे रूप नहीं हैं, तू सदा अरूपी ज्ञाता दृष्टा है, पर का कर्ता-भोक्ता नहीं है। व्यवहार मिथ्या है, त्याज्य है, लौकिक में हँसकर परिभ्रमण करेगा। देह पर दृष्टि है इसलिये आत्मा बाहर से सब कुछ मानता है। रंकवत् होकर ऐसा मानता है कि यदि कोई मेरे लिये अनुकूलता कर दे तो ठीक हो और यदि कोई मेरी प्रशंसा करे तो अच्छा हो। यदि कोई चाय पिला देता है या पान खिला दे तो उसका बदला चुकाने

के लिये अमुकप्रकार से बोलने लगता है; किन्तु यह नहीं समझता कि मेरा और पर का त्रिकाल में भी कोई सम्बन्ध नहीं है।

कितने ही लोग समयसार परमागम का विपरीत अर्थ करते हैं, वे भी स्वतंत्र हैं। वे मूल रकम को (वस्तुस्वभाव को) ही उड़ा रहे हैं। जो कुछ सर्वज्ञ वीतराग ने कहा है उसीसे इन्कार करते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ एक दृष्टान्त दिया जारहा है:—

एक ग्राम में एक किसान है जोकि एक वणिक की दुकान से सदा लेन-देन करता रहता है और बारह महीने में अपना हिसाब साफ करता है। जब दुकानदार हिसाब करते समय कहता है कि देखो तुम्हारे यहाँ एक सेर मिरच गई है, पाँच सेर नमक गया है, आध सेर हल्दी गई है; तब वह किसान ऐसी छोटी-मोटी चार-छः रकमों को स्वीकार कर लेता है, किन्तु जब उसे यह बताया जाता है कि तूने पच्चीस रुपये नक़द लिये थे और पचास रुपया लड़की की विदा के समय लिये थे जोकि तेरे नाम लिखे हैं। तब वह चोंककर कहता है कि अरे! इन पच्चीस रुपयों की तो मुझे कुछ खबर ही नहीं है और वे पचास रुपये मैंने कब लिये थे? इसप्रकार वह किसान बड़ी और मूलरकम को उड़ाना चाहता है और हायतोबा मचाता है। इसीप्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव के द्वारा कहे गये न्याय के साथ जब अज्ञानी (किसान) का हिसाब होता है तब वह (किसान-भगवान आत्मा) अपने को भूलकर इन्कार करता है और मुख्य-मूलरकम को उड़ा देता है। जब यह कहा जाता है कि क्रोध करने से पाप लगता है, तो कहता है कि सत्यवचन महाराज! इसप्रकार बाह्य व्यवहार की स्थूल बातों में हाँ में हाँ मिलाता है, किन्तु जब यह कहा जाता है कि-राग-द्वेष-मोह तेरा स्वरूप नहीं है, व्यवहार से भी तू पर का कर्ता नहीं है तब वह कहता है कि भला यह कैसे होसकता है, यह तो बिल्कुल मिथ्या बात है। अभी तो मैं बन्धयुक्त और पर का कर्ता ही हूँ, रूपी-जड़ जैसा ही हूँ, और इसप्रकार भिन्नस्वभाव का

निषेध करता है। कभी-कभी दो-चार व्यवहार की बातों को स्वीकार भी कर लेता है, किन्तु जब यह कहा जाता है कि जो पुण्य है सो विकार है, व्रतादि के शुभभाव भी आस्रव हैं, उनमें संवर निर्जरा नहीं होती तब वह चिल्लपों मचाने लगता है। त्रिकाल के ज्ञानियों ने कहा है कि विकार से अविकार नहीं होसकता; जिस भाव से बन्ध होता है उस भाव से किसी भी अपेक्षा से गुण-लाभ नहीं होसकता; जब ऐसी न्याय की बात कही जाती है तब वह (अज्ञानी आत्मा) इसे नहीं मानता; सो यह भगवान के बहीखाते का ऋण न चुकाने की बात है।

'धर्म को अधर्म मानना मिथ्यात्व है' इसप्रकार बारम्बार रटता है, किन्तु पक्षपात की दृष्टि को छोड़कर विचार नहीं करता। जगत में मिथ्यादर्शन के समान कोई दूसरा महापाप नहीं है। स्वरूप में विपरीत मान्यता ही अनन्त चौरासी के अवतार का मूल है। सर्वज्ञकथित नवतत्व, निश्चय व्यवहार और दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप मूलरकम है; उसका विपरीत अर्थ करने वाले और सत्य का निषेध करने वाले उस किसान की भाँति हैं।

यदि पराधीनता का नाश करके सुखी होना हो तो स्वयं सावधान होकर न्यायपूर्वक निर्णय करो। अपने लिये सत् को स्वीकार किये विना छुटकारा नहीं। जो देहादि का बन्धन है सो मैं नहीं हूँ, मैं तो बन्धनरहित पूर्ण प्रभु हूँ, इस मूलरकम को स्वीकार कर। फिर यदि छोटी रकम में भूल होगी तो वह निकल जायेगी। किसी की जवाहिरात की, कपड़े की और शाक-भाजी की दुकान है, यदि वह शाक-भाजी बिगड़ जाने के भय से उसी दुकान पर खूब ध्यान रखे और उसी में लगा रहे तथा यह न देखे कि कपड़े की और जवाहिरात की दुकान में कितनी क्या हानि होरही है तो वह योग्य नहीं कहलायेगा। उसे इतनी खबर नहीं है कि यदि जवाहिरात की दुकान पर विशेष ध्यान रखूँगा तो कपड़े और शाक-भाजी दोनों दुकान की हानि की पूर्ति स्वयमेव

होजायेगी। इसीप्रकार आत्मा के मूलस्वभाव को यथार्थरूप में मानना सो जवाहिरात का व्यापार है, उस स्वभाव के लक्ष्य के बाद बीच में व्यवहार-रूप राग के भेद होंगे तो पूर्णस्वभाव की रुचि का बल उसकी हानि की पूर्ति करके मोक्ष प्राप्त करा देगा। जो निश्चयस्वभाव की ओर नहीं देखता वह हानि का खाता खड़ा रखकर अपने प्रिय व्यवहार को मानता हुआ संसाररूपी माग भाजी का व्यवसाय करता रहता है।

न तो बाहर प्रतिकूलता है और न भीतर; आत्मा में ही प्रतिकूलता, दोष या दुःख है। मात्र बाह्य निमित्ताधीन दृष्टि से पर में अच्छा-बुरा मान रखा है; उसके द्वारा राग में एकाग्र होकर रुक जाना सो बन्धन है। क्षणिक, एकसमयमात्र की नई अवस्था करता है तब होती है; मैं उतना नहीं हूँ-ऐसी प्रतीति करके स्थिर हो तो विकार दूर होसकता है। बाहर की अनुकूलता-प्रतिकूलता नहीं देखनी है. संयोग वियोग का किसी को सुख-दुःख नहीं है, जितना तृष्णारूपी मोह है उतना ही दुःख है। जीव नवग्रैवेयक के पुण्य के संयोग में और सातवें नरक के के महापाप के संयोग में अनन्तवार गया है। जहाँतक पर संयोग पर अच्छे बुरे की दृष्टि है वहाँतक अनन्त संसार के मूल को स्वयं पुष्ट कर रहा है; अपने को भूलकर अपने भाव में अनन्त हिंसारूप प्रतिकूलता निज में ही कर रहा है।

प्रत्येक आत्मा अपनेपन से है, कर्म के रजकणरूप, देहादिरूप, देह की क्रियारूप अथवा किसी भी संयोगादिकरूप से त्रिकाल में नहीं है। प्रत्येक आत्मा पूर्ण प्रभु है ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है। मैं पररूप नहीं हूँ अन्य आत्मारूप नहीं हूँ, निजरूप हूँ, इसलिये पर मुझे हानि-लाभ नहीं कर सकता; इसप्रकार पर से पृथक्त्व मानना सो सम्यक् समझ है।

राग-द्वेष-अज्ञानपोषक देव, गुरु, शास्त्र को आत्मकल्याण में उपकारी मानना सो मिथ्याश्रद्धा है। मिथ्याप्रमाण और मिथ्यायुक्तियों से आत्मा को पर का कर्ता सिद्ध करे और यह माने कि कोई मुझे सुधार या बिगाड़ सकता है, पुण्य-पाप के विकारी भावों से नया बंध

होता है, उसको मोक्ष का कारण माने, एवं देह की क्रिया को मैं कर सकता हूँ इत्यादि पराश्रयरूप भाव मिथ्यात्व है।

पराश्रितभाव से पर को अपना मानना सो व्यवहार है। जगत में ऐसा झूठा व्यवहार चल रहा है वह आदरणीय नहीं है। किन्तु उसे आदरणीय माने और यह माने कि मैं पर का कर्ता हूँ तो वह छोड़ने योग्य व्यवहार ही निश्चय होगया।

पर के संयोगाधीन विकार हैं, जड़कर्म मुझे राग-द्वेष नहीं कराते, पर से लाभ हानि नहीं होता, किन्तु निमित्ताधीन विकारी अवस्था जीव की योग्यता से की जाती है, वह मेरा स्वरूप नहीं है; शुभराग भी आदरणीय नहीं है, सहायक नहीं है; इसप्रकार पर की ओर के लक्ष्य को छोड़ देना सो व्यवहारनय है। पर से लाभ-हानि मानना, अपने को पर का कर्ता मानना सो स्थूल मिथ्यात्वरूप व्यवहाराभास है।

स्वाश्रित स्वभाव को अपना मानना सो निश्चयनय है। पराश्रित भाव को स्वाश्रित मानना सो निश्चय में भूल है। परलक्ष्य के बिना शुभाशुभ राग नहीं होसकता। जितने शुभाशुभ राग हैं वे अशुद्ध भाव हैं। शुभाशुभ भाव को अपना स्वरूप मानना, उसे गुणकर मानना और करने योग्य मानना सो निश्चयमिथ्यात्व-अग्रहीतमिथ्यात्व है। जो विकार को कर्तव्य मानता है वह अविकारीस्वभाव को नहीं मानता। पूर्ण अविकारीरूप से अपने स्वभाव को मानना सो यथार्थदृष्टि है। उसके बल के बिना त्रिकाल में भी किसी का हित नहीं होसकता।

प्रश्नः—पर के लिये उपकारी होना चाहिये या नहीं ?

उत्तरः—कोई जीव पर का उपकार या पर की अवस्था त्रिकाल में भी नहीं कर सकता। व्यवहार से पर का कर सकता हूँ-यह मानना भी मिथ्या है। स्वयं दया, दान और सेवा के शुभभाव अथवा हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि के अशुभभाव कर सकता है, सो तो अपनी ओर का कार्य हुआ, वह किसी के लिये नहीं करता; वह तो अपने को

अच्छा लगता है इसलिये राग की चेष्टा करके पर का आरोप करता है।

प्रश्नः—यदि अस्पताल न हो तो रोगी क्या करें ?

उत्तरः—जिसका पुण्य होता है उसके लिये अनुकूल निमित्त उपस्थित होते ही हैं। जब अस्पताल बनना हो तब वह बने बिना नहीं रह सकता। निमित्त का होना या न होना सो उसके कारण से है। संयोग के मिलने पर भी रोग नहीं मिटता और संयोग प्राप्त न हो तो भी रोग मिट जाता है। किसी वस्तु की अवस्था किसी के आधीन नहीं है, देह का रोग मिट जाने से आत्मा को कोई लाभ नहीं होता। जबतक देह पर दृष्टि है तबतक अनन्त शरीर धारण करता रहेगा।

यदि दाल-रोटी, और रुपया-पैसा इत्यादि के संयोग से सुख होता हो तो असंयोगी आत्मा को कौन याद करता ? नारकी के शरीर में महाभयंकर रोग होते हैं तथापि वहाँ भी आत्मप्रतीति करने वाला शांति का वेदन करता है। परसंयोग के साथ किसी के गुण-दोष का संयोग नहीं है, किन्तु अपनी विपरीतदृष्टि का आरोपमात्र करता है। देहादिक जड़ पदार्थों को कोई खबर नहीं होती, वे तो अन्धे हैं, इनमें अच्छा-बुरा कुछ नहीं है; ज्ञानस्वभाव में अच्छे-बुरे का भेद नहीं है। बीच में विपरीत श्रद्धा की शल्य को पकड़कर उठाईगीरपन से अच्छे-बुरे, उपकार-अनुपकार की कल्पना करता है सो यह विपरीतदृष्टि की महिमा है। मैं मुक्तस्वभाव हूँ, पर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है-यह जानकर निमित्ताधीनदृष्टि को गौण करके स्वभाव की ओर एकाकार लक्ष्य करना सो सम्यक्दर्शन का बल है। उसके द्वारा पूर्णस्वभाव को मानना सो सच्ची दृष्टि है, जोकि सर्व समाधानरूप सुख का कारण है।

जो इस आत्मा को पांच भावों से मुक्त, पूर्ण एकरूप, ध्रुवस्वभावरूप बतलाता है उसे हे शिष्य ! तू शुद्धनय जान। आचार्यदेव ने 'विजानीहि'

अर्थात् विशेषरूप से जान, इसप्रकार 'आदेश'-वचन देते हुये कहा है। उसमें जो योग्य बनकर, अपूर्व उत्साहपूर्वक पाँच वचनों से यथार्थस्वरूप सुनने को आया है वह वापिस नहीं जासकता, इसलिये उसे 'विजानीहि' कहा है।

व्यवहारदृष्टि, अवस्थादृष्टि, संयोगाधीनदृष्टि, निमित्ताधीनदृष्टि, पराश्रित-दृष्टि और वर्तमान स्थूलदृष्टि—यह सब एकार्थवाचक हैं; उसके आश्रय से जीव अनादिकाल से अपने को बन्धवाला, हीन, अपूर्ण उपाधिमय और परमुखापेक्षी माना करता है। ज्ञानी उसकी भावनिद्रा को दूर करते हैं। स्वभाव विकार का नाशक है; अविकारी, ध्रुव, और पर से मुक्त है, उसे यह शुद्धनय बतलाता है। राग-द्वेष की बन्धनरूप अवस्था है और उसमें निमित्त की उपस्थिति है, ऐसा जानना सो व्यवहार है। उसमें शुभाशुभ राग को ठीक माने, आदरणीय माने तो उसके व्यवहार ने ही निश्चय का पद लेलिया है। जैसे सिंह को बिल्ली जैसा कहने पर कोई बिल्ली को ही सिंह मान बैठे तो वह समझने के योग्य नहीं है, इसीप्रकार आत्मा का परिचय कराते हुए बीच में शुभरागरूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता, किन्तु ज्ञानी का लक्ष्य व्यवहारनिषेधक परमार्थ पर है, तथापि जिसने अनादि के व्यवहार को ही परमार्थरूप मान लिया है वह नहीं समझ सकता।

टीका:—निश्चय से अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे आत्मा की जो अनुभूति है सो शुद्धनय है और यह अनुभूति आत्मा ही है; इसप्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है। यहाँ आत्मा को अबद्धस्पृष्टरूप से भिन्न अनुभव करने के लिये व्यवहारदृष्टि को गौण करके, वर्तमान में त्रिकालस्थायी पूर्णशक्ति से अखंड ज्ञायकस्वभावी शुद्ध हूँ ऐसी यथार्थ दृष्टि कही है।

अपने को यथार्थस्वरूप मानकर उसमें एकाग्र होकर, अनन्त जीव मोक्ष गये हैं, मोक्ष कहीं बाहर नहीं है; अपनी पूर्ण निर्मल शक्ति को प्राप्त करना सो मोक्ष है। जहाँ विकार का नाश होता है वहाँ जड़कर्म

के अभाव की अपेक्षा से मोक्ष हुआ कहलाता है। वस्तुदृष्टि से मोक्ष नया नहीं है, अवस्थादृष्टि से नया है। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि हम प्रभु हैं और तू भी प्रभु है। पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्ति उत्पन्नध्वंसी है। उसके रक्षक स्वभावरूप में तू नहीं है, तू विकार का नाशक है। यदि ऐसा नहीं मानना चाहता तो तू जन्म-मरण को धारण करता हुआ परिभ्रमण करने के लिये स्वतंत्र है। तुझे बलात् दूसरा कौन समझाये? जब कि तू समझना ही नहीं चाहता तब तीर्थंकर भगवान की बात भी नहीं मानेगा? कोई किसी की नहीं मानता। जो अपने को रुचता है उसे ही मानना है। स्वभाव का विश्वास स्वतः जम जाने पर अनन्त जीव मोक्ष गये हैं।

पैंतालीस लाख योजन के विस्तार वाले ढ़ाई द्वीप में एक रजकण के बराबर भी ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ से अनन्त जीव मोक्ष न गये हों। बाह्याभ्यंतर परिग्रह से रहित नग्नदिगंबर मुनि छट्ठे-सातवें गुणस्थान में सविकल्प-निर्विकल्प ध्यान में झूल रहे हों वहाँ छट्ठे गुणस्थान में आने पर पूर्व भव का शत्रु मिथ्यादृष्टि देव आकर पैर पकड़कर उन्हें मेरुपर्वत से दे मारे अथवा समुद्र में डुबा दे; तथापि वे वीतराग मुनि स्वभाव में एकाग्रता का बल बढ़ाकर मुक्तदशा को प्रगट कर लेते हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे उपसर्ग सहित समुद्र की प्रत्येक बूँद से और एकलाख योजन के मेरुपर्वत के चारों ओर के प्रत्येक भाग से समश्रेणी से ऊर्ध्वगमन करके अनन्त जीव मोक्ष गये हैं। वे वहाँ ध्यान करने नहीं बैठे थे। उपसर्ग देह को होता है। मैं आत्मा चिदानन्द पूर्ण हूँ, कृतकृत्य परमात्मा ज्ञायक ही हूँ। ऐसी प्रतीति के द्वारा भीतर अनन्त सामर्थ्यरूप शक्ति भरी हुई है, उसपर भार देने से सहज मोक्षदशा प्रगट होती है, क्योंकि द्रव्य स्वयं अकारणीय है, स्वयं ही अनन्त पुरुषार्थरूप है, उसके विश्वास की बलिहारी है। बाह्य प्रतिकूलता से किसी का मोक्ष या गुण नहीं रुकता। जगत की अनुकूलता हो तथापि अपने में स्वयं विपरीत दृष्टि से

प्रतिकूल हो तो अपनी विपरीत रुचि के बल में स्वयं ही रुका रहता है। स्वयं तो मूर्च्छित है और दूसरे पर आरोप करता है कि पर मुझे राग-द्वेष और लाभ-अलाभ कराता है, तब वह कब और कैसे सुधरेगा ?

यहाँ पाँच भावों से यथार्थस्वभाव को स्वीकार करके, भेद को भूलकर, अबद्धस्पृष्ट की प्रतीति की; और स्थूलरूप से विकल्प से पृथक् होकर, स्वाश्रित एकाग्र लक्ष्य से स्थिर हुआ सो उसका नाम शुद्धनय का अनुभव-सम्यक्दर्शन है; यही मुक्ति का प्रथम उपाय है। निर्विकल्प सम्यक्दर्शन के समय शुद्धनय के अनुभवरूप से गुण-गुणी के भेद से रहित भगवान आत्मा एकाकार ज्ञात हुआ सो उसे शुद्धनय कहो, आत्मानुभूति कहो या आत्मा कहो-एक ही है, भिन्न नहीं है।

यहाँ शिष्य पूछता है कि अभी अवस्था में विकार है, तथापि जैसा ऊपर कहा है वैसे आत्मा की अनुभूति कैसे होसकती है ? इसके उत्तर में 'विजानीहि' के अर्थ की सन्धि है। शिष्य की ऐसी तैयारी होचुकी है कि उसे सुनते ही अन्तरंग में अव्यक्त आनन्द और रोमांच होजाता है। अहो ! यह बात अपूर्व है। प्रभो ! आपने जो कहा है सो सच है, किन्तु अनुभूति कैसे हो ? अपूर्व वस्तु का स्वरूप सुनकर यदि उत्साहपूर्वक प्रश्न उत्पन्न न हो तो उसने या तो सुना ही नहीं है और या फिर उसे विरोध है कि सारे दिन आत्मा की ही चर्चा होती है।

प्रश्नः—जो हमने मान रखा है उसे करने की तो बात ही नहीं कहते ? पहले व्यवहार के सुधरने की बात क्यों नहीं करते ?

उत्तरः—आत्मा अपने में (भीतर ज्ञान में) सब कुछ कर सकता है, पर में कुछ नहीं कर सकता; इसलिये बाहर का करने को कुछ नहीं कहते। अपने को यथार्थ जाने बिना बाहर की एक भी बात यथार्थरूप से समझ में नहीं आयेगी; इसलिये दुनियाँ की चिंता छोड़कर

चौबीसों घंटे आत्मा की चर्चा करते हैं। दुनियाँ अपने विरोधभाव को घोषित न करे तो क्या करे ? जिसे जो अनुकूल पड़ा सो दूसरे को बतलाता है। आत्मा को छोड़कर जिसे दूसरा और कुछ सुनना हो-ऐसा मदरसा यहाँ नहीं है। यहाँ तो एक ही बात डंके की चोट कही जाती है। यहाँ किसी के लिये कुछ नहीं कहना है; कोई सुने, माने या न माने उसपर आधार नहीं है। जो कहते हैं, उसके अतिरिक्त धर्म के लिये कोई प्रथम सीढ़ी नहीं है। यदि इतना नहीं समझेगा तो त्रस की स्थिति पूरी करके अनन्तकाल के लिये अनन्त जन्म-मरण धारण करने को एकेन्द्रिय वनस्पति निगोद में चला जायेगा। दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के सभी भव धारण करें तो अधिक से अधिक दोहजार सागर की स्थिति होगी,-ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। उसमें यदि यथार्थ मत को न समझा तो उत्कृष्ट असंख्यात पुद्गल-परावर्तन के अनन्तकाल तक एकेन्द्रिय में रहता है। वहाँ सम्पूर्ण शक्ति को हारकर महामूढ़ता की आकुलता का वेदन करता है।

निगोद और एकेन्द्रिय के-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के जीव की कायस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट-सबकी मिलाकर असंख्य पुद्गलपरावर्तन काल की है। एक पुद्गलपरावर्तन के अनन्तवें भाग में जो काल व्यतीत होता है उसमें असंख्यात चौबीसी का लम्बा समय होजाता है। जैसे धागा डली हुई सुई नीचे गिर गई हो तो वह ढूँढ़ने से जल्दी हाथ आजाती है, इसीप्रकार यदि एकबार सम्यक्ज्ञानसहित सच्ची दृष्टि प्राप्त की हो, और फिर भूल होजाय तो अल्पकाल में आत्मस्वरूप की प्राप्ति होसकती है। किन्तु यदि दो इन्द्रिय से जैसे-तैसे मनुष्य हुआ, और तब भी आत्मा की यथार्थ प्रतीति नहीं की, धर्म के नाम पर कदाग्रह में लगा रहा और सत्य का अनादर किया तो त्रस की स्थिति पूर्ण होकर एकेन्द्रिय में जाना पड़ेगा। यदि पुण्य की अधिक स्थिति होगी तो भी नहीं बचा सकेगा, क्योंकि त्रस में रहने की अल्पस्थिति व्यवहार है और

निगोद में अधिक लम्बी स्थिति होने से अशुद्धनिश्चय है। अविरोधी-रूप से तत्व को जानकर सत् का आदर किया तो सत् की आराधना का फल मोक्ष और सत की चिंता न की तो विराधना का फल निगोद है। बीच में त्रस का अल्पकाल व्यवहार में जाता है। सिद्ध भगवान प्रतिसमय अनन्त-आनन्द के अनुभव का संवेदन करते हैं, और इससे विपरीत निगोद में ~~सिद्ध~~ जीव प्रतिसमय अनन्त आकुलतारूप मूर्च्छा का संवेदन करता है। वहाँ नरक से भी अनन्तगुना अधिक दुःख है।

अनन्तकाल में महामूल्य मनुष्य भव प्राप्त किया तब भी सीधा होकर, तत्व का आदर करके, भव की शंका को दूर करके निःसन्देह न हुआ तो उसने जो कुछ माना अथवा किया वह सब स्वभाव से विरोध-रूप है। जिसे अभी भव की शंका बनी रहती है, जिसके ज्ञान में यह बात नहीं जमती कि स्वभाव की स्वीकृति में अनन्त सुलटा पुरुषार्थ होता है वह भगवान की वाणी को समझने की शक्ति कहाँ से लायेगा ? भीतर स्वभाव का लक्ष्य करने पर अनन्त सुलटा पुरुषार्थ और भव का अभाव होता है, ऐसी प्रथमश्रद्धा की बात भव की शंका वाला व्यक्ति नहीं सुन सकता, वह इन्कार करता है। सर्वज्ञ भगवान ने देखा है कि अनन्त पुरुषार्थ से मोक्ष होसकता है; तब यह कहता है कि मुझसे पुरुषार्थ नहीं होसकता; भगवान ने देखा होगा तब होगा, ऐसा कहने वाला मानों तत्व का विरोध करके भगवान को गाली देता है। स्वभाव की श्रद्धा बिना जितना तर्क होता है सो सब विपरीत है।

तत्व की बात समझने योग्य है। जो समझना चाहे वह समझे, और जिसे रुचे वह माने; सत् किसी व्यक्ति के लिये नहीं है। सत् को संख्या की आवश्यकता नहीं है। सत्, सत् पर अवलम्बित है। सत् को किसी की चिंता नहीं होती। त्रिकाल में किसी ने, किसी का न तो कुछ सुना है और न कोई किसी को कुछ सुनाता है, सभी अपने

भाव में अपनी रुचि के गीत गाते हैं। रुचि का खुला निमन्त्रण है, जिसे जो अनुकूल पड़े सो मानता है।

आचार्यदेव यह बात किससे कहते हैं? जो समझने वाला है वो तो समझेगा ही; जड़ को तो कुछ समझना नहीं है, और जो मनरहित पशु हैं वे वर्तमान में कुछ नहीं समझ सकते। लोग कहते हैं कि हमें जो अनुकूल पड़ता है वैसा ही करते रहो; किन्तु अफीम की गोलियाँ मिठाई की दुकान पर नहीं मिलतीं। कोई कहे कि हम तो अफीम के ग्राहक हैं इसलिये हमारे लिये थोड़ी-बहुत तो रखनी ही चाहिये; किन्तु हे भाई! तुमने अनन्तकाल से अफीम खा रखी है—अनन्तबार बाह्य की बातों में लगे रहे हो।

"व्यवहारें लख दोहला, कांइ न आवे हाथ रे;
शुद्धनय स्थापना सेवतां, न रहे दुविधा साथ रे।"

जिसने अमूल्य अवसर प्राप्त करके अपूर्व सम्यक्‌दर्शन का निर्णय आत्मा में नहीं किया उसने कुछ नहीं किया। इस जीव ने अनादि-काल से इसप्रकार भेदरूप व्यवहार का आश्रय किया है कि कोई अवलम्बन चाहिये, पुण्य के बिना नहीं चल सकता, शुभ करते-करते गुण-लाभ होगा; किन्तु उसके मन में यह बात आजतक नहीं जम पाई कि मैं अकर्ता हूँ, विकार का नाशक हूँ, दूसरे की सहायता के बिना अन्तरंग में से गुण प्रगट होते हैं। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि अबद्धस्पृष्ट स्वभाव पहले लक्ष्य में लेना चाहिये। विरोधरहित यथार्थ दृष्टि किये बिना उसका अनुभव नहीं होसकता।

देह की क्रिया देह की योग्यतानुसार होती है। वह जीव के आधीन नहीं है। पुण्य-पाप या धर्म देह की क्रिया से त्रिकाल में भी नहीं होते, क्योंकि जड़ में यदि कुछ हो तो उससे पृथक् अरूपी तत्व को क्या है? अज्ञानी यह मानता है कि उपवासादि करके शरीर इतना सूख गया है, और इतने हैरान हुए हैं, इसलिये अंतरंग में अवश्य ही

गुण लाभ हुआ होगा; किन्तु वीतरागदेव कहते हैं कि यह बात मिथ्या है। पर से आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं होता, जीव अनन्तबार पुण्य की मिठास में लगा रहा है। उससे भिन्न कौनसी वस्तु रह जाती है कि जिसके समझने से भव न रहे, सो यह बात आचार्यदेव यहाँ कहना चाहते हैं।

अवस्था के क्षणिक भेद को गौण करने वाला शुद्धनय आत्मा को कैसा बतलाता है:—

(१) अबद्धस्पृष्टः—वस्तुरूप से शुद्ध। क्षणिक संयोगी वस्तु द्रव्यकर्म है, उसके बंध-स्पर्श से रहित, रागादिक संक्लेशभाव से रहित, परद्रव्य के साथ नहीं मिलने योग्य और असंग; इसप्रकार स्वतंत्र वस्तुरूप से शुद्ध बतलाते हैं। जैसे निर्लेपस्वभाव वाला कमलपत्र होता है।

(२) अनन्यः—स्वक्षेत्र से शुद्ध। नर, नारक, देव, पशु के शरीराकार परक्षेत्र से भिन्न और अपने अरूपी असंख्य प्रदेश से एकमेक है। वर्तमान देहाकारमात्र या उसके विकल्पमात्र जितना नहीं है, उसकी मुझमें नास्ति है मैं त्रिकाल एकरूप हूँ।

(३) नियतः—स्वकाल से अभिन्न। वर्तमान क्षण-क्षण में अवस्था बदलती है उतना नहीं है; किन्तु त्रिकालस्थायी होने से त्रैकालिकशक्ति से नित्य, स्थिर, निश्चल, एकरूप ज्ञायकभाव से हूँ। यदि अवस्थाभेद पर देखा करे तो विकल्प नहीं टूटता; किन्तु राग की उत्पत्ति होती है। उसमें समुद्र का दृष्टांत है।

(४) अविशेषः—स्वभाव से अभेद। वस्तुदृष्टि में गुण-गुणी का भेद नहीं है। सामान्य एकभावस्वरूप ध्रुव हूँ। यहाँ सोने के दृष्टांत से विशेष समझना चाहिये। इन चार कणिकाओं से आत्मा को जाना, जिसका फल निःसंदेह अनुभव से ज्ञात होता है।

(५) असंयुक्तः—वर्तमान क्षणिक अवस्था में, परनिमित्त में युक्त होने से उत्पन्न होने वाले पुण्य-पाप के भावों से भिन्न; पर-पर्याय में

संबंधरूप राग-द्वेष की एकाग्रता के संवेदन से मैं मोहकर्म में संयुक्त हूँ, इसप्रकार बंधभाव से बंधा हुआ था; उस संयोगाधीन दृष्टि को स्वलक्ष्य के द्वारा तोड़कर मैं परस्प-रागरूप नहीं हूँ, इसप्रकार त्रिकाल निर्मल एकाकार स्वभाव को लक्ष्य में लेकर पूर्ण असंग ध्रुवस्वभाव का मंथन करने पर स्वभाव में एकाग्रदृष्टि का बल देने पर सम्यक्दर्शन, ज्ञान और आंशिक स्थिरतारूप निर्मल पर्याय प्रगट होकर भूलरूप और विकाररूप अवस्था का नाश होता है। मैं त्रिकाल एकाकार अखंडज्ञायक हूँ, इसप्रकार शुद्धनय के बल से अपनी अबद्धस्पृष्टता अनुभव में आती है।

शुद्धनय का विषय ही सम्यक्दर्शन का विषय है। अबद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावों से शुद्ध आत्मा ऐसा है, यों कहते ही पात्रता से ग्रहण करने वाला शिष्य अन्तरंग से प्रफुल्लित होकर उसके अनुभव के लिये प्रश्न करता है।

(यहाँ उत्तमबोध अपूर्व देशनालब्धि के द्वारा ग्रहण करने वाले भव्य--उपादान और सत् का कथन करने वाले साक्षात्-ज्ञानी-निमित्त की अलौकिक संधि की गई है।)

हे भगवन्! आपने जो ऊपर कहा है उसे लक्ष्य में लिया है, गम्भीरता से सत् का आदर किया है, अब मैं वहाँ से पीछे हटने वाला नहीं हूँ, किन्तु उसकी अनुभूति कैसे होगी? आपने कहा है कि- पर के बंध-स्पर्श से रहित, पुण्य पाप की आकुलता के वेदन से रहित, ऐसा पवित्र पूर्ण वीतराग स्वभावी हूँ; यह बात अन्तरंग में जम गई है, मात्र उस एक का ही आदर है, किन्तु वर्तमान अवस्था में देहादि का संयोग और उसमें युक्त होने से आकुलता का वेदन होता है, उससे भिन्न सिद्ध भगवान के समान क्योंकर अनुभव किया जाये? यद्यपि अवस्था में संयोग है तथापि अबन्ध के अनुभव करने की कौनसी रीति है, उस अपूर्व अनुभव के लिये पूछता है।

इसमें अनेक न्याय निहित हैं। (१) संसार की तुच्छता और मात्र मोक्षस्वभाव की ही उत्कृष्टता मानकर उसीका आदर किया है; (२)

उसीको प्राप्त करने की तैयारी है; (३) आपने जो ऊपर कहा है तदनुसार मैंने वस्तु का लक्ष्य किया है—उसकी स्वीकृति; (४) आपने जिस भाव से कहा है उसी भाव से समझा हूँ, उसमें कोई अन्तर नहीं है; (५) आपने सत्य ही कहा है। पुरुषप्रमाण से वचनप्रमाण होता है, ऐसा मैंने अपने ज्ञान में निश्चित् किया है। यह बात पहले अनन्तकाल में नहीं सुनी थी ऐसी अपूर्व है; जबकि यह बात ऐसी जम गई तभी तो आगे बढ़कर अन्तरंग अनुभव के लिये प्रश्न करता है, वहाँ दूसरा कुछ स्मरण नहीं करता। (अनन्तबार ग्यारहअंग और नवपूर्व का पठन किया, तीर्थंकर भगवान के निकट जाकर श्रवण किया तथापि आत्मा समझ में नहीं आया। अनन्तबार वापिस हुआ ऐसी बात याद नहीं करता; रुक जाने की बात नहीं करता।)

जिसप्रकार आचार्यदेव अप्रतिहत भाव से मोक्ष की बात करते हैं उसीप्रकार अप्रतिहत भाव से हाँ कहने वाला शिष्य है, इसलिये दोनों एक ही प्रकार के होगये। बीच में रुकने की कोई दीवार नहीं रखी। उपरोक्त पाँच कणिकाओंरूप आत्मा का स्वरूप गुरु के निकट से सुना, फिर अन्तरंग में विचार करके मेल करने के लिये अनादिकालीन संसारचक्र को बदलने के लिये सम्यक्दर्शन की बात पूछता है।

अनादिकालीन नियम है कि एकबार यथार्थ सत्समागम से प्रत्यक्ष ज्ञानी की वाणी कान में पड़नी चाहिये, फिर उसी भव में अथवा दूसरे भव में अपने आप तत्व मनन से जागृत होता है, किन्तु प्रथम गुरुज्ञान के बिना अकेला शास्त्रों को पढ़े अथवा किसीसे सुने, या कल्पना करे तो तत्व समझ में नहीं आसकता। इस श्रवण को शास्त्रीय भाषा में देशनालब्धि कहते हैं।

अनादिकाल की निमित्ताधीन दृष्टिमय अविवेक को बदलकर त्रिकालस्थायी ध्रुवस्वभाव की ओर देख, तो भूतार्थदृष्टि के द्वारा क्षणिक विकार का नाश होजायेगा। विकार के समय संयोग और निमित्ताधीन

विकार से तू अलग न हो तो पृथक्त्व नहीं जाना जासकता, और विकार दूर नहीं किया जासकता। जो दूर नहीं होता वह स्वभाव कहलाता है, इसलिये विकार और संयोग की तुझमें नास्ति है, इसलिये उससे भिन्न आत्मा की अनुभूति होसकती है।

जैसे कमलपत्र जल में डूबा हुआ हो तो उसका जलस्पर्शरूप वर्तमान अवस्था से अनुभव करने पर, जल के संयोग की ओर निमित्ताधीन दृष्टि से देखने पर वर्तमान अवस्था में वह कमलपत्र जल को स्पर्श कर रहा है,—यह बात व्यवहार से सत्य है, तथापि जल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य कमलपत्र के निर्लेप स्वभाव के निकट जाकर देखने पर कमलपत्र को कुछ ऊपर उठाकर देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह किंचित्मात्र भी जल को स्पर्श नहीं कर रहा है। कमलपत्र को पानी के संयोग की ओर की व्यावहारिक बाह्यदृष्टि से देखने पर जलस्पर्श यथार्थ प्रतीत होता है, किन्तु उसके निर्लेप स्वभाव के निकट जाकर देखने पर अर्थात् सूक्ष्मदृष्टि से कमलपत्र का स्वभाव देखने पर वह अस्पर्शी स्वभाववान है, ऐसा दिखाई देता है। जल का संयोग होने पर भी कमलपत्र तो अपने स्वभाव से कोरा ही है, किन्तु यदि उसके निकट जाकर देखा जाये तो वह सभी को कोरा ही दिखाई देगा। इसीप्रकार आत्मा अबद्धस्पृष्टरूप से पृथक् ही है, किन्तु यदि उसके निकट होकर देखा जाये तो सबको वैसा ही प्रतीत होगा। वर्तमान संयोगाधीन दृष्टि से देखने पर व्यवहार से पर्याय में बंधन-संयोग भाव है, तथापि मूल असंयोगी स्वभाव से, पुद्गल से किंचित्-मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य ऐसे आत्मस्वभाव के निकट जाकर एकाग्र अनुभव करने पर, पर से बंधनभाव-संयोगभाव अभूतार्थ प्रतीत होगा।

वर्तमान कर्म की संयोगरूप क्षणिक अवस्था को गौण करके अपने त्रिकालस्थायी पूर्णस्वभाव को मानना जानना, और उसमें स्थिरता करना, एवं इसप्रकार स्वाश्रितदृष्टि से पूर्ण असंग स्वभाव की श्रद्धा करना सो

अनन्त जन्म-मरण के नाश करने का और पूर्ण पवित्रता को प्रगट करने का प्राथमिक उपाय है।

लकड़ी का छोटे से छोटा टुकड़ा चाहे जैसे पानी में तैरता है, डूबता नहीं है। जब उसी लकड़ी के रजकण लोहे की अवस्था में थे तब ऐसा लगता था कि यह कभी तैर नहीं सकेंगे, किन्तु पर्याय के बदल जाने पर पानी में तैरने का स्वभाव (जो लोहे की अवस्था में अप्रगट था) प्रगट होता है। तैरने की जो शक्ति रजकण में थी वही प्रगट हुई है। यह तो मात्र एक दृष्टान्त है। जड़ रजकणों को अपने स्वभाव का ज्ञान नहीं होता, किन्तु आत्मा सदा ज्ञानस्वभाव, मोक्ष-स्वभावी है उसमें अवस्था में विकार है, किन्तु उस विकार का नाशक और गुण का रक्षक मुक्तस्वभाव सदा विद्यमान है। पुद्गल परमाणुओं में स्वतंत्रता से बन्धन-मुक्तरूप होने की शक्ति सदा अपने (परमाणुओं के) आधार से है। उसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श इत्यादि गुण सदा एकरूप स्थिर रहकर पर्याय अनन्तप्रकार से बदलती रहती है। उसकी क्रमबद्ध (नियमित) पर्याय की व्यवस्था करने वाला पुद्गल द्रव्य स्वतंत्र है। उस पुद्गल की तथा देहादि की पर्याय को मैं बदलता हूँ, अथवा मेरी प्रेरणा से ऐसा होता है, यों माने और यह माने कि उसका कर्ता कोई ईश्वर है तो कहना न होगा कि उसे प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्रता की खबर नहीं है।

यहाँ यह निश्चय कराना है कि प्रत्येक आत्मा अपनेरूप से स्वतंत्र है, और अपने गुण-पर्यायरूप से ही है, पररूप से नहीं है। अपने में निमित्ताधीन क्षणिक विकारी अवस्था होती है उस विकार जितना ही आत्मा नहीं है। कर्म का संयोग और वियोग जड़ की पर्याय है, उसके साथ वर्तमान क्षणिक पर्याय का संयोग है, तथापि भिन्न-भिन्न स्वभाव से देखने पर अपने स्वभाव की स्वतंत्रता दिखाई देती है।

यदि रजकण को वर्तमान लोहे की पर्यायरूप ही देखें तो पानी में डूबने योग्य है, इसीप्रकार आत्मा को संयोगाधीन वर्तमान अवस्थापर्यंत

ही देखें तो वह बंधनवान है, सो सत्य है। जैसे लकड़ी का स्वभाव त्रिकाल पानी पर तैरने का है इसीप्रकार आत्मा रजकणों से भिन्न रागादि के नाशक स्वभाव वाला है। किन्तु वर्तमान पर्याय में (लोहे की भाँति-अज्ञानदशा में) भव में डूबने की योग्यता वाला है, किन्तु यदि मैं उस रागादि से तथा पर से भिन्न हूँ, हीन या उपाधि वाला नहीं हूँ; इस-प्रकार स्वलक्ष्य से स्वभाव को माने तो वह शुद्ध ही है, कर्मों से भिन्न ही है।

मैं पर से भिन्न हूँ, स्वतंत्र शक्तिरूप हूँ, ऐसे स्वभाव को न मानने वाले का अवस्था में संयोगाधीनदृष्टि से संसार में परिभ्रमण करना सत्यार्थ है। तथापि जिसे पानी किंचित्मात्र भी स्पर्श नहीं कर सकता, ऐसे कमलपत्र को सैकड़ों वर्षतक चाहे जितने पानी में डुबा रखें और फिर उसे चाहे जब निकालकर देखें तो वह वर्तमान में भी वैसा ही कोरा दिखाई देगा जैसा उसका कोरा स्वभाव डूबने से पहले था। इसीप्रकार मैं अज्ञानदशा में पर से बंधा हुआ हूँ, देहादिरूप हूँ, विकारी अवस्था जितना हूँ, इसप्रकार मान्यता की भूल से बंधनभाव-डूबना मान रखा था; किन्तु असंयोगी ज्ञायकस्वभाव को अलग करके देखें तो रागादि-रूप या बन्धनरूप अथवा किसी संयोगरूप में आत्मा का शुद्धस्वभाव कभी भी नहीं गया है।

आत्मा में परवस्तु का त्रिकाल अभाव है, नास्ति है। परवस्तु अपने-रूप में है, आत्मारूप नहीं है। रूपी जड़ परमाणुओं में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श इत्यादि गुण और कोमल, कठोर, रूखा, चिकना इत्यादि उन गुणों की पर्याय है। वह सब रजकणों का ही स्वरूप है, आत्मा का नहीं। आत्मा तो उस जड़ को और उसके गुण-पर्यायों को जानने वाला है। अपने को भूलकर दूसरे को अपना मानकर, उसमें राग करके अटक रहा है और उसके फलस्वरूप नरक, निगोद, देव, मनुष्य इत्यादि चौरासी के अवतार धारण करके परिभ्रमण कर रहा है। वह परिभ्रमण (संसारअवस्था) व्यवहार से सत्य है। किन्तु यदि मूल शाश्वत आत्मस्व-

भाव को निश्चयदृष्टि से देखें तो क्षणिक अवस्था के भेद अभूतार्थ हैं। पर्यायदृष्टि से चार गतिरूप जो भवभ्रमण हैं सो भ्रम नहीं किन्तु सत्य है, तथापि निश्चय से वह पर्याय आत्मा में त्रिकाल रहने वाली नहीं है, आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिये वह अभूतार्थ है।

जबतक देहदृष्टि रहती है तबतक देह से भिन्नता नहीं मानी जासकती। जबतक पर्यायदृष्टि होती है तबतक स्वभाव की यथार्थ प्रतीति नहीं होती। पृथक् स्वतंत्र स्वभाव को नहीं जाना, इसलिये पर को अपना मानकर जीव राग-द्वेष किया करता है। एकमात्र अपना वास्तविक स्वरूप जाने बिना जीव ने अन्य सब कुछ अनन्तबार किया है। तू विकार तथा बंधन के संयोग से भिन्न है, उसकी तुझमें नास्ति है। हे प्रभु! तू पर से किंचित्‌मात्र भी स्पर्शित, बद्ध अथवा दबा हुआ नहीं है। ऐसी स्वतंत्र स्वभावदृष्टि के बल से संसार से पार होने का पारायण प्रारम्भ होता है। एकबार तो उत्साहपूर्वक हाँ कह। जिस भाव से अनन्त जीव त्रिलोकीनाथ-प्रभुपद को प्राप्त हुए हैं, पूर्ण हुए हैं, वैसा ही मैं हूँ। और वैसे ही भाव को घोषित करता हूँ कि मुझमें पूर्ण मुक्त-सिद्धस्वभाव वर्तमान में है, मैं सिद्ध परमात्मा की जाति का ही हूँ, वर्तमान में भी सिद्धसमान परिपूर्ण हूँ; ऐसे पूर्ण स्वभाव के बल से मैं वर्तमान भेद को नहीं गिनता। पुद्गल से किंचित् मात्र भी स्पर्शित नहीं हूँ यह उनकी बात नहीं है जो केवली भगवान होगये हैं, किन्तु केवली होने के लिये प्रथम सम्यक्‌दर्शन करने की बात चल रही है और उस सम्यक्‌दर्शन को प्राप्त करने की अपूर्व रीति कही जारही है।

तीनलोक और तीनकाल में कोई किसी का हित अथवा अहित नहीं कर सकता। सब अपनी-अपनी अनुकूलता को लेकर अच्छे-बुरे भाव ही कर सकते हैं। कोई किसी की पर्याय को करदे अथवा जैसी प्रेरणा करे वैसा हो, ऐसी पराधीन कोई वस्तु जगत में नहीं है। वीत-राग के मार्ग में प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्रता की स्पष्ट घोषणा है। प्रत्येक

आत्मा अपनी अपेक्षा से है और पर की अपेक्षा से नहीं है, तथा पर में कर्ता-भोक्तारूप भी नहीं है। इसप्रकार जिसने माना है उसे पर में अपनापन मानकर, राग-द्वेष में अटकना नहीं होता, अर्थात् उसे अपने में ही देखना होता है; इससे अनन्त परवस्तुओं के साथ कर्तृत्वभाव का अनन्त राग दूर होगया और जाना कि अरे! अज्ञानदशा में इस बात की मुझे खबर ही नहीं थी; प्रत्येक आत्मा स्वयं ही अपने भावों से अपने को भूलकर अपनी हानि करता है और स्वयं ही पर से भिन्न अपने स्वतंत्र स्वभाव को जानकर अपना सुधार कर सकता है। प्रत्येक वस्तु का ऐसा स्वतंत्र स्वरूप बताने वाले वीतराग सर्वज्ञ ही हैं, और ऐसे स्वरूप को स्वीकार करने वाले भी वीतराग सर्वज्ञ के समान ही हैं या होने वाले हैं।

धर्म का अर्थ है ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा की वस्तु-अपना स्वभाव, स्वतंत्र-भाव, जोकि सदा अपने में ही है और अपने आधार से ही प्रगट होता है। शरीरादिक कोई संयोग मेरे नहीं हैं, किसी के साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है; इसप्रकार स्वभाव के निकट जाकर अन्तरंगदृष्टि से देखने पर क्षणिक बन्धन-संयोगरूप अवस्था अभूतार्थ है, नाश को प्राप्त होने योग्य है। हे प्रभु! तू पूर्ण है, मुक्त है; भीतर दृष्टि डालकर देख।

"मारां नयणानी आळसे रे, हेते न दीठा हरि।"

दूसरा सब कुछ भूलकर एकबार स्वभाव के समीपस्थ हो, अंतरंग स्वभाव को पर से भिन्न लक्षणरूप देखकर उसमें एकाग्र होने पर विकार का नाश होकर, वर्तमान में साक्षात् पृथक्त्व का-मुक्तस्वभाव का अनुभव तुझसे होसकेगा। अज्ञान में ही अनन्तकाल व्यतीत होगया, अब स्वादहीन-पुरुषार्थहीन बात को कदापि न सुनना। वस्तुस्वभाव जैसा यह कहा है वैसा ही है, इसमें शंका है ही नहीं। यह समयसार (शुद्धात्मा) की बात जम जाये और अशुद्धता दूर न हो, मोक्ष प्राप्त न हो, ऐसी बात ही आचार्यदेव के पास नहीं है। सुनने वाले पात्र जीव

और सुनाने वाले संतमुनि-दोनों को एक ही कोटि में रखा है। सत की बात सुनकर तेरी प्रभुता तुझे स्वतः जम ही गई है, जैसा मैं कहता हूँ वैसा ही है।

चलते-फिरते प्रगट हरि* देखूँ रे,
मेरा जीवन सफल तब लेखूँ रे;
मुक्तानंद का नाथ विहारी रे,
शुद्ध जीवन है डोरी हमारी रे;

जो राग द्वेष मोहरूपी पापों के समूह को हरता है ऐसा भगवान आत्मा हरि है। स्वभाव में ही प्रभुता को देखने वाला सबको प्रभुरूप ही देखता है। उसकी दृष्टि में प्रभु होने के लिये अपात्र कोई है ही नहीं। और अज्ञानी जीव जिसकी दृष्टि देहादिक परपदार्थों पर है वह सबको हीन, अपात्र या पराधीन देखता है। मैं भी अपात्र और तू भी अपात्र है, इसप्रकार स्वयं ही बात जम गई है, जिसका दूसरे में भी आरोप करता है, दूसरे को अपने समान ही मान लेता है। ज्ञानी चलते-फिरते सबको परमात्मा के रूप में ही देखता है, क्षणिक अवस्था के विकार को स्वभाव की दृष्टि में मुख्य नहीं करता। मैं प्रभु हूँ और तू भी प्रभु है, तथा सभी आत्मा प्रभु हैं; इसप्रकार रातदिन चैतन्य भगवान के ही गीत गाया करता है।

भगवान चिदानन्द मुक्तस्वभावी आत्मा बन्धन-संयोग से त्रिकाल भिन्न है, उस पूर्ण पवित्र साध्यस्वभाव को ही निरंतर स्वाश्रय से देखता हूँ। वह शुद्धदृष्टि स्वसाध्य जीवन की परिणति है,-जिस स्वतंत्र परमात्मा रूप स्वभाव को देखने वाली दृष्टि से ज्ञानी समस्त जगत में सभी प्राणिओं को मुक्तानंदरूप, बंधन-उपाधि से रहित पूर्ण प्रभुरूप ही देखता हैं। प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव से प्रभु है। पहले तेरी मान्यता में बन्धन दूर होकर पूर्ण प्रभुत्व दिखलाई दे, ऐसी बात कही जारही है; इसप्रकार

---

* पापं-अघं हरतीति हरि।

मत करना, स्वीकार ही करना। स्वभाव की प्रतीति सहित स्वरूप में आगे बढ़, पीछे हटने की अथवा रुक जाने की बात बीच में मत लाना।

तू हमारे निकट अन्तरंग अनुभव की बात पूछने को आया है, इसका अर्थ यह हुआ कि तू संसार के किनारे पर तो आ ही गया है; अब इधर-उधर का कुछ दूसरा स्मरण करके पीछे मत हटना। स्त्री-पुरुष अथवा छोटे-बड़े, शरीर–मुर्दे पर दृष्टि मत डाल, उसे स्वपर की प्रतीति नहीं है, वह तो केवल अन्ध है। तू देह से भिन्न वर्तमान में ही देहमुक्त है, इससे इन्कार मत कर। देह सम्बन्धी ममता को छोड़कर अपने में अन्तरंगदृष्टि से देख, अपने स्वभाव को स्वीकार करने की शक्ति तुझमें ही है; तेरे मुक्तभाव को दूसरे तो स्वीकार करें और तू न माने तो यह कैसे होसकता है।

जब बालक बहुत समय तक खेलता-कूदता रहता है तब माता का ध्यान नहीं होता, किन्तु जब वह थककर माता के पास आता है तब माता गीत गाकर उसे सुला देती है; इससे विपरीत तू अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा था तब तुझपर हमारी दृष्टि नहीं थी किन्तु (आचार्य कहते हैं कि) जब हमारे स्वरूप में समाविष्ट होजाने का और विकल्पों को तोड़कर स्थिर होने का अवसर आया और तू संसार के भ्रमण से थककर हमारे पास आया है तब दूसरा सब कुछ भूलकर हमारे अनुभव को समझले; सबसे पहले डंके की चोट एक बात सुनले कि तू ज्ञायकस्वरूप है, मुक्त ही है; तू अपने स्वतंत्र स्वभाव को स्वीकार कर। (संसार में माता बालक को सुलाती है, किन्तु यहाँ आचार्य मुक्त होने की बात कहकर अनादिकाल से निद्रा में पड़े हुओं को जगाते हैं।)

कोई कहता है कि जीवनभर तो संसार के विविध कार्यों में लगे रहे, अब क्या कुछ ही क्षणों में समझ सकेंगे? क्या सभी इस बात को समझ लेते होंगे?

समाधान:—जो जो समझने के लिये तत्पर हुए हैं उन सबकी समझ में अवश्य आया है; त्रिकाल में भी ऐसा नहीं हो सकता कि स्वरूप समझ में नहीं आये। जिसे अपनी चिंता नहीं है, सत् के प्रति रुचि नहीं है, वह दूसरे के गीत गाता है और ऐसी शंका करके कि हमारी समझ में नहीं आयेगा, पहले से ही समझने का द्वार बन्द कर देता है।

यह स्थूल शरीर है, इसके भीतर आठ कर्मों की सूक्ष्म रज भरी हुई है, जोकि परमाणु हैं। उसके द्रव्य, गुण, पर्याय, रूपी हैं, अचेतन हैं; और तू सदा अरूपी भगवान चैतन्यस्वरूप है, इसलिये उससे सदा भिन्नस्वभाव है। पानी और कंकड़ एकक्षेत्र में एकत्रित रहने पर भी कंकड़ पानी-रूप अथवा पानी कंकड़रूप में कदापि परिणत नहीं होता; इसीप्रकार आत्मा और शरीर अनादिकाल से एक क्षेत्र में रहने पर भी भिन्न ही हैं। एकबार पृथक् चैतन्यस्वभाव के निकट आकर अंतरंगदृष्टि से देख और श्रद्धा कर; यही सम्यक्दर्शन है। मुक्तस्वभाव को स्वीकार करके आन्तरिक उत्साहपूर्वक सत् का आदर किया कि यही श्रद्धा मोक्ष का बीज है। स्वप्नदशा में भी वही विचार, उसीका आदर, और उसीके दर्शन होते रहते हैं।

अनुं स्वप्ने जे दर्शन पामे रे,
तेनुं मन न चढ़े बीजे भामे रे।

भव धारण करने का भ्रम दूर होगया, यह तो चैतन्य स्वयं जागृत होकर घोषित करता है, उसका निर्णय करने के लिये किसी के पास पूछने को नहीं जाना पड़ता।

सर्वप्रथम इसी दृष्टि से इस बात का प्रारम्भ किया है कि तू शुद्ध परमात्मा है। पराश्रयरूप भेद को भूलकर मुक्तस्वभाव को स्वीकार कर और उस दृष्टि पर भार देकर उसीके गीत गाता रह। अनादिकालीन भ्रम को दूर करने का इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है।

स्वभाव के लिये किसी बाह्य साधन की त्रिकाल में भी आवश्यक्ता नहीं होती। जैसे अनादिकालीन अंधकार को दूर करने के लिये फावड़ा कुदाल और सूप इत्यादि साधन काम नहीं आते, किन्तु उसके लिये एक-मात्र प्रकाश आवश्यक होता है; इसीप्रकार आत्मा के अनादिकालीन अज्ञानांधकार को दूर करने के लिये कोई बाह्य परिश्रम नहीं करना पड़ता, किन्तु जहाँ सम्यक्ज्ञानरूपी ज्योति प्रगट हुई कि वहाँ अनादिका-लीन अज्ञानांधकार एक क्षणभर में नष्ट होजाता है।

गाय के गले में रस्सा बाँधकर यह कहा जाता है कि 'गाय का गला बाँध दिया,' किन्तु गला अपने में है और रस्सा रस्से में है, इसप्रकार दोनों पृथक् ही हैं। इसीप्रकार कर्म के परमाणुओं का और देह का संयोग उसकी अवस्था के समय एक क्षेत्र में उसके कारण से, संयोग भाव से रह रहे हैं। वे अमुक काल की मर्यादा से आते हैं और जाते हैं। वे आत्मा के साथ एकमेक होकर नहीं रहते। आत्मा सदा अपनेरूप में है, जड़-देहादिक रजकणरूप त्रिकाल में भी नहीं है। जो वस्तु ही अपने में नहीं है वह न तो अपने को दबा सकती है और न कुछ हानि-लाभ ही कर सकती है।

गाय के गले में जो रस्सा बँधा हुआ है वह गले के वर्तुल से अधिक चौड़ा है, यदि गाय अपने गले की ओर दृष्टिपात करे और अपने छूटने का विचार करे तो ज्ञात हो कि-अरे ! मेरे गले से तो यह रस्सा अधिक चौड़ा है; और इसप्रकार प्रथम विश्वास करे तो फिर रस्से के बीच से गर्दन को निकालकर गाय मुक्त (खुली) ही है, अर्थात् वह रस्से से अलग होसकती है। जबतक उसे भान नहीं था तबतक वह अपने को बँधा हुआ मानती थी; इसीप्रकार मैं बंधन से मुक्त हूँ, इतना यथार्थ विचार करने वाला आर्य (ज्ञाता) हुआ है, उसके कर्म का दृढ़ बंधन नहीं रहता; यदि दृढ़ बंधन हो तो ऐसे विचार को अवकाश ही नहीं रहता कि मैं ऐसा स्वतंत्र हूँ। जो सत् को सुनने के लिये तैयार होकर आया है उसके बंधन कठिन नहीं होसकते; उसकी पर-

मुखापेक्षिता दूर होजाती है, खाने-पीने की और रोगादि की झँझट मिट जाती है, और अशरीरी होसकता है, ऐसी यह बात है।

पानी के महा प्रवाह के बीच रहने वाला लकड़ी का छोटा सा टुकड़ा भी पानी में तैरने का अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, तो मैं चैतन्य अपने जानने का स्वभाव क्यों छोड़ूँ ? लकड़ी को अपने स्वभाव की खबर नहीं है, किन्तु उसका निर्णय करने वाला और सबके स्वभाव को जानने वाला चैतन्यस्वरूप आत्मा है। पहले स्वभाव के निकट जाकर अपनी मान्यता को बदल। दूसरे के झगड़े-झँझट में उत्साह दिखाता है, किन्तु अपने स्वभाव की चिंता नहीं करता और प्रभु होकर तू अपनी महिमा का अनादर करता है; यह तो ऐसी कहावत हुई कि–"घर में नहीं है चून चने का ठाकुर बड़ी करावें, मुझ दुखिया को लहँगा नाहीं कुतिये झूल सिलावें।"

देहादि संयोग के भेद तुझरूप नहीं हैं। जो निजरूप नहीं है उसे अपना मानने से चौरासी को अवतार होता है। जैसे मिट्टी का ढक्कन, घड़ा इत्यादि पर्यायों से अनुभव करने पर अनेक आकाररूप अन्यत्व भूतार्थ है–सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (सर्व पर्याय भेदों से किंचित्मात्र भेदरूप न होने वाले ऐसे) सतत माटीपन के एकाकार स्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है-असत्यार्थ है। मिट्टी को अनेक आकार में देखने की दृष्टि छोड़कर सामान्य माटीपन को देखने पर घट इत्यादि सभी अवस्थाओं में एकाकार मिट्टी ही व्याप्त दिखाई देती है। इसप्रकार आत्मा को मनुष्य, देव, नारकी और पशु इत्यादि अनेक पुद्गल के आकार से देखे तो विविध प्रकार की भिन्न–भिन्न अनेक अवस्थाएं संसार-दशा में होती हैं, वे अनेक पर्यायों के भेद व्यवहार से सत्यार्थ हैं। चौरासी के अवताररूप विभाव व्यञ्जनपर्याय और निमित्ताधीन अनेक देहों के आकार की भाँति आत्मा का आकार छोटा-बड़ा होता है, जोकि व्यवहार से सत्य है।

जब कोयला जलाया जाता है तब उस कोयले के ही आकार में अग्नि हुई कहलायेगी, इसीप्रकार जीव छोटे-बड़े शरीर का संयोग प्राप्त करके क्षणभर में बड़े हाथी के आकार का होजाता है और क्षण में सूक्ष्म चींटी के बराबर होजाता है, तथापि उस प्रत्येक पर्याय में असंख्यात आत्मप्रदेश एक से ही हैं।

जैसे मिट्टी नित्य एकाकार है वैसे ही चैतन्यस्वभाव स्वक्षेत्र से नित्य अभेद एकाकार है। उस स्वभाव के निकट जाकर एकाकार दृष्टि से देखने पर नर, नारकी इत्यादि अशुद्धपर्याय के अनेक भेद अभूतार्थ हैं। अनेक शरीर में स्त्री, पुत्र, मित्र तथा शत्रु आदिक अनेकत्व की, अच्छे-बुरे भेद की, दृष्टि रखकर देखें तो राग-द्वेष दूर नहीं होसकेगा, क्योंकि वर्तमान पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि है। देहादिक आकार में या बाह्य संयोग में कुछ भी अच्छा-बुरापन नहीं है, किन्तु अज्ञानी कल्पना करता है। पिता यह मानता है कि मेरे दो पुत्र मेरी दोनों आँखों के समान ही हैं, किन्तु आँख तो जो सड़ जाती है उसे निकलवा भी देते हैं; वहाँ आँख को समान नहीं मानता, तथा एक के निकलवा देने पर दूसरी को नहीं निकलवा देता; इसीप्रकार पुत्र के प्रतिकूल होजाने पर अन्तर होजाता है। देह पर दृष्टि रखकर कोई भी पर में समानता स्थापित नहीं कर सकता। अन्य आकार पर दृष्टि का होना सो क्षेत्रदृष्टि है, स्थूलदृष्टि है। मैं शरीरादिक पर को समान रखूँ ऐसा माने, किन्तु उस पुद्गल की पर्याय तो उसके कारण से ही होती है; इसलिये पहले संयोगी क्षेत्ररूप देह की दृष्टि को छोड़। एक चैतन्य चारों ओर से अपने क्षेत्र में अस्खलित है। कोई पर आकार से या परक्षेत्र के संयोग से किंचित्मात्र भी भेदरूप न होता हुआ वह ऐसा शाश्वत टंकोत्कीर्ण है, ऐसे एकरूप चैतन्याकार आत्मस्वभाव के निकट जाकर एकाकार दृष्टि से देखने पर अन्यत्व अभूतार्थ है। परक्षेत्र की मुझमें त्रिकाल नास्ति है, इसे जानना सो यथार्थदृष्टि है।

कोई भी आत्मा शरीर की कोई भी क्रिया नहीं कर सकता। शरीर की एक अँगुली को हिलाना भी आत्मा की सत्ता की बात नहीं है।

जड़वस्तु अपने ही कारण से स्वतंत्र रहकर अपनी योग्यतानुसार पर्याय बदलती है, और आत्मा उसीसमय वैसा करने का भाव करता है, इसलिये लोगों को ऐसा भ्रम होगया है कि वह क्रिया अपनी (आत्मा की) इच्छा के अनुसार होती है। आत्मा अपने में हित-अहितरूप, अच्छा-बुरा भाव कर सकता है, अथवा स्वभाव में अनन्त पुरुषार्थ कर सकता है, किन्तु पर में एक रजकण को भी परिवर्तित करने में समर्थ नहीं है। जड़ और चेतन-दोनों तत्वों को भिन्न-स्वतंत्र समझने पर ही यह बात समझ में आसकती है।

परमाणु सत् वस्तु है। 'है' इसलिये अनादि-अनन्त स्वतंत्रतया स्थायी अनन्तशक्तिरूप है। प्रतिसमय जीव, परमाणु इत्यादि प्रत्येक पदार्थ अपनेरूप में स्वाधीन स्थिर रहकर पर्याय बदलता है। लोग पर में कर्तृत्व मानते हैं, किन्तु यहाँ प्रत्येक वस्तु का स्व में कर्तृत्व बताया जाता है। इसमें आकाश-पाताल का या उदय-अस्त का महान् अन्तर है।

जो परिणमित होता है सो कर्ता है, (परिणमित होने वाले का) जो परिणाम है सो कर्म है, और जो परिणति (अवस्थान्तर होना) है सो क्रिया है। "क्रिया पर्याय का परिवर्तन" है। भेददृष्टि से कर्ता, कर्म और क्रिया-तीन कहे जाते हैं, किन्तु अभेददृष्टि से यह तीनों एक द्रव्य की अभिन्न पर्यायें हैं। प्रत्येक वस्तु अपने में क्रिया करती है, और स्वयं ही कर्ता-कर्मरूप होती है। जो स्वतंत्ररूप से करता है सो कर्ता है। कर्ता का कार्य किसी भी समय उससे पृथक् नहीं होता, और ऐसा नहीं होता कि जो उससे न बन सके। जो वस्तु है उसकी पर्याय किसी समय न बदले ऐसा नहीं होसकता। यह मान्यता त्रिकाल मिथ्या है कि देहादि की क्रिया को मैं कर सकता हूँ, या मेरी इच्छा से वह क्रिया, परिणमन होता है। कोई भी आत्मा पर का कर्ता व्यवहार से भी नहीं है। जड़ की किसी भी क्रिया से आत्मा को हानि-लाभ नहीं होसकता, तथा परसंयोग के परिवर्तन होने से किसी के पुण्य-पाप या धर्म नहीं होता।

मेरा हिताहित मुझसे ही है और उसका करने वाला मैं ही हूँ, इसप्रकार पहले स्वतंत्रता का निश्चय होने के बाद अपने विपरीत पुरुषार्थ से वर्तमान अवस्था में निमित्ताधीन पुण्य-पाप की वृत्ति होती है, सो मेरा स्वरूप नहीं है। मैं त्रिकाल हूँ, वह क्षणिक है; मैं उस विकारी वृत्ति का नाशक हूँ, अविनाशी असंग हूँ; ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि अनन्त गुणों से वर्तमान में पूर्ण हूँ। इसप्रकार स्वाश्रितदृष्टि से स्वभाव के बलपूर्वक वर्तमान पर्याय का लक्ष्य गौण करके अखण्ड स्वभाव पर लक्ष्य करना सो सम्यग्दर्शन का उपाय है।

त्रैकालिक अस्तिस्वभाव का मंथन करना और उसमें एकाग्रतारूप में स्थिर होना सो आत्मा की व्यवहारक्रिया है। आत्मा का व्यवहार आत्मा में ही है, जड़ में नहीं। पहले रागमिश्रित विचार से इतना निर्णय करने के बाद स्वभाव में एकाग्र होने पर विकल्प टूटकर आत्मा में निर्विकल्पता का अनुभव होता है और अपूर्व स्वानुभव प्रगट होता है।

आत्मा का परवस्तु के साथ ज्ञायक-ज्ञेयरूप संबंध है। संसार अवस्था में पर को अपना मानकर उस निमित्ताधीन लक्ष्य से राग-द्वेष करता है तबतक जड़कर्मरूप वस्तु साथ में ही विद्यमान है, उसे निमित्त कहा जाता है। यह व्यवहार से कहा जाता है, वास्तव में कोई किसी का कर्तारूप से निमित्त नहीं होसकता, ऐसा त्रिकाल नियम है।

जीवनभर भले ही ऐसा अभिमान रखा हो कि मैं जड़ का–देह इत्यादि का कार्य कर सकता हूँ; किन्तु जब लकवा होजाता है तब मालूम होता है कि शरीर पर मेरा कितना वश चलता है! जब शरीरादिक अपनी इच्छानुसार नहीं चलते तब खेद होता है कि अरे! मुझे कर्मों ने दबा रखा है, कर्मों की भारी प्रबलता है; जब आँख उठाकर देखना कठिन होजाता है, श्वास नहीं चलती, आँतें और इन्द्रियां ढीली होजाती हैं और मृत्यु के समय घोर वेदना होती है तब स्वभाव की प्रतीति के बिना, शरीर को पररूप जाने बिना शांति कहाँ से मिलेगी? तूने अपने

पृथक्स्वभाव को जाने बिना अनन्तबार बाल-मरण (अज्ञान-मरण) किया है; अब एकबार तो यथार्थ प्रतीति कर कि मैं पररूप नहीं हूँ, पर का कर्ता नहीं हूँ; किन्तु स्वभावरूप हूँ; ऐसी श्रद्धा आत्मा में प्रगट करे तो वही अनन्तगुण और अनन्तसुख को प्रगट करने का मूल है। वही सच्चा संवर और प्रतिक्रमण है। शुद्धनय की दृष्टि के बल से स्वभाव के अस्तित्व में स्थिर हुआ कि उसमें सम्पूर्ण धर्म आगया।

मैं पुण्य-पाप के विकार का कर्ता हूँ, और वह मेरा कर्म है, तथा परजीव या जड़-वस्तु की क्रिया मैं कर सकता हूँ,-इसप्रकार की जो अनादिकालीन महा विपरीत मान्यता थी, उसे छोड़कर अलग होजाना सो प्रतिक्रमण है। मैं मात्र ज्ञायक हूँ, ऐसे स्वभाव की दृढ़ता का होना दर्शनसामायिक है, और उसमें एकाग्र होना सो चारित्रसामायिक है। परावलम्बन के भेद से रहित जितने अंशों में स्वभाव के बल से अरागी-शान्त स्थिरता को बनाये रखा,-उतनी यथार्थ सामायिक है।

विकारनाशक ध्रुवस्वभाव के अस्तित्व को दृढ़ करने से विकार का अभाव होता है। इसप्रकार वस्तुस्वरूप को समझे बिना बाह्य प्रवृत्ति में अभिमान (कर्तृत्व) आये बिना नहीं रहता; पर से भिन्न अक्रियस्वभाव ऐसा ही है, यह जाने बिना अनासक्ति, निस्पृहता या निष्कामभाव की बातें भले ही करे, किन्तु स्वतंत्र स्वभाव की महिमा न लाकर जो निमित्त पर भार देता है उसके भीतर पर का कर्तृत्व विद्यमान है, क्योंकि उसकी दृष्टि पर के ऊपर है।

कोई कहता है:—हमने आत्मा को भलीभाँति जान लिया है, किन्तु यह ज्ञान नहीं होता कि अब मुझे संसार में कितने समयतक परिभ्रमण करना पड़ेगा, या मेरे कितने भव शेष हैं! तथा यह भी मालूम नहीं होता कि अरूपी आत्मा पर से भिन्न रहकर अकेला क्या क्रिया करता है! इसप्रकार कहने वाले ने आत्मस्वरूप को जाना ही नहीं है, किन्तु विकारी भाव को ही आत्मा मान रखा है।

कोई कहता है:—पहले बहुत से शुभभाव करलें, बाद में शुद्ध में पहुँच जायेंगे। ऐसा कहने वाले के मूलकारण में ही भूल है। शुभभाव विकार है, क्षणिक है। जो यह मानता है कि शुभभाव अविकारी, नित्य स्वभाव के लिये सहायक है, उसे आत्मा के गुणों की ही खबर नहीं है। अशुभ से बचने के लिये शुभभाव होते हैं, किन्तु उन शुभभावों से आत्मा को गुण-लाभ होता है, यह बात त्रिकाल में असत्य है। शुभभाव आत्मा के लिये सहायक तो क्या, उल्टे आत्मा के अविकारी गुणों में विघ्नकर्ता होते हैं। जिस भाव से बंध होता है उस भाव से मुक्ति नहीं होसकती। मोक्ष का कारणभूत सम्यग्दर्शन भी शुभराग से प्रगट नहीं होता। जबतक वीतराग नहीं होजाता तबतक शुभराग विद्यमान तो रहता है, किन्तु उससे गुण-लाभ नहीं होता।

प्रश्नः—पहले तो गुण को विकसित करना चाहिये न?

उत्तरः—पहले यह जानना चाहिये कि गुण किसे कहते हैं? बाह्य में कोई प्रवृत्ति करने से, या शुभभाव से गुण-लाभ होता है-यह बात मिथ्या है। भीतर स्वभाव में ही सब गुण अविकारीरूप से भरे हुए हैं। यह मानकर कि उनको बाहर से ही विकसित करूँ तो वे प्रगट होंगे, और इसप्रकार चाहे जैसे शुभभाव करे तो उनसे पुण्यबंध होगा, किन्तु स्वाभाविक गुण प्रगट नहीं होंगे। बहुधा यह कहा जाता है कि तत्वों का श्रवण-मनन करो, क्योंकि एकबार श्रवण-मनन के बिना समझ में नहीं आसकता; किन्तु श्रवण-मनन के शुभराग से स्वरूप समझ में नहीं आता। यदि ऐसा चिंतवन करे कि 'मैं शुद्ध हूँ' तो भी गुण प्रगट नहीं होता, मात्र शुभभाव बंधता है। जब यथार्थ अभ्यास से स्वरूप को पहचाने और मन, इन्द्रियों से भिन्न, निरावलम्बी, अविकारी स्वभाव की श्रद्धा करे तब पवित्रता अंशतः प्रगट होती है और राग का नाश होता जाता है। यही सामायिक है, और यही चारित्र, तप, व्रत एवं यही धर्म है।

उपदेश सुनने के ओर की वृत्ति भी राग है। उस राग से गुण-लाभ नहीं होता किन्तु निमित्त और राग को भूलकर स्वभाव में अपूर्व रुचि से निर्णय करे अथवा निर्णय के बाद अन्तरंग में एकाग्रता का जितना लक्ष्य स्थिर करे, सो पुरुषार्थ है, गुण है; क्योंकि उसमें राग नहीं है। यथार्थ परिचय के बाद स्वभाव की ओर लक्ष्य करे तो उसमें राग नहीं है, क्योंकि दृष्टि तो सम्पूर्ण वीतराग स्वभाव पर ही है।

प्रश्नः—उपदेश को निमित्त किसप्रकार कहा जाय?

उत्तरः—निमित्ताधीनदृष्टि को छोड़कर जब स्वलक्ष्य से यथार्थता को समझे तब देव-गुरु-शास्त्रादि को निमित्त कहा जाता है। शब्द और उसे सुनने का जो राग है सो मैं नहीं हूँ, इसप्रकार भेद के लक्ष्य को भूलकर स्वाश्रित लक्ष्य से स्वभाव में एकाग्रदृष्टि के बल से विकल्प टूट-कर स्थिर हुआ और यथार्थ निर्णयपूर्वक स्वानुभव किया तब उपचार से उपदेश और शुभराग को निमित्त हुआ कहा जाता है। वह मात्र निमित्त कहलाता है, प्रेरणारूप निमित्त नहीं कहलाता। अपूर्व प्रतीति करे तो यह कहा जाता है कि उपकारी निमित्त है। स्वभाव में किसी परनिमित्त को स्वीकार नहीं किया गया है। ज्ञान निज को, निमित्त को तथा वर्तमान अवस्था के व्यवहार को यथावत् जानता है। जानने में किसी का निषेध नहीं है। यह सारी बात भलीभाँति मननपूर्वक समझने योग्य है। यदि कोई मध्यस्थभाव से विचार करे तो स्वयं निश्चय होजाये कि त्रिकाल में वस्तुस्वरूप ऐसा ही होसकता है। जो न समझे वह भी स्वतंत्र है, और जो समझता है उसके आनन्द की बात ही क्या है?

प्रश्नः—बालजीव ऐसा कहाँ से समझ सकते हैं?

उत्तरः—सत् को समझने की जिज्ञासापूर्वक जो सत् के निकट आया है वह बालक नहीं कहलाता।

प्रश्नः—आठ वर्ष की आयु से पूर्व साधुत्व प्रगट न होने का क्या कारण है?

उत्तरः—उसमें अपना पुरुषार्थ कम है। पहले जब विपरीत वीर्य किया तभी तो भवबंध हुआ है न ? जितने बलपूर्वक पहले विपरीत पुरुषार्थ किया उतनी ही अशक्ति वर्तमान अवस्था में रहती है और इसीलिये आठवर्ष की शारीरिक आयु से पूर्व पुरुषार्थ का प्रारम्भ नहीं कर सकता। इसप्रकार जहाँ-जहाँ रुकने की बात है वहाँ-वहाँ अपनी अशक्ति ही कारण है। निमित्त तो मात्र ज्ञान करने के लिये है।

प्रश्नः—तप का अर्थ क्या है ? या तप किसे कहते हैं ?

उत्तरः—"इच्छानिरोधस्तपः" अर्थात् इच्छाओं का निरोध करके स्वरूप-स्वभाव की स्थिरता को तप कहते हैं। सम्यग्दर्शन होने के बाद अकषाय स्वभाव के बल से आहारादि की इच्छा मिटकर स्वरूप में स्थिरता का होना तप है। जहाँ ऐसी स्थिति होती है वहाँ बीच में अशुभ से बचने के लिये बारह प्रकार के शुभभाव को उपचार से तप कहा है। उसमें जो शुभराग विद्यमान है सो हितकर नहीं है। निर्जरा का अर्थ है पुण्य पाप रहित स्वभाव के बल से शुद्धता की वृद्धि और अंशतः राग का दूर होना। खान-पान का त्याग कर देना तप नहीं है, किन्तु स्वभाव की रमणता से स्वतः खान-पान छूट जाय सो तप है। ऐसा तप अनन्तकाल में भी इस जीव ने कभी नहीं किया।

मैं अखण्डानन्द पूर्ण हूँ, इसप्रकार स्वभाव के लक्ष्य में स्थिर होने पर सहज ही राग छूट जाता है, और तब राग में निमित्तभूत शरीर का लक्ष्य छूट जाता है; तथा शारीरिक लक्ष्य छूटने पर आहार भी छूट जाता है। इसप्रकार स्वभाव की प्रतीति में शांतिपूर्वक स्थिर हुआ कि यही तपस्या है। स्वभाव की प्रतीति के बिना यह कहता रहता है कि मैं इच्छा को रोकूँ, उसका त्याग करूँ; किन्तु वह प्रतीति के बिना किसके बल से त्याग करेगा ? और कहाँ जाकर स्थिर होगा ? वह वस्तु को यथार्थतया समझा ही नहीं है।

आत्मा में अन्नादिक किसी भी जड़ पदार्थ का ग्रहण-त्याग नहीं होता, परवस्तु का किसी भी प्रकार से लेन-देन नहीं होता। मैं निरावलम्बी ज्ञायकस्वभाव हूँ, ऐसी श्रद्धा के बल से अन्तरंगस्वरूप में एकाग्र होने पर आहार का विकल्प छूट जाना सो तप है; और अन्तर्लीनता में जो आनन्द आता है सो तप का फल है।

तत्वार्थसूत्र में व्रतादिक शुभभाव की वृत्ति को आस्रव कहा है। वह शुभभाव हेय है, इसलिये जब उसका निषेध करके, स्वभाव के बल से स्थिरता के द्वारा राग का नाश करते हैं तभी केवलज्ञान होता है।

पहले सम्यग्दर्शन होने के बाद श्रद्धा के बल से स्थिरता की वृद्धि होने पर चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थान का क्रम होता है, वहाँ बुद्धि पुरस्सर शुभराग होता है, किन्तु वह राग चारित्र नहीं कहा जाता। चारित्र का अर्थ है प्रतीतिपूर्वक स्वरूप में स्थिर होना। अकषाय, निरावलम्बी वस्तुस्वभाव को जाने बिना भीतर अकषायभावसहित स्थिरता अर्थात् चारित्र अंशमात्र नहीं होसकता। अकषायभाव को जानने के बाद उसमें स्थिर होने में विलंब होता है और केवलज्ञान के प्रगट होने में देर लगती है, सो अपने पुरुषार्थ की मन्दता का कारण है। जिस भाव से पुण्य-पाप के बन्धनभाव का नाश होता है उसी भाव से गुण, अविकारी धर्म होता है; यह एकान्त सत्य है। जैसे समुद्र की वृद्धि-हानिरूप (ज्वारभाटे के समय तद्रूप) अवस्था से अनुभव करने पर अनियतता (अनिश्चितता) भूतार्थ है—सत्यार्थ है। किनारे की ओर दृष्टि से देखें तो प्रतिसमय बदलने वाली पानी की अवस्था अनिश्चल है; ध्रुव-एकरूप नहीं है—यह सत्य है। तथापि नित्य-स्थिर समुद्रस्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है। पानी तो नित्य जैसा का तैसा बना हुआ है। इसीप्रकार आत्मा की वर्तमान अर्थपर्यायों में हीनाधिकरूप अवस्था होती है, जोकि ठीक है। जैसे ज्ञान-दर्शनादि गुण नित्यस्थायी हैं, किन्तु उनकी अवस्था में हानि-वृद्धि हुआ करती है;

अवस्था में क्षयोपशम, क्षायिक इत्यादि भावों में भेद होजाता है। अर्थात् अवस्थादृष्टि से हानि-वृद्धि होती है यह सच है। तथापि नित्य-स्थिर (निश्चल) आत्मस्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने पर पर्याय में हीनाधिकता अभूतार्थ है-निरर्थक नहीं है।

वर्तमान पर्याय पर लक्ष्य रखने से अखण्ड ध्रुवस्वभाव का लक्ष्य और सम्यग्दर्शन नहीं होसकता। पर्यायदृष्टि में संसार है, और स्वभावदृष्टि में मोक्ष है। पर्याय के लक्ष्य से अल्पज्ञ के राग-द्वेष की उत्पत्ति होती रहती है, इसलिये भेद का लक्ष्य गौण करके ध्रुव निश्चल एकरूप परिपूर्ण स्वभाव को लक्ष्य में लेकर उसमें अन्तरंगदृष्टि पर भार देकर एकाग्र होने पर निर्मल पर्याय उत्पन्न होकर सामान्य ध्रुवस्वभाव में अभेद होता है। अंशतः विकल्प टूटकर निर्मल आनन्दरूप शुद्धि की वृद्धि होती है, और अशुद्धि का नाश होता है। उसका कारण द्रव्यस्वभाव है।

जब समुद्र में आया ज्वार उतरना होता है तब बाहर से उसमें हजारों नदियों का पानी एकसाथ आकर गिरे और ऊपर से वर्षा का चाहे जितना पानी बरसे, तथापि वे कोई भी बाह्य कारण उसे रोकने में समर्थ नहीं होते। और जब ज्वार आना हो तब हजारों सूर्यों की गरमी एक साथ गिरे तथा नदियों के पानी का समुद्र में गिरना एकदम बन्द होजाय तथापि समुद्र तो तरंगित होता हुआ अपने मध्यबिन्दु से अपने ही कारण उछलता रहता है, जिसे रोकने में कोई समर्थ नहीं है। इसीप्रकार भगवान आत्मा में इन्द्रियाधीन प्रवर्तमान चाहे जैसे बाह्यसंयोग हों और चाहे जैसे शुभ विकल्प करे तथापि किसी भी बाह्य निमित्त से अवस्था में हीनता के समय गुण प्रगट नहीं होते; किन्तु मैं ध्रुवस्वभाव वीतराग हूँ, पूर्ण हूँ, इसप्रकार अखण्ड सत् स्वभाव की प्रबलता करने से श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होकर वीतरागी स्थिरता की वृद्धि होने पर जब केवलज्ञानरूपी समुद्र स्वभाव के मध्यबिन्दु से उछलता हुआ प्रगट होता है तब विश्व की कोई भी प्रतिकूलता उसे रोकने में समर्थ नहीं है।

जैसे समुद्र में मूसलधार वर्षा होने पर भी और हजारों नदियों का पानी एकसाथ गिरने पर भी वह ज्वार का कारण नहीं है, उसी-प्रकार आत्मा में अविकारी गुण के लिये अनन्त रागमिश्रित भाव क्रिया करे और इन्द्रियों से शब्दज्ञान, एवं शास्त्रज्ञानरूपी नदियाँ बहाया करे तथापि उनसे ज्ञान नहीं बढ़ता। किन्तु जो भीतर ज्ञान भरा हुआ है यदि वह छलके तो उसे कोई नहीं रोक सकता। भीतर अनन्त गुणों की अपार शक्ति प्रतिसमय विद्यमान है, उसपर दृष्टिपात करे तो सहजस्वभाव छलककर साक्षात् गुण की प्राप्ति होती है। यहाँ पहले श्रद्धा में यथार्थ-स्वरूप को स्वीकार करने की बात है।

अखण्ड पूर्ण स्वभाव पर दृढ़तापूर्वक दृष्टिपात करने से स्वभाव प्रगट होता है। श्रद्धा में अखण्ड ध्रुव एकस्वभाव है, और ज्ञान उस त्रिकालपूर्णस्वभाव को और पर्याय को जानने वाला है। जबतक पूर्ण वीतराग नहीं होजाता तबतक शुद्ध लक्ष्यसहित आंशिक स्थिरता को बनाये रखकर अशुभ से बचने के लिये शुभभाव का अवलम्बन आता है। उस राग को और राग के निमित्त को-दोनों को ज्ञान में जान लेना सो व्यवहार है; किन्तु यदि उसे आदरणीय माने तो मिथ्या-दृष्टि है। यदि सत्य जल्दी समझ में न आये तो भी धैर्यपूर्वक सत्य को समझने पर ही संसार से छुटकारा मिल सकता है; इसप्रकार सत् का आदर करके जिसे उसे ही समझने की जिज्ञासा है उसे समझने में जितना समय लगता है वह भी समझने के उपाय में सहायक है।

स्व-स्वरूप का अज्ञान महापाप है। भवरहितपने की निःसंदेहता हुये बिना अन्तःस्वरूप का अनुभव नहीं होता। बाह्य निमित्ताधीनदृष्टि रखकर चाहे जैसे उच्च शास्त्रों का अध्ययन करता हो किन्तु उस क्षणिक संयोगरूप इन्द्रियाधीन अनित्य ज्ञान का अभिमान हुये बिना नहीं रहता। बिना समझे अन्तरंग में शान्ति नहीं आती, इसलिये शान्त्यर्थ बाह्य प्रयत्न करता है, और यह मानकर कि गुण-प्राप्ति के लिये बाह्यक्रिया आवश्यक है—बाह्यक्रिया में संतुष्ट होजाता है। किन्तु उसके ज्ञान में

यह बात नहीं जमती कि भीतर गुण भरे हुये हैं, उनका लक्ष्य करने में अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ आता है। संयोगीवस्तु स्त्री, धन, कुटुम्ब, घर इत्यादि मुझसे क्षेत्रापेक्षा से दूर चले जायें अथवा मैं एकान्त जंगल में जारहूँ तो गुण प्रगट हों, शांति हो; ऐसा मानने का अर्थ यह हुआ कि मुझमें गुण हैं ही नहीं, परावलम्बन से गुण-लाभ होता है; और ऐसा मानने वाले निमित्ताधीनदृष्टि वाले हैं एवं मिथ्या-दृष्टि हैं।

जैसे सांसारिक रुचि के लिये एक ही बात का वारंवार परिचय करने में उसके प्रति अरुचि या उकताहट नहीं होती, इसीप्रकार इस अपूर्व सत् की रुचि के लिये वारंवार सत् का बहुमान करके उसके श्रवण-मंनन के प्रति उत्साह बढ़ना चाहिये; यदि उसमें अरुचि या उकताहट प्रतीत हो तो समझना चाहिये कि अपनी श्रद्धा में कमी है। जैसे सांसारिक विषयों में दो मास में बारह महीने की कमाई कर लेने का उत्साह होता है, उसीप्रकार यहाँ स्वभाव में अल्पकाल में अनन्त भव का अभाव करने वाली सम्यक्श्रद्धा के प्रति उत्साह झलकना चाहिये।

अज्ञानी कहता है कि "देहादि के बिना मेरा काम नहीं चल सकता, मैं तो पामर हूँ, और राग-द्वेष-मोह में दबा हुआ हूँ, संयोग अति कठिन हैं;" उससे ज्ञानी कहते हैं कि "हे भाई! तू तो असंयोगी अविनाशी भगवान है, पर से तू मुक्त ही है, तेरे स्वभाव में अनन्त ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुण भरे हुये हैं। यदि अनन्त अव्याबाध सुख प्रगट करना हो तो वर्तमान अवस्था के भेद की दृष्टि का त्याग कर, और अविकारी स्वभाव की ओर भार दे। अनन्तकाल में स्वभाव के बल से एक क्षणभर को भी स्थिर नहीं हुआ है। तेरी स्वतंत्रदृष्टि से ही अनन्त केवलज्ञानलक्ष्मी उछल उठेगी; जब लक्ष्मी टीका करने आरही है तब मुँह धोने मत जा; पुनः ऐसा सुयोग अनन्तकाल में भी मिलना कठिन है। निगोद से लेकर सिद्धतक की समस्त अवस्थाओं के भेद के लक्ष्य को गौण कर। यदि खण्ड पर लक्ष्य रखेगा तो राग-द्वेष के भेद दूर होकर अखंड स्वभाव में नहीं पहुँच सकेगा। इसलिये एक-

वार अखण्ड स्वभाव के निकट अन्तरसम्मुख होकर यह स्वीकार कर कि मैं ज्ञानानन्द पूर्ण हूँ, और अन्तरस्वभाव पर भार दे तो पर्यायभेद का लक्ष्य शिथिल होजायगा। भगवान ने कहा है कि पर्यायदृष्टि का फल संसार और द्रव्यदृष्टि का फल वीतरागता-मोक्ष है।"

मैं एकरूप, शुद्धस्वभावी, सिद्ध परमात्मा के समान हूँ, जो सिद्ध में नहीं है सो मुझमें नहीं है; इसप्रकार सिद्धत्व की श्रद्धा के बल से परवस्तु का अभिमान नष्ट होजाता है। देहादिक परवस्तु के कर्तृत्व का अभिमान तो पहले ही दूर कर दिया, किन्तु पुण्यादि मेरे नहीं हैं, पर की ओर मेरा कोई झुकाव नहीं है, और गुण-गुणी के भेदों का विचाररूप शुभराग का विकल्प भी मेरा स्वरूप नहीं है, मेरे लिये सहायक नहीं है, ऐसी श्रद्धा के बिना, एकरूप स्वभाव को माने बिना, विकार और पर में अभिमान को छोड़े बिना स्वभाव की दृढ़ता नहीं आती।

जैसे सुवर्ण को चिकनापन, पीलापन, भारीपन आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषत्व भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व भेद गौण होगये हैं ऐसे एकाकार सुवर्णस्वभाव का एकरूप अखण्ड सामान्य स्वभाव देखने पर उसमें अलग-अलग गुण-भेद ज्ञात नहीं होते। सोने को खरीदने वाला सुवर्णकार मात्र सोने का वजन करके सोने का ही मूल्य देता है, उसकी कारीगरी का मूल्य नहीं चुकाता, वह सोने के (गहने के) आकार-प्रकार और उसकी रचना-कला को मुख्यता न देकर मात्र सोने पर ही लक्ष्य देता है, उसे तो जिस अवस्था की चाह है वह सब सोने में विद्यमान है, इसप्रकार अखण्ड सुवर्ण पर ही उसकी दृष्टि है, इसलिये वह मात्र यह पूछता और देखता है कि सोना कितने टंच का है? सुवर्णभेद पर उसका लक्ष्य ही नहीं होता, या वह गौण होता है। इसीप्रकार आत्मा में दृष्टि डालने पर, पर्याय की ओर के विचार छोड़कर, अभेदरूप को एकदम निकट लाकर, गुण-गुणी के भेदरूप रागमिश्रित विचार को छोड़ देता है। मैं ज्ञानदर्शनवाला

हूँ, चारित्रवान हूँ, ऐसे विकल्प-भेद करके यदि विभिन्न गुणों के विचार में लग जाय तो अखण्ड स्वभाव के लक्ष्यपूर्वक निर्विकल्प स्वानुभव नहीं होता। यद्यपि वस्तु में अनेक गुण हैं किन्तु उसे पहचानने के लिये, उसका विचार करने पर अनेक भेदरूप विकल्प उत्पन्न होते हैं; उस भेददृष्टि को शिथिल करके, एकरूप सामान्य ध्रुवस्वभाव को दृष्टि में लिये विना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

पर की क्रिया, देहादि की प्रवृत्ति मेरे आधार से होती है, इस-प्रकार अज्ञानी जीव विपरीतदृष्टि से अनन्तसत् को पराधीन और हीन मानता है। यह मानना कि स्वतंत्र सत् को दूसरे की सहायता से गुण-लाभ होता है,-स्वतंत्र सत् की हत्या करना है। ज्ञानी स्वतंत्र स्वभाव में पर का विलकुल निषेध करता है। प्रभु ! तू अपने स्वभाव की महिमा को भूला हुआ है। देहदृष्टि से और पर में कर्तृत्व की मान्यता से अनन्तसंसार वना हुआ है। जो पुण्य-पाप का कर्ता होना चाहता है वह अज्ञानभाव से उसका भोक्ता भी होता है, इस-लिये पुण्य-पाप के फल को भोगने में अनादिकाल से देह में लगा हुआ है।

यदि मैं पर का कार्य करूँ तो हो, और मैं न करूँ तो न हो, ऐसी कर्तृत्व की दृष्टि यह भूल जाने से होती है कि दो तत्त्व स्वतंत्र-भिन्न हैं। देहादिक जड़वस्तु और उसकी सर्व पर्यायों का कर्तृत्व जड़ का ही है। यदि चैतन्यस्वरूप आत्मा जड़ की पर्याय या गुण का कर्ता हो तो जड़ का कर्ता होने से वह भी जड़ (मूढ़) कहलायेगा।

'परमात्मप्रकाश' में कहा है कि "जो जीव है सो जिनवर है और जो जिनवर हैं सो जीव है।" जो इन दोनों के स्वभाव में अन्तर मानता है उसे भगवान आत्मा के प्रति अनन्त द्वेष है। यदि व्यवस्था या अनु-कूलता में किंचित्मात्र भी कमी रह जाती है तो वह नहीं चल सकती, शाक में यदि नमक-मिर्च कम-बढ़ होजाता है तो थाली फेंक देता है; चाय के विना नहीं चलता, पान-सुपारी के विना चैन नहीं पड़ता; 'मैं

प्रभु हूँ' यह क्योंकर माने ? परमार्थतः सभी आत्मा वर्तमान में पूर्ण ज्ञानानन्दघन परमात्मा हैं, स्वभाव में पराधीनता है ही नहीं । वर्तमान भूल (विपरीत मान्यता क्षणिक अवस्थापर्यन्त होने से भूल है) और विकार को दूर करने की शक्ति प्रतिसमय प्रत्येक आत्मा में भरी हुई है। वर्तमान भूल पर दृष्टिपात न करके अपने स्वभाव की ओर देख । प्रभु ! तेरी प्रभुता की इतनी शक्ति है कि अनन्तानन्तकाल से अनन्त शरीरों के संयोग में रहकर भ्रमण किया तथापि तेरा गुण एक अंशमात्र कम नहीं हुआ। अनादिकाल से प्रवाहरूप में चली आने वाली अशुद्धता एक समयमात्र की है, वह अशुद्धता बढ़ नहीं गई है। उसका नाश करने वाला तू नित्यस्वभावी है। उसके स्वीकार से तो वर्तमान में भी दृष्टि में मोक्ष है। मुक्तस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा के बिना चारित्र नहीं होता, और चारित्र के बिना मुक्ति नहीं होती।

यहाँ बाहर की बात तो है ही नहीं, किन्तु मन के द्वारा अन्तरंग गुणों के अलग-अलग भेद करके उनमें लग जाना-रुक जाना वह भी व्यवहारदृष्टि है, रागदृष्टि है। वस्तु में भेद होना व्यवहार ही है । मैं 'प्रभु हूँ, विभु हूँ, (अनन्त गुणों में व्याप्त हूँ), स्वच्छ हूँ, स्वपरप्रकाशक-ज्ञायक हूँ, इत्यादि अनेक गुणों का विचार करने में मन के संबंध से राग का विकल्प उठता है; उस भेद के लक्ष्य से ध्रुवस्वभाव का लक्ष्य नहीं होता। एकबार यथार्थ परिपूर्ण सत् को स्वीकार करके उसके अभेद का लक्ष्य करके उसमें स्थिर हुये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, और स्वभाव का लक्ष्य करने के बाद श्रद्धा के विषय में भेद नहीं रहते। भेदकारक दृष्टि पर भार देने से विकल्प होते रहते हैं, इसलिये भेद का लक्ष्य गौण करके अखण्ड स्वभाव पर दृष्टिपात करने से भीतर स्थिरता बढ़ती है। इसप्रकार स्वभाव के लक्ष्य से ही निर्मलता की उत्पत्ति और राग का—अशुद्धता का व्यय होता है। सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान है, वह इन दोनों अवस्थाओं को जानता है, अवशिष्ट राग को जानता है, तथा उसके निमित्त को भी यथावत् जानता है। यदि हेय में उपादेयता और

उपादेय में हेयता को जाने तो ज्ञान में भूल होती है और ज्ञान में भूल होने पर दृष्टि में भी भूल होती है।

जैसे सोने में अनेक गुण हैं किन्तु उसे सम्पूर्ण लक्ष्य में लेने के लिये उसके भेद का-विभिन्न गुणों का विचार छोड़ देना पड़ता है, इसीप्रकार अखण्ड आत्मा को लक्ष्य में लेने के लिये भेददृष्टि को गौण करना पड़ता है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द इत्यादि गुणों का भेद करके रागमिश्रित विचार करने से रागदशा का नाश नहीं होता। मैं ज्ञान हूँ, मैं पूर्ण हूँ, मैं शुद्ध हूँ ऐसे विकल्प भी स्थूल हैं क्योंकि वह व्यवहारनय का विषय है। जैसे सोने में सभी गुण एकसाथ रहते हैं, उसीप्रकार आत्मा में अनन्तगुण एकसाथ अखण्डरूप से प्रतिसमय विद्यमान हैं। उसमें रागमिश्रित विचार के द्वारा खण्ड-भेद करना सो पर्यायदृष्टि है। उस रागरूप विषय का लक्ष्य छोड़कर; जिसमें अनेक भेदरूप विकल्प का अभाव है और जिसमें कोई गुण-भेद नहीं दिखाई देता, ऐसे आत्मस्वभाव के निकट जाकर देखने पर विकल्पभेद होने का स्वरूप में अवकाश नहीं है। ऐसे स्वभाव पर भार देकर एकत्व का निश्चय करना सो सम्यक्-श्रद्धा है। अखण्ड सामान्य स्वभाव पर एकाग्र-लक्ष्य होने पर निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और आंशिक आनन्दरूप चारित्र प्रगट होता है। सामान्य लक्ष्य में भेद गौण होजाता है, इसलिये पर का विश्वास और भेददृष्टि को छोड़कर एकरूप सामान्य स्वभाव में एकाग्र होकर देख, तो उसमें अभूतार्थ-भेदविकल्प का अभाव प्रतीत होगा। स्थिर एकाकार स्वानुभव के समय भेदविचार नहीं होता। मैं आनन्दस्वरूप का वेदन करता हूँ, अनुभव करता हूँ, मैं अपने को जानता हूँ, ऐसे किसी भी विकल्प का आत्मस्वभाव में प्रवेश नहीं है; इसप्रकार क्षणिक भेद अभूतार्थ है। रागनाशक आत्मा स्वयं रागरहित है।

यदि यथार्थता की प्रतीति न हो तो उसके लिये काल व्यतीत करना होता है। यदि कोई यह कहे कि यथार्थता जल्दी प्रगट नहीं होती तो रहने दो, चलो कोई दूसरा कार्य करें; तो निश्चय ही उसे सत् की

यथार्थ रुचि नहीं है-श्रद्धा नहीं है। जब परदेश में धन कमाने को जाता है तो वहाँ १०, १५, २० वर्ष रहता है, किन्तु मन में उकताहट नहीं लाता; और जिससे जन्म-मरण मिट जाता है ऐसी बात यदि जल्दी समझ में नहीं आती तो उकता उठता है, और बाहर के सस्ते सौदे को (रुपया-पैसा खर्च करने में) धर्म मान लेता है; तो कहना होगा कि उसकी यथार्थता की ओर रुचि नहीं है। आत्मस्वभाव तो ज्ञानामृत से भरा हुआ है। उस पूर्णस्वभाव की महिमा के आगे इन्द्रों के सुख भी तुच्छ-तृण समान प्रतिभासित होते हैं।

क्योंकि जीव अनादिकाल से बाहर से देखता आरहा है, इसलिये अखण्ड गुणस्वभाव की जगह भेदरूप विकल्प दिखाई देता है। उस भेदरूप लक्ष्य को गौण करके स्वभाव के निकट आकर अर्थात् अन्तरंग दृष्टि से देखे तो अखण्डस्वरूप की प्रतीति होगी। श्रद्धा का विषय अखण्ड द्रव्य है, और श्रद्धा का कारण अखण्ड द्रव्यस्वभाव है, वही अखण्ड की श्रद्धा करा देगा। सम्यग्दर्शन के लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है।

वस्तुस्वरूप को जानते हुए बीच में रागमिश्रित विचार निमित्तरूप से आजाते हैं, किन्तु वह स्वरूप में सहायक नहीं हैं, इसप्रकार जानना सो व्यवहार है। और स्वरूप के ओर की रुचि एवं लक्ष्य को बढ़ाकर, गुण में एकाग्रता करके, व्यवहार एवं भेद का लक्ष्य गौण करके अखण्ड-स्वभाव को जानना सो निश्चय है। सम्यक्दर्शन का विषय अबद्धस्पृष्ट आदि चार प्रकारों द्वारा बताया जाचुका है, अब पाँचवें 'असंयुक्त' प्रकार में यह बताया जायगा कि सम्यग्दर्शन की निर्मल अवस्था कैसे प्रगट होती है।

कर्मों के निमित्त में लग जाने से राग-द्वेष होता है, जोकि उपाधि-भाव-विरोधभाव कहलाता है। क्षणिक विकार का नाशक भगवान आत्मा कैसा है यह समयसार का (आत्मा की शुद्धता का) कथन साक्षात् सर्वज्ञभगवान के श्रीमुख से निकला है। सर्वज्ञभगवान ने जैसा मार्ग कहा है वैसा ही आचार्यदेव ने अनुभव किया, और छट्ठे-सातवें गुणस्थान की

चरित्र दशा में झूलते हुए उनके प्रशस्त विकल्प उठा कि अहो! धन्य है यह वीतरागता! जगत के जीव अनन्तकाल से अज्ञान के कारण परिभ्रमण कर रहे हैं। उन जीवों के लिये मुक्ति का प्रथम उपाय समयसार शास्त्र में बताया गया है।

शुभ और अशुभ दोनों बंधनभाव हैं। बंधनभाव को मोक्षमार्ग या मोक्षमार्ग का कारण माने अथवा यह माने कि पुण्य से धीरे-धीरे धर्म होगा तो ऐसी मान्यता अनन्तसंसार का मूल है। सत्य को समझना कठिन है, इसलिये असत्य को सत्य नहीं माना जासकता। अपना स्वरूप अपनी ही समझ में न आये-ऐसा नहीं होसकता। क्योंकि तू वर्तमान में है, इसलिये जो है वह त्रिकालस्थायी है। तू भी अनादि से है। अनन्तबार एकेन्द्रिय में रहा, अनेकबार कौआ-कुत्ते आदि का भव धारण किया, तथापि प्रभु! तुझे अभी जन्म-मरण की पराधीनता नहीं खटकती! विपरीतमान्यता में एसे अनन्तभव कराने की शक्ति है। जन्म-मरण का कारण विपरीतमान्यता ही है। अपूर्वतत्व की यथार्थ समझ के बिना उसका नाश नहीं होसकता। पूर्वा पर विरोधरहित श्रद्धा किये बिना धर्म के नाम पर पंचमहाव्रतादिक शुभभावों के द्वारा अनन्तबार स्वर्ग का देव हुआ; किन्तु आत्मप्रतीति के बिना एक भी भव कम नहीं हुआ। जबतक परवस्तु पर अपनेपन की दृष्टि रहती है तबतक स्वभाव पर दृष्टि नहीं जाती और स्वभाव पर दृष्टि पहुँचे बिना धर्म नहीं होता।

जैसे कुआँ तो स्वच्छ-पथ्य जल से भरा हुआ है, किन्तु उसमें से पानी बाहर निकाल कर यदि दो थालियों में भर दिया जाय, जिनमें से एक में मिश्री और दूसरी में चिरायता रखा हो, तो जिस थाली का पानी पिया जायगा उसका वैसा ही (मीठा अथवा कड़वा) स्वाद आयगा, किन्तु वास्तव में वह पानी का मूलस्वभाव नहीं है; मिश्री या चिरायते के संयोग से पानी का वैसा स्वाद मालूम होता है। इसीप्रकार आत्मा स्वभाव से निर्विकार है, जिसके स्वभाव में से मात्र ज्ञान ही आता है, पुण्य-पाप की वृत्ति नहीं आती; किन्तु वर्तमान अवस्था में निमित्ताधीन-

दृष्टि से शुभाशुभ भाव की उत्पत्ति होती है। हिंसादिक कषायभाव की ओर उन्मुख होने से पापबंध होता है, और दया, दानादि करके कषाय को मंद करे तो पुण्य-बंध होता है, किन्तु उनमें से किसी से भी धर्म नहीं होता।

पुण्यभाव करते-करते परम्परा से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट होजाय अर्थात् गुण से विरोधभाव करते-करते निर्दोषभाव प्रगट होजाय, यह त्रिकाल में भी संभव नहीं है। जो शुभाशुभ विकल्प है सो मैं नहीं हूँ, मैं तो विकार का नाशक हूँ; ऐसी श्रद्धा के बल से, स्वभाव के लक्ष्य से अनन्तसंसार की मूलभूत विपरीतश्रद्धा दूर होकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट होता है। पूर्णरूप शुद्ध आत्मा की श्रद्धा में पुण्य सहायक नहीं होता, प्रत्युत विघ्नकारक होता है।

जैसे किसी प्रतिष्ठित परिवार का पुत्र व्यभिचारी होजाय, और नित-नया बखेड़ा मचाये तो उसका पिता उसे उलहना देता हुआ कहता है कि ऐसे उत्तम कुल में जन्म लेकर तुझे यह सब शोभा नहीं देता। इसीप्रकार त्रिलोकीनाथ जगत्पिता कहते हैं कि तू स्वतंत्र भगवान अपनी जाति को भूलकर अपने से भिन्न परवस्तु को अपना मानकर उसके साथ प्रवृत्त होरहा है, और इसप्रकार पराचारी होरहा है कि जड़ की अवस्था को मैं कर सकता हूँ, पुण्य-पाप मेरे द्वारा होता है, वे सब मेरे हैं और मेरे लिये सहायक हैं। एवं इसप्रकार जिसे ज्ञानियों ने विष्टा मानकर छोड़ दिया है ऐसे पुण्य को अपना मान रहा है, जोकि व्यभिचार है। उस अनित्य वस्तु की शरण में जाना तेरे अविनाशी स्वभाव के लिये कलंक है।

पुण्य से मानवशरीर पाया है; अब यदि सत्य की चिन्ता करके नहीं समझा तो यह मानवशरीर पाना निरर्थक जायगा। और फिर पुनः मनुष्यभव पाना दुर्लभ है। सत्यार्थ को सुनते ही मनुष्य घबरा उठता है कि अरेरे! हमारा पुण्य तो एकदम ही उड़ाया जारहा है; और कहता है कि भीतर की बात मेरी समझ में नहीं आती, आत्मधर्म समझ में

नहीं आता, इसलिये पुण्य करते हैं; और यदि उसीको छोड़ देने की बात कहेंगे तो हम सब तरफ से कोरे ही रहजायेंगे?

किन्तु हे भाई! तृष्णादि के पापभावों को कम करके पुण्यभाव करने से कोई नहीं रोकता, किन्तु यदि उस पुण्य में ही संतोष मानकर और विकार को धर्म का साधन मानकर बैठा रहे तो कदापि मुक्ति नहीं होगी। यहाँ धर्म में और पुण्य में उदय-अस्त जैसा अन्तर है; यही समझाया जारहा है।

जिस भाव से स्वभाव से विरोधफल मिलता है अर्थात संसार में जन्म धारण करना पड़ता है, उस भाव से कदापि मोक्ष नहीं होसकता, और अंशमात्र भी धर्म नहीं होसकता। जिस अभिप्राय में सम्यग्दर्शन है उसी अभिप्राय में मिथ्यात्व नहीं होता। मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन होने के बाद दृष्टि में संसार नहीं रहता, भव की शंका नहीं रहती। अखण्डस्वभाव को लक्ष्य में लेने वाला सम्यग्दर्शन है, जोकि अनन्त अवगुणों का नाश करने वाला और अनन्त पवित्र गुणों की उत्पत्ति करने वाला निर्मल गुण है। अनन्त जन्म-मरण के नाश का मूल बोधि* बीज सम्यग्दर्शन है, उसकी प्राप्ति के लिये इस चौदहवीं गाथा में अद्भुत न्याय-कथन है।

शुद्धनय के द्वारा आत्मा को पर से-विकार से अलग, परिपूर्ण ध्रुव-स्वभाव बताया है, वह स्वभाव ही आदरणीय है; सम्यग्दर्शन का लक्ष्य-ध्येय वही है।

लोग कहते हैं कि यदि खानपान की सम्पूर्ण सुविधा हो और शरीर निरोग रहे तो धर्म हो। किन्तु ऐसी इच्छा का अर्थ यह हुआ कि शरीर बना रहे अर्थात् शरीर धारण करता रहूँ, भूख लगा करे और उसकी पूर्ति होती रहे, अन्न वस्त्रादि का पराधीन सदा बना रहूँ। जो ऐसी परा-

---

* आत्मप्रतीतिपूर्वक सम्यग्दर्शन, ज्ञान और अकषाय स्थिरतारूप जो चारित्र है सो बोधि है।

धीनता की चाह करता है वह कभी भी मोक्ष की स्वाधीनता को नहीं पा सकेगा।

ज्ञानी तो असंयोगी स्वतंत्र चैतन्यस्वभाव मात्र को ही अपना मानता है, और यह जानता है कि बाह्य अनुकूल या प्रतिकूल संयोग मेरे स्वभाव में नहीं हैं, इसलिये उन संयोगों से मुझे सुख या दुःख नहीं है, वर्तमान अशक्ति के कारण होने वाला राग ही दुःख है। सम्यग्दृष्टि अपने को श्रद्धा में पूर्ण वीतरागी मानता है, किन्तु सभी ऐसा नहीं कर पाते कि समस्त बाह्यपदार्थों का त्याग करके चलते बनें। श्रेणिक राजा यथार्थ आत्मप्रतीति के होते हुये भी गृहस्थदशा में थे। कोई विकल्प या कोई परमाणुमात्र मेरा स्वरूप नहीं है; मैं चिदानन्द, असंग, मुक्तस्वभावी हूं; पुण्य-पाप की किसी वृत्ति का स्वामित्व मेरे नहीं है, महान् राजकाज में रहते हुये भी अन्तरंग में उस ओर से उदासीनता रहती है।

जैसे धाय-माँ बालक को खिलाती है अर्थात् उसकी सेवा करती रहती है, किन्तु वह अपने अन्तरंग से उस बालक को अपना नहीं मानती; इसीप्रकार ज्ञानीजन संसार में रहते हुये भी धाय-माँ की भाँति अन्तरंग से किसी परवस्तु को अपने स्वरूप की नहीं मानते। स्वरूप की प्रतीति होने पर भी पुरुषार्थ की अशक्ति से राग में युक्त होजाता है। ऐसी ही प्रतीति की भूमिका में श्रेणिकराजा ने तीर्थंकर गोत्र का बंध किया था। सम्यग्दर्शन की प्रबलता से ऐसी शुभवृत्ति उठती है कि मैं पूर्ण होजाऊँ और दूसरे भी धर्म को प्राप्त करें। अन्तरंग में पुण्य का और राग का निषेध था तभी उनके उत्कृष्ट पुण्य का बंध हुआ था।

अब पाँचवें दृष्टान्त से यह समझाते हैं कि सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त होसकता है।

पानी का स्वभाव शीतल है, किन्तु वर्तमान अवस्था में अग्नि के निमित्त से पानी में उष्णता है। तथापि एकान्त शीतलतारूप जल के

स्वभाव को लक्ष्य में लेकर देखने पर पानी वास्तव में स्वभावतः उष्ण नहीं हुआ है, उसकी मात्र उष्ण अवस्था हुई है; उससमय भी स्वभाव तो शीतल ही है। यदि पानी स्वभाव से ही उष्ण होगया हो तो वह फिर ठण्डा हो ही नहीं सकेगा। लाखों वर्ष से उष्ण हुआ पानी चाहे जब अग्नि पर डाला जाय तो वह जिस अग्नि से उष्ण हुआ था उसीको ठंडा कर देता है, और उस पानी को हवा में रख दें तो वह ठंडा ही है। पानी में अग्नि को बुझाने की और ठंडा रहने की त्रिकालशक्ति है। उष्ण अवस्था के समय शीतलस्वभाव की ओर दृष्टि करें तो यह निश्चय करना कठिन नहीं है कि इस पानी को ठंडा कर देने से यह तृषा को मिटा देने योग्य होजायगा। अर्थात् यदि पानी में उष्णतानाशक स्वभाव देखें तो स्पष्ट ज्ञान होजायगा कि पानी की यह उष्णता अभूतार्थ है-त्रिकालस्थायी नहीं है।

इसीप्रकार आत्मा भी देह से भिन्न, शांत, पूर्ण आनन्दघन है, उसका कर्मनिमित्तक मोह के साथ संयुक्तरूप अवस्था से अनुभव करने पर ज्ञात होता है कि संयुक्तता भूतार्थ है-सत्यार्थ है। मैं देहादिरूप हूँ, रागादिरूप हूँ, रागादि का कर्ता हूँ, ऐसी निमित्ताधीन वर्तमान दृष्टि से देखने पर मोह के साथ संयुक्तता होती है। यदि निमित्त की ओर लक्ष्य न हो तो स्वलक्ष्य से अवगुण नहीं होता है । निमित्त अर्थात् जड़कर्म जोकि राग-द्वेष या मोह नहीं कराते और न मोह करने को कहते हैं; किन्तु आत्मा स्वयं ही कर्माधीन होकर राग-द्वेष-मोह में युक्त होता है। शरीर तो स्थूलधूल है, रजकणों से निर्मित है, और उसके भीतर दूसरा सूक्ष्म धूल से बना हुआ सूक्ष्म शरीर है। उन निमित्तों का अपने में स्वीकार करके, अर्थात् निमित्ताधीन होकर देखने पर जीव में मोहसंयुक्त विकारी अवस्था होती है; वह पर में राग-द्वेष की मान्यता के कारण हर्ष-शोक में एकाग्र होता है; जोकि अवस्थादृष्टि से ठीक है। पानी में अग्नि के निमित्त से उष्ण अवस्थारूप होने की योग्यता है; किन्तु स्वभाव में तो शीतलता ही है; इसीप्रकार जीव में कर्म के निमित्त से विकारी

अवस्थारूप होने की योग्यता है, किन्तु स्वभाव में विकार नहीं है। विकारी अवस्था का अनुभव करने पर अभूतार्थ राग-द्वेष का भाव होता है, वह भगवान आत्मा का स्वभाव नहीं है। सत् स्वभाव का अनादर करके पर का आदर करे तो यह तेरे स्वभाव के लिये कलंकरूप है।

जैसे पानी में शीतलता भरी हुई है, उसीप्रकार तुझमें शाश्वत सुख भरा हुआ है। जैसे पानी मलिनता का नाशक है, उसीप्रकार तू राग-द्वेष, मोह का नाशक है। जैसे पानी में मीठा स्वाद है, इसीप्रकार तुझमें अनुपम अनन्त आनन्दरस भरा हुआ है। इसप्रकार के अपने निजस्वभाव की ओर दृष्टि कर। जैसे कच्चे चने में अप्रगट मिठास भरी हुई है, जोकि चने के भुँजने पर प्रगट अनुभव में आजाती है, इसीप्रकार आत्मा में अतीन्द्रिय गुणों की अनन्त मिठास भरी हुई है जोकि स्वभाव की प्रतीति के द्वारा, उसमें एकाग्र होने से प्रगट अनुभव में आजाती है।

अनन्तकाल में कभी स्वलक्ष्य नहीं किया है, और पुण्य की ही मिठास अच्छी लग रही है; इसलिये लोगों को भीतर भरे हुये अनन्त सुख-शाँति की श्रद्धा नहीं जमती। वे मानते हैं कि खाये-पिये बिना धर्म कहाँ से होगा? और कहते हैं कि आप तो त्यागी हैं, इसलिये आपको तैयार भोजन मिलता है, इसलिये आप भली-भाँति धर्म सेवन कर सकते हैं! किन्तु हे भाई! तेरी दृष्टि ही बाह्य पर जाती है; तू सर्वज्ञ परमात्मा के ही समान है। तीनलोक और तीनकाल में तुझे किसी की पराधीनता है ही नहीं। बाह्य निन्दा को सुनकर तू रुक जाता है और आकुलित हो उठता है; किन्तु भाई! लोग तो देह की निन्दा करते हैं, इससे तुझ-अरूपी आत्मा को क्या लेना-देना है? तुझमें अपनेपन की शक्ति है या नहीं? तूने यह क्यों-कर मान लिया कि यदि कोई दूसरा व्यक्ति मेरी प्रशंसा करे तो मैं अच्छा कहलाऊँगा? धर्म में ऐसी देहाधीनता या पराधीनता कदापि नहीं होती कि यदि पेट में अन्न पड़े या अच्छी नींद आये तो ही धर्म होगा। धर्म तो आत्मा का स्वतंत्र निराकुल

स्वभाव है। उसमें ऐसा कुछ है ही नहीं कि अन्न मिलें तो भलिभाँति धर्म होगा और न मिले तो धर्म में बाधा आयेगी।

प्रश्नः—जबकि धर्मसाधन के लिये खान-पान की आवश्यक्ता नहीं है, तो फिर ज्ञानी होकर भी आहार क्यों करता है?

उत्तरः—ज्ञानी के आहार की भी इच्छा नहीं होती, इसलिये ज्ञानी का आहार करना भी परिग्रह नहीं है। असातावेदनीय कर्म के उदय से जठराग्निरूप क्षुधा उत्पन्न होती है, वीर्यान्तराय के उदय से उसकी वेदना सहन नहीं होती, और चारित्रमोह के उदय से आहार ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न होती है। उस इच्छा को ज्ञानी कर्मोदय का कार्य जानता है, और उसे रोग के समान जानकर मिटाना चाहता है। ज्ञानी के इच्छा के प्रति अनुरागरूप इच्छा नहीं है, अर्थात् उसके ऐसी इच्छा नहीं है कि मेरी यह इच्छा सदा बनी रहे। इसलिये ज्ञानी के अज्ञानमय इच्छा का अभाव है। ज्ञानी के परजन्य इच्छा का स्वामित्व नहीं होता, इसलिये ज्ञानी इच्छा का भी ज्ञायक ही है। उसकी दृष्टि तो अनाहारी आत्मस्वभाव पर ही है। अमुक प्रकार का राग दूर हुआ है और पुरुषार्थ की निर्बलता है इसलिये वहाँतक अल्पराग होजाता है। वह राग और राग का निमित्त शरीर, तथा शरीर का निमित्त आहार इत्यादि से मैं बना हुआ हूँ, टिका हुआ हूँ—ऐसा ज्ञानी नहीं मानते। वे तो यदि अल्पराग हो तो उसको भी नष्ट कर देने की भावना निरंतर करते रहते हैं।

जिसे बाह्य में शरीर, मकान इत्यादि को सुरक्षित बनाये रखना है, और धर्म करना है उसके बाह्यदृष्टि से, बिना किसी के अवलम्बन के, पुण्य-पापरहित वीतरागस्वभाव धर्म कहाँ से होगा? जिसकी बाह्यरुचि है वह स्वभाव की रुचि कहाँ से लायगा?

चारों तरफ से रस्सियों और खीलों से कसा हुआ तम्बू हो, और उसके भीतर कोई सत्ताप्रिय (अभिमानी) पुरुष बैठा हो, तो वह तम्बू

की एक ही रस्सी को ढीला देखकर या तम्बू में कहीं सिकुड़न देखकर आकुलित हो उठता है, उसे वह नहीं सुहाता; तब उसे सारा तम्बू ही खराब होना या उसका समूल उखड़ जाना कैसे रुच सकता है? इसीप्रकार जिसकी दृष्टि संयोग पर है और जो संयोगाधीन सुख मानता है, उसे तनिक सी प्रतिकूलता आने पर भारी कठिनाई प्रतीत होती है, मन आकुलित होजाता है और पामरता प्रगट होजाती है, तब मृत्यु के समय (सारा तम्बू बिगड़ जाने या उसके उखड़ने के समय) वह स्वभाव की दृढ़ता, धैर्य, शांति और समाधान कहाँ से लायगा? मैं असंयोगी, पर से भिन्न हूँ, बाह्य अनुकूलता की या किसी पुण्यादि साधन की आवश्यक्ता नहीं है, शुभविकल्प भी मेरी शांति का साधन नहीं है; ऐसी श्रद्धा के द्वारा पहले यथार्थ मान्यता को स्वीकार किये बिना, निर्विकार मुक्तस्वभाव का आदर किये बिना, सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की तैयारी नहीं होसकती।

हे प्रभु! एकबार स्वभाव की रुचि करके सत् की महिमा सुन। आचार्यदेव कहते हैं, कि हम अपनी आत्मानुभव की बात तेरे हित के लिये तुमसे कह रहे हैं। तुझे सिद्धपद से संबोधित करके कहा जारहा है कि प्रभु! अपने शुद्ध पूर्णस्वभाव को देख। तेरे स्वभाव में बाह्य विकार और संयोग का सर्वथा अभाव है। इसलिये उसओर की दृष्टि को छोड़कर अपने नित्य एकरूप स्वभाव को देख!

आत्मा अनन्त गुणस्वरूप अनादि-अनन्त स्वतंत्र वस्तु है। जिसे अपना हित करना हो उसे पर से भिन्न अपने स्वभाव की प्रतीति पहले करनी होगी। स्वभाव पूर्ण ज्ञानानन्द है, उसे शरीरादिक किसी बाह्य संयोग के साथ संबंध नहीं है।

जानने वाला स्वयं नित्य है, किन्तु निमित्ताधीन दृष्टि से शरीर, मन, और वाणी की प्रवृत्ति जो ज्ञान में जानने योग्य है, उस पृथक्तत्व को अपना मानकर, परसंयोग से अच्छा-बुरा मानकर उसमें राग-द्वेष करता है। परपदार्थ से लाभ-हानि मानने की भ्रांति अनादिकाल से है। जो

यह मानता है कि परवस्तु मेरी सहायता कर सकती है या पर से मुझे हानि-लाभ होता है; वह मानो यह मानता है कि मुझमें अपनी कोई शक्ति नहीं है और मैं स्वयं पराधीन हूँ।

विपरीतमान्यता से ऐसी मिथ्याधारणा बना ली कि संयोगी वस्तु-शरीर इत्यादि से लाभ होता है, इसलिये उस वस्तु को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता है और उसकी रखवाली में लगा रहता है। और जब यह मान लेता है कि प्रतिकूल संयोग मुझे हानि पहुँचाते हैं, तो उन्हें दूर करने के प्रयास में लग जाता है और इसप्रकार द्वेष में फँस जाता है। इसप्रकार ज्ञायकस्वभाव को भूलकर पर से लाभ-हानि मानता है, इसलिये उसमें राग-द्वेष होता है।

जो वस्तु है सो नित्य अपनेरूप से स्थिर रहने वाली है और पररूप से कदापि नहीं है। जैसे वस्तु पररूप से नहीं है उसीप्रकार यदि निज-रूप से भी न हो तो वस्तु का अभाव ही होजाय। जो अपने को अपने-पन से भूलकर पर से लाभ होना मानता है वह मानो यह मानता है कि स्वयं पर के साथ एकमेक होगया है। और यह मान्यता वस्तु की स्वतंत्रता की हत्या करने वाली है। कोई भी वस्तु उसके गुण के बिना-निरी अकेली नहीं होती। जैसे गुड़ मिठास के बिना नहीं होसकता, इसीप्रकार आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, और आनन्दादि अनंत गुणों के बिना नहीं होसकता। ऐसा अनन्त गुण का शाश्वत पिण्ड आत्मा सदा अपनेरूप से है, पररूप से कदापि नहीं है, और न पर के कारणरूप या पराश्रयरूप ही है; तथापि यह मानना कि पर से गुण प्रगट होते हैं,-वह पराधीनता की श्रद्धा है।

जीव ने सभी प्रकार के शुभाशुभ भाव पहले मिथ्यादृष्टिदशा में अनन्त-बार किये हैं, जिनके फलस्वरूप अनन्तबार उच्च-नीच भव धारण किये हैं। यदि उन्हीं भावों से वर्तमान में धर्म होसकता हो तो पूर्वकाल में क्यों नहीं हुआ? इससे सिद्ध हुआ कि उनसे किसी अन्य

ही प्रकार से कोई अपूर्व वस्तु समझना शेष रह गई है; इस महत्वपूर्ण बात को गत अनन्तकाल में जीव एक क्षणभर को भी नहीं समझा है।

पर में अनुकूल-प्रतिकूल मानने कि दृष्टि से जिसे अनुकूल माना है उसका आदर करके उसे रखना चाहता है और जिसे प्रतिकूल मान रखा है उसका अनादर करके उसे अलग कर देना चाहता है। इस-प्रकार परनिमित्ताधीन बाह्यदृष्टि से तीनकाल और तीनलोक के अनन्त पदार्थों के प्रति अनन्त राग और द्वेष कर रहा है।

संयोगीदृष्टि से असंयोगी आत्मस्वभाव में जो शक्ति भरी हुई है उसकी प्रतीति नहीं होती। जब शरीर का संयोग छूटना होगा तब भलीभाँति श्वास भी नहीं लिया जायगा, और इन्द्रियाँ शिथिल होजायेंगी, तब अनन्त खेद होगा। किन्तु यदि अपने स्वतंत्र स्वभाव को इसप्रकार माने कि शरीर की क्रिया आत्माधीन नहीं है; मैं निरावलम्ब चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ; तो अनन्त परपदार्थों के प्रति होने वाला अनन्त राग-द्वेष दूर होजाता है।

" सकल वस्तु जग में असहाई,
वस्तु वस्तु सों मिले न काई ॥"

[नाटक-समयसार]

निश्चयनय से जगत में सर्व पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई किसी की अपेक्षा नहीं रखता, तथा कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ में मिल नहीं जाता और न कोई किसी के आश्रित है; कोई किसी का न कारण है और न कार्य। कर्मों के निमित्त का अपने में आरोप करके राग-द्वेष और सुख-दुःख का भेद करके उसमें एकाग्र होना, अर्थात् परवस्तु को अनुकूल-प्रतिकूल मानना ही अपने स्वाधीन स्वभाव की भ्रांति है, अज्ञान है; और इसीका नाम मोहसंयुक्तता है।

जैसे पानी में वर्तमान अग्नि के निमित्त से उष्णता है, किन्तु पानी का स्वभाव उष्ण नहीं होगया है; इसीप्रकार भगवान आत्मा कर्म-संयोग में अपने को भूलकर पर में आदर-अनादररूप से राग-द्वेष की कल्पना करता है; वह विकार यद्यपि वर्तमान पर्याय तक ही है, किन्तु

त्रैकालिक अविकारी स्वभाव को भूलकर क्षणिक विकार को ही आत्मा मानता है; उस त्रिकाल असत्य का सेवन करनेवाला, सत् की हत्या करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। जबतक विकारी दृष्टि है तबतक आत्मा को विकारी मानता है, तथापि सम्पूर्ण आत्मा में विकार और संयोग घुस नहीं गये हैं। आत्मा और पुद्गल के एकक्षेत्र में रहने से वे एकरूप नहीं हो जाते। यद्यपि कर्मसंयोग राग-द्वेष नहीं कराता, किन्तु अज्ञानी जीव स्वयं उसमें युक्त होकर राग-द्वेष करता है, और अपने को तद्रूप मानता है। उस निमित्ताधीन मान्यता को छोड़े बिना अविकारी स्वभाव कैसे प्रगट होगा? जबकि निर्दोष स्वभाव की प्रतीति ही न हो तो दोषों को दूर करने का पुरुषार्थ कैसे उठेगा? दोष को दूर करने वाला आत्मा सम्पूर्ण अविकारी न हो तो विकारी अवस्था को दूर करके दोष-रहित स्वभाव से कौन रहेगा? विकारी अवस्था के समय एकसमय की अवस्था के अतिरिक्त सम्पूर्ण आत्मा स्वभाव से अविकारी है। विकार को दूर करने का भाव अविकारी स्वभाव के बल से ही होता है। दोष और दुःखरूप विकार को जाननेवाला दोषरूप या दुःखरूप नहीं है, किन्तु सदा ज्ञातास्वरूप है। इस वर्तमान एक-एक समयमात्र की पर्याय में संयोग और विकार के होते हुये भी असंयोगी, अविकारी स्वभाव त्रिकालस्थायी शुद्ध चिदानंदस्वरूप है, विकार का नाशक है। उस ध्रुव चैतन्यस्वभाव के निकट जाकर और विकल्प से कुछ हटकर अन्तरंग-दृष्टि से एकाग्र होने पर वह निमित्ताधीन विकार अभूतार्थ है।

एकान्त बोधबीजरूप स्वभाव का अर्थ है–सम्यग्दर्शन का कारणरूप स्वभाव। एकान्त स्वभाव अर्थात् परनिमित्त के भेद से रहित, स्वाश्रित-रूप से नित्यस्थायी ज्ञानस्वभाव। उसीसे धर्म होता है, विकारी भाव से त्रिकाल में भी धर्म नहीं होता; इसप्रकार धर्मस्वरूप स्वभाव की श्रद्धा करानेवाला जो बोधबीज है सो सम्यग्दर्शन है।

पर से हानि-लाभ होता है, इस विपरीतमान्यता का त्याग करके, स्वभाव का लक्ष्य करके, राग से किंचित् अलग होकर, अन्तरंगदृष्टि

से एकाग्र होकर स्वभाव के निकट जाकर देखा जाय तो मैं असंयोगी अविकारी हूँ, ऐसा स्वानुभव होकर सम्यक्श्रद्धारूप बोधबीज प्रगट होगा। आत्मा का स्वभाव पर से-विकार से प्रगट नहीं होता, किन्तु जो है उसी में से आता है। आत्मा में नित्य स्वतंत्ररूप से पूर्ण शुद्धस्वभाव भरा हुआ है, ऐसी श्रद्धा के कारण निर्मल ध्रुवस्वभाव का स्वीकार करने पर भाव तरंगित होकर झलक उठता है कि, अहो! मुझमें विकार है ही नहीं। ऐसी श्रद्धामय शुद्धदृष्टि के द्वारा अपने स्वभाव की प्रतीति और पर-पदार्थ की श्रद्धा की सर्वप्रकार से त्याग की सिद्धि हुई।

मोक्षमार्ग में पुण्य का श्रद्धा से निषेध किया है, वहाँ अवशिष्ट राग से सहज ही उच्चप्रकार का पुण्यबंध होजाता है। ज्ञानी के पुण्य की इच्छा नहीं होती। कोई भी समझदार किसान घास के लिये अन्न नहीं बोता, क्योंकि जहाँ अन्न उत्पन्न होता है वहाँ साथ ही घास भी सहज ही मिल जाता है। ज्ञानियों ने स्वभाव के अविनाशी अमृतपान का निराकुल आनंद आत्मा में से लेलिया है, और पुण्य-पाप का विष्टा की भाँति त्याग किया है। जैसे मनुष्य की विष्टा को भुँड नामक पशु आनंदपूर्वक खाता है, उसीप्रकार ज्ञानियों ने जिस भाव को पहले से ही त्याज्य माना है उस विष्टारूप पुण्यभाव को अज्ञानी अच्छा मानकर उसकी इच्छा करते हैं, उसमें सुख मानते हैं, वे भुंड के समान हैं।

आचार्यदेव करुणापूर्वक कहते हैं कि हे प्रभु! तू अमृतकुण्ड में रहने वाला आत्मा चमारकुण्डवत् इस मृतक कलेवर (शरीर) में पुण्यादि को 'मेरा-मेरा' करके उसमें मूर्च्छित होरहा है। तू संयोगी, नाशवान धूल का आदर और असंयोगी भगवान आत्मस्वभाव का अनादर कर रहा है।

प्रश्नः—आत्मश्रद्धा की बात कर डालें, किन्तु सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की क्रिया क्या है?

उत्तरः—बाहर की किसी भी क्रिया से सम्यग्दर्शन नहीं होता। स्वयं अभ्यास करके, सच्ची रुचिपूर्वक स्वभाव को समझने का प्रयत्न करना

सो अपूर्व सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की क्रिया है। राग-द्वेष मोह मेरे नहीं हैं, पर से किसी को हानि-लाभ नहीं होसकता, मैं पर का कुछ नहीं कर सकता, मैं तो मात्र अपने पूर्ण ज्ञायकस्वभाव में अनन्ती क्रिया कर सकता हूँ। ऐसे स्वतंत्र स्वभाव को स्वीकार करके, अन्तर्मन्थन करके, यथार्थ निर्णयरूप निःसंदेह श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की क्रिया है।

मैं अनन्त ज्ञानानन्दरूप हूँ और विकाररूप नहीं हूँ, ऐसी श्रद्धा करने में ज्ञान की अनन्ती क्रिया होगई, मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण होगया और अनंत भव का प्रत्याख्यान होगया। अपने स्वतंत्र पूर्णस्वभाव को पहचान-कर मानना सो उस भ्रांति का (मिथ्यात्व का) प्रतिक्रमण है।

अज्ञानी जीव स्वयं ही विपरीत श्रद्धा से अपने ही द्वारा अपना अहित करते हैं। अज्ञान उस अहित का बचाव नहीं होसकता। अज्ञान से यदि विष खा लिया जाय तो भी उसका फल तो मिलेगा ही, इसी-प्रकार अज्ञानकृत राग-द्वेष का फल भी मिले बिना नहीं रहता।

व्यवहार से देखा जाय तो भी कोई किसी का शिरच्छेद करने वाला नहीं है, क्योंकि आत्मा के हाथ, पैर, मस्तक आदि हैं ही नहीं। आत्मा तो अछेद्य, अभेद्य, अविनाशी, अरूपी, ज्ञानघन है। छिदना, भिदना या संयोग-वियोग होना पुद्गल-जड़ रजकणों का स्वभाव है। शरीर, मन, इन्द्रियादि की रचना पौद्गलिक है। पुद्गल जड़-द्रव्य है, उसमें गलना-मिलना आदि संयोगीपन का स्वभाव है, वह किसी के अधीन प्रवर्तित नहीं है, स्वतंत्र स्वभावी है, वह जड़ेश्वर भगवान है। मात्र उसमें ज्ञातृत्व नहीं है, सुख-दुःख का संवेदन नहीं है, इसके अतिरिक्त उसमें अनन्तशक्ति विद्यमान है। वह अपनी पर्याय को स्वतंत्ररूप से बदलता है। यह बात मिथ्या है कि जब कोई आत्मा उसकी पर्याय को बदले तब वह बदलता है। यदि वह ऐसा हो कि जब उसकी क्रिया को कोई दूसरा करे तभी हो, तो वह वस्तु पराधीन कहलायगी–शक्तिहीन कहला-यगी; किन्तु जो वस्तु सत् है वह कभी भी अपनी अनन्तशक्ति से रिक्त

नहीं होसकती। जिसे जड़ की स्वतंत्र शक्ति की खबर नहीं है उसे ऐसा लगता है कि जीव के द्वारा किये बिना जड़-पुद्गल की क्रिया नहीं होसकती। यह भी अनादिकालीन दृष्टि की भूल है।

जड़ और चेतन दोनों तत्व बिलकुल भिन्न हैं, तीनोंकाल भिन्न हैं। कोई आत्मा पर का कुछ भी नहीं कर सकता, और पर से कभी किसी को कोई हानि-लाभ नहीं होसकता। सबका हिताहित अपने भाव में ही है। बाहर के चाहे जितने अनुकूल-प्रतिकूल संयोग आयें, किन्तु वे मेरे स्वभाव में कुछ भी नहीं कर सकते, क्योंकि मैं स्वतंत्र हूँ। इसप्रकार त्रिकाल स्वतंत्र वस्तुस्वभाव की घोषणा करने से अनन्त राग-द्वेष हेतुका बाह्यवृत्ति को समेटकर आत्मस्वरूप के आँगन में आ-खड़ा होता है। और जो आँगन में आ-खड़ा हुआ है वह अपना कितना बुरा करेगा?

यथार्थ समझ के करने में अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ चाहिये। अपने परिणाम के लिये पर के ऊपर दृष्टि नहीं रही, इसलिये अनन्त परद्रव्यों के प्रति का राग-द्वेष न करनेरूप अनन्त तपस्या आगई। पर की इच्छा का विरोध ही तप है, (इच्छानिरोधस्तपः) इसमें संवर भी अन्तर्हित है और यथार्थ मान्यता को स्थिर रखने वाले अनन्तपुरुषार्थ का भी समावेश होगया। यह सब ज्ञान की क्रिया है। जो होसकता है वही कहा जाता है। लोग थोड़ी सी बाह्य प्रतिकूलता आजाने से आकुल-व्याकुल होजाते हैं। किन्तु भगवान कहते हैं कि जब मुनि ध्यानमग्न हों तब कोई विरोधी देव (जिसे धर्म की रुचि नहीं है) आकर उनका पैर पकड़कर सुमेरुपर्वत पर ऐसा दे पछाड़े जैसे धोबी कपड़े को पत्थर पर पछाड़ता है, तो ऐसी घोर प्रतिकूलता के समय भी अनन्त मुनिवर्य स्वरूप में एकाग्र रहकर मोक्ष गये हैं; अर्थात् किसी भी आत्मा के अपारशक्तिरूप स्वभाव-भाव को रोकने के लिये जगत में कोई समर्थ नहीं है। शरीर को पर्वत के साथ पछाड़ देने का मुनि को कोई दुःख नहीं होता। जिसे शरीर के प्रति मोह है उसे अपने राग के कारण शरीर में तनिक सी प्रतिकूलता आने पर दुःख मालूम होता है-वह उसे दुःख मान लेता है। मुनि की

दृष्टि शरीर पर नहीं है; और न उस ओर कोई राग है, इसलिये उन्हें शारीरिक प्रतिकूलता में दुःखानुभव नहीं होता। शरीरादिक परवस्तु दुःख का कारण नहीं है, किन्तु पर के प्रति जो अपना राग है सो वही दुःख का कारण है। कोई शरीर जलादे या घानी में पेल डाले तो-ऐसे शारीरिक संयोग धर्मात्मा को कभी भी हानिकारक नहीं हुये हैं। ऐसे बाह्य-शारीरिक संयोगों के होते हुये भी वे अन्तरंगस्वभाव में लीन रहकर मोक्ष गये हैं, क्योंकि आत्मा में बाह्यसंयोगों की नास्ति है। और जो अपने में है ही नहीं वह अपना हानि लाभ नहीं कर सकता। मात्र अपनी मान्यता का विपरीत भाव अनन्त हानि करता है और सुलटा भाव अनन्त लाभ करता है।

किन्तु यहाँ तो लोग थोड़ी सी भी बाह्य प्रतिकूलता में या निन्दा करने पर धर्म नहीं सुन सकते-नहीं सुनना चाहते, सम्पूर्ण अनुकूलता होने पर ही धर्म श्रवण करना चाहते हैं। थोड़ी सी प्रतिकूलता होनेपर लोग चीखने-चिल्लाने लगते हैं और द्वेषभाव करने लगते हैं; किन्तु हे भाई! जबकि मनुष्यभव मिला है तब इसमें प्रतिकूलता को कुछ गिनना-मानना ही नहीं चाहिये। इस पृथ्वी के नीचे नरकक्षेत्र है, वहाँ दुःख का ऐसा बाह्य संयोग है कि जिसका वर्णन सुनते ही रोंगटे खड़े होजाते हैं, कँपकपी छूटती है। तू ऐसे बाह्य प्रतिकूल संयोगों में अनन्तबार होआया है।

जिसकी करोड़ों रुपयों की दैनिक आय हो ऐसे राजा के सुकुमार, सुन्दर एवं नवनीत के समान सुकोमल शरीरधारी युवक पुत्र को किसी ऐसी भयंकर प्रज्वलित भट्टी में जीवित ही फेंक दिया जाय जो लाखों मन लोहे को गलाकर क्षणभर में पानी बना देती है; तो उसमें जलते हुये राजकुमार को जितना दुःख होता है उससे भी अनन्तगुना अधिक दुःख प्रथमनरक में है। और ऐसा दुःख पहले नरक में कम से कम दसहजार वर्षतक रहता है। जिसे पाप से भय नहीं है और जिसके मांसभक्षण, परस्त्री सेवन, गर्भपात, मदिरापान एवं शिकार आदि के

महाक्रूर परिणाम होते हैं उसके नरकगति की आयु का बंध होता है। जैसे नरक के भयंकर प्रतिकूल संयोगों में भी आत्मप्रतीति की जासकती है। बाह्य में दुःख के समय भी दुःखरहित स्वभाव का विचार करने पर कोई जीव अन्तरंग में एकाग्र होकर शुद्ध आत्मा के निर्णय के द्वारा बोधबीज (सम्यग्दर्शन) को प्राप्त कर सकता है। उस क्षेत्र में भी ज्ञान होसकता है कि मैंने पहले मुनि के निकट सदुपदेश सुना था, किन्तु उसकी परवाह नहीं की; और ऐसा विचार करते-करते स्वलक्ष्य से आन्तरिक प्रतीति, या प्रकाश पा लेता है। इसमें किसी निमित्तकारण की आवश्यक्ता नहीं होती। ऐसा नहीं है कि बाह्य अनुकूलता हो तभी ज्ञान हो। पाप की भाँति पुण्य के फल से नवमें ग्रैवेयक में—सम्पूर्ण बाह्य अनुकूलता में गया, किन्तु वहाँ बाह्य अनुकूलताओं के होते हुये भी निरावलम्बी स्वभाव की प्रतीति न करे तो कहीं वे बाह्यसंयोग आत्म-प्रतीति नहीं करा देंगे!

किसी भी बाह्यसंयोग से न तो आत्मा का धर्म होता है, और न धर्म रुकता ही है; इसप्रकार अपने स्वतंत्र स्वभाव को मानना सो यथार्थदृष्टि है। देहादि का कोई संयोग मेरा स्वरूप नहीं है। किसी के पहले का बैरभाव जागृत हुआ हो तो वह भले ही शरीर के टुकड़े कर डाले, किन्तु वह आत्मा के लिये हानिकारक नहीं है। वह आत्मा की क्रिया नहीं किन्तु जड़-स्वभाव है। ऐसी श्रद्धा अनन्त समभाव की शक्ति प्रदान करती है। जो ऐसे स्वभाव से इन्कार करता है उसे पराधीनता अनुकूल मालूम होरही है। संयोग की श्रद्धा समताभाव नहीं करा सकती। मेरे स्वभाव को कोई हानि नहीं पहुँचा सकता, ऐसी श्रद्धा को बनाये रखने में अनन्त पुरुषार्थ है। ऐसी समझ के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसीप्रकार ज्ञानपूर्वक समझ और समझपूर्वक स्थिरता में प्रत्याख्यान और तपस्या इत्यादि ज्ञान की क्रिया आती है। जिसने स्वभाव के लक्ष्य से मिथ्यामान्यता का नाश किया है उसके अनन्तसंसार का कारण मिथ्याभाव रुक गया है, और मिथ्याभाव के रुकने पर मिथ्या-

मार्ग का अनुमोदन रुक गया है। इसप्रकार मिथ्यात्वरूप इच्छा का निरोध हुआ सो सच्चा तप है।

पुण्य-पापरहित निरावलम्बी स्वभाव की श्रद्धा और स्थिरता के द्वारा मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मोक्षमार्ग बाह्य संयोगाधीन नहीं है, क्योंकि स्वभाव में संयोग की नास्ति है।

भावार्थः—वर्तमान संयोगाधीन दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा पाँच प्रकार के व्यवहार से अनेकरूप ज्ञात होता है। वे पाँच प्रकार निम्नप्रकार हैः—

१–अनादि से पुद्गलकर्म का संयोग होने से कर्मरूप मालूम होता है।

२–कर्म के निमित्त से होने वाले चारगतिरूप–नर, नारक, देव, तिर्यंच के शरीर के आकाररूप दिखाई देता है।

३–आत्मा में अनन्तगुण एकरूप हैं, जोकि सब एकसाथ रहते हैं, किन्तु उसकी अवस्था में हीनाधिकता होती रहती है। उस अवस्थादृष्टि से अनेकरूप ज्ञात होता है।

४–श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र इत्यादि अनेक गुणों के भेदरूप अवस्था-क्रम के द्वारा देखने पर अनेकरूप दिखाई देता है।

५–मोहकर्म के निमित्त में लगने से राग-द्वेष, सुख-दुःखरूप अनेक अवस्थामय दिखाई देता है।

यह सब अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय-व्यवहारनय का विषय है। वे सब-प्रकार व्यवहारदृष्टि से विकारी अवस्था में हैं, किन्तु स्वभाव वैसा नहीं है। इस संयोगाधीन अनेकरूप दृष्टि से आत्मा का एकरूप स्वभाव दिखाई नहीं देता। जितना परनिमित्त से अनेक भेदरूप दिखाई दे उतना ही अपने को मानले तो यथार्थ स्वरूप ज्ञात नहीं होता।

निमित्ताधीन अशुद्धदृष्टि का पक्ष छोड़कर विकारी अवस्था तथा निमित्त के संयोग को यथावत् जानने वाले-व्यवहारनय को गौण करके, एक असाधारण ज्ञायकभाव-चैतन्यमात्र आत्मा अभेद स्वभावग्रहण करके उसे शुद्धनय की दृष्टि से (१) सर्व परद्रव्यों से भिन्न, (२) त्रैकालिक सर्व पर्यायों में अपने अरूपी, असंख्यप्रदेश के अखण्ड पिण्डरूप से एकाकार, (३) वर्तमान में विद्यमान पर्याय की हीनाधिकता के भेद से रहित, (४) अनेक गुणों के विभिन्न भेदों से रहित, (५) निमित्त में युक्तरूप विकारीभाव से रहित, अर्थात् परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव और गुण-भेद से रहित, निर्विकल्प सामान्य वस्तुरूप से देखने पर समस्त परद्रव्य और परभावों के अनेक भेदों से युक्त अवस्था को स्वभाव में नास्ति है। इसप्रकार निश्चयसम्यग्दर्शन का विषय कहा है।

प्रत्येक आत्मा तथा प्रत्येक जड़वस्तु का स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है, जोकि सर्वज्ञदेव कथित 'स्याद्वाद' से यथार्थ निश्चित् होता है। आत्मा भी अनन्त धर्मों वाला है। प्रत्येक आत्मा में जो धर्म (गुण) हैं वे कहीं बाहर से नहीं आते। कर्म के निमित्त से पुण्य-पाप की जो वृत्ति उठती है वह आत्मस्वभाव की नहीं है। आत्मा का स्वभाव विकारनाशक नित्य ज्ञानस्वरूप है; पराश्रय से रहित, कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित स्वाधीन है। उसे ऐसा न मानना सो मिथ्यात्व-मूढ़ता है; और जैसा है वैसा ही मानना सो सम्यग्दर्शन है। फिर स्वभाव के बल से अशुभराग को दूर करते-करते जो शुभराग रह जाता है उसमें व्रत, तप इत्यादि शुभभाव सहज ही होते हैं; और स्वलक्ष्य से स्थिरता में स्थित होनेपर जितना राग का नाश हुआ उतना चारित्र है; किन्तु सम्यग्दर्शन के विना व्यवहार से भी व्रत चारित्रादि अंशमात्र भी सच्चे नहीं होते।

छहपदार्थ अनादि, अनन्त स्वयंसिद्ध, किसी के भी कार्य-कारण से रहित, स्वतंत्र हैं; प्रतिसमय अपनी शक्ति से परिपूर्ण हैं; इसप्रकार सर्वज्ञ भगवान ने अपने ज्ञान में प्रत्यक्ष देखा है। उसमें अनन्त आत्मा स्वतंत्र, अरूपी, ज्ञानमय हैं; अनन्त जड़-पुद्गलपरमाणु अचेतन हैं। और अन्य

शेष चार पदार्थ (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल) अचेतन हैं। यह सब पदार्थ अनादि-अनन्त अपने धर्म (गुण) स्वरूप से हैं, पररूप से नहीं हैं। प्रत्येक वस्तु एक-एक समय में अपने अनन्तगुण-स्वरूप से स्थिर रहकर पर्याय बदलती रहती है।

प्रत्येक वस्तु में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व, तत्व-अतत्व, एकत्व-अनेकत्व, भेदत्व-अभेदत्व इत्यादि अनन्तगुण शाश्वत हैं। कोई आत्मा कभी भी जड़ रजकणरूप, उसके गुणरूप, या उसकी पर्यायरूप में नहीं होता; इसलिये वह परवस्तु का कर्ता नहीं है। और वह अनन्त परात्मारूप या उनके गुण-पर्यायरूप नहीं होता; कभी हो ही नहीं सकता। इसलिये कोई आत्मा किसी के कार्य-कारणरूप नहीं है। आत्मा अनादि-अनन्त सत्पदार्थ है, इसलिये अनादिकाल से अनन्त देहादि के संयोग के बीच रहकर भी किसी भी पर के साथ किसी भी काल में पररूप न होनेवाला अपने में अपना अनन्यत्व नामक गुण है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु में अनन्तगुण विद्यमान हैं। जैसे एक कलम अनन्त रजकणों का पिण्ड है, यदि उसमें वस्तुरूप से परमाणु प्रथक् न हों तो वे अलग नहीं हो सकेंगे। परमाणुओं का क्षेत्रांतर या रूपान्तर होता है, किन्तु मूलवस्तु का कदापि नाश नहीं होता। यदि प्रत्येक वस्तु में अनन्त पर-पदार्थरूप न होने की शक्ति न हो तो स्वतन्त्र वस्तु ही न रहे। प्रत्येक रजकण में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, और उपरोक्त अस्तित्व, अनन्यत्व आदि अनन्तगुण विद्यमान हैं। वे अपनी शक्ति से अपनेपन को सुरक्षित रखकर पर्याय बदलते रहते हैं।

जैसे—एक डाकू को अधिकार में रखने के लिये पचास चौकीदारों को रखना पड़ता है। यह डाकू के बल का प्रभाव है, तथापि उस डाकू की सत्ता चौकीदारों से अलग ही है; इसीप्रकार एक आत्मा के विपरीत रुचि की प्रबलता से भावबंध के कारण अनन्त परमाणुओं का संयोग है, तथापि उसमें मात्र चैतन्य की प्रबलता है। आत्मा कदापि अपनी चैतन्यसत्ता से छूटकर रूपित्व को प्राप्त नहीं होता, चैतन्यस्वरूप में

से एक अंश भी कम नहीं होता। इसीप्रकार शरीर के रजकण चैतन्य को प्राप्त नहीं होसकते और आत्मा कभी शरीर के रजकणरूप जड़ता को प्राप्त नहीं होता। न तो चैतन्य में जड़ है और न जड़ में चैतन्य। दोनों अनादिकाल से अलग थे और वर्तमान में भी अलग ही हैं। अलग वस्तु कभी भी दूसरे में नहीं मिल सकती। यदि आत्मा और शरीर एकमेक हों तो चैतन्य (आत्मा) के उड़ जाने पर जड़ शरीर भी उड़ जाना चाहिये, किन्तु ऐसा कदापि नहीं होता। जड़-चेतन दोनों द्रव्यों के स्वभाव त्रिकाल भिन्न हैं। जो वस्तु है उसका त्रिकाल में भी सर्वथा नाश नहीं होता, किन्तु मात्र पर्याय बदलती रहती है, जिसे लोग नाश कह देते हैं। जो वस्तु है ही नहीं वह कदापि नवीन उत्पन्न नहीं हो-सकती, किन्तु वस्तु की पर्याय नई प्रगट होती है, जिसे लोग (अवस्था पर दृष्टि होने से) वस्तु का उत्पन्न होना मानते हैं।

सर्वज्ञकथित स्याद्वादन्याय से अनन्त धर्मस्वरूप स्वतंत्र वस्तुस्वभाव को भलीभाँति निश्चित किया जासकता है। स्वतंत्र वस्तु के अनेक धर्मों में से जिस अपेक्षा से जो स्वभाव है उसे मुख्य करके कहना सो स्याद्वाद* है। प्रत्येक वस्तु अपनेपन से त्रिकाल है, और पररूप से एक समयमात्र को नहीं है। इसप्रकार अस्ति-नास्ति से वस्तु के निश्चयस्वरूप को जानना सो स्याद्वाद की सच्ची श्रद्धा है। आत्मा कभी तो पर की क्रिया करे और कभी न करे, ऐसा विपरीतवाद, विचित्रवाद सर्वज्ञदेव के शासन में नहीं है।

प्रत्येक वस्तु त्रिकालस्थायी होने की अपेक्षा से नित्य है, और पर्यायपरिवर्तन की दृष्टि से अनित्य है। निश्चयदृष्टि से–वस्तुदृष्टि से नित्य अभिन्नता और पर्यायदृष्टि से भिन्नता (अपेक्षादृष्टि से) यथावत् कही जाती है। एकधर्म के कहने पर (स्वभाव या गुण के कहने पर) दूसरे को गौण कर दिया जाता है। जिस दृष्टि से शुद्ध कहा, उसी दृष्टि से अशुद्ध नहीं कहा जासकता। किन्तु अशुद्ध को बताते समय

* स्यात्=अपेक्षा, वाद=कथन। अर्थात् अपेक्षादृष्टि से कहना।

शुद्ध को गौण कर देते हैं, इसप्रकार स्याद्वाद है। एक वस्तु को पर-धर्म के साथ एकमेक न करके, जिसप्रकार स्वतंत्र वस्तु है उसे वैसा ही बतानेवाला स्याद्वाद है। अनेकान्तस्वरूप स्वतंत्र वस्तु को भगवान के द्वारा कथित स्याद्वाद से भली-भाँति जाना जासकता है।

विचारों में प्रतिसमय परिवर्तन होता है। विचार करनेवाला स्वतंत्रतया स्थिर रहकर पर्यायरूप से बदलता रहता है। उस पर्याय की अपेक्षा से अनित्यता है। यदि कोई कहे कि-आत्मा सर्वथा नित्य, कूटस्थ, शुद्ध ही है, वह पर्यायपरिवर्तन नहीं करता तो वह सर्वथा एकान्तवादी है। एक पक्ष की मिथ्यामान्यता को दूर करके दोनों पहलुओं का यथार्थ ज्ञान करानेवाला स्याद्वाद ही न्यायपूर्ण है। उसके द्वारा द्रव्यदृष्टि से शुद्धत्व, नित्यत्व इत्यादि धर्म बताये जाते हैं, और पर्यायदृष्टि से वर्तमान अशुद्धता, अनित्यता आदि यथावत बताई जाती हैं।

आत्मा में अनन्त धर्म हैं, उनमें से कुछ धर्म तो स्वाभाविक हैं; वे पर-निमित्त की अपेक्षा नहीं रखते। जैसे ज्ञान, दर्शन, आनंद, वीर्य अस्तित्व, वस्तुत्व इत्यादि गुण किसी के निमित्त से नहीं; किन्तु स्वयं-सिद्ध हैं। उन गुणों में पराधीनता, परापेक्षा, या बाधारूप आवरण नहीं होता। जो है सो अनादि-अनन्त है, इसलिये गुणरूप धर्म नित्य है, वह शुद्धस्वभाव से एकरूप है।

पर्यायदृष्टि से आत्मा अशुद्ध है, किन्तु अशुद्धता उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा में जड़कर्म नहीं हैं, किन्तु जड़कर्मों का संयोग प्राप्त करके मिथ्याभाव के द्वारा पर में कर्तृत्व (अपनापन) स्थापित करके राग-द्वेष की अवस्था को स्वयं धारण कर रहा है; तथापि वह अपने ज्ञानस्वभाव से अलग नहीं होगया है। अनादिकाल से अशुद्ध पर्याय-बुद्धि की पकड़ से बाह्य देहादि संयोगों पर लक्ष्य करके, अपने में पर का आरोप करके पुण्य-पाप भाव करता है। उस संयोगी, विकारीभाव

के द्वारा जीव को संसार की प्राप्ति होती है। जीव आकुलता के कारण शुभाशुभभाव करता है और उसके फलस्वरूप संसार का सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि को भोगता है।

आत्मा न तो पर का कुछ कर सकता है और न पर को किसी-प्रकार से भोग ही सकता है। कर्मसंयोग से जो भाव होते हैं वे अज्ञानी जीव के होते हैं। पुण्य-पाप के भावों का फल बाह्य में संयोगदान करना है, और अज्ञानी जीव उसमें सुख-दुःख की कल्पना करके थोड़े दुःख को सुख मानता है और अधिक दुःख को दुःख मानता है; किन्तु वास्तव में तो दोनों दुःख ही हैं, उनमें कहीं किंचित् भी सुख नहीं है। देवपद, राजपद इत्यादि पुण्य के फल को अज्ञानी जीव सुख मानता है और नरक, निर्धनता आदि में दुःख मानता है; किन्तु ज्ञानी पुण्य और पाप दोनों के फल को दुःखरूप ही मानता है, उसे दुःख ही कहता है। बहुत से धनिक व्यक्ति आत्मप्रतीति के बिना देहबुद्धि के द्वारा चमारकुण्ड में मोह को प्राप्त होरहे हैं, वे सब दुःखी ही हैं। उत्कृष्ट देवत्व भी मिल जाय तो भी उसे ज्ञानी दुःख ही मानते हैं। क्योंकि जब आत्मस्वभाव को भूलकर विभावरूप शुभभाव किये तभी वह देवत्व मिला है, इसलिये वह दुःख ही है।

कई लोग रुपये-पैसे से धर्म होना मान बैठे हैं। उन्हें सच्चे धर्म की और सच्चे सुख की ही खबर नहीं है। वे द्रव्य कमाने के लिये कई वर्ष परदेश में रहते हैं, और कभी देश में आकर मान बड़ाई के लिये पाँच-दस हजार रुपये धर्म के नामपर खर्च कर जाते हैं, तो उन्हें यह सुनाने वाले भी मिल जाते हैं कि अहो! आपने खूब धर्म किया, आप बड़े धर्मात्मा पुरुष हैं। और यह सुनकर रुपया-पैसा खर्च करनेवाला भी मान लेता है कि मैंने बहुत उत्तमकार्य किया, मैंने खूब धर्मकार्य किया है; मुझे धर्म की प्राप्ति हुई है; इत्यादि। इसप्रकार विपरीतमान्यता के कारण यथार्थ वस्तुस्वभाव को समझने की चिन्ता नहीं रहती।

जैसे-शरीर के एक अंग में फोड़ा हुआ हो, किन्तु सारे शरीर को फोड़ामय मानले तो वह मान्यता मिथ्या है, इसीप्रकार प्रतिसमय अनन्त गुणस्वरूप आत्मा अनन्तशक्ति से त्रिकालस्थायी है. उसे परनिमित्त के संयोग से वर्तमान एक-एक समयमात्र का मानले तो वह भूल है-अज्ञान है। पुण्य-पाप फोड़े के समान हैं, आत्मा तद्रूप नहीं है।

संयोगाधीन दृष्टिवाला धर्म के लिये साक्षात् तीर्थंकर भगवान के निकट जाकर भी अपनी विपरीतमान्यता को चिपकाये हुये यों ही वापिस आजाता है। उसके अन्तरंग में स्व-पर विवेक की यह बात ही नहीं जमती कि 'मैं पर से भिन्न हूं, इसलिये पर का कुछ भी नहीं कर सकता।' आचार्यदेव कहते हैं कि पर में कर्तृत्व मानकर जीव राग-द्वेष करता है, इसीलिये अनादिकाल से दुःखी होकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। जो यह मानता है कि देह की क्रिया मेरी है और मैं उसकी सम्हाल कर सकता हूं, वह शरीर और आत्मा को एक मान रहा है। दूसरे का कुछ करने-धरने की वृत्ति का होना भी राग है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा राग-द्वेष के भावमात्र के लिये नहीं है, किन्तु विकार का नाशक, अखण्ड ज्ञायकस्वरूप ध्रुव है। ऐसे सम्पूर्ण आत्मा को पहचाने बिना अखण्ड आत्मस्वभाव को प्राप्त करने का पुरुषार्थ जागृत नहीं होता, अर्थात् परिपूर्ण स्वतंत्रता की श्रद्धा के बिना अंशमात्र भी यथार्थ पुरुषार्थ जागृत नहीं होता।

श्रद्धा के अखण्ड लक्ष्य में भेद नहीं हैं, इसलिये अखण्डस्वभाव और खण्डरूप पर्याय को सर्वज्ञ के आगम से जानकर, खण्डरूप पर्याय का लक्ष्य गौण करके, अनादि-अनन्त, एकरूप, ज्ञायक आत्मा की श्रद्धा करे तो पर्यायबुद्धि का नाश होकर, पर में कर्तृत्व का अहङ्कार दूर होकर अखण्ड ज्ञानस्वभाव की दृढ़ता होती है।

पर में सुख नहीं है, तथापि संसार के अज्ञानी जीव पर में सुख मानकर विपरीतमान्यता पर कितना भार देते हैं? सुवर्ण में, रुपये-पैसे में, खान-पान में, मकान में, और शरीरादि अनन्त परवस्तुओं में

राग करके, उनमें सुख की विपरीतमान्यता के आग्रह से भिन्न-ज्ञायकस्वभाव की विरोधरूप दृष्टि के बल से अशुद्धपर्याय पर भार देते हैं। पर्याय के आश्रय से एकान्त राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति होती है। उस विपरीतमान्यता को पलटकर यथार्थ मान्यता करके उसके द्वारा पूर्णज्ञानघन अविनाशी सम्पूर्णस्वभाव को लक्ष्य में लेना सो यही यथार्थदृष्टि है। उससे अशुद्धपर्याय में अहंबुद्धि मिट जाती है, पर में कर्तृत्वभाव नहीं होता।

किसी को लड्डू खाते देखकर कोई दूसरा व्यक्ति उससे पूछता है कि क्यों! लड्डू का स्वाद आरहा है? तो वह उत्तर में कहता है कि हाँ, बहुत अच्छा मीठा स्वाद आरहा है। इसप्रकार राग की एकाग्रतारूप आकुलता में जड़ के स्वाद का आरोप करके ऐसा मानता है कि जड़ में से स्वाद आरहा है। उसे यह खबर नहीं है कि जड़ के रस को जाननेवाला स्वयं जड़ के स्वाद से भिन्न है और लड्डू के जो रजकण अभी स्वादिष्ट प्रतीत होरहे हैं वे कुछ ही समय बाद विष्टारूप होजायेंगे। उसे यह जानने-देखने का धैर्य नहीं है, इसलिये ऐसा विपरीत निर्णय जम गया है कि पर में सुख है। वह लड्डू में स्वाद मानता है, किन्तु यह नहीं जानता कि लड्डू या उसके स्वाद को जाननेवाला स्वयं कैसा है? यदि कोई उससे यह कहे कि "तुझे जिस स्वाद का अनुभव होरहा है वह लड्डू में से नहीं आरहा है, क्योंकि तू लड्डू के स्वादरूप-जड़ नहीं होगया है। मिठास जड़ के रस-गुण की पर्याय है; तेरा ज्ञान मीठा या कड़वा नहीं होता, तूने स्वाद नहीं लिया है, किन्तु स्वाद में राग किया है;" तो वह इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं होगा। स्वाद से पृथक्त्व को स्वीकार करते हुये भारी कठिनाई मालूम होती है, क्योंकि अनादिकाल से पर में एकमेकता मान रखी है—पर में सुखबुद्धि मान रखी है।

अनादिकालीन विपरीतदृष्टि का बल बाह्यक्रिया या हठ से दूर नहीं होता; किन्तु पर से भिन्न—स्वतंत्रस्वभाव को समझे और उसकी

महिमा को जानकर उसीका आश्रय ले तो पर-विषय में सहज ही तुच्छता प्रतीत होने लगे। स्वभाव की दृढ़ता हुये बिना-भीतर गहरेतक जो पुण्य की मिठास बसी हुई है वह, दूर नहीं होसकती।

आत्मा के अनादिकालीन अज्ञान से पर्यायबुद्धि है। उसे अनादि-अनन्त एक आत्मा का ज्ञान नहीं है। उसे बताने वाला सर्वज्ञ का आगम है। उसमें शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से यह बताया है कि आत्मा का एक असाधारण चैतन्यभाव है, जोकि अखण्ड है, नित्य है, अनादिनिधन है। उसे जान लेने से पर्यायबुद्धि का पक्षपात मिटजाता है।

ऊपर यह कहा गया है कि पर्यायबुद्धि की पकड़ कैसे छूट सकती है। पूर्वापर विरोध से रहित शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के द्वारा श्रद्धा में पूर्ण एकरूप नित्य अखण्ड ज्ञायकस्वभाव को अँगीकार करने से भूल दूर होती है। फिर उसे पर का कर्तृत्व या पर का स्वामित्व नहीं रहता। पुण्य-पाप के विकार में भी स्वामित्व नहीं है। एकरूप ज्ञायकस्वभाव को देखेने पर यह प्रतीत होजाता है कि मैं परद्रव्यों से और परद्रव्यों के भावों से भिन्न हूँ; देहादिक जड़ की अवस्था बदलनेरूप जो क्रिया—खाना-पीना, बोलना-चालना, उठना-बैठना और चलना तथा स्थिर रहना है सो सब जड़ की क्रिया है, मेरी नहीं है, और न मेरे आधीन है, उसमें मेरी कोई प्रेरणा भी नहीं है, और न उससे मुझे कोई हानि-लाभ है; क्योंकि वह स्वतंत्र परमाणुओं की अवस्था है, और मैं जड़ से भिन्न हूँ।

परद्रव्यों से, उनके भावों से (अवस्था से) और उनके निमित्त से होनेवाले अपने विभावों से अपने आत्मा को भिन्न जानकर उसका अनुभव जीव करे तब वह परद्रव्यों के भावरूप परिणमित नहीं होता; उससे कर्मबन्ध नहीं होता और संसार से निवृत्ति होजाती है। इसलिये पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनय को गौण करके अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा है, और शुद्धनिश्चयनय को सत्यार्थ कहकर उसका अवलम्बन दिया है।

जड़कर्म के संयोग में युक्त होने से क्षणिक अवस्था जितने पुण्य-पाप के विकारीभाव होते हैं, तद्रूप मैं नहीं हूँ, विकारीभाव मेरे (स्वभाव के)

नहीं हैं, यह जानकर अवस्था के भेद का लक्ष्य गौण करके, अखंड-स्वभाव के बल से स्वभाव में एकाग्र होकर नित्य, अखंड, ज्ञायक पूर्ण हूँ, इसप्रकार निश्चयरहित अनुभव करना सो सम्यक्‌दर्शन है। उसके बल से पर से भिन्नत्व का अभ्यास निरंतर रहता है, इसलिये परद्रव्य के भावरूप से आत्मा कभी परिणमित नहीं होता—परभावरूप नहीं होता, अज्ञानभाव से पर में कर्तृत्व नहीं मानता, इसलिये परमार्थ से कर्मरूपी आवरण का बन्धन नहीं होता। ऐसा समझ लेने पर श्रद्धा—ज्ञान के बल से उसके विरोधरूप मिथ्याभाव का नाश होने से उसमें कर्म फिर-से नहीं बँधते और क्रमशः संसार का, एवं चारित्र की अस्थिरता का अंत होजाता है। ऐसा होने से भेद के आश्रित-पर्यायार्थिकरूप व्यवहार-नय को गौण करके उसे अभूतार्थ कहा है।

यथार्थ वस्तुस्वरूप की प्राप्ति तथा उसमें यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान का अनुभव प्राप्त होने के बाद नयपक्ष के विकल्प का अवलम्बन नहीं रहता। अर्थात् श्रद्धा में पूर्ण हूँ, कृतकृत्य परमात्मा हूँ—ऐसा वर्तमान में ही पूर्णता का निस्सन्देह विश्वास होने से स्वरूप के निर्णय सम्बन्धी शंका नहीं रहती और चारित्र में पूर्ण होने के बाद केवलज्ञान में सूक्ष्म राग या विकल्प का अवलम्बन नहीं होता।

परनिमित्त के भेद से रहित, शुभाशुभ विकल्परहित अखण्ड ज्ञायक-स्वभाव की प्रतीति होने के बाद श्रद्धा सम्बंधी रागरूप व्यवहार का भार छूट जाता है, और त्रिकाल ज्ञानस्वभाव के स्वामित्व के द्वारा शुभ या अशुभ रागरूप किसी भी प्रकार की आकुलता के भाव का स्वामित्व नहीं रहता। कोई आत्मा त्रिकाल में भी पर का कर्ता नहीं है, किन्तु अज्ञानभाव से जो अपने को राग-द्वेष का कर्ता मान रहा था और शुभराग को तथा पुण्यादि परवस्तु को सहायक मानता था, सो वह विपरीतमान्यता सच्चीदृष्टि होने पर छूट गई, इसलिये उसे पराश्रयरूप व्यवहार कहकर, स्वाश्रित लक्ष्यसहित श्रद्धा के बल से गौण किया, और फिर चारित्र के बल से उसका अभाव होता है, इसलिये

भेदरूप व्यवहार को अभूतार्थ कहा है; अर्थात् यह कहा है कि वह आत्मा के साथ स्थिर रहनेवाला नहीं है। किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि शुद्धनय सत्यार्थ है और व्यवहारनय खरगोश के सींग के समान सर्वथा असत् है।

सम्पूर्णस्वभाव में परनिमित्त का भेद नहीं है, किन्तु वर्तमान अवस्था में जड़कर्म का संयोग और पुण्य-पाप का विकार तथा देहादि का संयोग व्यवहार से है। किन्तु वह संयोग है ही नहीं, और अशुद्ध अवस्था में भी नहीं है तथा पर्यायभेद भी नहीं है, ऐसा मानने से तो जो संसार को सर्वथा अवस्तु (भ्रमरूप) मानता है ऐसे वेदान्तमत का एकान्त-पक्ष आजायेगा और उससे मिथ्यात्व आजायेगा; इसप्रकार वह शुद्धनय का अवलम्बन भी वेदान्तियों की भाँति मिथ्यादृष्टित्व का कारण होजा-येगा। इसलिये सर्व नयों की कथंचित् सत्यार्थता का श्रद्धान करने से ही सम्यक्दृष्टि होसकता है।

जगत में अनन्त जीव और अनन्त जड़-परमाणु हैं। विकारी अव-स्था में संयोगभाव, राग-द्वेष और अज्ञान जिसे है उसके अशुद्धता व्यव-हार से सत्यार्थ है। उस अवस्था के भेद को गौण करके अखंडस्वभाव में द्रव्यदृष्टि से देखने पर कोई आत्मा विकाररूप नहीं है, क्षणिक अवस्था जितना नहीं है। किन्तु यदि कोई एकान्त शुद्धनय का पक्ष लेकर वर्तमान अवस्था को साक्षात् पूर्ण शुद्ध मानले—पूर्णदशा के प्रगट न होने पर भी उसे प्रगट मानले और अशुद्ध अवस्था को न माने तो फिर राग को दूर करने का पुरुषार्थ करने की बात ही कहाँ रही? इसलिये 'तू दुःख से मुक्त हो'—यह शास्त्रकथन ही मिथ्या सिद्ध होगा। इसलिये आत्मा निश्चय से शुद्ध है और पर्याय से अशुद्ध है, इसप्रकार दोनों अपेक्षाओं से जानकर शुद्धस्वभाव के लक्ष्य से पर्याय की अशुद्धता को दूर करने का पुरुषार्थ करे तभी पूर्ण शुद्धता प्रगट हो।

जीव में, पराश्रितभाव करने से प्रतिसमय राग-द्वेष-मोहरूप नवीन विकारी अवस्था उत्पन्न होती है, और वह विकारी अवस्था ही संसार है।

वह विकार स्वभाव में से नहीं आता; यदि विकार स्वभाव में से आता हो तो कभी दूर नहीं होसकता। आत्मा को कर्म या परवस्तु बलात् राग-द्वेष नहीं कराते। जब स्वयं स्वलक्ष्य को चूककर परवस्तु पर लक्ष्य करके उसमें शुभ-अशुभ भाव से (अच्छा-बुरा मानकर) रुक जाये तब उस भाव का आरोप करके जड़कर्म को राग-द्वेष का निमित्त कहा जाता है। और यदि रागादिकभाव में युक्त न होकर स्वलक्ष्य से ज्ञान करे तो कर्म ज्ञान में निमित्त कहा जाता है। किन्तु इतना निश्चय है कि जब जीव राग-द्वेष करता है तब सन्मुख परवस्तु-जड़कर्म अपने-अपने स्वतंत्र कारण से उपस्थित होते हैं और उनमें युक्त होकर आत्मा स्वयं विकारीभाव करता है। परलक्ष्य किये विना स्वलक्ष्य से विकार नहीं होसकता। अखंड श्रद्धा में अवस्थाभेद नहीं हैं। किन्तु ज्ञान में पूर्ण शुद्धस्वभाव और वर्तमान अपूर्ण अवस्था दोनों को बराबर जानना चाहिये। विपरीत पुरुषार्थ के कारण जीव में विकारी अवस्था निज में ही होती है और पूर्ण शुद्धस्वभाव के लक्ष्य से—पुरुषार्थ से वह दूर की जासकती है।

कोई कहता है कि—जागृत अवस्था में कुछ और ही दिखाई देता है तथा स्वप्नावस्था में कुछ अलग ही दिखाई देता है, इसलिये जो स्वप्नावस्था में दिखाई देता है वह असत् है अर्थात् उसे मानने की आवश्यक्ता नहीं है। किन्तु जो 'है' उसे जानना तो होगा ही न! असत्, असत् के रूप में भी है, ऐसा तो जानना ही पड़ेगा। यदि ऐसा माने कि स्वप्न कोई वस्तु ही नहीं है और उसका सर्वथा अभाव ही है, तो जो वस्तु नहीं है उसका ज्ञान कहाँ से आया? यदि स्वप्नदशा को न माने तो स्वप्न का ज्ञान करने वाले को भी नहीं माना जासकेगा। स्वप्न एक अवस्था है और वह त्रिकालस्थायी किसी वस्तु के आधार से ही होती है। इसप्रकार व्यवहारअवस्था सत्यार्थ है, उसका ज्ञान करना आवश्यक है। किन्तु वह अवस्था नित्य एकरूप रहनेवाली नहीं है; इस अपेक्षा से अभूतार्थ है।

वर्तमान अवस्था है, निमित्त है, उसका निषेध नहीं किया, किन्तु अपनी अवस्था और बाह्य निमित्त जैसे हैं उन्हें वैसा ही जानना सो व्यवहार कहा गया है।

सर्वज्ञ के स्याद्वाद को समझकर जिनमत का सेवन करना चाहिये, मुख्य-गौण कथन को सुनकर सर्वथा एकान्तपक्ष को नहीं पकड़ना चाहिये। जगत में धर्म अनेकप्रकार से माना जारहा है, किसीको एकान्त शुद्धनय का पक्ष है तो किसी को एकान्त अशुद्धनय का पक्ष है, उस सम्पूर्ण विरोधी मान्यता को दूर करके इस कथन में टीकाकार आचार्यदेव ने स्याद्वाद बताया है। पर से भिन्न और त्रिकाल पूर्ण शुद्धस्वभाव के निर्णय के बिना विकार का नाश नहीं होगा, और यदि अपने को विकारी अवस्था जितना बन्धवाला ही माने तो किस स्वभाव के लक्ष्य से अविकारीपन प्रगट करेगा? तात्पर्य यह है कि-यदि दोनों अपेक्षाओं को माने तो विकारी पर्याय का नाश करके शुद्ध अविकारी-स्वभाव को प्रगट कर सकेगा।

यहाँ यह जानना चाहिये कि जो यह नय है सो श्रुतज्ञान-प्रमाण का अंश है; श्रुतज्ञान वस्तु को परोक्ष बताता है, इसलिये यह नय भी परोक्ष ही बताता है। बिल्कुल स्पष्ट और पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान तो तेरहवें गुण-स्थान में होता है। जैसी श्रद्धा केवलज्ञानी को है वैसी ही सम्यक्दृष्टि को भी है, मात्र अपूर्णज्ञान के कारण परोक्ष है, फिर भी अनुभव की अपेक्षा से केवली के समान ही अंशतः सक्षात् आनन्द का स्वाद लेता है। जैसे-कोई अन्धपुरुष मिश्री खाता है तो उसे उसका वैसा ही स्वाद आता है जैसा चक्षुष्मान पुरुष को मिश्री का स्वाद आता है; अन्तर इतना ही है कि अन्धपुरुष मिश्री को प्रत्यक्ष देख नहीं सकता। इसीप्रकार सम्यक्ज्ञानी और पूर्णज्ञानी को आत्मा का अनुभव होता है किन्तु निम्नदशा में, सम्यक्ज्ञानी को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता।

शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषयभूत, बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावों से रहित आत्मा चैतन्यशक्तिमात्र है। वह शक्ति आत्मा में परोक्षरूप से

विद्यमान ही है। सम्पूर्ण आत्मा का अनुभव वर्तमान में प्रगट निर्मल मति–श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष नहीं है तथापि उसके यथार्थ प्रमाणरूप शुद्धनय के द्वारा अनुमान करके यह ठीक निर्णयरूप से माना जासकता है कि–सम्पूर्ण स्वभाव चैतन्यशक्ति से पूर्ण है और उसमें अप्रगट पूर्ण ज्ञान-शक्ति है।

वर्तमान परोक्षज्ञान की व्यक्त–प्रगट दशा कर्म के संयोग से मति-श्रुतादि ज्ञानरूप है वह कथंचित् अनुभवगोचर होने से प्रत्यक्षरूप भी कहलाती है। मति-श्रुत के निर्मल होने पर, स्वलक्ष्य में एकाग्र होने से चतुर्थ गुणस्थान में भी केवलज्ञानी के समान अंशतः साक्षात् अनुभव होता है, वहाँ मात्र अनन्तगुण का परोक्षदर्शन होता है, प्रत्यक्ष नहीं।

जैसे वर्तमान में कोई जीव राग-द्वेष या हर्ष-विषाद का स्वयं संवेदन करे और कहे कि हृदय सदा धधकता रहता है, कहीं भी चैन नहीं पड़ती। उस मनुष्य का आकुलताभाव दृष्टिगोचर नहीं होता तथापि वह साक्षात् आकुलता का वेदन करता है। उससे विपरीत मैं निराकुल आनन्दमय शुद्ध हूँ, पूर्ण हूँ, ऐसे निर्णय से युक्त स्वभाव के बल से एकाग्र होने पर विकल्प का बुद्धिपूर्वक लक्ष्य छूटकर अपूर्व शांति का अंशतः प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

आत्मा चैतन्यरूप शान्ति का सागर है। भूलरहित–आकुलतारहित पूर्णस्वभाव को स्वीकार किया कि वहीं आंशिक शांति का अनुभव होता है और अविकारी पूर्ण प्रतीति के बल से प्रत्यक्ष अनुभव होता है; और उसके लिये किसी दूसरे से पूछने को नहीं जाना पड़ता। जैसे किसीने दस-पाँच लाख रुपये कमाये हों तो उसे गाँव में ढोल पिटाने की आवश्यक्ता नहीं होती अथवा किसी से कह-सुनकर स्वीकार कराने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसीप्रकार मिश्री की एक डली का प्रत्यक्ष स्वाद लेने के बाद यह विश्वासपूर्वक प्रतीति होजाती है कि परोक्ष हजारों मन मिश्री ऐसी ही है; इसीप्रकार आंशिक निराकुल अनुपम शांति में अनन्त पुरुषार्थ का बल भीतर से आता है, स्वयं दृष्टि में त्रिलोकीनाथ-परमात्मा

वर्तमान में होजाता है, इसके लिये किसी से पूछने को नहीं जाना पड़ता-यह ऐसा नगदधर्म है।

सम्पूर्णज्ञान-केवलज्ञान छद्मस्थ को प्रत्यक्ष नहीं होता, तथापि यह शुद्धनय आत्मा के केवलज्ञानरूप को परोक्ष बतलाता है। निम्नदशा में सम्पूर्ण आत्मा साक्षात् प्रत्यक्ष लक्ष्य में न आये तथापि अपने को पर से भिन्नरूप से स्वभावरूप लक्षण से निश्चय करनेवाला अंशतः प्रत्यक्ष निर्मलज्ञान है, वह सम्पूर्ण अप्रगट निर्मलज्ञान की आत्मा में प्रतीति करता है। वह पूर्ण को साक्षात् न जाने किन्तु स्वानुभव का वेदन वर्तमान अपूर्णज्ञान में अंशतः प्रत्यक्ष होता है।

जबतक यह जीव शुद्धनय के द्वारा पूर्ण ज्ञानघन, पर से भिन्न आत्मा को न जाने तबतक रागरूप विकल्प से छूटकर निर्विकल्प पवित्र आत्मा के पूर्णरूप का ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता, इसलिये श्रीगुरु ने इस शुद्धनय को प्रगट करके उपदेश दिया है।

साक्षात् तीर्थंकर भगवान से प्राप्त उपदेश गुरुपरंपरा से चला आया है, उसे संतपुरुषों ने अनुभव में उतारकर, जिससे जन्म-मरण दूर होता है ऐसी शुद्धदृष्टि से अज्ञानरूपी अंधकार को मिटाने का उपाय शुद्धनय है यह जानकर, संसारी जीव के भावमरणों को दूर करने के लिये अकषाय करुणा करके, शुद्धनय को ही मुख्य करके अत्यंत बलपूर्वक उसका प्रगट उपदेश दिया है। आत्मा जड़कर्म के बन्धन से रहित, पर में कार्य-कारण से रहित पूर्णज्ञानघन स्वभाव है, उसे यथार्थ जानकर उसका श्रद्धान करना चाहिये, पर्यायबुद्धि नहीं रहना चाहिये, अर्थात् वर्तमान संयोगी अवस्था को अपना स्वरूप नहीं मानना चाहिये। पर में कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि के फलस्वरूप अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। इसलिये उस भूल का त्याग करके-मैं वर्तमान अवस्था जितना ही नहीं हूँ किन्तु विकारी अवस्था का नाशक हूँ, इसप्रकार शुद्धनय के द्वारा पूर्ण केवलज्ञानस्वभावी आत्मा को स्वीकार करना सो सच्ची-

श्रद्धा का विषय है। पूर्णस्वरूप शुद्ध आत्मा के यथार्थ निर्णय के बिना सच्ची-श्रद्धा नहीं होसकती और स्वरूप की सच्ची श्रद्धा के बिना यथार्थ चारित्र और केवलज्ञान नहीं होसकता।

यहाँ कोई यह पूछ सकता है कि—ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष तो दिखाई देता नहीं है, इसलिये बिना देखे ही श्रद्धान करना मिथ्याश्रद्धान है ?

आचार्यदेव प्रश्नकार का समाधान करते हुए कहते हैं कि—कोई भी व्यक्ति जिज्ञासाभाव से समझने के लिये प्रश्न पूछे और सत्य को सुनने के लिये उत्सुक हो तो उसे भी पर से भिन्न आत्मा की बात भली-भाँति समझ में आजाती है। पद्मनंदि आचार्य कहते हैं कि—जिस जीव ने प्रसन्नचित्त से चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात को सुना है वह भव्यपुरुष भावी मुक्ति का भाजन अवश्य होता है। अंतरंग से सत् का आदर करनेवाला पात्रजीव अल्पकाल में केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त करने के लिये अवश्यमेव पात्र है। सत् की स्वीकृति के बाद समझने के लिये आशंका हो, बारम्बार सुने और समझ में न आये तो पूछे, उसमें अकुलाहट या आलस्य न लाये तो वह अवश्य समझ में आजाता है।

जिज्ञासु की ओर से समझने के लिये ऐसा प्रश्न उपस्थित किया गया है कि—शुद्ध और मुक्त आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता तो हम उसे बिना देखे-जाने, यों ही कैसे मानलें ?

उत्तरः—मात्र देखे हुए का ही श्रद्धान करना, सो तो नास्तिक मत है। जैसे—अपने पिता की सातवीं पीढ़ी को प्रत्यक्ष नहीं देखा है फिर भी अनुमान से सिद्ध होता है कि सातवीं पीढ़ी अवश्य थी, उसमें कोई शंका नहीं होती। जबकि मैं हूँ तो मेरे पिता के पिता और उनके पिता की परम्परा अंततक अवश्य होगी। इसीप्रकार समुद्र का दूसरा किनारा दिखाई नहीं देता फिर भी वह निःशंक माना जाता है। पेट की आँतें दिखाई नहीं देतीं फिर भी उसे मानता है। खाये हुए अन्न की विष्टा बनती दिखाई नहीं देती फिर भी उसे मानता है, कुनेन

की गोलियों से बुखार मिट गया यह दिखाई नहीं देता फिर भी उसे मानता है—इसप्रकार अरूपीभाव का अनुभव प्रतिसमय होरहा है।

वर्तमान में पुण्य-पाप नहीं किया फिर भी धन इत्यादि का संयोग प्राप्त होता है, वह वर्तमान चतुराई अथवा सयान नहीं किन्तु पूर्वकृत पुण्य का फल है; वह पुण्य आंखों से दिखाई नहीं देता फिर भी बाह्य में संयोग देखकर उस पुण्य की मिठास का साक्षात् वेदन करता है। उससमय वह ऐसा विचार कभी नहीं करता कि उस अरूपी पुण्यभाव को प्रत्यक्ष देखूं तो ही मानूं तथा उपरोक्त सभी बातों को प्रत्यक्ष देखूं तो ही मानूंगा।

यह किसने ज्ञात किया कि नीबू खट्टा है? क्या जीभ ने ज्ञात किया है? जीभ तो जड़ है उसने नहीं जाना, किन्तु उसी स्थान पर जीभ से भिन्न अरूपी ज्ञान विद्यमान है जिसने उसे जाना है। यदि जीभ इत्यादि इन्द्रियों से ज्ञान होता हो तो निर्जीव-मृत शरीर में ज्ञान क्यों नहीं होता? सच बात तो यह है कि जाननेवाला (ज्ञाता आत्मा) शरीर से भिन्न रहकर जानता रहता है।

जैनशासन में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ज्ञान प्रमाण माने गये हैं। इनमें से आगमप्रमाण परोक्ष है, उसका भेद शुद्धनय है। उस शुद्धनय की दृष्टि से शुद्धआत्मा का श्रद्धान करना चाहिये, केवल व्यवहार-प्रत्यक्ष का ही एकान्त नहीं करना चाहिये। पहले शास्त्रज्ञान के द्वारा जानले, फिर अन्तरंगदृष्टि से अनुमानप्रमाण करे कि—मैं नित्य ज्ञान-स्वभावी हूँ। जिसका स्वभाव ही ज्ञान है वह हीन-अपूर्ण या पराधीन कैसे होसकता है? जबकि मैं ज्ञायकस्वभावी हूँ तो किसे नहीं जानूँगा? इसप्रकार अपने पूर्ण सर्वज्ञस्वभाव को परोक्षज्ञान से पूर्ण—निश्चयरूप से लक्ष्य में लिया जासकता है।

यदि पिताजी किसी बही में यह लिख गये हों कि—सौ तोला सोना अमुक स्थानपर धरती में गड़ा हुआ है, तो वह सोना प्रत्यक्ष न होते हुए भी अपने पिता के विश्वास के आधार पर मान लिया जाता है। इसी-

प्रकार त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव ने साक्षात् ज्ञान से आत्मस्वरूप एवं मोक्ष-मार्ग के स्वरूप को जिसप्रकार अनुभव किया है और जिसप्रकार तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि में अवतरित हुआ है उनके उस निर्दोष वचन से उनका सम्पूर्ण स्वरूप जान लेने पर यह भलीभाँति माना जासकता है कि—अपना परमार्थस्वरूप भी वैसा ही है।

वैद्य और डाक्टरों पर रोगी कैसे विश्वास कर लेता है? कोई वैद्य बीसों औषधियों को एकत्रित करके और उन्हें नीबू के रस में घोंटकर राई के दाने बराबर गोलियाँ बनाकर बीमार को देता है और कहता है कि मैंने इसमें बीसोंप्रकार की दवाइयाँ डाली हैं, तो रोगी उस पर विश्वास कर लेता है। कोई भी रोगी चाहे जिस वैद्य के पास न जाकर प्रामाणिक वैद्य को ढूँढ़कर उसीका विश्वास करता है। वैद्य कहता है कि यह सहस्रपुटी अभ्रकभस्म है, यदि इसे छहमास तक विधिपूर्वक सेवन करोगे तो रोग मिट जायेगा, और वह उन लोगों का उदाहरण देता है जिनका रोग उसकी औषधि से मिटा है। इसप्रकार औषधि की प्रशंसा सुनकर जीवन का लोभी (शरीर का रागी) रोगी उसका विश्वास कर लेता है जो वर्तमान में दिखाई नहीं देता। किन्तु यह सांसारिक बात है, बाह्य संयोग की सारी बातें पूर्व पुण्याधीन होती हैं, उसमें किसी का कुछ नहीं चलता, यदि पूर्वपुण्य होता है तभी बच सकता है। किन्तु यहाँ तो त्रिलोकीनाथ साक्षात् महावैद्य हैं जिनकी बताई हुई औषधि अचूक है। अनादिकालीन रोगियों से सर्वज्ञ महावैद्य कहते हैं कि तुम हमारी ही भाँति पूर्ण पवित्र हो, अविनाशी निरोगी हो, तुम्हारा स्वरूप संयोगाधीन नहीं है, वर्तमान अवस्था जितना नहीं है। यदि यह सब माने तो अनादिकाल से पर में कर्तृत्वबुद्धि के द्वारा अपने को भूल जाने का जो अज्ञान नामक महाक्षयरोग लग गया है वह नष्ट होजायगा। इसप्रकार वर्तमान में पूर्णस्वभाव का विश्वास करो।

पर में कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित और विकार का नाशक ज्ञानानंद पूर्णस्वभाव वर्तमान में तुझमें है। यदि स्वभाव में पूर्णता न हो तो

फिर वह आये कहाँ से? मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, मेरी प्रेरणा से देह की क्रिया होती है, परद्रव्य मेरी सहायता करता है, परद्रव्य से मुझे लाभ होता है, मैं पुण्य-पाप का कर्ता हूँ, और मैं बन्धनयुक्त हूँ, इसप्रकार के रोगों को दूर करने के लिये पहले सर्वज्ञकथित निर्दोष-स्वभाव का आश्रय ग्रहण कर। मुक्तदशा होने से पूर्व मुक्तभाव का यथार्थ निर्णय होसकता है। पहले से ही स्वभाव को पूर्ण और मुक्त माने बिना उसमें स्थिर होनेरूप चारित्र नहीं होसकेगा।

व्यावहारिक विषयों में भी प्रत्यक्ष नहीं दिखता, फिर भी लोग उन्हें मान रहे हैं। माता पुत्री को रसोई बनाने की विधि बतलाती है और पुत्री अपनी माता के कथन पर विश्वास करके उसीप्रकार आटा, दाल, चावल और मसाला इत्यादि लेकर अच्छी रसोई बना लेती है; इसीप्रकार सर्वज्ञ की आज्ञा का ज्ञान करके, अन्तरंग में श्रद्धा के लक्ष्य पर भार देकर, स्वभाव की रुचि की एकाग्रता होने पर केवलज्ञानरूपी पाक तैयार होजाता है। चैतन्य भगवान आत्मा निर्विकल्प ज्ञानानन्दरूप से त्रिकाल ध्रुवस्वभाव में निश्चल होकर विराजमान है। यदि शुद्धदृष्टि से देखा जाय तो उसमें पुण्य-पाप की वृत्तिरूप छिलके हैं ही नहीं, किन्तु पूर्णस्वभाव को भूलकर, स्वलक्ष्य से हटकर, पुण्य-पापरूप विकार मेरा है और मैं पुण्य-पाप का कर्ता हूँ, इत्यादि निमित्ताधीन दृष्टि से बाह्यलक्ष्य करके अटक जाता है और पर का अभिमान करता है। उससे विपरीत, त्रिकाल पूर्ण ज्ञानघन स्वभाव से आत्मा में एकाकारता का निश्चय करे तो वह अपना स्वभाव होने से स्वयं पूर्णता की निःसन्देह श्रद्धा कर सकता है। शुद्धनय को मुख्य करके और वर्तमान अवस्था के अशुद्धनय को गौण करके चौदहवीं गाथा का साररूप कलश निम्नप्रकार कहा है:—

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरितरंतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥११॥

आचार्यदेव सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि–हे जगत के सर्व जीवो ! इस सम्यक्स्वभाव का अनुभव करो जिसके द्वारा मिथ्यामान्यता का नाश करके यथार्थ श्रद्धासहित स्वभाव में एकाग्र हुआ जासके। और कहते हैं कि शुभाशुभ अशुद्धता का अनुभव न करो; शरीर, मन, वाणी की प्रवृत्ति तुम्हारी नहीं है और तुम्हारे आत्मा में एकरूप से सदा स्थिर रहनेवाली नहीं है। वह विकारीभाव तुम्हारे स्वरूप में नहीं है इसलिये उससे रहित अपने शुद्धस्वभाव की श्रद्धा करो। जन्म-मरण की उपाधि के नाशक अपने यथार्थ स्वतंत्र स्वभाव को नहीं जानोगे तो स्वतंत्र कहाँ से होगे ? उस स्वतंत्रता को प्रगट करने की बात यहाँ कही जारही है, वही यथार्थ मुक्ति का मार्ग है।

तू अपने में अच्छा-बुरा भाव अथवा अच्छे-बुरे भाव से रहित वीतरागता के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं कर सकता। जीव पर में अपनेपन की मान्यतारूप भाव करता है, किन्तु पर को अपना कभी नहीं बना सकता। मात्र वह अज्ञानभाव से मानता है कि–यह मेरे द्वारा होता है और इसे मैं करता हूँ। उस विपरीत मान्यतारूप भूल को दूर करके आत्मा को पर से भिन्न, पुण्य-पाप के विकार से भिन्न स्वभावरूप देखा जाये तो इस बन्धन और संयोगीभाव को बताने वाले अशुद्ध व्यवहार के भाव स्पष्टतया–प्रगटरूप से नित्य शुद्धस्वभाव से भिन्नरूप में ऊपर ही दिखलाई देने लगते हैं, तथापि वे स्वभाव में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते, अर्थात् उन्हें स्वभाव में आधार प्राप्त नहीं होता; इसलिये वे शोभा या स्थिरता को प्राप्त नहीं होते।

जैसे पानी के ऊपर तेल की बूँद तैरती रहती है, वह पानी के भीतर नहीं जासकती, तेल और पानी अलग किये जासकते हैं; इसीप्रकार आत्मा से बाह्य वर्तमान प्रगट अवस्था में कर्म के सम्बन्ध से अज्ञानभाव से किये जाने वाले राग-द्वेषभाव भीतर के शुद्ध ज्ञानघन स्वभाव में प्रवेश को प्राप्त नहीं होते। आत्मा का स्वभाव अविकारी है, उसके लक्ष्य से कभी भी राग-द्वेष नहीं होता। जब जीव परलक्ष्य करता है

तब वर्तमान प्रत्येकसमय की अवस्था में शुभाशुभ विकार का भाव होता है, किन्तु वह स्वभाव में नहीं है। वह परलक्ष्य से होता है इसलिये दूर किया जासकता है, और स्वभाव नित्य रहनेवाला ध्रुव है।

यदि नित्यस्थायी अविकारी ध्रुवस्वभाव और अज्ञान अवस्था में होने वाले क्षणिक मलिन भाव एकमेक होगये हों तो मलिनभाव स्वभाव से अलग नहीं होसकते और स्वभाविक निर्मल गुणों का नाश होजायेगा। किन्तु स्वाभाविक निर्मलगुण कभी भी विकाररूप नहीं होते। गुण न तो दोषरूप हैं और न दोष गुणरूप हैं।

गुणः—आत्मा में त्रिकाल रहनेवाली शक्ति गुण है। अपनी-अपनी सम्पूर्णशक्ति को लेकर अनन्तगुण हैं; उसमें परनिमित्त का भेद या उपचार नहीं है।

दोषः—वर्तमान अवस्था में, जबतक पराश्रितदृष्टि रखे तबतक व्यवहार से एक-एक समय की अवस्था जितना जो राग-द्वेष-मोहरूपी नवीन विकार होता है सो दोष है। स्वभाव में विकार नहीं है।

जैसे सूर्य में अन्धकार है ही नहीं इसलिये सूर्य का कार्य अन्धकार को उत्पन्न करना नहीं है, किन्तु सूर्य के स्वभाव के बल से अन्धकार स्वयं नाश होने योग्य है; इसीप्रकार चैतन्य आत्मा के स्वरूप में त्रिकालस्थायी अनन्तगुण अपनी पूर्ण निर्मलशक्ति से भरे हुए हैं, उस स्वभावभाव में से राग-द्वेष अथवा मोहादिक विकारीभावों का उत्थान नहीं होता, किन्तु जब स्वभाव का लक्ष्य भूलकर, और कर्म के संयोग का निमित्त पाकर जीव बाह्य में लक्ष्य करता है और उसमें भावों को युक्त करता है तब वह अस्थिरता को लेकर राग-द्वेष के विकारी भाव करता है। परपदार्थ में कुछ लेन-देन करूँ, अथवा पर में अच्छे-बुरे की वृत्ति जीव करता है वह अनादिकाल से परलक्ष्य से समय-समय पर नवीन करता है तभी होती है; स्वलक्ष्य से रागादिक विकल्प नहीं होते, क्योंकि आत्मा के स्वभाव में दुःखरूप आकुलता की शुभाशुभ लगन नहीं होती। स्वभाव को पहिचानकर श्रद्धा किये बिना विकल्प नहीं टूटता।

चैतन्यज्ञानसरोवर आत्मा में से निर्मल श्रद्धा और ज्ञान का प्रवाह आता है; वह स्वलक्ष्य में स्थिर रहे और पर में लक्ष्य न जाये तो सामान्य एकरूप स्वभाव में ही मिल जाता है। किन्तु जब तीव्र-मन्द आकुलतारूप शुभाशुभभाव परलक्ष्य से करता है तब अशुद्धता आती है। वह एक-एक समयमात्र की होने से अविकारी स्वभाव के लक्ष्य से दूर की जासकती है।

त्रिकाल निर्मल शुद्धस्वभाव और वर्तमान अवस्था–दोनों को यथार्थतया जानकर, अवस्था की ओर का लक्ष्य गौण करके, शुद्धनय को मुख्य करके, उसके द्वारा पूर्ण शुद्धात्मा की श्रद्धा करना, उसीका लक्ष्य करना और उसमें एकाग्र अनुभवरूप स्थिर होना सो यही चैतन्य स्वभाव का कर्त्तव्य है, उसीमें चैतन्य की शोभा है। विकार को–पुण्य-पाप के भावों को अपना मानकर उसका कर्ता होने में चैतन्य स्वरूप की शोभा नहीं है, वह चैतन्य का कर्त्तव्य नहीं है।

यहाँ देहादि की क्रिया करने की अथवा पर की सहायता की बात तो है ही नहीं, किन्तु व्रत, तप इत्यादि के शुभभाव भी चैतन्यस्वरूपी वीतरागी स्वभाव में विरोधरूप हैं, विघ्न करने वाले हैं। नित्य ऐसा ही होने से ज्ञानीजन उस शुभभाव का भी आदर नहीं करते। वे भाव अपने एकरूप स्वभाव में नहीं हैं इसलिये बाह्य में लक्ष्य जाता है, स्वयं नित्य एकरूप ज्ञानभाव से अस्ति है, उसमें क्षणिक पुण्य-पाप के भावों की नास्ति होने से उन भावों को निश्चय से अभूतार्थ मानना चाहिये।

वर्तमान में प्रत्येक आत्मा का ऐसा परमार्थस्वरूप है, किन्तु लोगों को बाह्य लक्ष्य छोड़ना अच्छा नहीं लगता। स्वाश्रित पूर्णस्वरूप की प्रतीति नहीं है इसलिये पराश्रय से सुख मानते हैं, किन्तु पराश्रय तो वास्तव में दुःखरूप ही है। चाहे जिस उपदेशक के उपदेश का निमित्त पाकर वैसी तत्परता वाले या उनके कथनानुसार आँखें बन्द करके कूद पड़ने वाले बहुत से लोग हैं। इस जगत में अन्धश्रद्धा को लेकर स्वतंत्रतापूर्वक भेड़ियाधसान चल रहा है। अपनी चिन्ता किये

बिना स्वतंत्र सुखस्वरूप वस्तुस्वभाव नहीं समझा जासकता; यथार्थ स्वरूप को सुनने का योग मिलना भी कठिन है। कोई किसी को समझ-शक्ति नहीं देसकता और स्वयं सर्वज्ञ के न्यायानुसार स्वतंत्र को समझे बिना अंशमात्र धर्म या धर्म का मार्ग नहीं है। आत्मा का धर्म अन्तरंग में ही है। बाह्यक्रिया में, किसी वेश में, अथवा तिलक-छाप में अथवा किसी सम्प्रदाय के पक्ष में आत्मा का धर्म नहीं है, आत्मा का धर्म आत्मा में और आत्मा से ही है। व्यवहार और निश्चय दोनों आत्मा में हैं। आत्मा का व्यवहार भी बाहर नहीं है। इसप्रकार आत्मा स्वतंत्र, परिपूर्ण है, तथापि यदि कोई बाहर से आत्मा का धर्म मानता है तो भी वह स्वतंत्र है।

पंचमकाल के जीव समझ सकें इसलिये आचार्यदेव ने धर्म का स्वरूप कुछ प्रकारान्तर से अथवा हलका करके नहीं कह दिया है, किन्तु अनन्त सर्वज्ञों के द्वारा कथित एक ही मार्ग बताया है। लोगों की समझ में न आये इसलिये सत्य को कुछ बदल दिया जाये ऐसा कभी नहीं होसकता; सत्य का प्रकार त्रिकाल में एक ही होता है।

रागादिक-बाह्यभाव स्वरूप में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते, इसके दो अर्थ हैं:—

(१) अविकारी ध्रुवस्वभाव में वे आधार को प्राप्त नहीं करते, क्योंकि स्वभाव में गुण ही है और गुण में राग-द्वेषरूप दोष कभी भी नहीं है।

(२) रागादिकभाव स्वरूप में शोभा को प्राप्त नहीं होते क्योंकि चाहे जैसा शुभराग हो किन्तु वह वीतरागी स्वभाव का विरोधीभाव है। जो वीतराग हुए हैं वे सब शुभ या अशुभ दोनोंप्रकार के भावों को नाश करने के बाद ही हुए हैं। कोई भी राग को रखकर वीतराग नहीं होसकता। मैं राग का नाशक हूँ, राग मेरा स्वभाव नहीं है, ऐसी गुण की प्रतीति के बल से शुद्ध सम्यक्दर्शन-ज्ञान और आंशिक शुद्ध चारित्र प्रगट होता है। श्रद्धा में राग का नाश होने के बाद क्रमशः राग को दूर करके पूर्ण वीतराग होता है।

क्रोधादिकभाव क्षणिक अवस्थामात्र तक ही होने से वे एकक्षण में दूर होजाने योग्य हैं–दूर किये जासकते हैं। पहले सच्चीश्रद्धा के बल से उन भावों को गौण करके–दृष्टि में नाश करके, पश्चात् स्वभाव में एकाग्रतारूप चारित्र के बल से उनका सम्पूर्ण नाश करता है। ऐसा त्रिकालनियम होने से विकार के नाशक शुद्ध अविकारी त्रिकालस्थायी अखण्ड ज्ञानघनस्वभाव में उन क्रोधादि भावों को आधार नहीं मिलता; वे क्रोधादिभाव स्वभाव में नहीं हैं, इसलिये वे स्वभाव में शोभा नहीं पाते।

त्रिकाल ज्ञायकस्वभाव में विकार की नास्ति होने से राग-द्वेष के किन्हीं भावों को स्वभाव में स्थान नहीं मिलता और उस विकार के आधार से आत्मा का कोई गुण प्रगट नहीं होता। ऐसी प्रतीति के विना व्रत, पूजा, भक्ति इत्यादि के चाहे जैसे शुभभाव करे तो भी उस राग से वीतरागी स्वभाव को कोई लाभ या सहायता नहीं मिलती। भीतर गुण भरे हुए हैं, उनकी एकाकार श्रद्धा से गुण में से ही गुण प्रगट होते हैं–ऐसा त्रिकालनियम है।

पानी को उष्णता का आधार नहीं है। यदि ऐसा होता तो उष्णता का अभाव होनेपर पानी का शीतलस्वभाव नष्ट होजाना चाहिये, किन्तु ऐसा त्रिकाल में भी नहीं होता। पानी अपने शीतल-स्वभाव के आधार से है, उष्णता के आधार से नहीं है। इसीप्रकार पूर्ण ज्ञानानन्द आत्मस्वभाव नित्य अविकारी है, वह क्षणिक राग-द्वेष का आधार नहीं रखता, और क्षणिक विकार को आत्मा का आधार नहीं है। यदि परस्पर (विकार को अविकार का और अविकारी स्वभाव को विकार का) आधारभाव माने तो विकार और आत्मा एक ही होजायें और विकार का नाश होनेपर आत्मा का और उसके अनन्त गुणों का नाश होजायेगा, ऐसा मानना पड़ेगा। विकार स्वभाव में नहीं है इसलिये विकारी भाव दूर होने योग्य है, और आत्मा का स्वभाव त्रिकाल ध्रुवरूप से रहनेवाला है।

पुण्य-पाप की वृत्ति अन्तरंग ध्रुवस्वभाव से बाहर दौड़ती है, इसलिये यह क्षणिक-उत्पन्नध्वंसी है। स्वभाव के भाव से-नित्य अस्तिस्वभाव की प्रतीति से वे पुण्य-पाप के विकारीभाव दूर होसकते हैं, इसलिये पहले श्रद्धा में शुद्धस्वभाव की निःसन्देहता करनी चाहिये, और ऐसा निश्चय करना चाहिये कि मैं पूर्णस्वभावी नित्य अविकारी हूँ।

ज्ञानस्वभाव नित्य एकरूप है; वह वर्तमान अवस्थामात्र तक नहीं है। जैसे सोने की अँगूठी के रूप में वाह्य आकृति है, वह सोने के स्वभाव में प्रविष्ट नहीं होगई है। यदि सोना स्वभाव से ही उस अँगूठी के रूप में होगया हो तो फिर वह सोना कभी भी दूसरे आकार में नहीं बदल सकेगा, अर्थात् उससे फिर कोई दूसरा आभूषण नहीं बन सकेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसीप्रकार आत्मा पर्यायभेद जितना ही नहीं है, संसार और मोक्ष दोनों अपूर्ण और पूर्ण अवस्था के भेद हैं, आत्मा उस भेदरूप-खण्डरूप नहीं होगया है। जबतक पर्याय-भेद पर लक्ष्य रहता है तबतक विकल्प नहीं टूटते। पहले अखण्ड और खण्ड दोनों का ज्ञान करके अखण्ड ध्रुवस्वभाव को श्रद्धा के लक्ष्य में रखे और पर्याय का भेदरूप लक्ष्य गौण करे तो स्वभाव के बल से क्रमशः विकल्प टूटकर शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होता है, और क्रमशः स्थिरतारूप चारित्र बढ़ता है तथा राग का नाश होकर पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होता है इसलिये स्वाश्रित शुद्ध निश्चयनय पहले से ही आदरणीय है।

कोई कहे कि पहले व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट होता है, और तेरहवें गुणस्थान में शुद्ध निश्चय होता है, तो ऐसा कहनेवाला व्यवहार और निश्चय को न जानकर ऐसी बात करता है। यदि चौथे गुणस्थान में श्रद्धा से पूर्ण और आंशिक यथार्थ चारित्र न हो तो पूर्ण कहाँ से होगा? नास्ति में से अस्ति कहाँ से आयेगी? पहले से ही निश्चयश्रद्धा के विना यथार्थ धर्म अंशमात्र भी किसी को, कभी, किसी भी प्रकार से प्रगट नहीं होसकता।

और फिर ज्ञान में विकार है ही नहीं। युवावस्था में अनेकप्रकार के तीव्र पाप के किये हों, और उनका ज्ञान (स्मरण) वृद्धावस्था में करे तो तब रागद्वेष के तूफान के वैसे भाव उससमय ज्ञान के साथ नहीं उठते। विकार की नई वासना की वृद्धि विपरीत पुरुषार्थ के कारण होती है, ज्ञान के कारण से नहीं। युवावस्था में अभिमान में चूर होकर जो अनेक कालेकृत्य किये थे, कपट, चोरी, दुराचार और हत्या इत्यादि महा दुष्कृत्य किये थे; इसप्रकार विकारभाव का ज्ञान करना सो दोष नहीं है, इससे विचारवान को तो वैराग्य उत्पन्न होता है। बालक, युवक या वृद्ध—यह सब शरीर की अवस्थाएँ हैं। उनके साथ विकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु यहाँ तो विकार का ज्ञान विकार से भिन्न है और बालक, युवक आदि शारीरिक अवस्थाओं से भी भिन्न है, इसलिये पूर्व विकारी अवस्था का ज्ञान करने में वे विकारी भाव अथवा उससमय की अवस्था ज्ञान के साथ नहीं आती; इससे यह निश्चय हुआ कि ज्ञानगुण में विकार नहीं होते।

नीतिमान भले जीव असत्य, कपट, चोरी इत्यादि का आदर नहीं करते। यदि अपने बड़े-बूढ़े या कुगुरु इत्यादि कोई अनीति करने को कहें तो निर्भयतापूर्वक इन्कार करते हैं और दृढ़तापूर्वक कह देते हैं कि हमने अपना पुण्य कहीं बेच नहीं खाया है, अर्थात् यदि हमारा पुण्योदय होगा तो रुपये-पैसे का संयोग अवश्य मिलेगा, किन्तु हम उसे प्राप्त करने के लिये अनीति नहीं करेंगे। व्यापार-रोजगार चाहे जैसा चले किन्तु उसमें कपट या किसीप्रकार की अनीति नहीं करते। इसप्रकार लौकिक सज्जनपुरुष भी दुष्टभाव का आदर नहीं करते, वे उसमें अपनी शोभा नहीं मानते; किन्तु नीति, सत्य, ब्रह्मचर्य इत्यादि में अपनी शोभा मानते हैं। इसीप्रकार क्षणिक विकारी भाव बाह्यलक्ष्य करने पर होते हैं, वे स्वभावविरोधी कलंक होने से चैतन्यस्वभाव में शोभा या आदर को प्राप्त नहीं होते। उनकी स्थिति उत्पन्नध्वंसीरूप से एकसमयमात्र की होती है। पहले स्वाश्रित स्वभाव में उनका

लक्ष्य गौण करके, उनका स्वामित्व-कर्तृत्व छोड़कर, विकार को पर मानकर उनका चारित्र के बल से नाश करता है, अर्थात् स्वभाव में उनकी नास्ति ही है। वह दूर होने योग्य हैं इसलिये वर्तमान में भी मेरे नहीं हैं, यदि वह मेरे हों तो मुझसे अलग नहीं होसकते। त्रिकाल में भी विकार मेरा नहीं है, ऐसा न मानकर जबतक विकार को अपना मानता है और अपने को विकाररूप मानता है तबतक अनन्तसंसार में परिभ्रमण करता है। चैतन्यस्वरूप की अवस्था में पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण ज्ञानी के भी पुण्य-पाप के क्षणिक विकार होते हैं, किन्तु स्वभाव की श्रद्धा की प्रबलता में उनका निषेध है। शुद्ध-दृष्टि से देखनेपर चैतन्यमूर्ति सदा अखण्ड ज्ञानानंदघनरूप है। अशुद्ध दृष्टि से वर्तमान प्रत्येकसमय की अवस्था को लेकर विकार और विपरीतमान्यता अनन्तकाल से करता चला आरहा है, फिर भी यदि त्रिकाल स्वतंत्र स्वभाव को पहिचानकर यथार्थदृष्टि करे तो क्षण-भर में वह भूल दूर होजाती है, और वर्तमान पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण जो राग शेष रह गया है वह ऊपरी–बाह्यभाव के निमित्ता-धीन है, स्वभावाधीन नहीं है, इसलिये वह दूर होसकता है। (बाह्य-निमित्त राग-द्वेष नहीं कराता किन्तु वह स्वयं उपरोक्त लक्ष्य से जब राग या द्वेष करता है तब निमित्त कहलाता है)।

आचार्यदेव कहते हैं कि पुण्य-पाप के बन्धनरूप भाव का कर्तव्य छोड़ो। यह तुम्हारा स्वभाव नहीं है, ऐसी प्रथम श्रद्धा करके सम्पूर्ण संसार का, त्रिकाल के कर्मबन्धन का और विकार का त्याग करो। द्रव्य-स्वभाव तो नित्य शुद्ध ही है, सदा एकरूप रहनेवाला है, अखंड है, और क्षणिक अवस्थामात्र की पुण्य-पाप की भावना अनेकप्रकार से भेदरूप है, इसलिये वह शरणभूत न होने से उस खंडरूप अशुद्ध अवस्था का आश्रय छोड़कर नित्य ध्रुवस्वभाव का आश्रय करो, तो तुम स्वयं ही भगवान आत्मा शाश्वत् शरण हो। तुम्हें किसी अन्य की शरण की आवश्यक्ता नहीं है।

नित्य एकरूप रहनेवाला अविनाशी आत्मा पूर्ण ज्ञानानंदरूप वीतरागस्वभावी है। देहादिक संयोग और पुण्य-पाप की भावना नाशवान है। नाशवान वस्तु अविनाशी स्वभाव में क्या कर सकती है ? वर्तमान अपूर्ण दशा में भी वह सहायक नहीं है, क्योंकि प्रत्येकसमय की विकार और देह की अवस्था तुझसे भिन्नरूप है, और तेरे ज्ञानादि गुण की अवस्था उससे भिन्नरूप है। कोई परवस्तु या परभाव तेरे स्वभाव में नहीं है; जो तुझमें नहीं है वह तेरे लिये सहायक कैसे होसकता है ?

व्यवहार से रागद्वेष चैतन्यस्वभाव को हानिकारक है, किन्तु वह त्रिकाल ध्रुवस्वभाव का नाश करनेवाला या गुण की शक्ति को कम कर देनेवाला नहीं है, क्योंकि गुण नित्य है उसमें राग-द्वेष की नास्ति है। क्षणिक अवस्था में होनेवाला राग-द्वेष नित्य, पूर्ण, गुणरूप स्वभाव में नहीं है। मैं नित्य अखण्डस्वभावी राग का नाशक ध्रुवरूप से हूँ, ऐसी प्रतीति का बल रखनेवाला अल्पकाल में ही राग-द्वेष का नाश करके पूर्ण पवित्र वीतराग होजाता है।

यह अपूर्व बातें हैं। इनका पुनः पुनः सुनना भी दुर्लभ है। पहले सत् का आदर करके उसे स्वीकार करने की बात है, उसे अंतरंग से स्वीकार करने में भी अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ है। जगत की समझ में आये या न आये किन्तु इसे समझने पर ही संसार से छुटकारा हो-सकता है। यहाँ नग्नसत्य को डंके की चोट घोषित किया है। स्वभाव में रहकर मात्र पुरुषार्थ की यह बात है।

मुक्ति का सर्वप्रथम उपायभूत जो सम्यक्दर्शन है उसीकी यह सत्र रीति कही जारही है। यह ऐसी बात है कि गृहस्थदशा में भी होसकती है। और की तो बात ही क्या, पशु और आठवर्ष की बालिका के शरीर में स्थित आत्मा के भी ऐसा अपूर्व धर्म होसकता है। अनंत जीव आठवर्ष की आयु में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष

गये हैं, जो होसकता है वही जन्म-मरण के अनादिकालीन दुःखों से छूटने का उपाय कहा जारहा है।

प्रथम श्रद्धा करनेपर मोक्ष का हर्ष प्रगट होजाता है। संसार में जो जिसे बहुमूल्य मानता है उसकी बात सुनते ही कैसा उछल पड़ता है! यदि दो महीने में इसप्रकार धंधा करूँ तो दोलाख का लाभ हो, ऐसे भाव करके हर्ष मानता है; धन, देह, पुत्रादि की प्रशंसा सुनकर उसमें उत्साहित होकर मिठास मानता है और उन सब संयोगों को बनाये रखना चाहता है; किन्तु स्वयं नित्यस्थायी है यह भूलकर पर को नित्यस्थायी बनाये रखना चाहता है। जिसमें रुचि है उसकी प्रशंसा सुन-सुनकर थकताहट मालूम नहीं होती, बारम्बार उसका परिचय करना चाहता है, और उसकी प्रशंसा सुनना चाहता है; इसीप्रकार भगवान आत्मा के स्वभाव का अपूर्वरीति से मूल्य अंकन करे तो उसे समझने के लिये उसका बारम्बार श्रवण-मनन करने में थकताहट मालूम नहीं होगी, और उसे समझने के बाद भी उसकी रुचि कम नहीं होगी।

मेरा स्वभाव त्रिकाल पूर्णशुद्ध है, क्षणिक विकार की उपाधि अथवा किसी परवस्तु का संयोग मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसे पर से भिन्न स्वभाव की श्रद्धा के बल से निरुपाधिक पूर्ण स्वभाव का विवेक करना, और पर से यथार्थतया भिन्न मानना ही प्रथम धर्म है, और यही सम्यक्दर्शन है। उस स्वाभाविक धर्म को अंगीकार करके हे जगत के जीव आत्माओ! तुम मोहरहित होकर स्वरूप का अनुभव करो, पर में सावधानी और पर के आश्रय की मान्यता छोड़कर राग से कुछ हटकर स्वभाव में स्थिर होओ। इसप्रकार सम्पूर्ण जगत के जीवों से स्वरूप का अनुभव करने को कहा है। आचार्यदेव अपनी दृष्टि से समस्त आत्माओं में परमार्थ से प्रभुता-पूर्णता को निहारते हैं, और इसप्रकार सभी को सम्बोधित करके कहते हैं कि मोहरहित होकर हमारी ही भाँति तुम भी अनुभव करो; शांत-निराकुल सुख-आनन्दस्वभाव में ही स्थिर होओ; यही सबका ध्रुवपद है। जबतक पर में कर्तृत्व-ममत्व है,

तबतक स्वतंत्रस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और उसका शुद्ध अनुभव नहीं होता, इसलिये शुद्ध आत्मा का अनुभव करने का उपदेश दिया है।

अब इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि ऐसा अनुभव करने पर आत्मदेव प्रगट प्रतिभासमान होता है :—

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यंतः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥ १२ ॥

अर्थः—जो सुबुद्धि (सम्यक्दृष्टि, धर्मात्मा) व्यक्ति भूत, भविष्यत और वर्तमान–तीनोंकाल के कर्मबन्ध को (अपनी यथार्थ श्रद्धा के बल से मन के अवलम्बन से किंचित् अलग होकर) अपने आत्मा से तत्काल–शीघ्र भिन्न करके अर्थात् वह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं नित्य असंग ज्ञायक हूं, पूर्ण निर्मल हूँ–ऐसी श्रद्धा के स्वाश्रित बल से कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न मिथ्यात्व (अज्ञान) को अपने बल से (पुरुषार्थ से) रोककर अथवा नष्ट करके अंतरंग में पर से भिन्न स्वभाव का अभ्यास करे तो यह आत्मा अपने अनुभव से ही जिसकी प्रगट महिमा जानने योग्य है ऐसा अनुभवगोचर, निश्चल, शाश्वत नित्य कर्मकलंक-कर्दम से रहित एकरूप, शुद्धस्वभावी, ऐसा स्वयं ही स्तुति करने योग्य देव अंतरंग में विराजमान है।

एकबार उपरोक्त कथनानुसार यथार्थ स्वरूप को श्रद्धा के लक्ष्य में लेकर उसमें एकाग्र होकर शुद्धस्वभाव का एकाकार भाव से अनुभव करो। जैसे कोई डिबिया और उसके संयोग में रहनेवाला हीरा एक नहीं है, यद्यपि यह लक्ष्य में है कि वर्तमान हीरा डिबिया के संयोग में विद्यमान है तथापि यदि हीरे पर ही लक्ष्य करके देखा जाय तो वह अलग ही है; इसीप्रकार चैतन्य ज्ञानमूर्ति आत्मा वर्तमान अवस्था में देहादि के संयोग में रहता हुआ भी असंयोगी स्वभाव की दृष्टि से देखने पर अलग

ही है। भगवान आत्मा वर्तमान शरीर के संयोग से एकक्षेत्र में रह रहा है तथापि वह देहादिक जड़ की अवस्था से अलग ही है, और परमार्थ से पराश्रय के द्वारा होनेवाले विकारी भावों से भी भिन्न है।

यद्यपि ऐसा ही है! यथार्थदृष्टि से देखने पर आत्मा त्रिकाल पर से तथा विकारी भाव से भिन्न है, तथापि अज्ञानी जीव मिथ्यादृष्टि से पर के साथ एकमेक होना मानता है। यहाँ शुद्धनय के द्वारा पर्याय को गौण करके सम्पूर्ण स्वभाव को मानने की रीति बताई है। जो यथार्थ रीति है उसे यदि कठिन माने तो दूसरे मार्ग से स्वभाव को नहीं जाना जासकेगा। सत् के मार्ग से ही सत् स्वभाव आता है, असत् का मार्ग सरल मानकर यदि उसीपर चला जायेगा तो सत् अधिक दूर होता जायेगा। जैसे देहली से अहमदाबाद जाना हो किन्तु वह बहुत दूर है इसलिये यदि कोई मुरादाबाद की तरफ चल दे तो उससे अहमदाबाद और अधिक दूर होता चला जायेगा, तथा वह कभी भी अहमदाबाद को प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसीप्रकार यद्यपि आत्मा का अंतरंग मार्ग बिल्कुल सीधा ही है, किन्तु अनभ्यास के कारण कठिन प्रतीत होता है। अनादिकालीन विपरीतमान्यता के कारण वह मार्ग पहले कठिन प्रतीत होता है इसलिये बाह्य में सरलमार्ग को धर्म मानले तो अंशमात्र भी अज्ञान-मिथ्याभिमान दूर नहीं होगा, और वह स्वभाव से दूर ही दूर रहेगा।

आचार्यदेव ने स्वभाव की दृढ़ता के द्वारा एकसमयमात्र में मिथ्यामान्यता के नाश करने का उपाय बताया है। मिथ्यामान्यता के द्वारा और अशुद्धता के आश्रय से एक-एकसमय की अवस्था को लेकर अज्ञान और अशुद्धता में ही अनन्तकाल व्यतीत हुआ है, तथापि वह अज्ञान और अशुद्धता की स्थिति एकसमयमात्र की उत्पन्नध्वंसी है, इसलिये क्षणभर में उसका नाश होसकता है। वह अनादि-कालीन है, इसलिये उसके लिये (क्षय के लिये) अधिक समय की आवश्यकता हो-ऐसी बात नहीं है।

लौकिक कला–बुद्धि विकसित हो और धनादि का संयोग मिले यह वर्तमान चतुराई या सयान का फल नहीं है किन्तु पर से भिन्नत्व की श्रद्धा करने के लिये और राग-द्वेषरहित स्वभाव का ज्ञान एवं उसमें स्थिरता करने के लिये वर्तमान में नवीनपुरुपार्थ करना चाहिये। अंतरंग स्वभाव के पुरुषार्थ का सम्बन्ध जड़कर्म के साथ नहीं है, गुण-रूप धर्म को पुण्य जागृत नहीं कर सकता अर्थात् पुण्य से धर्म का पुरुषार्थ जागृत नहीं होता। गुण प्रगट करने के लिये अंतरंग में पूर्ण स्वाधीन गुण की श्रद्धा से युक्त पुरुषार्थ चाहिये। स्वाधीनस्वभाव के लिये कोई काल, कोई क्षेत्र या किसी भी संयोग की सहायता आवश्यक नहीं है।

"न जाने कब गुण प्रगट होगा? ऐसे विषम पंचमकाल में ऐसा धर्म मुझसे नहीं हो सकेगा" यों कहकर पुरुषार्थ को मत रोको। भला आत्मस्वभाव में काल और कर्म बाधक होसकते हैं? तू आत्मा है या नहीं? जड़-कर्म तो अन्ध हैं, ज्ञानरहित हैं, वे तेरा कुछ नहीं कर सकते; तथापि अपने पुरुषार्थ की निर्बलता का दोष दूसरे पर डालना अनीति और अधर्म है।

"अनुभवप्रकाश" में कहा है कि "इसकाल में दूसरा सब-कुछ करना सरल है, मात्र स्वरूप को समझना ही कठिन है, ऐसा कहनेवाले स्वरूप की चाह–भावना को मिटानेवाले, पुरुषार्थ के मन्द करनेवाले बहिरात्मा, मिथ्यादृष्टि मूढ़ हैं।"

पृथक्त्व की यथार्थ श्रद्धा करके स्वाधीन स्वभाव की भावना करने को तू मँहगा कहता है, किन्तु तेरे पास ऐसे कौन से बाह्य संयोग हैं कि जिससे तू मँहगा-मँहगा कह रहा है? भरत चक्रवर्ति के पास छियानवेहजार स्त्रियाँ थीं और सोलहहजार देव उनकी सेवा करते थे, छहखण्ड का राज्य था; ऐसे संयोगों के बीच रहते हुए भी वे महान धर्मात्मा थे, सम्यक्दृष्टि थे, उनके अंतरंग में पृथक्त्व की प्रतीति विद्यमान थी, और तेरे घरपर तो छियानवे हजार नलियाँ भी नहीं हैं, फिर भी

परसंयोग का दोष निकालकर आत्मधर्म को समझना मुश्किल कहकर ज्ञान में विघ्न डालकर समझने का द्वारा ही बन्द कर देता है, तब उसकी समझ में कहाँ से आसकता है ? उसे संसार के प्रति प्रेम है ।

और फिर कई लोग यह कहकर कि 'अध्यात्मवस्तु का समझना कठिन एवं मँहगा है,' तत्वज्ञान को समझने की चिंता ही नहीं करते; वे स्वाधीन ज्ञानस्वभाव की हत्या करनेवाले हैं । निठल्ला बैठा हुआ मानव सांसारिक क्रिया में उत्साह माना करता है; वह निरंतर यह पूछता रहता है और जानना चाहता है कि अखबार में क्या नवीन समाचार आये हैं ? और रेडियो पर कौन से नवीनतम समाचार कहे गये हैं ? इसप्रकार बारम्बार पूछता रहता है, किन्तु अपने आत्मा के समाचार–आत्मा क्या कहता है, तथा भयंकर भावमरण कैसे मिट सकते हैं, यह समझने के लिये कभी भी नहीं पूछता । जिसे बाह्य में पर की रुचि है वह परसम्बन्धी राग के लिये समय निकालकर सब कुछ करता है, राग की वस्तु को अच्छी रखने का प्रयत्न करता है; परवस्तु में राग-द्वेष के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता । जिससे जन्म-मरण के अनन्त दुःख दूर होकर शाश्वत सुख प्रगट होता है उसकी रुचि नहीं है, उसके प्रति आदर नहीं है, उसका परिचय नहीं है; तो आत्मस्वभाव ऐसी कोई मुफ्त की वस्तु नहीं है जो पुरुषार्थ के बिना ही अपनेआप प्रगट हो जाये ।

आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मस्वभाव को शीघ्र समझने के लिये पात्रता के द्वारा सत्समागम प्राप्त करके उसका अभ्यास करे, रुचिपूर्वक पुरुषार्थ करे तो इसकाल में भी आत्मस्वभाव को समझना सुलभ है, किन्तु पर को अपना मानकर, पुण्यादि संयोगों को अपना बनाकर रखना चाहता है; किन्तु कभी पुण्य-पाप किसी के एकसमान स्थिर नहीं रह सके हैं, इसलिये वह एकान्त अशक्य है, अर्थात् आत्मा पर में कुछ भी करने के लिये कदापि समर्थ नहीं है, और स्वभाव में सबकुछ करने के लिये सर्वकाल में समर्थ है ।

अज्ञानी यह मानता है कि- पर मेरे लिये निमित्त हैं और मैं पर का निमित्तकर्ता होता हूँ, किन्तु परवस्तु तो मात्र ज्ञेय है, उसे ज्ञान में जानने का निषेध नहीं है। श्रद्धा के पश्चात् ज्ञान का विषय यथार्थतया स्वपर के विवेक से ज्यों का त्यों निमित्त को जानना है। श्रद्धा में अखंड ध्रुव सामान्य स्वभाव लक्ष्य में आने के बाद अवस्थाविशेष की ओर ज्ञान झुकता है, वह सम्यक्प्रकार से हुआ ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है इसलिये वर्तमान अपूर्ण अवस्था को जानने पर संयोगरूप निमित्त की उपस्थिति को भी ज्यों का त्यों जानता है, और त्रिकालस्थायी असंयोगी ध्रुवस्वभाव को भी जानता है। किन्तु ज्ञान निमित्त के आधार पर अवलम्बित नहीं है, और निमित्त अर्थात् बाह्यसंयोग की उपस्थिति का निषेध ज्ञान नहीं कर सकता।

सम्यक्श्रद्धा के विषय में पूर्ण निर्मल पर्याय और अपूर्ण पर्याय के भी भेद नहीं हैं। अनादि-अनन्त पूर्णरूप एकाकार वस्तुस्वभाव श्रद्धा के लक्ष्य में लिया कि उसमें पूर्ण ध्रुवस्वभाव की अस्ति और वर्तमान अवस्था के किसी भी भेद की नास्ति है; श्रद्धा का विषय तो अखंड वस्तु है।

ज्ञान में स्ववस्तु और पर्याय के भेद जानने पर ज्ञेयरूप परवस्तु भी जानने का विषय बन जाती है, वह (ज्ञान करना) भी वास्तव में स्व-विषय है, क्योंकि पर में जानना नहीं होता और पर से जानना नहीं होता, फिर भी परवस्तु है अवश्य जोकि ज्ञान में परज्ञेय होने में निमित्त है, इसप्रकार ज्ञानी परवस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं; तब अज्ञानी विपरीत ही ग्रहण करता है कि परज्ञेय से—निमित्त से ज्ञान होता है। और इसप्रकार निमित्त का अपने में अस्तित्व मानता है। ज्ञानी निमित्त को अपने में नास्तिरूप से ज्ञेयरूप जानता है, और स्व-पर का विवेक करता है।

निमित्त, निमित्तरूप से है, अपनेरूप से नहीं है; स्वयं निजरूप से है निमित्तरूप से नहीं है। समस्त लोक परज्ञेय में (निमित्त) है,

किन्तु ज्ञान में सहायक नहीं है। निमित्त किसी कार्य में कुछ नहीं करता, मात्र उसकी उपस्थिति होती है; तथापि निमित्ताधीन दृष्टिवाले के अंतरंग में स्वतंत्र वस्तु समझ में नहीं आई है, इसलिये वह यह सुनकर कि 'पर का कुछ नहीं कर सकता' यदि विरोध न करेगा तो दूसरा कौन विरोध करेगा? अज्ञानी समझ के दोष से असत्य का स्वीकार करके सत्य का विरोध करे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

जो सम्यक्‌दृष्टि त्रिकाल के कर्मबन्ध को अपने आत्मा से भिन्न जानकर भिन्न अनुभव करके मिथ्यात्व मोह और अज्ञान को अपने पुरुषार्थ से रोककर अथवा नाश करके अंतरंग में पृथक्त्व का अभ्यास करता है, वह अपने को अपने में ही स्पष्टतया–असंगरूप देखता है; इसलिये यह आत्मा अपने अनुभव से ही ज्ञेययोग्य जिसकी प्रगट महिमा है–ऐसा व्यक्त (अनुभवगोचर) अंतरंग में विराजमान है। उसे शुद्धनय के द्वारा भलीभाँति जाना जासकता है।

शुद्धस्वभाव को पर से भिन्नरूप अनुभव करने का अभ्यास अनादिकाल से कभी नहीं किया और कभी यह नहीं माना कि शुद्धभाव के द्वारा भीतर देखने पर मैं विकार का नाशक त्रिकाल ज्ञानरूप असंयोगी हूँ; किन्तु अपने को वर्तमान अशुद्ध पर्यायरूप तथा होनेवाले पुण्य-पाप के भावरूप माना है, किन्तु उस पर्यायदृष्टि से कभी भी धर्म का विकास नहीं होसकता। पराधीनमान्यता और अशुद्धभाव का नाश करनेवाले अपने स्वभाव को भूलकर जबतक पराधीनता का सेवन करता है तबतक पराश्रयरूप विपरीत मान्यता का त्याग नहीं कर सकता। पूर्ण निर्मल स्वाधीन स्वरूप क्या है इसे पहले भलीभाँति जानकर पूर्ण स्वभाव के आधीन होकर स्वाश्रित अखण्ड श्रद्धा के लक्ष्य से स्वभाव पर भार देकर स्थिर हो तो–निज में टिके तो नित्य ज्ञानानंदरूप स्वाधीन स्वभाव होने से स्वरूप की निर्मलता प्रगट होती है अर्थात् क्रमशः वर्तमान अवस्था में साक्षात् निर्मलतारूप स्वाधीन शक्ति प्रगट होती है।

शुभ और अशुभ दोनों बन्धनभाव हैं। जिस भाव से बन्धन होता है उस भाव से स्वाधीनस्वरूप मोक्ष कदापि नहीं होसकता, इतना ही नहीं किन्तु स्वाधीन धर्म का मार्ग भी नहीं होसकता। ऐसा होने से व्रतादि के शुभ भावों के द्वारा धीरे-धीरे आत्मा के गुण प्रगट होजायेंगे यह मान्यता मिथ्या है। पहले श्रद्धा में उस विकारी भाव के अवलम्बन का निषेध करके, अंतरंग में गुण स्वभाव को पहिचानकर यदि उसमें एकाग्र हो तो उतनी गुण की निर्मलता प्रगट होती है। आत्मा के गुण आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होते हैं, पुण्य-पाप से आत्मा के गुण कभी भी प्रगट नहीं होते। (यहाँ शुभ भावों के करने या न करने का प्रश्न नहीं है। जबतक पूर्ण वीतराग नहीं होजाता तबतक शुभभाव होते हैं, किन्तु उनसे आत्मा को लाभ नहीं है।)

आत्मा में पूर्ण अखण्ड ज्ञानानंद स्वभाव नित्य भरा हुआ है, किन्तु वर्तमान अवस्था का प्रवाह अंतरोन्मुख न होकर बाह्य लक्ष्य से पुण्य-पाप में युक्त होता है, उतना विकारी भाव एक-एकसमय की अवस्था जितना दिखाई देता है। यदि स्वलक्ष्य में एकाग्र रहे तो राग-द्वेष नहीं होते।

पर का ज्ञान करने में राग नहीं है, किन्तु जाननें में जितना रुकता है, अच्छे-बुरेपन का भाव करता है उतना ही राग-द्वेष होता है। गुण से कभी भी बन्धन नहीं होता। स्वभाव पुण्य-पाप के विकारी भाव का उत्पादक नहीं किन्तु नाशक है, इसलिये पहले स्वाधीन गुण की श्रद्धा पर भार दिया है।

स्वभाव में विकल्प का कोई विकार नहीं है। गुड़ में मिठास ही भरी होती है, किन्तु कभी कहीं ऊपर कड़वा स्वाद होजाता है तो वह पर-संयोगाधीन होता है, उसका लक्ष्य गौण करके सम्पूर्ण एकरसरूप से देखें तो गुड़ मिठास का ही पिंड है। इसीप्रकार आत्मा असंयोगी ज्ञान दर्शन वीर्य आदि अनन्त गुणों का अखण्ड पिंड है, उसके स्वभाव में विकार नहीं है; किन्तु मैं वर्तमान अवस्था जितना हूँ, पर का कर्ता

हूँ, ऐसी विपरीतदृष्टि से अपने को भूलकर अपने में परसंयोग का आरोप करता है, तब परलक्ष्य से नवीन विकारभाव होता है । स्वलक्ष्य से उस विकारभाव का नाश करके, वर्तमान संयोगाधीन अवस्था का लक्ष्य शिथिल करके त्रिकाल असंग ज्ञायक स्वभाव को देखें तो नित्य एकरूप ज्ञानानंदरसपूर्ण स्वतंत्र भगवान आत्मा स्वयं जागृत स्वरूप है, वह रागादि या देहादिरूप कभी नहीं है । ऐसी शुद्धात्मस्वरूप की प्रतीति वर्तमानकाल में भी स्वतः शीघ्र होसकती है ।

पुण्यादिक जड़कर्म मुझे सद्बुद्धि प्रदान करें, किसी के आशीर्वाद से गुण प्रगट हों, अथवा बाह्य क्रिया से या शुभराग से गुण हों–इसप्रकार भले ही अज्ञान से माने किन्तु बाह्य क्रिया से या किसी परवस्तु से अंतरंगस्वभाव के गुण को कोई भी सहायता प्राप्त नहीं होती ।

मिथ्यात्व का अर्थ है स्वरूप में भ्रान्तिरूप व्यामोह । मैं देह हूँ, मैं रागकर्ता हूँ, इसप्रकार जो स्वरूप से विपरीत मान्यता है सो उसे दर्शनमोह कहते हैं ।

सत् के प्रति प्रेम रखकर उसका श्रवण, मनन और उसके लिये सत्समागम से परिचयपूर्वक अभ्यास नहीं किया है, इसलिये आत्मा की बात सुनते ही लोगों के मन में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि–यदि आत्मा है तो वह दिखाई क्यों नहीं देता ? यदि भीतर दृष्टि डालते हैं तो अन्धकार दिखाई देता है, बाहर देखते हैं तो जड़ की क्रिया और शरीरादिक दिखाई देते हैं, किन्तु मैं जानता हूँ और मैं नहीं जानता तथा यह अन्धकार है, यह सब निश्चय करनेवाला कौन है ? और निश्चय किसमें किया ? मैं अपने को नहीं देखता यह कहनेवाला स्वयं अपने में स्थिर होकर निश्चित करता है । जो जानता है सो ही आत्मा है, देह और इन्द्रियाँ कुछ नहीं जानते, इसलिये ज्ञान की सम्पूर्ण अवस्था में स्वयं ही प्रत्यक्ष हैं, तथापि अपने में शंका करके उसका निषेध करे यह आश्चर्य की बात है । देह से भिन्न, स्वतंत्रतया स्थिर रहनेवाला मैं ज्ञाता हूँ, यह इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता किन्तु ज्ञान से मालूम होता

है। पुण्य-पाप के जो विकल्प होते हैं उनमें हर्ष-शोक के भाव आँखों से दिखाई नहीं देते, फिर भी वह कैसे मानता है कि मुझे हर्ष हुआ है? इसलिये जो इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञान से जाना जासकता है, ऐसे आत्मा को मानना पड़ेगा।

'मैं परपदार्थ में कुछ ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ, शरीर को निरोग और व्यवस्थित रख सकता हूँ, यदि मैं ऐसा कार्य या आन्दोलन करूँगा तो समाजसुधार हो जायेगा' इसप्रकार जो पर का कुछ कर सकने की मान्यता है सो सब विपरीतदृष्टि है। जगत की प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वतंत्रकारण को लेकर अपने मे ही व्यवस्थितरूप से विद्यमान है, तथापि मैं उसे परिवर्तित करूँ—ऐसा माननेवाला अज्ञानी जीव समस्त वस्तु को पराधीन और निर्माल्य मानता है, वह अपनी स्वतंत्रता को पराधीन मानता है। वह सत्वस्तु को नहीं मानता और परवस्तु में जल्दी ध्यान बतलाता है, किन्तु उसे यह खबर नहीं होती कि यह आत्मा क्या वस्तु है, कैसी है, और इसमें क्या होता है, वह उसका विचार करते हुए आकुलित हो उठता है; हम इसे नहीं जान सकते, ऐसा मानकर जो स्वाधीनतापूर्वक होसकता है—ऐसे सुखी होने के उपाय का अनादर करता है और पराधीनता जो दुःखी होने का उपाय है उसका आदर कर रहा है। जब घर में विवाहादि का प्रसंग होता है तब उसकी योजना के विचार में ऐसा तल्लीन होजाता है कि—दूसरा सबकुछ भूल जाता है, क्योंकि उसमें उसे रुचि है, किन्तु वहाँ जो एकाग्रता है सो पापरूप अशुभ भाव है, और धर्म के नामपर यदि दया, व्रत, पूजा इत्यादि के विचार में एकाग्र हो तो शुभभावरूप पुण्य होता है। उस पुण्य-पाप को अपना स्वरूप माने तथा ग्रहण योग्य माने तो वह मिथ्यामान्यता है।

पर को लक्ष्य में लेकर, उसके विचारों को बढ़ाकर उसमें ऐसा एकाग्र होजाता है कि दूसरा सबकुछ भूल जाता है, पास में नगाड़े बज रहे हों तो उनका भी ध्यान नहीं रहता, तथापि वह एकाग्रता परलक्ष्यी है, उससे स्वाधीन स्वभाव को कोई लाभ नहीं है। जो परलक्ष्य

से-पराश्रय से विचार में एकाग्रता को बढ़ाकर विकार में एकाग्र होसकता है वह स्वाधीनस्वभाव में स्वलक्ष से-स्वाश्रितभाव से अवश्य एकाग्र होसकता है, क्योंकि स्वलक्ष्य आत्मा का स्वभाव है। श्रद्धा में बाह्योन्मुखता का त्याग करके स्वलक्ष्य से भीतर के गुणों के विचार में एकाग्र हो तो उसमें अंशतः मन का अवलम्बन टूट जाता है, स्वाश्रितरूप से विचार करनेवाला ज्ञानस्वभाव वर्तमान में भी खुला ही है। स्वभाव कभी विकाररूप नहीं होता, मन और इन्द्रियों के अधीन नहीं होता। ज्ञान स्वतंत्र है, सदा अपने से ही जानता है और अपना ही अनुभव करता है, इसमें परनिमित्त की सहायता या अवलम्बन नहीं है। ज्ञानस्वभाव में पराश्रयरूप भेद भी नहीं है, वह निश्चय एकरूप नित्य बना रहता है।

जो संसार के विचार में पराश्रितभाव से रुकता है वह पर में लक्ष्य करने वाला भी अपना स्वतंत्र ज्ञानस्वभाव ही है; ज्ञान किसी के अधीन नहीं है, वर्तमान ज्ञान की प्रगटता से सतत त्रिकाल जानने वाले ज्ञानस्वभाव से मैं ही स्वावलम्बी सम्पूर्ण हूँ-ऐसा निर्णय स्वयं स्वलक्ष्य से कर सकता है। जिसकी दृष्टि देह पर है वह पराश्रय के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं देखता, उसकी दृष्टि ही परपदार्थ पर है, इसलिये उसे ऐसा लगता है कि यदि पर का कुछ आश्रय ग्रहण करूँ तो स्थिर होसकूँगा, किन्तु पराश्रय का भाव ही स्वाश्रय में भ्रान्ति है। स्वाश्रित स्वभाव की अपारशक्ति की श्रद्धा नहीं है इसलिये मानता है कि देह, इन्द्रियों और शास्त्र इत्यादि के अवलम्बन के बिना धर्म में स्थिर नहीं रह सकता। इसप्रकार जहाँ पराश्रयता को मानता है वहाँ प्रतिसमय धर्म के सम्बन्ध में आकुल-व्याकुल होता है। स्वलक्ष्य से भीतर के स्वतंत्र स्वभाव को माने तो अनेकप्रकार की पराधीनता की मान्यताओं का और अज्ञानभाव का शुद्धस्वभाव के बल से नाश करके क्षणभर में स्वरूप की एकाग्रता को साधकर पवित्र मोक्षभाव को प्रगट कर सकता है। प्रथम दृष्टि में मोक्षस्वभाव का स्वीकार होने पर

अंशतः निर्मलतारूप अपूर्व पुरुषार्थ उदित होता है; अस्थिरता में जो अल्प निमित्ताधीन भाव होता है उसका स्वभाव के बल में स्वीकार नहीं है। इसप्रकार स्वभाव के लक्ष्य से पराश्रय का नाश करके जन्म-मरण को दूर करनेवाली सम्यक्श्रद्धा हो सकती है।

जानने का तो मेरा स्वभाव ही है, स्वभाव में पर की सहायता कैसी ? इसप्रकार स्वतंत्रस्वभाव को माननेवाला आत्मा अपने त्रिकाल-ज्ञानस्वभाव की स्वानुभवरूप क्रिया का कर्ता हुआ; अपने ज्ञान-स्वभाव का ही स्वामी हुआ, अर्थात् पुण्य-पाप विकार का कर्तृत्व और स्वामित्व रहा ही नहीं। इसमें अनन्तपुरुषार्थ और अनन्तज्ञान की क्रिया आ जाती है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव नित्य प्रगट है, वह कभी किसी से रुका नहीं है, किसी से दबा हुआ नहीं है अथवा किसी के साथ एकमेक नहीं होगया; ऐसा व्यक्तस्वभाव वाला स्वयं अपने ज्ञान के द्वारा जानने योग्य (स्वानुभवगोचर) सदा विराजमान है। भीतर स्वतंत्र गुण की श्रद्धा के बाद यथार्थ ज्ञान स्व-पर को भलीभाँति जानता है तब जो बाह्य संयोग विद्यमान होता है वह निमित्त कहलाता है। देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि से ज्ञान नहीं होता, यदि निमित्त से ज्ञान हो तो सबको एक-सा ज्ञान होना चाहिये। निमित्ताधीन दृष्टि ही स्वाधीन सत् की हत्या करनेवाली है। बाह्य साधन के बिना मेरा काम नहीं चल सकता—ऐसी विपरीतमान्यता अनादिकाल से बनाये चला आरहा है, उसका जो जीव स्वावलम्बी स्वभाव के लक्ष्य से प्रथम श्रद्धा में नाश करता है वह क्रमशः स्वभाव में स्थिर होनेपर पराश्रय को छोड़ता जाता है।

लोगों को स्वाधीनस्वभाव की श्रद्धा करते हुए कपकपी उठती है कि—अरे ! मैं किसी के अवलम्बन के बिना कैसे रह सकूँगा ? उसे अपनी ही श्रद्धा नहीं है इसलिये पराश्रय की श्रद्धा जम गई है, किन्तु एकबार स्वाश्रित अखंडस्वभाव के बल से पराश्रय का निषेध करे तो स्वतंत्रता का बल प्रगटे और नित्य ज्ञातादृष्टास्वरूप ही अपने को देखे।

आत्मा कैसा है ? नित्य निश्चल है; जिसमें चार गतियों के भ्रमण का स्वभाव नहीं है। आत्मा शाश्वत है, वस्तुस्वरूप में त्रिकालस्थायी स्वानुभवरूप है, अपने अनुभव से कभी अलग नहीं है और कभी अलग नहीं होता; इसलिये यदि कोई कहे कि 'इस काल में आत्मानुभव नहीं होसकता,' तो उसकी यह बात मिथ्या है, आत्मा नित्य कर्मकलंक से अलग है। यदि वर्तमान में कर्मों से अलग न हो तो फिर अलग नहीं होसकता। आत्मा हीन, विकारी या पराधीन नहीं है, क्योंकि नित्य गुणस्वरूप में दोष नहीं होसकता।

जो अवस्था के भेद हैं सो व्यवहार है। स्वभाव तो वर्तमान में भी परमार्थ से पूर्ण निर्मल है, असंग है। उस स्वभाव का लक्ष्य करते ही प्रगट प्रतीतिरूप विशुद्ध चैतन्य भगवान अंतरंग में नित्य विराजमान हैं, और वैसा ही अपने द्वारा नित्य ज्ञान होरहा है, अनुभव किया जारहा है। ऐसे आत्मा की प्रतीति सम्यक्दर्शन के होनेपर होती है, भव की भ्रान्ति का नाश करके साक्षात् अपने परमात्मस्वरूप का वर्तमान में ही दर्शन हो–ऐसा उत्तमधर्म कहा जाता है।

अनादिकालीन परमुखापेक्षिता का नाश करनेवाला अविनाशी स्वभाव आत्मा नित्य गुणस्वरूप है, पुण्य-पाप के बन्धनभाव की उत्पत्ति के बन्धनभाव को रोकने वाला है, उसे भूलकर पर्याय का आश्रय ले और विकारी अवस्था को ही स्वभाव मानले तो विकार की ही उत्पत्ति होती है। जो विकार के अवलम्बन की दृष्टि को लेकर खड़ा हुआ है वह संसार का इच्छुक है, और जिसने विकार के नाशक अविकारी स्वभाव पर दृष्टि की है वह संसार में रहता हुआ भी संसार से परे है, वह स्वभाव में परमात्मारूप से विद्यमान है। अंतरंग तत्त्व का अभ्यास करके एकबार स्वावलम्बी स्वभाव का आदर करे तो परावलम्बनरूप मोह का शीघ्र नाश होता है।

भावार्थः—अवस्था के लक्ष्य को गौण करके त्रिकाल निर्मल ध्रुवस्वभाव को देखने वाली शुद्धनय की दृष्टि से अंतरंग में देखा जाये तो सर्व

कर्मों के संयोग से रहित पूर्ण ज्ञानानंदमूर्ति शांत अविकारी भगवान आत्मा स्वयं निश्चलता से विराजमान है। देहादिक तथा रागादिक बाह्यदृष्टि वाले अंतरंग में न देखकर बाहर से ढूँढ़ते हैं, यह उनका महा अज्ञान है। अंतरंग स्वभाव या कोई भी गुण बाहर नहीं किन्तु स्वभाव में ही सबकुछ विद्यमान है।

जिसे यह भ्रान्ति है कि पराश्रय को देखें, वह पर को अपना स्वरूप मान रहा है, उसे पराधीनता की रुचि है, और स्वाधीन गुण की रुचि नहीं है। पहले से ही श्रद्धा में सर्व परावलम्बन का स्वलक्ष्य से निषेध करके मैं पररूप नहीं हूँ, मुझे किसी भी बाह्य निमित्त या मन के अवलम्बन की आवश्यक्ता नहीं है, मैं उस सबसे भिन्न हूँ; ऐसी निरावलम्ब श्रद्धा के लक्ष्य से भीतर से ही गुण प्रगट होता है; किन्तु जो यथार्थ श्रद्धा नहीं करता और बाह्य में दौड़-धूप करता है—बाह्य में ही दृष्टि रखता है तथा जो इसप्रकार पर-पदार्थ से गुण-लाभ मानता है कि पहले अधिकाधिक शुभराग करके पुण्य एकत्रित करलूँ तो फिर धीरे-धीरे गुण प्रगट होंगे, वह उस मृग की भाँति व्यर्थ ही बाहर दौड़ लगाता है जिसकी नाभि में कस्तूरी भरी हुई है और वह उसकी सुगन्धि को अपने भीतर न समझकर उसके लिये बाहर दौड़ता फिरता है; गुण अपने ही भीतर विद्यमान हैं फिर भी अज्ञानी जीव उनके लिये बाहर भ्रमण करता रहता है। हिरन अपने अज्ञान और हीनता के कारण अपने भीतर विद्यमान सुगन्धि को जानने-देखने का विचार ही नहीं करता, इसीप्रकार जिसकी दृष्टि अपनी हीनता पर है और जो बाह्य में ही गुण मान बैठा है वह अपने भीतर विद्यमान वास्तविक गुणों को नहीं देख पाता। यदि वह अपने में दृष्टि डाले तो अपनी शक्ति की प्रतीति हो।

सर्वज्ञ भगवान ने सभी आत्माओं को अपने ही समान स्वतंत्र घोषित किया है, सभी की पूर्ण प्रभुता घोषित की है, किन्तु जिसे देहादिक पर-पदार्थों में मूर्च्छा है, और जिसे पराधीनता अनुकूल मालूम होती है उसे

यह बात कहाँ से रुच सकती है कि मैं पूर्ण परमात्मा हूँ ? जहाँ पान-बीड़ी और चाय के बिना एकदिन भी न चल सकता हो, थोड़ी सी निन्दा अथवा अपमान होनेपर भारी क्षोभ होजाता हो, और स्तुति या प्रशंसा को सुनकर हर्षोन्मत्त होकर अर्पित होजाता हो, साधारण तुच्छ वस्तुओं में मुग्ध होजाता हो, पराश्रय के आगे किंचित्मात्र भी धीरज न रख सकता हो वह निरावलम्बी पूर्ण गुण का-अपनी प्रभुता का विश्वास कहाँ से कर सकेगा ? किन्तु एकबार रुचिपूर्वक मैं पूर्ण हूँ, निरावलम्बी ज्ञायक हूँ, ऐसी श्रद्धा से स्वरूप का यथार्थ आदर करके स्वाश्रय के द्वारा स्वीकार करे तो पराश्रय की पकड़ छूट जाती है।

अज्ञानी जीव सुख और सुख का उपाय बाह्य में मानता है। शरीर में रोग होजाता है तो उससे दुःख होता है, ऐसा मानकर (वास्तव में बाहर से दुःख नहीं आता, किन्तु अज्ञान ही दुःख का कारण है, ऐसा न जानने से) बाह्य संयोगों से छूटकर सुखी होऊँ इसप्रकार बाहर से सुख मानता है और बाह्य में ही प्रयत्न करता है।

लोगों ने ऐसा मान रखा है कि आत्मा अलख, अगोचर है और वह कहीं भी हाथ नहीं लग सकता, इसलिये उसकी बात सुनते ही भीतर से उत्साह नहीं आता, और उसे समझना कठिन प्रतीति होता है। यदि कोई कहता है कि कन्दमूल का त्याग करो, हरी साग का त्याग करो, ऐसा करो और वैसा करो, तो ऐसी बाह्य क्रियाओं को करने के लिये तत्पर होजाता है, क्योंकि वह सब आँखों से प्रत्यक्ष दिखाई देता है, इसलिये वह यों सन्तोष मान लेता है कि मैंने इतना त्याग किया है, किन्तु बिना प्रतीति के अथवा ज्ञान के बिना धर्म नहीं होता। (स्मरण रहे कि यहाँ कन्दमूल खाने की बात नहीं है, और न कन्द-मूल खाने का समर्थन किया जारहा है, किन्तु यहाँ विवेक का प्रश्न है।) अंतरंग गुणों के लिये कोई बाह्य निमित्त किंचित्मात्र भी सहायक नहीं होता, धर्म तो स्वभाव में से ही होता है। स्वभाव की अप्रतीति-रूप अज्ञान ही अनादिकालीन संसार का कारण है।

अब शुद्धनय के विषयभूत आत्मा की अनुभूति ही ज्ञान की अनुभूति है, यह बताते हुए कहते हैं कि:—

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेतिबुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समंतात् ॥ १३ ॥

अर्थः—इसप्रकार जो पूर्वकथित शुद्धनयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है, यह जानकर तथा आत्मा में आत्मा को निश्चलरूप से स्थापित करके यह देखना चाहिये कि सदा सर्वओर से एक ज्ञानघन आत्मा है ।

भावार्थः—चौदहवीं गाथा में सम्यक्दर्शन को प्रधान करके कहा था; अब पन्द्रहवीं गाथा में ज्ञान को मुख्य करके कहेंगे कि, जो यह शुद्धनय के विषयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वही सम्यक्ज्ञान है । ऐसा होने से ज्ञानी जहाँ-जहाँ देखता है, वहाँ-वहाँ निरंतर ज्ञान की अनुभूति है, स्वाश्रय से यथार्थ श्रद्धा होने के बाद निरंतर अपने ज्ञान को जानता है । जहाँ पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक तथा पंचेन्द्रियों के विषयों का विचार आता है वहाँ भी ऐसा ज्ञानमय अनुभव होता है कि मैं निजरूप हूँ, अखण्ड ज्ञायकरूप हूँ, पररूप नहीं हूँ; इसलिये आंशिक आसक्ति का नाश होजाता है, अतः अपने ज्ञान की स्वच्छता को ही देखता है और उसका अनुभव करता है ।

स्वाश्रित शुद्धनय के द्वारा ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करने के बाद मैं जहाँ सदा सर्वदा देखता हूँ, वहाँ मुझमें मेरे ज्ञानवैभव की अवस्था दिखाई देती है; मुझमें परवस्तु की नास्ति है, इसलिये बाह्य में निंदाकारक अथवा स्तुतिकारक शब्दादिक पंचेन्द्रियों के विषयरूप में जो कुछ मालूम होते हैं वह सब मेरे ज्ञानमय स्वभाव की स्वच्छता दिखाई देती है । यदि मैं उन शब्दादि का विरोध करूँ (उनके

अस्तित्व से इन्कार करूँ) तो मेरे ज्ञान का निषेध होता है। जब-कि मैं परविषयों में आसक्त नहीं हूँ तब फिर मैं अपने ज्ञान की स्वविषय की शक्ति को ही देखता हूँ, उसमें शुभ या अशुभ, तथा शब्दादिक पाँच विषयों में से जिसे जितना बुरा मानकर अनादर करूँ, उतना ही मेरे ज्ञान की पर्याय का अनादर होता है, वह पापरूप आकुलता है। और देव, गुरु, शास्त्रादिक शुभविषय को ठीक मानकर आदर करूँ तो पराधीनता और शुभरागरूप आकुलता होती है; इसलिये पर में अच्छा-बुरा मानकर, उसमें अटक जाना मेरे ज्ञान का स्वभाव नहीं है। पर में अटक जाने का स्वभाव तो एक-एकसमय की स्थिति रूप से रहनेवाली पराश्रयरूप विपरीतमान्यता का है; उसका नाश करने के बाद निमित्ताधीन अल्पराग पुरुषार्थ की अशक्ति से होता है, जिसका स्वभावाधीनदृष्टि में कोई स्थान नहीं है।

अनादिकाल से निमित्ताधीन दृष्टि के द्वारा पर की श्रद्धा से पर को जानता था, वह ज्ञान स्वाश्रितरूप से अपनी ओर हुआ, अर्थात् वह शुभाशुभ रागरूप अथवा पर में कर्तारूप नहीं हुआ। जो ज्ञात होती है सो अपने से अपने में अपने ज्ञान की निर्मल अवस्था ही ज्ञात होती है। यह अपने गुणों के अनुभव की विज्ञप्ति है; राग में या मन वाणी देह अथवा इन्द्रियों में जानने की विज्ञप्ति नहीं है।

परवस्तु का ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये, इसप्रकार माने तो ज्ञान में जो अपनी स्वच्छता प्रतीत होती है उसका निषेध होता है, अर्थात् मैं न होऊँ ऐसा अर्थ होता है; क्योंकि उस-समय अपने ज्ञान की उस अवस्थारूप योग्यता ही उसप्रकार से जानने की है; उसका निषेध करते ही अपनी अवस्था का निषेध और अवस्था का निषेध होनेपर अपना निषेध होता है, क्योंकि अवस्था के बिना कोई वस्तु नहीं होसकती। जैसे दर्पण की स्वच्छता में विष्टा या सुगन्धित फूल, मिट्टी या सोना, बरफ या अग्नि इत्यादि जो भी दिखाई देता है वह सब दर्पण की अवस्था है; उसका निषेध करनेपर यह अर्थ

होता है कि 'ऐसी स्वच्छता दर्पण की नहीं होनी चाहिये;' और इससे दर्पण का ही निषेध होजाता है, (किन्तु दर्पण को ज्ञान नहीं होता) इसप्रकार दर्पण के दृष्टान्तानुसार ज्ञान की स्वच्छता में अनुकूल-प्रतिकूल संयोग उसके ही कारण से दिखाई देते हैं, शरीर में बुढ़ापा या रोगादि की अवस्था शरीर के कारण से होती है, वह तथा पंचेन्द्रियों के विषय ज्ञान की स्वच्छता में सहज ही ज्ञात होते हैं, उसका निषेध करने पर अपने ज्ञानगुण की स्वच्छता का निषेध होजाता है। ऐसा जानने के कारण ज्ञानी निरंतर अपने एक ज्ञानभाव का अनुभव करता है, इसलिये पर में अच्छा-बुरा मानकर आदर-अनादररूप से अटकना नहीं होता। परवस्तु मुझे लाभ-हानि का कारण नहीं है तथा ज्ञानस्वभाव भी राग-द्वेष का कारण नहीं है, स्वर्ग-नरक इत्यादि तथा निंदा-स्तुति के कोई भी शब्द अथवा कोई भी परवस्तु ज्ञात हो तो वह मुझे लाभ-हानि का कारण नहीं है; यह जानकर ज्ञानी जानने में निमित्ताधीन दृष्टि को छोड़कर, अच्छे-बुरेपन को टालकर स्वाधीन स्वलक्ष्य के द्वारा निरंतर सभी ओर अपने निर्मल ज्ञान का ही अनुभव करता है, स्वानुभव की शांति को ही जानता है; पर को नहीं जानता और पर का अनुभव नहीं करता।

यदि कहीं मरा हुआ—सड़ा हुआ कुत्ता पड़ा दिखाई देता है तो वहाँ ज्ञान अपने में जानने का ही काम करता है। 'वह दुर्गन्ध ठीक नहीं है इसलिये नहीं चाहिये,' इसका अर्थ यह हुआ कि क्या तेरे ज्ञान की अवस्था नहीं चाहिये? ज्ञान की स्वपरप्रकाशक दुगुनी शक्ति है। (१) वह अपने को जानता है, और (२) प्रस्तुत वस्तु को अपनी योग्यतानुसार ज्यों की त्यों जानता है। जानने योग्य परवस्तु का (ज्ञेय का) निषेध करने पर अपने ज्ञानगुण का ही निषेध होता है, इसलिये स्वाश्रित ज्ञान के द्वारा परावलम्बी आसक्ति को मिटाकर अपने ज्ञानभाव में देखने के अभ्यास से निरंतर ज्ञान-शांति का अनुभव होता है। ज्ञान वस्तु को जाने या परवस्तु सम्बन्धी अपनी ज्ञान अवस्था को जाने, किन्तु

इसमें स्व-पर को जाननेवाला ज्ञान अलग नहीं है, इसलिये जानने में पराश्रय का भेद नहीं होता।

प्रश्नः—ज्ञान का विकास कैसे होता है?

उत्तरः—जिसओर रुचिपूर्वक उन्मुख होता है उसओर का ज्ञान विकसित होता है। जिसे जिस व्यवसाय की रुचि है उसओर उसके ज्ञान का विकास होता है, इसीप्रकार नित्य स्वावलम्बी आत्मस्वभाव की ओर स्वरुचि की दृढ़ता होनेपर स्वभाव की ओर के ज्ञान का विकास होता है।

राग का त्याग करने पर परवस्तु उसके कारण से छूट जाती है, मुझमें पर का सम्बन्ध नहीं है; परवस्तु भिन्न है इसलिये वह मुझसे छूटी हुई ही है। आत्मा के गुण दोषरूप भाव होने में परवस्तु कारण नहीं है, मात्र अपने भावानुसार परवस्तु में आरोप करके जो विद्यमान हो उसे निमित्त कहने का व्यवहार है।

ज्ञानी स्व-पर को जानने पर अपने ज्ञान में अच्छे-बुरे का भेद नहीं करते, और अज्ञानी परवस्तु को देखकर उसमें आसक्त होकर रागी-द्वेषी होते हैं, पर में अच्छा-बुरा मानकर, पर का आदर-अनादर करके ज्ञान में राग-द्वेष के भेद बनाते हैं। ज्ञानी पर से भिन्न ज्ञाता ही रहता है। वह जिससमय जैसा होता है वैसा ही जानता है। आत्मा में ज्ञातृत्व का नित्य अस्तित्व है, और पर का नास्तित्व है; जानने में दोष नहीं है। आत्मा किसी भी तरह परपदार्थ का कुछ नहीं कर सकता, किन्तु स्वभाव में लाभ-अलाभरूप अपने अरूपी भाव को करता है। ज्ञानी स्वाश्रितस्वभाव को नित्य ज्ञातास्वरूप से एकप्रकार से अनुभव करता है, राग-द्वेष के भेदरूप से अनुभव नहीं करता।

अज्ञानी जीव अंतरंग के मार्ग को बाहर ढूँढ़ता है, वह पराधीनता की श्रद्धा के द्वारा पर में आसक्त है और ज्ञानी के सदा ज्ञातास्वभाव का अखंड आश्रय होने से वह पर में नहीं रुकता, पर का अवलम्बन

स्वीकार नहीं करता। कोई उसकी निन्दा करे या स्तुति करे, कोई तलवार से उसके शरीर को काटे या उसे चन्दन से चर्चित करे तो भी वह यह मानता है कि मैं तो मात्र अपने वीतरागी ज्ञानगुण के द्वारा जाननेवाला हूँ। चाहे जैसे संयोग क्षेत्र काल भाव हों तथापि उनमें अटके बिना अपने एकरूप ज्ञानगुण को जानता हूँ। वह स्वभाव की क्रिया हुई। सम्यक्दर्शन के द्वारा ज्ञानघन निश्चल हुआ है इसलिये मेरे ज्ञान में कोई विरोधभाव नहीं करा सकता।

पाँचसौ मुनियों को (उनके शरीर को) घानी में पेल डाला, फिर भी उनके आत्मा की अखंड ज्ञानशांति भंग नहीं हुई। अंतरंग गुण में अनंतशक्ति विद्यमान है, उसमें एकाग्र होकर कई मोक्ष गये और कोई एकावतारी हुए। अज्ञानी-बहिर्दृष्टि-मूढ़पुरुष कहते हैं कि जब वे मुनि धर्मात्मा थे तो उनमें से किसी ने चमत्कार क्यों नहीं बताया! कोई देव उनकी सहायता करने क्यों नहीं आया? किन्तु ऐसा कहने वालों को आंतरिक ज्ञान नहीं है। वीतराग स्वभाव साक्षात् चैतन्यघन-देवाधिदेव प्रगट होगया, यही सबसे बड़ा चमत्कार है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि—अमुक भक्त का विष भी अमृत कैसे होगया था! किन्तु वे यह नहीं जानते कि वह तो पुण्य का फल है, पुण्य का और आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, दोनों के मार्ग अलग हैं। शरीर रहे या न रहे, शरीर रोगी हो या निरोगी हो, वह सब जड़ की पर्याय है, उसके साथ अरूपी आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, उसके आधार से आत्मा को कोई हानि-लाभ नहीं है।

नाम और रूप, अरूपी ज्ञानस्वरूप आत्मा में नहीं हैं। जड़वस्तु उसकी क्रिया, अवस्था त्रिकाल में अपने स्वतंत्र आधार से करती है। जड़ जड़ की अवस्था को बदलता है और चैतन्य आत्मा अपने रूप में स्थिर रहकर अपनी अवस्था को अपने से ही बदलता है—वह अपने अरूपीभाव करता है।

अब, ज्ञान को मुख्य करके कहेंगे कि–शुद्धनय का विषयस्वरूप आत्मा सदा अब और ज्ञान-शांतिरूप से अपने में ही अनुभव किया जारहा है ॥१४॥

सम्यक्‌दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान और आंशिक सम्यक्‌चारित्ररूप स्वरू-पाचरण आजाता है। अपूर्व पात्रता और सत्समागम के द्वारा अपने स्वाधीन स्वरूप को जानकर अवस्था के भेद का लक्ष्य गौण करके विकार का नाशक हूँ, अक्रिय, असंग, ज्ञानस्वरूप हूँ, इसप्रकार स्वभाव को लक्ष्य में लेकर रागमिश्रित विचार को कुछ दूर करके त्रिकाल एकरूप पूर्ण-स्वभाव की आत्मा में प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है, उसमें पराश्रय नहीं है। निर्विकल्प अखंडानन्द ज्ञायक हूँ, जब ऐसी यथार्थ प्रतीतिपूर्वक श्रद्धा करता है, तब मुक्ति की ओर प्रयाण प्रारम्भ होता है।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससन्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम् ।
अपदेशसान्तमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥ १५ ॥

अर्थः—जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष (तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त) देखता है वह सर्व जिनशासन को देखता है-जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यंतर ज्ञानरूप भाव-श्रुतवाला है।

यहाँ सम्यग्दृष्टि-सम्यग्ज्ञानी आत्मा के स्वभाव को किसप्रकार जानता है, सो कहा जारहा है; और जानने के बाद स्वभाव के बल से स्थिर होता है, तथा व्रत-प्रत्याख्यान-संयम आदि किसप्रकार होते हैं सो आगे सोलहवीं गाथा में कहा जायेगा।

शरीर, मन, वाणी इत्यादि परवस्तु की क्रिया मैं कर सकता हूँ, उसके कारण मुझे गुण-लाभ होता है, पुण्य करता हूँ तो उस शुभ-

विकार से गुण-लाभ होता है, इसप्रकार जो मानता है सो वह वीतराग-कथित जिनशासन का विरोधी है।

मैं अबन्ध, असंयोगी, अरागी हूँ, पराश्रित नहीं हूँ, मेरे गुण-लाभ के लिये पराश्रय की या दूसरे की सहायता की आवश्यक्ता नहीं होती; ऐसी स्वाश्रित भाव की श्रद्धा होनी चाहिये। जिसे जीतना है उससे मैं विजित होगया अर्थात् अपने को रागादिरूप मान लिया अथवा पर क्रिया का कर्ता मान लिया, तब फिर उसमें रागादि को जीतने की बात कहाँ रही ! मैं पराश्रय का नाशक हूँ; विकार को जीतनेवाला हूँ, बन्धन को तोड़नेवाला हूँ, कभी भी पररूप नहीं हूँ, त्रिकाल निजरूप ही हूँ, ऐसी जिनाज्ञा का स्वीकार किये बिना कभी भी राग-द्वेष को जीतकर स्वतंत्र नहीं हुआ जासकता।

अब, इस गाथा की पाँच कंडिकाओं का वर्णन करते हैं:—

(१) अबद्धस्पृष्ट-मैं किसी परसंयोग से बंधा हुआ नहीं हूँ, पराधीन नहीं हूँ, असंयोगी ज्ञायक हूँ।

(२) अनन्य-मैं पररूप नहीं हूँ, देहादिक मेरे नहीं हैं, मैं उनका नहीं हूँ, परक्षेत्र का कोई सम्बन्ध मेरे साथ नहीं है, मैं सर्व वस्तुओं से रहित स्व में त्रिकाल अभेद हूँ।

(३) नियत-मैं एक-एकसमय की अवस्था के भेद जितना नहीं, किन्तु त्रिकालस्थायी नित्य एकरूपस्वभाव हूँ।

अविशेष-मैं गुण के भिन्न-भिन्न भेदरूप नहीं हूँ, किन्तु सामान्य एकाकार अनन्त गुणों का पिंड अभेदस्वरूप हूँ।

(५) असंयुक्त-कर्म के सम्बन्ध से रागद्वेष, हर्ष-शोक आदिक जो भेद होते हैं मैं उस भेदरूप अवस्थावाला नहीं हूँ, निमित्ताधीन होनेवाले विकारों का कर्ता नहीं हूँ, (क्षणिक अवस्था में स्वयं विकार करता है, किन्तु स्वभाव में उसका स्वीकार नहीं है) मैं नित्य स्वभावाश्रित गुणों की निर्मलता का ही उत्पादक हूँ।

टीकाः—जो उपरोक्त पाँच भावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है सो निश्चय से वास्तव में समस्त जिनशासन की अनुभूतिरूप सम्यग्ज्ञान है, क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। इसलिये अविरोधी ज्ञान की जो अनुभूति है सो आत्मा की ही अनुभूति है। एक जिनशासन देखे ऐसा न कहकर सकल (तीनोंकाल के–भूत भविष्यत वर्तमान के समस्त) सर्वज्ञदेवों की आज्ञा–उपदेश एक ही प्रकार का है, वह जैसा है उसी-प्रकार सम्यक्‌दृष्टि मानता है।

आत्मा का स्वभाव उपरोक्त कथनानुसार अबन्ध-असंयोगी ही है, किन्तु वर्तमान में वैसी अवस्था प्रगट नहीं है; यदि वर्तमान बाह्य अवस्था में भी बन्धनरहित ही हो, तो तू बन्धनरहित हो जा, विकाररहितता को मान, ऐसा उपदेश देने की क्या आवश्यक्ता रहती? मैं पररूप या पर में कर्तारूप से पराधीन नहीं हूँ, राग-द्वेष मोहरूप नहीं हूँ, इससे स्पष्ट सूचित होता है कि–वर्तमान में राग-द्वेष विकार है, किन्तु मैं उसे रखनेवाला नहीं हूँ; किन्तु मैं त्रिकाल निश्चल एकरूप सामान्य ज्ञानस्वभाव को रखनेवाला नित्य एकरूप हूँ।

पन्द्रहवीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि तीनोंकाल से सर्वज्ञ वीतराग देवों के द्वारा कथित, वीतराग होने का सच्चा मार्ग इसीप्रकार है। लोग भगवान के नामपर दूसरे को वीतराग का मार्ग मान बैठते हैं और वीतराग के मार्ग को अन्यरूप से मान लेते हैं–उसे यथावत नहीं समझते; इसलिये प्रत्येक बात बहुत ही स्पष्टता से सादा-सरल भाषा में कही है।

आत्मा को पर से अलग, निरावलम्ब, अविकारी और असंगरूप जिसने जाना है, तथा स्वभाव की यथार्थ प्रतीति में निस्सन्देह हुआ है (कि त्रिकाल में वस्तु का स्वभाव–आत्मा का धर्म ऐसा ही है) उसने सर्वज्ञ-देव के द्वारा कथित बारह अंग और चौदह पूर्व को भलीभाँति भाव-पूर्वक जाना है; क्योंकि सर्वज्ञ के सर्वआगम ज्ञान में जो जानना था सो वही है।

मैं पूर्ण ज्ञान-शांतिरूप हूँ, पराधीन नहीं हूँ, इसप्रकार जो मानता है सो वह स्वाधीन सुख को प्राप्त करता है; किन्तु जो यह मानता है कि मैं दुःखरूप पराधीन हूँ, बन्धनबद्ध हूँ, वह पराधीनता और दुःख प्राप्त करता है।

कोई कहता है कि जो भाग्य में लिखा होता है सो उसी के अनुसार धर्म होता है, कर्म राग-द्वेष कराते हैं, पहले दुःखद रसवाला कर्म बाँधा होगा उसका अभी बहुत जोर है, इसलिये मुझमें सत्य को समझने की शक्ति नहीं आती, और पुरुषार्थ उत्पन्न नहीं होता, तो वह जड़कर्म की ओट में जागृतस्वरूप को ढँके रहना चाहता है; वह धर्म के नामपर कदाचित् भगवान की बातें भले ही करे, किन्तु उसे ज्ञानी का तथा उनके वचनों की पहिचान नहीं है, इसलिये उसे वीतरागमार्ग की शिक्षा नहीं रुचती।

ज्ञानी के ज्ञान में स्वभाव से विरोधरूप विचार नहीं हैं और विरोधरूप वचन नहीं हैं। ज्ञानी की वाणी में विपरीतदर्शक वचन या विकल्प नहीं आता। स्वतंत्र स्वभाव में पराश्रयता त्रिकाल में भी नहीं है, तथापि जो निमित्ताधीनता को मानता है, वह वीतराग के वचनों को तथा उनके ज्ञान को यथार्थ नहीं मानता, और सम्यक्ज्ञानी के ज्ञान में क्या रम रहा है तथा क्या अभिप्राय है, इसकी उसे खबर नहीं है, और उसे यह भी मालूम नहीं है कि ज्ञान के विकल्प अपनी ओर उठें तो वे कैसे होते हैं। 'चतुर्थ गुणस्थान में ज्ञानी की दृष्टि में वीतरागता है, हर्ष-शोक पुरुषार्थ की अशक्ति से होते हैं, तथापि मैं वह या उसरूप नहीं हूँ, मैं तो विकार का नाशक ज्ञातास्वरूप हूँ, इसप्रकार वह अपने स्वाधीन स्वभाव को पर से भिन्न रखता है'। जड़-कर्म की आड़ में अपने स्वभाव को न छुपाकर जो ऐसा जानलिया कि मैं निरावलम्ब पूर्ण ज्ञानरूप हूँ, तो उस ज्ञातृत्व में (स्वभाव में) स्थिर होकर जानलिया है।

वीतराग की वाणी में ऐसा कहा गया है कि हम स्वतंत्र हैं, तुम भी स्वतंत्र हो; आत्मा का स्वभाव पर से त्रिकाल भिन्न है, उसमें कर्म की नास्ति है; विकारी अवस्था स्वभाव में नहीं है—इसप्रकार स्वाश्रित-स्वभाव को जानने पर वीतराग की शिक्षा में निर्दोष ज्ञानशक्तिभाव आगया है, वाणी में भी उसीप्रकार स्वतंत्रता आगई है और सत्य को समझनेवाले ज्ञानी की वाणी के पीछे भी यही भाव इसीप्रकार रम रहा है। स्वावलम्बी लक्ष्य से स्वभाव भी अपने में एकरूप असंग है ऐसा मानता है।

वीतराग ने तो स्वतंत्रता ही बताई है, किन्तु परावलम्बी मान्यता वाला उसका विपरीत अर्थ करता है-स्वयं उलटा समझता है कि मैं अभी स्वतंत्र नहीं हूँ, अभी देह, मन, वाणी और आत्मा सब एकमेक हैं, मन और वाणी की क्रिया मैं कर सकता हूँ, मुझे उसकी सहायता चाहिये, अभी कर्म की बहुत प्रबलता है, मुझमें शक्ति नहीं है, मैं स्वतंत्र नहीं हूँ, और यह मानता है कि इसकाल में स्वतंत्र होने का पुरुषार्थ नहीं होसकता; वह वीतराग को भी नहीं मानता है, क्योंकि उसे उनकी वाणी की खबर नहीं है; इसलिये उसे वीतराग भगवान के नामपर बात करने का अधिकार नहीं है। निमित्ताधीन दृष्टिवाले को वाणी, विकल्प और ज्ञान का विपरीत अर्थ ही मालूम होता है। स्वभावाश्रित ज्ञानी की वाणी, विकल्प और ज्ञान स्वाधीन सत्यवस्तु को ही बतलाते हैं।

मेरा आत्मा पर को नहीं जानता तथा जानने में पर का अवलम्बन नहीं है। पर के अवलम्बन के बिना असंगरूप से अंतरंग में अनन्तगुणों से पूर्ण हूँ, गुणों के लिये किसी की आवश्यक्ता नहीं है, जो वर्तमान विकारी अवस्था होती है सो भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं क्षणिक विकारपर्यंत नहीं, किन्तु उसका नाशक अविकारी-अविनाशी हूँ; निमित्ताधीन लक्ष्य से जो पुण्य-पाप की भावना उठती है, सो वह भी स्वभाव से विरोधभाव है, वह स्वभाव में सहायक नहीं है। जिस भाव

से विकार का नाश होता है यह अविकारी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता मेरे लिये सहायक है, और निश्चय से तो मेरा अखण्ड पूर्ण गुणरूप स्वभाव ही मेरा सहायक है; इसप्रकार जिसने जाना है उसने वीतरागी भगवान के अंतरंगरहस्य को जानलिया है।

यहाँ जो कुछ कहा जारहा है वही वीतरागकथित निर्दोष शासन है, और उसे मानना–जानना सो व्यवहार है।

ज्ञानी पराश्रयभाव को शत्रु मानता है। क्या कोई शत्रु को भी रखना चाहेगा? आत्मा के स्थिर वीतरागस्वभाव के शत्रु पुण्य-पाप के भावों को करने योग्य अथवा रखने योग्य कैसे माना जासकता है! स्वभाव में पुण्य-पाप का कर्तृत्व या स्वामित्व नहीं है, स्वभाव तो पुण्य-पाप का नाशक है, इसप्रकार जिसने स्वभाव को आदरणीय माना है वह वीतराग की आज्ञा के रहस्य को जानता है।

जो यह मानता है कि परपदार्थ से कुछ हानि-लाभ होता है, वह परपदार्थ का कर्ता होता है। जो यह पराश्रितभाव मानता है कि मैं परावलम्बन से विचार कर सकता हूँ, वह राग-द्वेष अज्ञान से रहित स्वतंत्र स्वभाव को नहीं मानता। आचार्यदेव कहते हैं कि–वीतराग का मार्ग एक ही है। सर्वोत्कृष्ट धर्म के नामपर लोग अन्य मार्ग को वीतराग का–धर्म का मार्ग मानते हैं और कोई वीतराग के मूलमार्ग को अन्य मार्गरूप मानते हैं, वे सब मिथ्यादृष्टि हैं।

जिसने चतुर्थ गुणस्थान में यथार्थ प्रतीतिपूर्वक निरावलम्बी पूर्ण स्वभाव को जाना है, उसने सर्वआगम के रहस्य को जानलिया है। यद्यपि वह अभी स्वयं पूर्ण वीतराग नहीं हुआ है किन्तु स्वभाव से विपरीत अभिप्राय का त्याग करके सम्यक्‌दर्शनसहित जो यथार्थज्ञान किया उसमें बहुत कुछ आगया। पर का कर्तृत्व या स्वामित्व न आने देना और पराश्रयरहित निजरूप से हूँ–इसका ज्ञान करना सो इसमें सच्चा पुरुषार्थ है।

अनन्तकाल में स्वभाव की प्रतीति के बिना धर्म के नाम पर जीव दूसरा सबकुछ कर चुका है, अनन्तबार शास्त्रों का खूब अभ्यास किया है किन्तु अंतरंग से पराश्रय की मान्यता नहीं छूटी है, शास्त्रों से धर्म होना माना है किन्तु स्वभाव को नहीं माना। उस अनादिकालीन भूल को आत्मगुण के द्वारा दूर करके स्वाधीन स्वभाव को समझे तो जिसे अनन्तकाल में नहीं जानपाया उसे इसीकाल में स्वयं जानने का यह सुअवसर प्राप्त हुआ है।

आचार्यदेव कहते हैं कि-जैसा समयसार में कहा गया है उसीके अनुसार यदि जीव गुरुज्ञान से भलीभाँति समझे तो वह इस काल में भी साक्षात् स्वानुभव के द्वारा भवरहित की श्रद्धा में मोक्ष को देखता है, उसे साक्षात् निर्णय होजाता है कि-सर्वज्ञ वीतराग भगवान ने भी इसीप्रकार स्वाधीन मार्ग का स्वरूप कहा है। जितने ज्ञानी होगये हैं उन सबने स्वरूप को इसीप्रकार जाना और कहा था, जो ज्ञानी वर्तमान में हैं वे भी इसीप्रकार जानते हैं, और ऐसा ही कहते हैं, तथा भविष्य के ज्ञानी भी ऐसा ही कहेंगे। पहले ऐसा दृढ़ निर्णय होने के बाद पुण्य-पाप के विकल्पों से रहित, पराश्रयरहित स्वभाव में एकाग्र होने का पुरुषार्थ प्रगट होता है, और पूर्ण स्थिरता होनेपर पूर्ण वीतरागता प्रगट होती है।

जो-जो ज्ञानी हैं वे सब यहाँ कथित पंचभावस्वरूप स्वतंत्र वस्तु को लक्ष्य में लेने का ही विचार पहले करते हैं, ज्ञान भी उसीका करते हैं, और द्रव्यश्रुतरूप निमित्त में निर्दोष जिनवाणी भी यही कहती है। जिसने यह जानलिया उसने त्रिकाल के सर्व ज्ञानियों के अंतरंग रहस्य को जान लिया, और मैं भी ऐसा ही हूँ, इसप्रकार भावश्रुत ज्ञान में शांतसमाधिरूप जिनशासन का जो सार है सो वही आगया। यह जाननेवाले ज्ञानी के विचार में निमित्तरूप वाणी और विकल्प भी उसी के अनुसार होते हैं, और अंतरंगस्वभाव में भी वही है। तीर्थंकरदेव की वाणी में (निमित्त में) और उसे जाननेवाले ज्ञान के विचार में

तथा सम्पूर्ण आत्मस्वभाव में (उपादान में) यथार्थ प्रतीति के द्वारा जिसने विरोधभाव नहीं देखा उसने सर्व आगम का रहस्य स्वतः देखा और जाना है।

(१) तीर्थंकरदेव की उपदेशवाणी में–शिक्षा में,

(२) तत्सम्बन्धी जानने के विचार में, और–

(३) अपने अखंडस्वभाव में; इसप्रकार जिसने तीन तरह से यथार्थता को जाना है उसने सर्व सत्शास्त्र, बारह अंग और चौदह पूर्व को जाना है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि–हमने इस पन्द्रहवीं गाथातक साररूप से बारह अंग और चौदह पूर्व का रहस्य कहा है, उसे यथार्थरूप से, सत्समागम से जिसने जाना है, उसने निश्चय से अपने आत्मा को निःसन्देह जानलिया है।

यहाँ ऐसा कुछ नहीं है कि–शरीर अशक्त है या हड्डियाँ कमजोर हैं, वर्तमानकाल शिथिल है या कर्म का बल अधिक है, अथवा मैं पर से दब गया हूँ, इसलिये पुरुषार्थ नहीं होसकता, किन्तु स्वभाव के पुरुषार्थ से अवगुणों को जीतना (नष्ट करना) और गुणों को प्रगट कर सकना चाहे जिससमय होसकता है; यहाँ यही तात्पर्य है। कहीं ऐसा नहीं कहा है कि यदि शरीर-संहनन अच्छा हो तो ही धर्म होता है। इसप्रकार पंचभावसहित स्वभाव को जो जीव जानता है, अनुभव करता है, स्वाधीनस्वभाव का अनुसरण करके निज की ओर एकाग्र होता है उसे सर्व शास्त्रज्ञान की अनुभूति है और वही आत्मा की अनुभूति है।

यहाँ अनादिकालीन पराश्रय की श्रद्धा का–पुण्यपाप का सम्पूर्ण व्यवहार उड़ा दिया है। अवस्था में बन्ध है, ऐसा जानना सो इसका नाम व्यवहार है, और पाँच भावों से एकरूप अपने निर्मलस्वरूप को जानना सो निश्चय है। स्वरूप की श्रद्धा के द्वारा अंशतः स्थिरता से राग को दूर करना सो व्यवहार है, मैं नित्य निजरूप से हूँ और पररूप

से नहीं हूँ, पर का कर्ता नहीं हूँ, मेरे गुण पराश्रय से या शुभविकल्प से प्रगट नहीं होसकते। अंतरंग में गुण की श्रद्धा के बल से गुण से गुण प्रगट होते हैं, ऐसा जानना सो सम्यक्ज्ञान है, और यही अनेकान्त धर्म है। पराधीनता को स्थापित करे या शुभाशुभराग को सहायक माने-मनाये और इसप्रकार अवगुण को पुष्ट करे, सो ऐसी वीतराग की आज्ञा नहीं है। जो पर में कर्तृत्व माने, पुण्य की क्रिया को मोक्षमार्ग कहे, और जीतने योग्य (नष्ट करने योग्य) शुभाशुभभाव को कर्तव्य मानकर उनका आदर करे, तो समझना चाहिये कि उसे जिन-शासन की प्रतीति नहीं है और स्वभाव की खबर नहीं है।

जिन का अर्थ है गुणों के द्वारा अवगुणों को जीतनेवाला। मैं निमित्ताधीन होनेवाली अवस्था जितना नहीं हूँ, किन्तु विकार का नाशक अविकारी हूँ। क्योंकि विकार मेरे अविकारी अखंडस्वभाव को हानि पहुँचानेवाले नहीं हैं, किन्तु मैं उनका नाश करनेवाला हूँ। जो पर से विजित होजाता था अर्थात् जो अपने को पराश्रित मानता था उस भ्रम का स्वभाव की प्रतीति में रहकर नाश करदिया सो उसका नाम सत्यधर्म-मोक्षमार्ग है। मैं पर से नित्य निरावलम्ब ज्ञानस्वरूप से स्थिर रहनेवाला हूँ, ऐसी प्रतीति की सो वह सम्यक्श्रुतज्ञान स्वयं ही आत्मा है। अपने में नित्य अभेदरूप से अपने ज्ञान को जाना सो वह श्रुतज्ञान भी आत्मा है इसलिये श्रुतज्ञान की जो अनुभूति है सो सम्यक्-ज्ञान की एकाग्रता में निरंतर आत्मा को अनुभूते है।

मैं पर से भिन्न हूँ-इसप्रकार वीतरागी स्वतंत्रस्वभाव को जानने पर अन्य से जानना मिट गया। मैं शरीरादि पररूप कभी नहीं था, जड़कर्म से दबा हुआ नहीं था, एकाकार नित्य ज्ञानस्वरूप ही था, परनिमित्त के भेद से रहित पराश्रयरहित अपने ज्ञान को अपने में अभेद करके स्वभाव की ओर एकाग्रता की सो निज को ही जानने-देखनेवाला हुआ, अपना ही कर्ता हुआ, इसलिये वह अवगुण का उत्पादक नहीं रहा; यही जिनशासन का रहस्य है, यही आत्मधर्म है, और यही आत्मा का

अनुभव है। इसमें जो जीतना था सो जीत लिया गया। इसप्रकार जिसने दृष्टि में भ्रान्ति और राग-द्वेष का नाश किया है वह अपने स्वभाव की एकाग्रता के बल से अल्पकाल में साक्षात् परमात्मा होजायेगा।

जैसे किसी पक्षी के पैर में डोरा बाँधकर उसे हाथ में पकड़ रखे तो वह पक्षी इधर-उधर उड़कर भी मर्यादा से बाहर नहीं जासकता, इसीप्रकार जिसने सम्यग्ज्ञानरूपी निर्मल पर्याय का डोरा पवित्र स्वभाव की श्रद्धा की पकड़ में ग्रहण कर रखा है, जिसने पराश्रय का त्याग किया है उसे काल और कर्म चाहे जैसे हों तो भी बाधक नहीं हो-सकते। मेरा स्वतंत्र स्वभाव राग-द्वेष-मोह से रहित सीधा है, मैंने सम्यग्ज्ञानरूपी स्वभाव की परिणति की डोरी हाथ में पकड़ रखी है, इसलिये अब चाहे जो शुभाशुभ वृत्ति आये तो वह मुझपर अपना प्रभाव नहीं जमा सकेगी, उसका मेरे स्वभाव से विरोध भाव है, वह मेरे लिये किंचित्मात्र भी गुणकारक नहीं है; इसप्रकार उसने भलीभाँति जान लिया है।

वस्तु का स्वभाव और धर्म का प्रारंभ त्रिकाल में इसीप्रकार होता है। वहाँ मात्र सामान्य (परनिमित्त के भेदों से रहित, बंधरहित, निर्मल निरुपाधिक, अखण्ड) ज्ञान की प्रगटता से और विशेष ज्ञेयाकार राग-मिश्रित अवस्था की अप्रगटता से (पर्यायभेद की गौणता से) जब स्वाश्रित ज्ञानभाव मात्र का अनुभव किया जाता है तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है, अर्थात् ऐसा स्वभाव ज्ञात होता है कि—मैं स्पष्ट, एकाकी, निर्मल, ज्ञानमूर्ति हूँ। परज्ञेयरूप से पुण्य-पाप के संयोग ज्ञात होते हैं, उसमें आसक्त होनेवाला—निमित्ताधीनता को माननेवाला जीव रागमिश्रित विचारों के खण्डरूप में होकर अपने सतत ज्ञानस्व-भाव को ढँककर काम क्रोध मोहादिक विकल्परूप से राग में एकाग्र होता है और ज्ञानी जीव परज्ञेयमिश्रित भेद का कर्ता न होकर—मैं विकारी भावों का नाशक हूँ, इसप्रकार भेद को ढँककर पुण्य-पाप के भावों को जानता तो है, किन्तु वह मेरा स्वरूप नहीं है, इसप्रकार सतत

ज्ञानस्वभाव में स्थिर रहकर परविषयाधीन होनेरूप आसक्ति को मिटा-कर, भेद का श्रद्धा में निषेध करके, ऐसा अनुभव करता है कि मैं नित्य एकाकार ज्ञायकरूप हूँ।

ऐसा वीतराग के ज्ञान का और उनकी निर्दोष वाणी का रहस्य है, उसे सम्यक्ज्ञानी भलीभाँति जानता है। अकेला, मुझसे मुझमें ही ज्ञातास्वरूप हूँ, रागादिरूप नहीं हूँ, पर में अटक जानेवाला नहीं हूँ, एकमात्र ज्ञान में ज्ञान की अवस्था को जाननेवाला एकरूप शांति स्वरूप मैं हूँ, इसप्रकार अपना प्रगट स्वरूप अपने पुरुषार्थ के द्वारा अनुभव में आता है।

यहाँ द्रव्यदृष्टि से शुद्धता प्रगट बताई है। जबतक ज्ञानी के चारित्र की अपेक्षा से अस्थिरता है तबतक राग होता है, किन्तु यदि उसे दृष्टिबल से अलग कर देते हैं (उसपर लक्ष्य नहीं देते) और मात्र सामान्य ज्ञानस्वभाव को रखते हैं कि मैं पररूप-रागादि नहीं हूँ, मैं पर से भिन्न हूँ, इसलिये पर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, नित्य अकेला चैतन्यस्वभावरूप हूँ, ऐसा मानना ही धर्म है।

आत्मा का स्वरूप ऐसा ही एकरूप निश्चल है, तथापि जिसे ऐसे अपने स्वरूप की खबर नहीं है तथा जो आत्मस्वरूप को इसप्रकार नहीं जानता कि मैं पर से भिन्न हूँ, स्वाधीन हूँ, अविकारी हूँ, असंग हूँ; तथा मैं पर का कर्ता हूँ, शुभाशुभ रागरूप हूँ, मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, पूजा-भक्ति इत्यादि शुभकार्य मेरे ही हैं, इसप्रकार जो पर में यह मानकर कि 'यह मैं हूँ और यह मेरा है'- पराधीनतारूप परज्ञेयों में आसक्त होकर रुका हुआ है वह ज्ञान से भिन्न मात्र ज्ञेय पदार्थों को ही ज्ञानरूप मान लेता है, और इसलिये वह जहाँ-तहाँ यह मान बैठता है कि पर-पदार्थ की क्रिया को मैंने किया है और देहादि की क्रिया मेरे अधीन है। ऐसा माननेवाला एकप्रकार से यह मानता है कि सभी पराधीन और निर्माल्य हैं।

चैतन्य निर्मल ज्ञानरूपी दर्पण अपनी स्वच्छता को जानने वाला है, उसमें जो पराश्रयरूप राग-द्वेष की क्षणिक अवस्था दिखाई देती है उसकी नास्ति है; ऐसा न मानकर अज्ञानी के ऐसे मिथ्याभाव होते हैं कि मैं पर का कुछ करदूँ, पर से मेरा कुछ कार्य होजाये, पर की प्रवृत्ति मेरे अधीन है इत्यादि; इसलिये वह पर में ही आसक्त है, अर्थात् वह मानता है कि–परसंयोगाधीनता से अलग होना मुझे कैसे पुसा सकता है ? मैं निर्माल्य पराश्रय बिना क्योंकर टिक सकूँगा ?

मैं किसी पर का कुछ कर दूँ, और कोई मेरी सहायता कर दे, ऐसा माननेवाला अपने को और पर को पराधीन-निर्माल्य मानता है। भगवान का स्मरण करके अपने गुणों को बनाये रखूँ, बाह्य शुभराग की प्रवृत्ति करूँ तो गुण प्रगट हों, मुझमें निरावलम्बरूप स्वतंत्र गुण और पुरुषार्थ की शक्ति नहीं है, इसप्रकार जो मानता है वह गुण की नहीं किन्तु राग की भक्ति करता है। कहा भी है कि:—

"दीन भयो प्रभुपद जपै, मुक्ति कहाँ से होय ?"

नित्य जाननेवाला ज्ञान निरुपाधिक है, और वही मैं हूँ, इसप्रकार जानकर सामान्य एकरूप ज्ञानस्वभाव में स्थिर होना सो यही प्रगट धर्म है, उसमें पर का कोई कर्तृत्व नहीं है, पराश्रय नहीं है। ऐसी श्रद्धा से पहले मूलधर्म की दृढ़ता होती है, उस स्वभाव की दृढ़ता के बल से चारित्र खिल उठता है और पूर्ण स्थिरता होनेपर मुक्त-दशा प्रगट होती है।

जैसे आहार का लोलुपी शाक में लीन होकर शाक को खाते हुए नमक के स्वाद को ढ़क देता है,–खारेपन का पृथक्त्व लक्ष्य में नहीं लेता, इसीप्रकार अज्ञानी निमित्ताधीन दृष्टि के द्वारा अनेकप्रकार के परविषयों में राग के द्वारा एकाग्र होता है, वह अलग अरागी ज्ञान-स्वभाव को भूल जाता है, उसे मैं स्वतंत्र निरावलम्बी हूँ, इसप्रकार पर से पृथक्त्व की प्रतीति नहीं बैठती, क्योंकि उसने अपने को अपने-

रूप में और पर से भिन्नरूप में कभी भी प्रगटतया न तो जाना है, न अनुभव किया है और न माना है।

जिस जीव को पर में रुचि है वह पर का आश्रय मानकर, उसके विचार में रुक जाता है, किन्तु वह पर का लक्ष्य बदलकर अपने ऊपर दृष्टि डाले और निश्चल स्वभाव की श्रद्धा करके अपने ही में लग जाये, तो उसे कोई नहीं रोक सकता, किन्तु पर में कर्तृत्व मान रखा है इसलिये पराश्रय की श्रद्धा नहीं छूट सकती; ज्ञानस्वभाव का निराकुल आनन्द नहीं आता, और जिनआज्ञा समझ में नहीं आती। ऐसा जीव परपदार्थ में अटककर अपने को दबा हुआ मानकर ज्ञेयमिश्रित आकुलता के स्वाद का अनुभव करता है।

मैं परपदार्थ का कुछ करूँ और मैं पर को भोगूँ—ऐसी मान्यता बिल्कुल मिथ्या है। ज्ञानी जीव किसी भी परवस्तु का स्वाद नहीं लेते। अज्ञानी अविवेक के द्वारा उस परवस्तु को अपनी मानकर जड़ के रस में आकुल होकर, उसमें राग करके, यह मानता है कि उसमें से रस आता है, किन्तु वास्तव में तो वह अपने राग को ही भोगता है।

ज्ञान के करने में कोई भी संयोग बाधक नहीं होते, ज्ञानस्वभाव निरुपाधिक, निरावलम्बी है। कोई लाखों गालियाँ दे या स्तुति करे तो उसमें अटकना ज्ञान का स्वभाव नहीं है, ज्ञान तो मात्र उसे जानता है। जो पर को जानने में अच्छा-बुरा मानकर उसमें रुक जाता है वह पर में आसक्त होकर, अपने ज्ञायकस्वभाव को भूला हुआ है। ज्ञान पर में रुका होने से पर से भिन्न स्वाश्रित ज्ञानानन्द का अनुभव नहीं लेसकता। जो परवस्तु ज्ञात होती है वही मैं हूँ, और उसीसे जानता हूँ, इसप्रकार परवस्तु में जो आसक्त है उसे आत्मप्रतीति नहीं है।

जैसे कोई शाक का लोलुपी व्यक्ति, शाक के रस में एकतान होकर यह मान बैठे कि इसमें नमक का स्वाद है ही नहीं, और इसप्रकार

शाक में गृद्धिता के द्वारा उसमें भिन्नरूप से रहनेवाले नमक के स्वाद को नहीं जानता—शाक के सम्बन्ध से भिन्न जो नमक का पृथकत्व है उसे भिन्न लवणरूप नहीं मानता, किन्तु वह शाक के द्वारा नमक का ज्ञान होना मानता है; जबकि नमक और शाक के स्वाद के पृथकत्व को सतत जाननेवाला जोकि शाक का लोलुपी नहीं है, वह नमक के स्वाद को पृथक् जानता है। वह यह जानता है कि खिचड़ी में नमक का स्वाद अधिक है, जबकि उसमें गृद्धिवान पुरुष खिचड़ी को ही खारी समझता है, और कहता है कि—खिचड़ी खारी है, इसप्रकार दोनों का रुख भिन्न-भिन्न प्रकार का है। भोजन की गृद्धिता वाला नमक का सतत् खारापन भूलकर भोजन पर ही भार देता है, और जो गृद्धि-वान नहीं है वह नमक को पृथक् जानकर, नमक तो सतत खारा ही है, इसप्रकार नमक के स्वाद को सतत पृथक् जानता है। इसीप्रकार निमित्ताधीन दृष्टि वाला ज्ञेयवस्तु में पराश्रय होकर जो परवस्तु ज्ञात होती है उसपर भार देता है कि मैं पर को जानता हूँ, पर से जानता हूँ, इसप्रकार वह परलक्ष्य में अटक जाता है और ज्ञानी स्वावलम्बी दृष्टिवाला होने से ज्ञानस्वभाव को ज्ञेय से सतत पृथक्रूप स्थिर रखकर—मैं पराश्रितरूप से जाननेवाला नहीं हूँ, मेरे ज्ञान में पराधीनता नहीं है, परवस्तु नहीं है, मैं पररूप नहीं हूँ, मैं अपने को ही अपने में अपने ज्ञान से जानता हूँ, इसप्रकार अपने एक ही प्रकार के सतत ज्ञानस्वभाव की दृढ़ता पर ही वजन देता है, वह ज्ञेयों में नहीं रुकता, अपने प्रगट सतत ज्ञानस्वभाव से कभी अलग नहीं होता।

जिसे यथार्थज्ञान होता है उसे अपनी ओर एकाग्रता हुए बिना नहीं रहती। मैं पुण्य-पाप से रहित, कर्मसम्बन्ध से रहित, अशरीरी, ज्ञान-स्वभाव हूँ, पररूप नहीं हूँ, पर का मैं कुछ नहीं कर सकता हूँ; मात्र अपने स्वाधीन स्वभाव में अनन्त पुरुषार्थ कर सकता हूँ—ऐसी स्वाधीन स्वभाव की जो श्रद्धा है सो सम्यक्दर्शन है, और वही जिनशासन के अनुसार राग-द्वेष और मोह को जीतनेवाला धर्म है।

आत्मा स्वभाव से त्रिकाल पर से भिन्न–स्वतंत्र है, तथापि वर्तमान अवस्था में कर्म का संयोगसम्बन्ध न माने तो वर्तमान अवस्था में स्वयं अपनी स्वतंत्र योग्यता के द्वारा परलक्ष्य में रुककर जो राग-द्वेष भाव करता है उसे दूर करने का पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा; अपने विपरीत पुरुषार्थ से कर्मसंयोग का निमित्त पाकर जीव शुभाशुभरागरूप विकारी अवस्था को करता है, वह अपनी ही वर्तमान भूल है। स्वभाव से वह भूलवाला नहीं है, जड़कर्म राग-द्वेष या मोहभाव नहीं कराते, किन्तु जब स्वयं राग-द्वेष करता है तब जड़कर्म की उसके स्वतंत्र कारण से उपस्थिति होती है। पर की ओर के लक्ष्य के बिना राग-द्वेष नहीं होता, और पर राग-द्वेष नहीं कराता। जब स्वयं पर में युक्त होकर, स्वलक्ष्य को भूलकर राग-द्वेष मोहभाव करता है तब अपने भाव का आरोप करके उससमय उपस्थित वस्तु को निमित्त कहा जाता है। यदि स्वयं शुभभाव करे तो संयोगी वस्तु को शुभनिमित्त का आरोप लगाया जासकता है, और अशुभभाव करे तो अशुभ में उसे निमित्त कहा जाता है, और शुभाशुभ दोनों भाव छोड़कर मात्र ज्ञाता ही रहे तो अभावरूप निमित्त (ज्ञेय) कहलाता है; इसप्रकार अपने भावानुसार निमित्त में आरोप होता है, किसी निमित्त के साथ आत्मा के भावों का सम्बन्ध नहीं है। निमित्त मात्र उपस्थित होता है, उसे जानना सो व्यवहार है।

निमित्त परवस्तु है, वह स्वतंत्र है और मैं भी स्वतंत्र हूँ। विकारी अवस्थारूप होनेवाली मेरी वर्तमान योग्यता के कारण, राग-द्वेष करनेपर परवस्तु उसके जो अपने कारण से उपस्थित है, उसे निमित्त करके–उसके लक्ष्य से मेरी अवस्था में विकार होता है। बद्धस्पृष्ट आदि भाव व्यवहारदृष्टि से अशुद्ध हैं, सामान्य एकरूप आत्मा उसरूप नहीं है, आत्मा उस अवस्था तक के लिये नहीं है, जब ऐसा जाने तब व्यवहार से जिनशासन जाना हुआ कहलाता है। वह व्यवहार चित्तशुद्धि का शुभभाव है, किन्तु वह धर्म नहीं है।

प्रत्येक आत्मा अखंड स्वतंत्र है, मेरी अशक्ति से अवस्था में राग-द्वेष, पुण्य-पाप की वृत्ति उत्पन्न होती है, परपदार्थ में कुछ कर डालने की

वृत्ति उठती है उसमें जड़कर्म के संयोग का निमित्त है, विकारभाव अवस्थादृष्टि मे है और वह मैं अपनी अशक्ति से करता हूँ. कोई पर-निमित्त या कर्म मुझे राग-द्वेष नहीं कराते; दया, दान, पूजा, भक्ति इत्यादि के शुभभाव पुण्यबंध के कारण हैं, किन्तु धर्म के कारण नहीं हैं. वे धर्म में सहायक नहीं हैं। स्वभाव का पुरुषार्थ मेरे स्वरूप से ही होसकता है. जब इतना निर्णय करलेता है तब कहीं व्यवहार के आँगन तक पहुँचा कहलाता है। जब राग से छूटकर स्वभाव की प्रतीति करके श्रद्धा में राग का निषेध करता है तब श्रद्धामात्र धर्म होता है, और चारित्र के बल से राग का जितना अभाव करे उतनी निर्मल दशा प्रगट होती है।

शास्त्र से या सत्समागम से जिनशासन को जाने सो व्यवहार है। आँगन तक पहुँचे और निरावलम्बी, सामान्य एकरूप, निर्विकार स्वभाव का एकाकार लक्ष्य करे तब निश्चय से सर्व जिनशासन का ज्ञाता होता है। कर्म के सम्बन्ध से युक्त होने से अशक्ति के कारण जो पुण्य-पाप की क्षणिकवृत्ति उठती है उसरूप मैं नहीं हूँ, किन्तु मैं उस विकार का नाशक हूँ, निरावलम्बी, निर्विकार, ज्ञायक त्रिकाल अनन्तगुण से पूर्ण हूँ, स्वभाव के अतिरिक्त दूसरे का कुछ नहीं कर सकता, मेरा स्वभाव राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला नहीं है, मैं कभी भी पर का कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ; जब ऐसी स्वाश्रित स्वाधीनता यथार्थ श्रद्धा में आती है तब कहा जाता है कि—उस जीव ने वीतराग के कथन को जाना है।

(१) कर्म का संयोग है तथापि निश्चय से अबन्ध-अस्पर्शी हूँ।

(२) शरीर के आकार का संयोग है, तथापि निश्चय से असंयोगी शरीराकार से रहित हूँ।

(३) हीनाधिक अवस्थारूप परिणमन होता है, तथापि निश्चय से प्रतिसमय एकरूप हूँ।

(४) अनन्तगुण भिन्न-भिन्न शक्तिसहित हैं, किन्तु स्वभाव भेदरूप नहीं है, मैं नित्य एकरूप अभेद हूँ।

(५) राग-द्वेष, हर्ष-शोक के भाव निमित्ताधीन होते हैं, किन्तु मैं उसरूप नहीं होजाता ।

इसप्रकार जब अपने यथार्थ स्वरूप को मानता है तब व्यवहार के आँगन में-शुभराग में पहुँचा कहलाता है, (ऐसी चितशुद्धि जीव ने अनन्तबार की है किन्तु वह व्यवहार है) व्यवहार से-शुभराग से निश्चय अर्थात् स्वभाव के गुण प्रगट नहीं होते, किन्तु शुभ अथवा अशुभ कोई भाव मैं नहीं हूँ, व्यवहार के समस्त भेदों का अभेद स्वभाव के बल से प्रथम श्रद्धा में निषेध करे तो पराश्रय के बिना स्वलक्ष्य से अंतरंग-गुण में एकाग्रता का जोर देनेपर स्वाभाविक गुण खिल उठते हैं ।

उपर्युक्त पाँच भावों से स्वतंत्र पूर्ण निर्मल स्वभावरूप से आत्मा को यथार्थ प्रतीति में माने, तब निर्मल श्रद्धारूप प्रारंभिक धर्म अर्थात् सम्यक्दर्शन होता है । जो इसे जान लेता है वही वास्तव में जिनशासन को जानता है ।

देहादिक परवस्तु की क्रिया को ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी नहीं कर सकता, इसलिये उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है । आत्मा के स्वभाव में से शुभाशुभ वृत्ति उत्पन्न नहीं होती, किन्तु स्वभाव को भूलकर परलक्ष्य से जब नवीन करता है तब होती है । चाहे जैसे उत्कृष्ट शुभभाव भी स्वभाव के विरोधी हैं, जो उसे आदरणीय मानता है, अथवा सहायक मानता है, वह स्वभाव को नहीं मानता । ज्ञानी के पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण पुण्य-पाप की लगनरूप अस्थिरता होजाती है, तथापि उसमें स्वामित्व नहीं होता, आदरभाव नहीं होता । वह जानता है कि यह मेरा स्वभावभाव नहीं है ।

मेरा स्वभाव नित्य एकरूप सतत गुणरूप है, उसमें क्षणिक अवस्था के भेद नहीं हैं, मैं शुभाशुभभाव का उत्पादक नहीं हूँ किन्तु नाशक हूँ, जिसने ऐसे आत्मस्वभाव को यथार्थतया जानलिया, उसने सर्व जिन-शासन के रहस्य को जानलिया । पराश्रय की श्रद्धारूप अनादिकालीन

विपरीत मान्यता और सर्व विकार का नाश करके जिसने ज्ञायकस्वभाव को ही प्राप्त किया है, उसने सर्व वीतराग के हृदयों को जानलिया है।

भगवान की वाणी में शुद्ध ज्ञानभाव है। वह राग के कर्तृत्व को स्थापित नहीं करती, और पराधीनता को आदरणीय-करने योग्य नहीं बतलाती। जिसने अपने निर्मल स्वाधीन स्वभाव को जाना है, उसने वीतराग परमात्मा को जानलिया है, उसने उनके उपदेश को जानलिया और यह भी जानलिया कि जीतने योग्य क्या है।

यह सब बातें आचार्यदेव ने न्याय-प्रमाण से कही हैं, योंही अनाप-शनाप कुछ नहीं कह दिया है, किन्तु साक्षात् भगवान चिदानन्द आत्मा के स्वस्थानरूप शासन में स्वलक्ष्य में तीर्थंकर भगवान की सही (हस्ताक्षर-प्रमाण) पूर्वक लिखा गया है-कहा गया है, और इसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य की साक्षी है, यह बात त्रिकाल में भी नहीं बदल सकती।

जैसे शाक के गृद्धिवान पुरुष को शाक से भिन्न नमक का स्वाद नहीं मालूम होता, और वह शाक को ही खारा मानता है। जो नमक का स्वाद है सो शाक का स्वाद नहीं है, फिर भी वह शाक और नमक के स्वाद को भिन्न नहीं जानता, और यह कहता है कि 'शाक खारा।' यदि शाकादि के भेद से रहित-संयोग से रहित परमार्थ से नमक के सतत प्रगट खारेपन को देखा जाये तो जो खारेपन का प्रगट स्वाद शाक से ज्ञात होता था वह खारापन सामान्य नमक का ही स्वाद था, वह शाक का स्वाद नहीं था। नमक को अकेला देखो या शाक के संयोग में देखो किन्तु वह नित्य एकरूप सामान्य प्रगट खारेरूप में है, वह (नमक) शाक इत्यादि किसी पर-वस्तु के स्वादरूप से नहीं है, इसप्रकार जो अलुब्ध है वह जान सकता है। इसप्रकार नमक के दृष्टान्त से परज्ञेयों में लुब्ध हुआ जो अज्ञानी है सो वह अनेक-प्रकार के ज्ञेयाकार से रागमिश्रित भाव से अकेला निरुपाधिक सामान्य ज्ञानस्वभाव को ढँककर और ज्ञेयविशेष के आविर्भाव से (प्रगटपन से)

ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप मानकर निमित्ताधीन आकुलता के स्वाद का अनुभव करता है। द्रव्यकर्म, नोकर्म शरीरादि किसी परवस्तु की क्रिया तथा पुण्य-पाप की भावना वास्तव में ज्ञान में नहीं है, किन्तु वह सब परज्ञेय हैं। अज्ञानी अपने ज्ञान में ज्ञात होनेवाले ज्ञेयों से अपने ज्ञान में अच्छे-बुरेपन का भेद करता है, और परज्ञेयों का अपने में आरोप करके, अपने ज्ञायकस्वभाव को ढँकता है।

ज्ञेय में सबकुछ आगया है। देव, गुरु, शास्त्र और साक्षात् सिद्ध भगवान भी परज्ञेय हैं। उन्हें अपना माने और यह माने कि वे मेरा कुछ कर देंगे तो इसप्रकार वह अपने को पराधीन मानता है। भगवान भी परज्ञेय हैं, उनकी भक्ति, स्तुति, पूजा की, इसलिये मुझे लाभ हुआ है, इसप्रकार जो वास्तव में मानता है वह भगवान की नहीं किन्तु अपने राग की स्तुति करता है। पर का अवलम्बन आवश्यक है यों मानकर रागयुक्त ज्ञान करके, पर से गुण-लाभ मानकर जो उसमें अटक गया है सो वास्तव में अपने ज्ञानस्वभाव को न जानने वाला अज्ञानी है, वह अपने ज्ञान को परज्ञेयरूप करता हुआ अनादिकाल से परवस्तु में लुब्धभाव से अटक रहा है।

मैं पर से भिन्न हूँ, यह भूलकर जिसे अपने स्वतंत्र तत्व की खबर नहीं है, स्वभाव में अपारशक्ति भरी हुई है उसपर जो भार नहीं देता और मात्र पुण्य के लिये ही रागद्वेषादियुक्त क्रिया को अपनी मानकर उसमें धर्म मानता है वह वास्तव में अपनी आकुलता का-मूढ़ता का ही स्वाद लेता है, उसे अपने ज्ञायकस्वभाव की खबर नहीं है, इसलिये बाह्य शुभप्रवृत्ति में 'कि जो परमार्थतः विष है' आसक्त होकर मात्र राग की ही भक्ति करता है। वह अपने राग से भिन्न स्वाधीन प्रगट ज्ञानशांति-स्वरूप को नहीं जानता, इसलिये स्वाश्रित गुण का स्वाद नहीं ले सकता।

अज्ञानी को बाह्य प्रवृत्ति की महिमा है इसलिये वह पर में अनुकूलता को देखकर, उसमें एकाग्र होकर उस पराश्रय से हर्षानुभव करता

है और कहता कि अहो! मैंने बहुत-बहुत पुण्य किये हैं, इतनी क्रिया की है इसलिये अंतरंग में गुण-लाभ हुआ होगा, इसप्रकार पराश्रय से गुण का मूल्य आँकता है, और अपने को निर्माल्य-पराधीन मानता है। वह सामान्य एकाकार प्रगट ज्ञानस्वभाव का लक्ष्य नहीं करता जोकि सर्व पर से भिन्न है, और पर से पृथक्त्व के बल के बिना पराश्रय से अलग नहीं होसकता। "तू स्वतंत्र तत्व है इसलिये तेरा कोई सहायक नहीं है" यह सुनते ही उसे घबराहट होजाती है कि मैं परावलम्बन के बिना अकेला कैसे रह सकूँगा? उसे अपने स्वतंत्र गुण का विश्वास नहीं है इसलिये भीतर से समाधान नहीं होता। बाहरी मानी हुई प्रवृत्ति को देखे तो समाधान करे, कुछ करूँ तो ठीक हो, अन्यथा प्रमादी मूढ़ के समान होजाऊँगा, इसप्रकार अपनी स्वतंत्रता में शंकित रहता है। मात्र ज्ञान क्या है, और कहाँ स्थिर होना है, इसकी कोई खबर नहीं होती, इसलिये किसी दूसरी वस्तु को लक्ष में लूँ तो विचार कर सकूँगा और गुण कि क्रिया की गई मानी जायेगी। इसप्रकार अनादि-कालीन भ्रम से अपने को निर्माल्य मानकर स्वतंत्र स्वाश्रय की श्रद्धा का अनादर करके स्वभाव को ढँक देता है। पुण्य से अपने गुण को टिका रखूँ, और अधिक शुभभाव करूँ तो गुण प्रगट हो-ऐसा मानता है सो भ्रम है।

यह त्रिकाल सत्य है, यदि कठिन मालूम हो तो भी चाहे जब इसे माने बिना छुटकारा नहीं है, इसके अतिरिक्त धर्म का कोई दूसरा उपाय नहीं है। यदि कोई इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग माने तो वह उसके घर का बनाया हुआ स्वच्छंद मार्ग है, वीतराग का मार्ग नहीं है। इसमें बहुत गहन विचार विद्यमान हैं। अशुभ से बचने के लिये शुभराग में युक्त हो तो शुभराग के निमित्त-देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि अनेक हैं किन्तु वे सब परवस्तु हैं और परवस्तु का जो अवलम्बन है सो राग है। परवस्तु और उसका राग रखूँ, शुभराग का अवलम्बन ग्रहण करूँ तो गुण प्रगट हो, इसप्रकार शुभभाव से या निमित्त से गुण को मानने-

वाला स्वतंत्र सत्स्वभाव की हत्या करनेवाला है। भीतर जो गुण भरे हुए हैं उनकी तथा मैं अखण्ड गुणस्वरूप हूँ, निरावलम्ब, निर्विकार और परवस्तु के संयोग से रहित हूँ, ऐसे स्वभाव के बल से गुण प्रगट होते हैं और वे सब गुण वर्तमान में स्वाश्रय के बल से ही स्थिर हैं, इसकी उसे खबर नहीं है। आत्मा अपने अनन्त स्वतंत्र गुणों से नित्य भरा हुआ है, यदि वर्तमान में पूर्ण गुण न हों तो बाहर से नवीन नहीं आते। बाह्य लक्ष्य से जो भाव होते हैं वे स्वभाव के भाव नहीं हैं; मन, वाणी और देह की क्रिया–जड़ की अवस्था जड़ के आधार से होती है। मूढ़जीव जड़ की अवस्था के परिवर्तित होने का अभिमान करता है। देह की क्रिया के लक्ष्य से-किसी भी परवस्तु के लक्ष्य से जो भाव प्रगट होते हैं वे निश्चय से अधर्मभाव हैं, रागभाव हैं, स्वभावभाव नहीं हैं; क्योंकि वे अविकारी स्वभाव से विरोधीभाव हैं।

पहले श्रद्धा में सत्स्वभाव को स्वीकार किये बिना, पूर्ण गुण के परिचय के बिना किसका पुरुषार्थ करेगा? और कहाँ स्थिर होगा? जो यह मानता है कि परलक्ष्य से गुण प्रगट होते हैं, उसे सदा रागरूप आकुलता का अनुभव होता है। पराश्रितता से रहित मेरा स्वतंत्र प्रगट ज्ञानस्वभाव नित्य अबन्ध है, उसकी प्रतीति के बिना उसका स्वाद नहीं आता।

जो करने योग्य है और जो स्वाधीनता से होसकता है उसे अनंतकाल में न तो कभी माना है और न किया ही है; प्रत्युत जो करने योग्य नहीं है और जो स्वाधीनतापूर्वक हो ही नहीं सकता उस पर का कर्तृत्व मानता है, और अनादिकाल से स्वभाव से विरुद्ध राग-द्वेष-मोह भाव को करता आरहा है।

ज्ञानगुण में राग नहीं है, और कोई परवस्तु राग करने को नहीं कहती; पर को लेकर भूलना नहीं है, किन्तु देहादिक–परपदार्थ की अपनी ममत्वबुद्धि से स्वयं ही गड़बड़ करता है–भ्रमित होजाता है। त्रिकाल-

स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है, एकरूप ही है; किन्तु ज्ञेयों में आसक्त होकर अर्थात् पाँच इन्द्रियों के विषयों में तथा पुण्य-पाप की वृत्ति में अच्छा-बुरा मानकर उसमें ज्ञान रुकता है, परवस्तु में राग-द्वेष. आदर-अनादर करता है इसलिये अपने स्वभाव का ही विरोध करता है।

आत्मा निरन्तर ज्ञातास्वरूप है। ज्ञान का स्वभाव पर-विषय में अच्छे-बुरेरूप से अटक जाना नहीं है। परपदार्थ में अटक जाना वह एक-एक समय की स्थिति के राग-द्वेष मोह का लक्ष्य है, वह विकाररूप होने से ज्ञानगुण नहीं है। गुण में अवगुण की त्रिकाल नास्ति है। ज्ञान तो सामान्य अकेला निर्मल है, उसकी पर्याय भी निर्मल है, उसमें राग नहीं है। इसप्रकार ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के सामान्य और विशेष रूप से होनेवाला ज्ञान ज्ञानरूप से तो त्रिकाल निर्मल ही है, किन्तु अज्ञानी उसमें राग से अटकनेवाले विकल्प का भेद करता है; यदि स्वाश्रय स्वभाव के लक्ष्य से उस भेद को दूर करदे तो रागरहित सामान्य एकाकार ज्ञान ज्ञान ही है। जैसे अन्य द्रव्य के संयोग का निषेध करके, मात्र नमक का ही अनुभव किया जाये तो सर्वतः निरंतर एक क्षाररस के कारण नमक की डली मात्र क्षाररूप से ही स्वाद में आती है, इसीप्रकार परद्रव्य के संयोग का निषेध करके, केवल निराकुल शांत आत्मा का ही अनुभव किया जाये तो सर्वतः सर्व गतियों में, सर्व क्षेत्र में, सर्व काल में और सर्व भाव में अपने एक विज्ञानघन स्वरूप के कारण यह आत्मा स्वयं ही सतत् ज्ञानरूप से स्वाद में आता है।

शाक-पूड़ी, भजिया इत्यादि भोजन के भेदों की अपेक्षा से नमक अधिक खारा है या कम खारा है—ऐसे भेद होते हैं, किन्तु जिसकी दृष्टि भोजन पर नहीं है वह तो नमक को सतत खारेरूप में प्रत्येक अवस्था में प्रगटतया जानता है, परसंयोग का निषेध करके नमक नमक रूप से खारा ही है, अन्यरूप नहीं है; इसप्रकार ज्ञान में ज्ञेय-मात्र से परद्रव्य का संयोग है, किन्तु उस संयोग से ज्ञान भेदरूप

नहीं होता। मुझमें परसंयोग नहीं है, इसप्रकार परज्ञेयों का निषेध करके-मेरा ज्ञान पराधीन नहीं है, पुण्य-पाप के भाव भी पराश्रय से ही होते हैं, परमार्थ से स्वभाव में विकार है ही नहीं, मैं विकारी अवस्था जितना ही नहीं हूँ, शुभाशुभ विकार का नाशक हूँ उत्पादक नहीं, देहादिक-रागादिक किसी भी परसंयोग का मुझमें अभाव है, और निरंतर अनंत-गुण-स्वभाव ज्ञायकस्वरूप का ही अस्तित्व है, इसप्रकार स्व-पर की अस्ति-नास्ति जानकर त्रिकालस्थायी मात्र ज्ञानस्वभाव का अनुभव करना ही सम्यक्ज्ञान है।

पहले श्रद्धा में ऐसी यथार्थ प्रतीति करनेपर अपने अखण्ड सामान्य-ज्ञान के लक्ष्य से विशेषज्ञान की आंशिक निर्मलता होनेपर निराकुल एकरूप स्वभाव का स्वाद आता है। जिसने पर से भिन्न स्वतंत्र स्वभाव को लक्ष्य में लिया है उसके सर्वज्ञकथित स्वाधीन सुखरूप धर्म होता है; फिर पुरुषार्थ की अशक्ति से, पराश्रय का लक्ष्य करने से होनेवाले क्षणिक विकारभाव को वह परज्ञेयरूप से जानता है, वह क्षणिक अशक्ति का स्वामी-कर्ता नहीं होता। अवस्था के जितने खण्ड होते हैं, उन सभी व्यवहार के भेदों का निषेध करके मैं भेदरहित नित्य ज्ञानस्वभावी हूँ, इसप्रकार यथार्थ श्रद्धा को मानना सो यही सर्व-प्रथम धर्म की शांति को प्रगट करने का उपाय है, और निर्मल ज्ञायक-स्वभाव के बल से स्थिरता को बढ़ाना सो यही चारित्र है। स्वरूप को यथार्थतया समझकर सर्वज्ञ वीतरागकथित न्याय से सत्समागम से उसी का-स्वरूप का ही अभ्यास करना चाहिये।

प्रश्नः—क्या पहले गुणस्थान में (मिथ्यात्वदशा में) जीव निराव-लम्बी होसकता है?

उत्तरः—सत् श्रवण करते हुए यह यथार्थ सत्य है, इसप्रकार मात्र निज की ओर के विचार से यथार्थ सत् की स्वीकृति होती है, बारम्बार उसके आदर और रुचिरूप में हाँ ही होती है, उसमें अंशतः मन का अवलम्बन छूट गया है और वह यथार्थता का स्वयं निर्णय करता है।

निमित्त और अवस्था को भूलकर स्वलक्ष्य की श्रद्धा मे यथार्थता का अंश प्रगट होता है, वह अंशतः रागरहित निरावलम्बी होने से सम्यक्दर्शन को प्राप्त करने के लिये सन्मुख हुआ कहलाता है। अंतरंग में अप्रगट रुचि काम करती है, उस रुचि के बल से ही आगे बढ़ना है। प्रारंभ में यथार्थ सत् की स्वीकृति के रूप में सच्चे कारण में नैगमनय से निरावलम्बी यथार्थता का अंश न हो तो, सम्यक्दर्शनरूप प्रगट कार्य में प्रगट अंश से निरावलम्बिता कहाँ से आयेगी ? सम्यक्दृष्टि की श्रद्धा में पूर्ण निरावलम्बी सिद्ध परमात्मस्वभाव ही है, और उसके बल से ही पूर्णदशा प्रगट होसकती है।

पराश्रयरहित स्वाधीन आत्मस्वरूप की अनुभूति ही समस्त जिनशासन की अनुभूति है।

आत्मा में अवस्थारूप से कर्म का तथा शरीरादि का सम्बन्ध है, ऐसा जानना-कहना सो व्यवहार है। जहाँतक परपदार्थ पर लक्ष्य है वहाँतक पराधीनतारूप व्यवहार है, वह कहीं आत्मा के लिये गुण का कारण नहीं है।

समयसार की प्रत्येक गाथा में सर्वज्ञ भगवान ने जिसप्रकार निश्चय-व्यवहार कहा है उसीप्रकार कहाजाता है। व्यवहार का अर्थ है परलक्ष्य से भेद का आरोप। उस भेदरूप व्यवहार को सहायक माने, गुणकर माने और उसपर लक्ष्य रखकर उससे धर्म माने तथा पराश्रयरूप व्यवहार को ही जो निश्चय माने उसे वह मान्यता बन्ध का कारण होती है।

मैं शुद्ध हूँ, असंग हूँ, ऐसी श्रद्धा के बल से निर्मलता प्रगट होती है। पहले यथार्थ प्रतीति में पराश्रयरूप सर्व भेद का (व्यवहार का) निषेध है, फिर पृथक्त्व में स्थिरता पर भार देना सो शुभाशुभ बन्धनभावरूप व्यवहार के नाश करने का उपाय है। निमित्तरूप देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि सर्ववस्तुयें जानने योग्य हैं, अशुद्ध अवस्था में जो कर्म का संयोग है उसका ज्ञान कराने के लिये व्यवहार है। अकेली वस्तु में विकार

नहीं होता। निश्चय का अर्थ है पर से निराला, नित्य पूर्ण अविकारी स्वभाव-वह पराश्रित खण्डरूप व्यवहार का नाश करनेवाला है। बाह्य की प्रवृत्ति-व्रतादि के शुभराग की प्रवृत्ति भी आन्तरिक गुणों के लिये सहायक नहीं है; जितनी पराश्रयता है उतना ही राग में रुकना होता है। जबतक पूर्ण वीतरागता नहीं होजाती तबतक अवस्था में पराश्रयरूप जो राग रहता है उसे मात्र जानना ही व्यवहारनय का प्रयोजन है।

पराश्रित बाह्योन्मुखरूप राग को गुणकर माने तो वह व्यवहार नयाभास (मिथ्यात्व) है। देहादिक पर की क्रिया तथा पुण्य-पाप के शुभाशुभराग के भाव-विकार मेरा स्वरूप नहीं है, क्योंकि उस विकार का मेरे स्वभाव में अभाव है। मेरा स्वभाव अवस्थामात्र के लिये नहीं है, किन्तु त्रिकाल स्वतंत्रतया एकरूप है। पराश्रय की श्रद्धा छोड़कर परमार्थ, अक्रिय निरावलम्बी स्वभाव की श्रद्धा करना ही स्वतंत्र गुण की श्रद्धा है और यही जिनशासन की निश्चय से श्रद्धा है।

चौदहवीं और पन्द्रहवीं गाथा में जो व्यवहार से कहा है उसप्रकार परनिमित्त के भेदरूप अवस्थादृष्टि से आत्मा को यथावत् जानना सो जिनशासन का व्यवहार है; उस व्यवहार को सत्यार्थ मानकर अपने को अवस्था जितना मानले और यह माने कि मुझे शुभाशुभभाव गुणकर हैं, और मैं उनका कर्ता हूँ, तो उसे निश्चय की (गुणस्वरूप स्वाधीन स्वभाव की) श्रद्धा नहीं है। रागादिक में तथा देहादिक परवस्तु में कर्तृत्व को स्थापित करे-पराश्रयता को माने तो वह जिनशासन का व्यवहार नहीं है। व्यवहार को निश्चय से निषेध्य जानकर निमित्त तथा अवस्था को गौण करके मात्र अवस्था-भेद को जानना सो व्यवहार है।

शास्त्र में अनेक जगह असद्भूत व्यवहारनय के कथन की बात आती है, किन्तु उसका वास्तविक अर्थ उसके शब्दानुसार नहीं होता। मात्र निकट के निमित्त का ज्ञान कराने के लिये उसे उपचार से कहा है, ऐसा समझना चाहिये।

मैं पर से भिन्न निरावलम्बी वीतरागी स्वभावरूप हूँ; पुण्य-पाप रहित श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता ही मार्ग है, मैं मोक्षमार्ग की अपूर्ण अवस्था जितना नहीं हूँ; ऐसे आत्मा के ध्रुवस्वभाव की जिसने श्रद्धा की है उसने निश्चय से जिनशासन को जाना है। "वीतराग कथित जिनधर्म में व्रत, तप, बाईस परीषह इत्यादि बहुत कठिन होते हैं; देव, गुरु, शास्त्र, ऐसे होते हैं, उनकी पूजा-भक्ति इसप्रकार होती है" यों बाह्य चिन्हों से (परवस्तु में) जिनशासन को मानना सो व्यवहार है, वह वीतराग कथित परमार्थ जिनशासन नहीं है। व्रतादि के भाव शुभराग हैं-आस्रव हैं, उन व्रतादि के बन्धनभावों में सच्चा जिनशासन नहीं है।

जिनशासन में, 'जिन' शब्द का अर्थ जीतना है; और उसमें राग-द्वेष एवं अज्ञान को जीतकर (नष्ट करके) पराश्रयरहित ज्ञानस्वभाव स्वतंत्र है, इसप्रकार जानना और श्रद्धा करना सो यही राग-द्वेष-मोह और पंचेन्द्रिय के विषयों की वृत्ति को जीतना है। क्रियाकांड की बाह्यवृत्ति से आंतरिक स्वभाव की प्रतीति नहीं होती।

जो सम्यक्‌दर्शन सहित है उसे भी अशुभराग से बचने के लिये पूजा, भक्ति, दान, तप इत्यादि क्रियाकांडरूप जितना बाहर की ओर का झुकाव है वह कहीं सच्चा जिनशासन नहीं है। शुभराग भी पुण्य-बंध का कारण है, जो अपने को उसका कर्ता मानता है वह अपने गुणरूप स्वभाव को नहीं मानता। ज्ञानी की दृष्टि में राग का त्याग है, किन्तु वह पूर्ण वीतराग नहीं होसकता तबतक पापरूप अशुभभाव में न जाने के लिये पूजा, भक्ति, व्रत, तप सम्बन्धी पुण्यराग हुए बिना नहीं रहता। किसी भी प्रकार के शुभाशुभराग की प्रवृत्ति होना व्यवहारनय नहीं है। कोई भी विकारीभाव गुणकारी नहीं है, किन्तु वह विरोधीभाव है, और जितनी हद तक स्वलक्ष्य में टिका रहे उतना निर्मलभाव है; इसे जानना सो इसका नाम व्यवहारनय है। शुभाशुभ राग या मन, वचन, काय, की प्रवृत्ति को जो जिनशासन या मोक्षमार्ग का साधन माने अथवा मनवाये उसे वीतराग के उपदेश की-स्वतंत्र

स्वभाव की खबर नहीं है । शुभराग से भी धर्म नहीं होता । मात्र शुभराग चाहे जैसा हो तथापि वह व्यवहारनय से-उपचार से भी धर्म नहीं है ।

लोगों को यथार्थ धर्म का स्वरूप समझ में न आये इसलिये कहीं अधर्म को धर्म माना या मनवाया जासकता है ? 'इससमय समझ में नहीं आसकता' इसप्रकार निषेधकारक मिथ्याशल्य को दूर कर देना चाहिये । जिसे परमार्थ जिनदर्शन की खबर नहीं है उसे व्यवहार की भी सच्ची श्रद्धा नहीं होती, इसलिये उसके द्वारा माने गये या किये गये व्रत, तप, पूजा, भक्ति इत्यादि यथार्थ नहीं होते । पाप से बचने के लिये शुभभाव करे तो पुण्यबन्ध होता है, इसका कौन निषेध करता है ? किन्तु यदि उस पुण्य की श्रद्धा करे, उसे अपने स्वरूप में माने और यह माने कि उसके अवलम्बन के बिना पुरुषार्थ उदित नहीं होता-गुण प्रगट नहीं होता तो वह महा मिथ्यादृष्टि है, वह स्वाधीन सत्स्वभाव की प्रतिसमय हत्या करनेवाला है । यदि यह कठिन प्रतीत हो तो सत्यासत्य का निर्णय करे, किन्तु असत् से तो कभी भी सत् की प्राप्ति नहीं होसकती ।

सम्यक्दर्शन होने से पूर्व भी अशुभभावों को छोड़ने के लिये दया इत्यादि के शुभभाव करता अवश्य है, किन्तु यह मान्यता मिथ्या है कि उससे सम्यक्दर्शन होता है या गुण-लाभ होता है । अनादिकाल से शुभाशुभभाव करता चला आरहा है, फिर भी अभी संसार में क्यों परिभ्रमण कर रहा है ? लोगों को अनादिकाल से पुण्यभाव अनुकूल प्रतीत होरहे हैं इसलिये उन्हें छोड़ने की बात नहीं रुचती । जिसे स्वभाव के अपूर्व पवित्र गुण प्रगट करना हैं उसमें शुभभाव जितनी लौकिक नीति की पात्रता तो होती ही है । नवतत्व इत्यादि और जैसा कि तेरहवीं गाथा में कह चुके हैं उसप्रकार सच्चे व्यवहार का ज्ञान होता ही है, उसके बिना सम्यक्दर्शन के आँगन में आने की तैयारी नहीं होसकती । यहाँ यह नहीं कहते हैं कि-शुभभाव से गुण प्रगट

होते हैं, क्योंकि धर्म के नामपर उत्कृष्ट शुभभाव भी जीव ने अनन्तवार किये हैं, किन्तु प्रतीति के विना किंचित्मात्र भी गुण प्रगट नहीं हुए। यहाँ ऐसा अपूर्व वस्तुस्वरूप कहा जारहा है कि-जिससे जन्म-मरण दूर होसकता है। और जो कुछ कहा जारहा है उसे स्वयं अपनेआप निश्चित् कर सकता है, और अभी भी वह होसकता है।

पुण्य का निषेध करने का अर्थ यह नहीं है कि पाप किया जाये या पापभावों का सेवन किया जाये। देह की अनुकूलता के लिये या स्त्री पुत्र धन प्रतिष्ठा इत्यादि के लिये जितनी प्रवृत्ति करता है वह सारी सांसारिक प्रवृत्ति अशुभराग है-पाप है। जिसे धर्म की रुचि है वह पाप की प्रवृत्ति छोड़कर दया दान इत्यादि शुभभाव किये विना रहता ही नहीं।

मैं शरीर की क्रिया कर सकता हूँ, ऐसा माने तो मूढ़ता का पाप पुष्ट होता जाता है। अशुभभावों को दूर करके पुरुषार्थ से स्वयं शुभभाव कर सकता है। शुभभाव करने में धन इत्यादि की आवश्यक्ता नहीं होती। निरावलम्बी स्वरूप की श्रद्धा के अतिरिक्त निश्चयस्वभाव की ओर अंशमात्र भी उन्मुखता या रुचि नहीं होती। (मात्र व्यवहार से धर्म की रुचि कही जाती है)

जिनशासन में, किसी शास्त्र में व्यवहार से क्रिया की बात (निमित्त का ज्ञान कराने के लिये) आती है, वहाँ उपचार से वह कथन समझना चाहिये। यदि परमार्थ से वैसा ही हो तो परमार्थमार्ग मिथ्या सिद्ध होगा। आत्मा गुणस्वरूप है; और जो गुण हैं सो दोषों के द्वारा, शुभाशुभ राग के द्वारा प्रगट नहीं होते। यदि व्रतादि के शुभभावों से गुण प्रगट हों तो अभव्य जीव मिथ्यादृष्टि भी उस व्यवहार के द्वारा शुभभाव करके नवमें ग्रैवेयक तक अनन्तवार हो आया है, किन्तु उसे कभी गुण-लाभ नहीं हुआ; इसलिये सिद्ध हुआ कि राग या मन, वचन, काय की क्रिया से जिनशासन (आत्मस्वरूप) की प्राप्ति नहीं

होती, फिर भी यदि कोई उसे माने तो वह अपनी मान्यता के लिये स्वतंत्र है।

परलद्रव्य के बिना कभी भी राग नहीं होता, इसलिये शास्त्र में अशुद्ध अवस्था के व्यवहार का और शुभराग में अवलम्बन क्या होता है, इसका ज्ञान कराने के लिये असद्भूत व्यवहार की बात कही है, यदि अज्ञानी उसमें धर्म मानले तो राग और पर की प्रवृत्ति ही धर्म होजाये। जीव अनादिकाल से परपदार्थ पर तथा रागादि करनेपर भार देता आरहा है इसलिये यदि कोई वैसी बात करता है तो वह झट उसके अनुकूल पड़ जाती है। ज्ञानियों ने पराश्रय में धर्म स्थापित नहीं किया है, किन्तु निमित्त और अवस्था इत्यादि का ज्ञान कराने के लिये संक्षिप्त भाषा में उपचार से कथन किया है; सच्चा परमार्थ तो अलग ही है।

पुण्यभाव चाहे जैसा ऊँचा हो तथापि वह बन्धनभाव है और आत्मस्वभाव अबन्ध है। स्वभाव में पुण्य-पाप के बन्धनभाव नहीं हैं। सच्चे देव-गुरु-शास्त्रों ने पुण्य-पाप के किसी भी रागभाव से रहित मोक्षमार्ग कहा है, और आत्मा को कर्मबन्ध से पृथक् एवं पराश्रय-रहित बताया है। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। उसका प्राथमिक गुण भी स्वावलम्बी श्रद्धा से प्रगट होता है, इसप्रकार निमित्त और अपनी अशुद्ध अवस्था तथा स्वभाव इत्यादि को विरोधरहित विकल्प से यथावत् जाने तो व्यवहारश्रद्धा में आया हुआ माना जाये; किन्तु यदि ऐसा मानले कि अनेकप्रकार के आरोप से कहनेवाला व्यवहार ही सत्यार्थ है, तो उसे सच्चे व्यवहार की भी खबर नहीं है। यदि पराश्रय के कथन को ही परमार्थ जानकर पकड़ले, अर्थात् जो अभूतार्थ व्यवहार त्यागने योग्य है उसी को आदरणीय मानले और व्यवहार के कथनानुसार ही अर्थ मानले तो स्पष्ट है कि उसने व्यवहार से भी जिनशासन को नहीं जाना; किन्तु परनिमित्त के भेद से रहित अबद्ध आदि पाँच भावरूप शुद्ध आत्मा को यथार्थ स्वाश्रित प्रतीति के द्वारा जिसने

जाना है उसीने जिनशासन को जाना है, और उसीने सर्व आगमों के रहस्य को जानलिया है।

यहाँ स्वाश्रय के बल में पराश्रयरूप व्यवहार का निषेध किया है। कुछ लोग मानते हैं कि व्यवहार का अवलम्बन आवश्यक ही है, किन्तु व्यवहार का अर्थ (लोगों की दृष्टि में) है पुण्यभाव, वह परद्रव्य से होनेवाला पराश्रयभाव है, उसके द्वारा कभी निश्चयस्वभाव प्रगट नहीं होता। भला खण्डभाव अखण्ड का साधन कैसे होसकता है? सम्यक्‌दर्शन से पूर्व और पश्चात् भी शुभभावरूप व्यवहार आता तो है, किन्तु व्यवहार को जाने बिना सीधा परमार्थ में नहीं पहुँचा जासकता, लेकिन उस व्यवहार से गुण प्रगट नहीं होता।

निम्नदशा में अकेली शुद्धता नहीं होती; व्यवहार अवश्य आता है, किन्तु उससे गुण-लाभ मानने में महादोष है, उदय-अस्त का सा महान अन्तर है। देव, गुरु, शास्त्र, के अवलम्बन के बिना गुण कैसे होसकता है, जिसे ऐसी शंका होती है वह अपने भ्रम के द्वारा अपने स्वतंत्र गुण का नाश करता है। निश्चय में जाने से पूर्व बीच में शुभभाव और उसके निमित्तरूप देव, गुरु, शास्त्र, आदि अवश्य आते हैं, किन्तु उनसे निश्चय में नहीं पहुँचा जासकता। इस बात को भलीभाँति समझना चाहिये। जिससे जन्म-मरण दूर होता है ऐसी उत्तम वस्तु को सुनने के लिये आने वाले में-सुनने वाले में अमुक पात्रता, नीति और सज्जनता तो होनी ही चाहिये। कपट, झूठ, हिंसा, व्यभिचार आदि महापापों का त्याग तो सहज होता है, तृष्णा की कमी, कषाय की मन्दता और देहादि में तीव्र आसक्ति का त्याग, एवं ब्रह्मचर्य का रंग इत्यादि साधारण नीति की उज्वलता धर्म को समझने के जिज्ञासु पुरुष के होनी ही चाहिये-होती ही है।

जीव ने अनन्तबार बाह्य में दया दान और नीतिपूर्वक आचरण इत्यादि सब कुछ किया है, वह कहीं नवीन नहीं है। धर्म के नामपर आत्मप्रतीति के बिना व्रत तप इत्यादि अनन्तबार कर चुका है, किन्तु

आत्मप्रतीति बिना संसार में परिभ्रमण करना बना ही रहा। यहाँ यह बताया जारहा है कि जन्म-मरण के सर्वथा नाश करने का सच्चा उपाय क्या है।

सम्यक्ज्ञानरूपी डोरा यदि आत्मा में पिरोया हो तो चौरासी के अवतार में खो नहीं सकता। जैसे सुई कूड़े-कचरे में जा मिली हो किन्तु यदि उसमें डोरा पिरोया हो तो वह तत्काल ही हाथ आजाती है, वैसा ही मेरा स्वभाव जड़कर्म, देहादि की सर्व क्रिया तथा पर की अपेक्षा से रहित त्रिकाल स्वतंत्रतया एकरूप पूर्ण है, ऐसे यथार्थ प्रतीतिरूप सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान के द्वारा स्वधीन स्वभाव का आश्रय लेकर समस्त परद्रव्यों की अपेक्षा का निषेध करके अपने आत्मा को जाना, और फिर भी पुरुषार्थ की अशक्ति से शुभाशुभभाव रह जायें तथा कदाचित् उन्हें दूर करके चारित्र को प्राप्त न कर सके तो भी स्वभाव की प्रतीति होने से वह उत्तम देवलोक में जाता है, अर्थात् सम्यक्दर्शन के द्वारा अबन्ध स्वभाव का जिसने आश्रय लिया है, उसका भव और भाव दोनों परमार्थ से बिगड़ते नहीं, वह अल्पकाल में ही चारित्र ग्रहण करके मोक्ष को प्राप्त करेगा। श्रेणिक राजा क्षायिक सम्यक्त्वी थे। उन्हें स्वभाव की प्रतीति थी, उसी प्रतीति को लेकर भगवान श्री महावीर स्वामी के निकट उत्कृष्ट पुण्य (तीर्थंकरगोत्र) दृष्टि में आदर के बिना ही बंध गया था। वे आगामी चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर होंगे। उन्हें उस भव में बाह्य त्याग या चारित्र नहीं था, फिर भी वे एक भव धारण करके पूर्ण निर्मल साक्षात् मोक्षदशा प्रगट करेंगे।

जो पर की वृत्ति उद्भूत होती है सो वह मेरा स्वरूप नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र का बन्ध होता है वह शुभभाव भी मेरा स्वरूप नहीं है, इसलिये वह आदरणीय नहीं है। मैं सर्व शुभाशुभभावों से पृथक् चिन्दानन्द भगवान हूँ, सतत प्रगटरूप से अपने स्वरूप को जानने-देखने वाले स्वभाव से ही हूँ, ऐसी यथार्थ प्रतीतिपूर्वक जिन्होंने शुद्धस्वभाव की श्रद्धा को स्थिर बना रखा है वे

श्रेणिक महाराज वर्तमान में पूर्वकृत भूल के बाह्य फल से प्रथम नरक-क्षेत्र में हैं, वहाँ उन्हें अनेक बाह्य प्रतिकूलतायें हैं, तथापि उनके बाह्य संयोग का दुःख नहीं है, उससे भिन्न अपने स्वरूप की प्रतीति होने से नरक में भी अपने आत्मा में ज्ञान-शांति का वेदन करते हैं। जितना राग दूर होता है उतनी आकुलता दूर होती है।

जिस जीव ने सम्यक्‌दर्शन प्राप्त कर लिया है, वह भले ही कुछ समयतक संसार में रहे किन्तु उसकी दृष्टि में तो संसार का अभाव हो ही चुका है। जिसे यथार्थ प्रतीतिपूर्वक शुद्ध आत्मा की श्रद्धा से स्वाश्रयरूप निश्चय होगया है, उसने वास्तव में जिनशासन को जानलिया है अर्थात् अपने स्वरूप को जान लिया है। निश्चय से श्रद्धा के बिना व्यवहार भी यथार्थ नहीं होसकता।

"व्यवहारे लख दोहीलो, कांई न आवे हाथ रे;
शुद्धनयस्थापना सेवतां, नवी रहे दुःविधा साथ रे।"

[श्री आनन्दघनजी]

धर्म के नामपर (अज्ञानी जीव भी) बाह्य में सबकुछ कर चुका है, नव पूर्व और ग्यारह अंगों को भी व्यवहार से अनन्तबार जाना है किन्तु यह ज्ञात नहीं हुआ कि परमार्थ क्या है, क्योंकि उसने स्वाधीन स्वभाव को ही नहीं जाना। कुछ निमित्त चाहिये या पराश्रय चाहिये इसप्रकार मूल श्रद्धा में ही अनादि से गड़बड़कर रखी है।

मैं शुद्ध हूँ, पर से भिन्न हूँ ऐसा मन सम्बन्धी विकल्प भी पराश्रयरूप राग है, धर्म नहीं है। मन के अवलम्बन के बिना स्थिर नहीं रह सकता, मात्र स्वभाव में नहीं रह सकता, इस भ्रम के द्वारा पराश्रय की श्रद्धा को नहीं छोड़ता और पराश्रय की श्रद्धा को छोड़े बिना यथार्थ श्रद्धा नहीं होती।

अज्ञानी जीव ज्ञेयों में लुब्ध है, अर्थात् पंचेन्द्रियों के विषय में लगने पर मैं भी खण्डरूप ज्ञान जितना ही हूँ ऐसा मानता है, जानने-

योग्य शब्दादिक विषयों के आधीन मेरा ज्ञान है तथा उन परवस्तुओं के जानने के कारण मुझे राग-द्वेष होता है, मैं देहादि की क्रिया का कर्ता हूँ, घर में कठोरता का व्यवहार रखें तो सारी व्यवस्था ठीक चले- यह सारी मान्यता मिथ्या है, मूढ़ता है। बाहर एकसा रखने के पाप- भाव के फल में बाहर की व्यवस्था एक सी रहनेरूप पुण्यभाव का फल नहीं होसकता। बाह्य में सब ठीकठाक बना रहना पूर्वपुण्य से होता है, किन्तु उसे ठीक-ठाक रखने का वर्तमान अशुभभाव नवीन बन्ध का कारण है।

शरीर जड़ है और शरीर की अवस्था जड़ की क्रिया है, शरीररूप से एकत्रित हुए जड़-परमाणु शरीर की अवस्था को अपने स्वतंत्र कारण से किया करते हैं, उसमें आत्मा की कोई सहायता नहीं होती; तथापि यदि यह माने कि शरीर की क्रिया मैं कर सकता हूँ, अथवा मेरी प्रेरणा से होती है तो उसे अपने अरूपी ज्ञानस्वभाव की और जड़ से भिन्नता की खबर नहीं है। यदि शरीर की क्रिया को तू कर सकता हो अथवा तेरे कथनानुसार शरीर की अवस्था होती हो तो बुखार को लाने की तेरी इच्छा न होनेपर भी शरीर में बुखार क्यों आता है? लकवा होजाने पर, तू हजारबार चाहता है कि शरीर के अंग न हिलें, फिर भी वे क्यों हिलते रहते हैं? सच तो यह है कि शरीर का एक भी परमाणु एक समयमात्र के लिये भी तेरी इच्छानुसार प्रवृत्ति नहीं करता, उसकी क्रमबद्ध अवस्था प्रतिसमय अपने स्वतंत्र कारण से होती है। तू अज्ञानी जीव व्यर्थ ही शरीर का स्वामित्व मान बैठा है। निश्चय से तो आत्मा मात्र ज्ञाता ही है।

शंका:—यदि आत्मा शरीर की क्रिया को नहीं करता तो फिर जब शरीर में जीव नहीं होता तब मृत देह की क्रिया क्यों नहीं होती?

समाधान:—जिससमय परमाणु की जैसी अवस्था होने योग्य होती है तदनुसार उसकी अवस्था उससमय होती ही रहती है। परमाणु की अवस्था एक ही प्रकार की नहीं रहती, संयोग-वियोग होना अर्थात्

मिलना और अलग होना पुद्गल का स्वभाव ही है, और उसकी क्रिया के अनुसार निमित्त (जीव इत्यादि) उसके कारण से उपस्थित होते हैं।

देह के संयोग में रहनेवाला और देह से भिन्न आत्मा सदा अरूपी ज्ञानस्वभाव है। अनादिकाल से देह के संयोग में रहनेपर भी कभी एक अंशमात्र भी चैतन्यस्वभाव मिटकर जड़रूप नहीं हुआ है, और न जड़ के साथ एकमेक ही हुआ है। वह जड़ से सदा भिन्न है इसलिये जड़ की क्रिया नहीं कर सकता। जिसने यह माना है कि मैं देहादिक जड़ का कुछ कर सकता हूँ, उसने अनन्त पर पदार्थों का कर्तृत्व स्वीकार किया है, अर्थात् अनन्त परवस्तुओं के साथ अपना सम्बन्ध मान रखा है, और इसप्रकार अपने को और पर को पराधीन माना है। बाह्य में अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलता मानकर उसमें निरंतर राग-द्वेष किया करता है, और राग-द्वेष को भी अपना मानता है—करने योग्य मानता है, और प्रगट या अप्रगटरूप से अनन्त कषाय क्रिया करता है, इसलिये एकान्त दुःखी है। मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता हो और फिर भी पर में अनासक्त रह सके इसप्रकार परस्पर विरोधी दो बातें एक साथ नहीं बन सकतीं।

पराधीन (निमित्त पर) दृष्टि रखने वाला जीव पर का कर्तृत्व माने बिना नहीं रहता। भगवान की स्तुति मैंने की है ऐसा माना कि वहाँ वाणी का कर्ता होगया, तथा शुभराग का स्वामी होकर उसे करने योग्य मान लिया। पर में एकाकार हुआ है इसलिये पर का स्वामित्व और उसके कारण से आकुलता होती है, जिसका वह वेदन करता है। अज्ञानी चाहे जैसी बाह्य क्रिया करे, उसमें अज्ञानता विद्यमान ही है। अज्ञानी सच बोले फिर भी वह उसमें—वाणी मेरे द्वारा बोली गई है इसप्रकार जड़ की अवस्था का स्वामित्व मानता है। मुझसे दूसरे को ज्ञान हुआ है, अथवा दूसरे ने मुझे ज्ञान कराया है ऐसा मानने से वह जड़शब्दों का स्वामी होता है और ज्ञान को पराधीन

मानता है, वह असत्य का ही सेवन करता है। यदि पहला घड़ा उल्टा रख दिया जाता है तो फिर उसके बाद उसपर रखे जाने वाले सभी घड़े उल्टे ही रखे जाते हैं, इसीप्रकार जिसकी प्रथम श्रद्धा ही उल्टी होती है उसका ज्ञान और चारित्र दोनों उल्टे होते हैं।

जबतक जीव स्वतंत्र स्वभाव को नहीं समझता तबतक उसे यह सब कठिन मालूम होगा। अज्ञानता कहीं कोई बचाव नहीं है। शरीर और इन्द्रियों की सहायता से मैंने इतने कार्य किये हैं, यों अनेकप्रकार से पर का कर्तृत्व मानकर जिसने रागमिश्रित भाव को अपना माना है, उसने अपने स्वभाव को ही दोषरूप माना है। गुणरूप स्वभाव में से दोष नहीं आता किन्तु दोष में से दोष आता है। पराश्रय की श्रद्धा को छोड़कर स्वतंत्र स्वभाव को जानने के बाद वर्तमान अवस्था में पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण पराश्रय में अटक जाता है, उसे ज्ञानी जानता है, किन्तु उसमें वह परमार्थ से पर का स्वामित्व या कर्तृत्व नहीं मानता; वह अवस्था के भेदरूप व्यवहार को परमार्थ-दृष्टि में स्वीकार नहीं करता किन्तु दृष्टि के बल से उसका निषेध करता है।

मात्र स्वभाव का ही आश्रय ले तो पर का कुछ कर्तृत्व नहीं आता। कोई जीव अपनी चैतन्य अरूपी सत्ता को छोड़कर पर में कुछ करने को समर्थ नहीं है। मात्र पुण्य-पाप के भाव अपने में (परलक्ष्य से) कर सकता है; किन्तु पर में कुछ भी करने के लिये अज्ञानी या ज्ञानी कोई समर्थ नहीं है। इसप्रकार अपना अरागीपन, असंगता और पर में अकर्तृत्व जानकर स्वाश्रय करके स्वलक्ष्य में स्थिरता का बल लगाये तो पुरुषार्थ के अनुसार स्वयं ही राग का नाश और शुद्धता की प्राप्ति कर सकता है।

भावार्थः—यहाँ आत्मा की अनुभूतिरूप स्वाश्रय एकाग्रता को ही—शांत ज्ञान की अनुभूति कहा गया है। अज्ञानीजन ज्ञेयों में ही इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान के विषयों में ही लुब्ध होरहे हैं।

ज्ञेयों में समस्त परद्रव्य आजाते हैं। शुभाशुभ वृत्ति या देव, गुरु, शास्त्र और साक्षात् सिद्ध भगवान भी ज्ञेय हैं। उन सबका ज्ञान-स्वभाव में वास्तव में अभाव है, क्योंकि वे सब ज्ञान में जानने योग्य हैं। वे आत्मा की वस्तु नहीं हैं इसलिये आत्मा के लिये सहायक नहीं होसकते। ऐसी स्वतंत्र वस्तु की जिसे खबर नहीं है वह परज्ञेयों में देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि में तथा पुण्यादि में लक्ष्य रखता है, इसलिये उसे पराश्रय की श्रद्धा है, जोकि मिथ्या-श्रद्धा है। ज्ञानी का लक्ष्य निज में है इसलिये वहाँ पराश्रय को स्थान नहीं है। इसप्रकार दोनों के लक्ष्य में अन्तर है। वस्तु तो ज्यों की त्यों नित्य ही है। अज्ञानी जीव बाह्य पर लक्ष्य रखता है इसलिये यदि बाह्य में उसकी मान्यतानुसार प्रवृत्ति दिखाई देती है तो वह संतोष मान लेता है कि चलो, यह मेरे द्वारा हुआ है। यदि शरीर स्वतः अनुकूल रहता है तो उसमें सुख मानकर स्वयं ही देह की अवस्था का कर्ता बनकर देह पर अपना स्वामित्व मानता है; तथा मैंने उपदेश सुना, मैंने पूजा की, मैंने मूर्ति के दर्शन किये, इसप्रकार परलक्ष्य करता है, जोकि सब राग का विषय है; वीतराग स्वभाव के प्रगट करने में वह लाभकारक नहीं है, किन्तु अज्ञानी इसे नहीं मान सकता।

जिनशासन किसी बाह्यवस्तु में नहीं है, कोई साम्प्रदाय जिनशासन नहीं है, किन्तु पर-निमित्त के भेद से रहित, निरावलम्बी आत्मा में और पराश्रयरहित श्रद्धा ज्ञान एवं स्थिरता में सच्चा जिनशासन है।

बाह्य में शुभाशुभभावों के अनुसार प्रवृत्ति देखकर मानों मैं उसरूप हो गया हूँ, इसप्रकार अपने ज्ञान में जानने योग्य जो देहादि की प्रवृत्ति है उसका जो जीव अपने को कर्ता मान लेता है वह पर को अपना मानता है, तथा परवस्तु में अच्छे-बुरे का भेद करके ज्ञान में अनेकत्व को मानता है, सो वह अज्ञानी है। किन्तु किसी भी ज्ञेय में अच्छा-बुरा करने का मेरे ज्ञान का स्वभाव नहीं है ऐसा जाननेवाला ज्ञानी

समस्त परज्ञेयों से भिन्न, ज्ञायक स्वरूप का ही स्वाद लेता है, वह ज्ञेय में नहीं अटकता।

अज्ञानी को सत्य-असत्य के भेद की खबर नहीं होती, वह ज्ञेय को और ज्ञान को एक मान लेता है। यदि वह कभी यथार्थ सतसंग में आया हो तभी तो वह धर्म को कुछ जान सकेगा? कोर्ट-कचहरी में भी अजान व्यक्ति को जाते हुए डर लगता है, किन्तु सदा परिचितों को कोई भय नहीं मालूम होता। इसीप्रकार जिसने कभी तत्व की बात ही नहीं सुनी, कभी परिचय प्राप्त नहीं किया उसे यह सब कठिन मालूम होता है, किन्तु भाई! यह तो ऐसी स्वतंत्रता की बात है कि जिससे जन्म-मरण के अनन्त दुःख दूर होसकते हैं। पर को अपना बनाना मँहगा होता है-अशक्य है, किन्तु मैं पर से भिन्न हूँ, अविकारी हूँ, इसप्रकार स्वभाव की श्रद्धा करना सस्ता है, सरल है और सदा शक्य है।

चाहे जैसा घोर अंधकार हो किन्तु उसे दूर करने का एकमात्र उपाय प्रकाश ही है। अन्य किसीप्रकार से-मूसल से या सूपड़ा इत्यादि से अन्धकार दूर नहीं होसकता। एक दियासलाई की चिन्गारी में सारे कमरे का अन्धकार दूर करने की शक्ति है, यदि पहले ऐसी श्रद्धा करे तो दियासलाई को जलाकर अन्धकार का नाश और प्रकाश की उत्पत्ति कर सकता है; इसीप्रकार अनादिकालीन अज्ञान-रूपी अन्धकार को दूर करने के लिये अंतरंग स्वभाव में जो पूर्ण ज्ञान भरा हुआ है उसकी श्रद्धा करो! तेरा ज्ञानगुण स्वतंत्र है, वह पर-रूप नहीं है, उसमें कोई आपत्ति नहीं है। पर के आश्रय से विकास को प्राप्त नहीं होता, ऐसी पहले श्रद्धा कर। यदि पहले से ही ऐसी शंका करे कि यह एक छोटी सी दियासलाई इतने बड़े घोर अन्धकार को कैसे दूर कर सकेगी? यदि कुदाली, फावड़ा इत्यादि साधन साथ में लाते तो ठीक होता? यदि ऐसी श्रद्धा करली जाये तो वह कभी भी दियासलाई को नहीं जलायेगा, और अंधकार का नाश नहीं होगा।

जैसे दियासलाई की शक्ति की श्रद्धा जल्दी जम जाती है वैसे ही आत्मा की भी पहले से ही श्रद्धा करनी चाहिये । अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा देहादि से भिन्न है, राग से या पराश्रय से आत्मा की ज्ञानज्योति प्रगट नहीं होती और अनादिकालीन अज्ञान का नाश नहीं होता । किन्तु मैं अविकारी, नित्य रागरहित, पूर्ण ज्ञान से भरा हुआ हूँ; मेरे स्वरूप में अज्ञान है ही नहीं, ऐसी प्रथम श्रद्धा करे तो उस श्रद्धा के बल से ज्ञान की निर्मलदशा प्रगट होकर अनादिकालीन अज्ञान का नाश होजाता है ।

सर्वप्रथम श्रद्धा आवश्यक है । यदि श्रद्धा न करे और माने कि मैं पामर हूँ, राग-द्वेष से दब गया हूँ, जड़कर्म का अधिक बल है और मैं अपने में पूर्ण केवलज्ञान का बल कैसे मानूँ ? तो आत्मा के गुण बाह्य प्रवृत्ति से या पर के आश्रय से कभी प्रगट नहीं होंगे। जैसे दियासलाई को साधारणतया स्पर्श करने से उसमें गर्मी या प्रकाश नहीं मालूम होता, किन्तु जब उसे योग्यविधि से घिसते हैं तब भीतर रहनेवाली अग्नि और प्रकाश प्रगट होता है; इसीप्रकार निरावलम्ब निर्मल ज्ञानस्वभाव को पहिचानकर उसमें एकाग्र हो तो बाहर के अन्य कारणों के विना ही स्वभाव में से गुण प्रगट होते हैं । अज्ञानी इन्द्रियाधीन ज्ञान से, राग से तथा पर विषयों से अपने ज्ञान को अनेक-प्रकार से खण्डरूप करके ज्ञेयाधीन होकर कर्तृत्व-ममत्वरूप आकुलता का ही वेदन करता है; और जो ज्ञानी हैं वे परज्ञेयों में आसक्त नहीं होते इसलिये जड़ की क्रिया में या रागादिक किसी भी ज्ञेयपदार्थ में ज्ञेयपदार्थ के आधार से, अपने ज्ञानानुभव को नहीं मानते । मेरा ज्ञान किसी निमित्त के आधीन नहीं है, किसी रागादिक ज्ञेय के साथ मेरा ज्ञान एकमेक नहीं होगया है, ऐसा मानने से ज्ञानी सर्व ज्ञेयों से भिन्न एकाकार स्वतंत्र ज्ञानस्वभाव का ही निराकुल आस्वाद लेता है ।

अवस्था में जितनी सीमातक निरुपाधिक ज्ञानगुण प्रगट होता है वह आत्मा ही है, और जो आत्मा है सो ही ज्ञान है, दोनों वस्तुएँ

पृथक् नहीं हैं। इसप्रकार गुण-गुणी की अभिन्नता लक्ष्य में आनेपर मैं नित्य अभेद ज्ञानस्वरूप पूर्ण गुणों से भरा हुआ हूँ, और सर्व पर-द्रव्यों से भिन्न, अपने गुणों में और गुणों की सर्व पर्यायों में एकरूप निश्चल हूँ; और पर निमित्ताधीनता से उत्पन्न होने वाले रागादिक भावों से भिन्न अपना निर्मल स्वरूप–उसका एकाकार अनुभव अर्थात् स्वाश्रित सतत ज्ञानस्वभाव का अनुभव (एकाग्रता) आत्मा का ही अनुभव है। और ज्ञानस्वभाव का अनुभव अंशतः निर्मल भावश्रुतज्ञान-रूप जिनशासन का निश्चय अनुभव है।

शुद्धनय के द्वारा दृष्टि में राग का निषेध करके स्वभाव पर दृष्टि करनेपर उसमें परसंयोग का या रागादिक पराश्रय का अनुभव नहीं होता, किन्तु त्रिकाल के सर्वज्ञ देवों के द्वारा कथित और स्वयं अनुभूत शुद्धात्मा का अनुभव है। निश्चयनय से–शुद्धदृष्टि से उसमें किसीप्रकार का भेद नहीं है। जिसने ऐसा जाना उसने अपने स्वरूप को जानलिया।

जिसे अपना हित करना है उसे प्रथम हितस्वरूप अपने स्वभाव की श्रद्धा करनी होगी। मैं नित्य गुणरूप हूँ, अवगुण (राग-द्वेष की वृत्ति) मेरा स्वरूप नहीं है किन्तु मैं उसका नाशक स्वभावरूप हूँ, असंग हूँ; ऐसे स्वभाव के बल से सर्व शुभाशुभ विकारीभावों का नाश करके, निर्मल स्वभाव प्रगट किया जासकता है।

धर्म का अर्थ क्या है ? सो बतलाते हैं:—

(१) कर्म के निमित्ताधीन होने से (राग-द्वेष में युक्त होने से) बंधनभाव की जो वृत्ति होती है सो मेरा स्वरूप नहीं है। ऐसे स्वभाव के बल से जो पराश्रय में गिरने से बचाकर धारण करले सो धर्म है।

(२) मैं पराश्रित नहीं हूँ, निरावलम्बी, अविकारी असंग ज्ञानानंद से पूर्ण हूँ; ऐसे नित्यस्वभाव के बल से अपने ज्ञान, श्रद्धान और चारित्ररूप निर्मलभावों को धारण कर रखना सो धर्म है।

निर्मल श्रद्धान ज्ञान और चारित्र की एकतारूप धर्म आत्मा में त्रिकाल स्वतंत्रता से भरा हुआ है; उसे न माने किन्तु यह माने कि

देहादि की क्रिया का तथा पुण्य-पाप के भावों का कर्ता हूँ, वही मेरा कार्य है और उससे मुझे हानि-लाभ होता है; इसप्रकार जो जीव मानता है या पर को मनवाता है वह जीव सच्चे जिनशासन को नहीं जानता। पराश्रयरूप व्यवहार का तथा पुण्य-पाप की वृत्ति का स्वाश्रय के बल से निषेध करे तो भीतर जो अविकारी गुण विद्यमान है वह प्रगट होता है।

(पृथ्वी)

अखंडितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहि—
महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते
यदेकरससमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥ १४ ॥

अर्थः—आचार्यदेव कहते हैं कि वह उत्कृष्ट तेज-प्रकाश हमें प्राप्त हो जो तेज सर्वदा चैतन्य के परिणमन से भरा हुआ है। जैसे नमक की डली क्षाररस से सर्वथा परिपूर्ण है, उसीप्रकार जो तेज एक ज्ञानरसस्वरूप पर अवलम्बित है, और जो अखण्डित है-ज्ञेयों के आकार से खण्डित नहीं होता, जो अनाकुल है-जिसमें कर्म के निमित्त से होने वाले रागादि से उत्पन्न आकुलता नहीं है, जो अविनाशीरूप से अंतरंग में तो चैतन्यभाव से देदीप्यमान अनुभव में आता है और बाह्य में वचन काय की क्रिया से प्रगट देदीप्यमान होता है-जानने में आता है, जो स्वभाव से ही हुआ है-जिसे किसी ने नहीं रचा और सदा जिसका विलास उदयरूप है, जो एकरूप प्रतिभासमान है, वही उत्कृष्ट आत्मस्वभाव हमें प्राप्त हो कि जिसका तेज सदा चैतन्य परिणमन से परिपूर्ण है। जो बहिर्मुख तुच्छ पराश्रित वृत्ति उद्भूत होती है उसरूप न होनेवाला जो अविकारी चैतन्यस्वभाव है वही उत्कृष्ट भाव हमें प्राप्त हो! ऐसी भावना आचार्यदेव ने इस कलश में व्यक्त की है।

देहादि या रागादि का कोई सम्बन्ध आत्मा में भरा हुआ नहीं है। कर्म के निमित्ताधीन योग से होनेवाली शुभाशुभ वृत्ति, नवीन

विकारभाव करने से होती है, वह स्वभाव में नहीं है। विकार से सदा भिन्न और अपने निर्मल गुण-पर्याय से त्रिकाल अभिन्न सदा जागृतरूप से मैं नित्य, निजाकार में चैतन्य के परिणमन से भरा हुआ हूँ, और विकार का नाशक हूँ,-ऐसा ज्ञानी जानते हैं। स्वाश्रयदृष्टि में विकार है ही नहीं।

जैसे नमक का स्वभाव प्रगटरूप से सतत खारेपन को ही बताता है, इसीप्रकार चैतन्य का निरावलम्बी स्वभाव प्रगटरूप से सतत निरुपाधिक ज्ञातृत्व को ही बताता है। वह पुण्य-पाप में रुकना या पराश्रयता को नहीं बतलाता, क्योंकि स्वभाव में पराश्रितता है ही नहीं।

इसप्रकार धर्मी जीव की भावना है, उसमें अधर्म का नाश करनेवाली निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और स्वरूप की रमणता बढ़ाने की भावना है, इसमें भूमिकानुसार अनन्त-पुरुषार्थ आजाता है।

यदि कोई कहे कि-श्रद्धा ज्ञान करके स्थिर होने में और मात्र-उसकी बातें करने से क्या धर्म हो जाता है? तो ऐसा कहने वाले को सच्चे तत्व का-स्वाधीन स्वभाव का अनादर है। उसे यह खबर नहीं है कि स्वभाव में ही धर्म भरा हुआ है, इसलिये वह यह मानता है कि कुछ बाहर करना चाहिये। वह असत्य का आदर और सत्य का विरोध है। यथार्थ स्वरूप उसके ज्ञान में नहीं जम पाया है इसलिये वह ऐसा कहकर सत् का अनादर करता है कि-'भला ऐसा कहीं हो-सकता है? हम जो कुछ मानते हैं सो तो कुछ नहीं और सबकुछ भीतर ही भरा हुआ है; यह तो केवल बातूनी की बातें मालूम होती हैं?' जो बाह्य क्रिया से अंतरंग परिणाम का निश्चय करता है उसे व्यवहार से शुभाभाव की भी खबर नहीं है।

ज्ञानी शुद्धदृष्टि के स्वाश्रित बल से निरंतर परनिमित्त के भेद से रहित केवल स्वाधीन ज्ञानरसस्वरूप का ही अवलम्बन करता है-अर्थात् पुण्य-पाप की क्रियारूप विकार से रहित, देहादि तथा रागादि

से रहित, पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित मात्र चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का ही अवलम्बन करता है।

शंका:—आत्मा को किसी का आधार है या नहीं? या मात्र निरावलम्बी ही कहते हो?

समाधान:—स्वरूप से स्वयं नित्य है, पररूप से कभी नहीं है; इसलिये पराश्रय की मान्यता को छोड़कर चैतन्यस्वभावरूप अपार उत्कृष्ट सामर्थ्य का स्वामी होने से स्वाश्रय में ही शोभा को प्राप्त होने वाली एकरूप ज्ञानकला का ही अवलम्बन करता है। ज्ञानतेज सदा अखण्डित है, ज्ञेयों के भेदरूप नहीं है, इन्द्रियों के खण्ड जितना नहीं है, परविषयरूप नहीं है। मेरे ज्ञान में जो शुभाशुभ राग की भावना ज्ञात होती है सो वह मुझसे भिन्न है, उस अनेक को जानते हुए भी नित्य एकरूप ज्ञानस्वभाव में अनेकता नहीं आती; क्योंकि ज्ञातास्वभाव में पर में अटकना नहीं होता।

स्वाश्रितता में शंका करनेवाला पर में अच्छे-बुरेपन की कल्पना करके, उसमें राग-द्वेष करके आकुलता का वेदन करता है। शुद्धदृष्टि से देखा जाये तो ज्ञानी या अज्ञानी प्रत्येक के स्वभाव में से तो निर्मल श्रद्धा ज्ञान चारित्र की ही पर्याय प्रगट होती है। स्वभाव की शुद्ध पर्याय नित्य एकरूप प्रवाहित रहती है, किन्तु अज्ञानी को नित्य स्वाश्रयस्वभाव की प्रतीति नहीं है इसलिये वह प्रतिसमय नवीन राग द्वेष मोहरूप विकार करता आता है। वह पराश्रय करके राग में युक्त होता है, इसलिये उसे शुद्धपर्याय का अनुभव नहीं होता। जैसे गुड़ की मिठास ही गुड़ है और गुड़ ही मिठास है, दोनों अलग नहीं हैं इसीप्रकार आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है; ज्ञान आत्मा से कदापि अलग नहीं है। ज्ञानस्वभाव में राग-द्वेष या मोह नहीं है; मात्र जानना ही है।

वास्तव में आत्मा सदा स्वतंत्र पूर्ण गुणस्वरूप है। मात्र दृष्टि की भूल से संसार है और भूल के दूर होने से मुक्ति होती है। अशुद्धपर्यायरूप पराश्रित व्यवहार को पकड़कर जीव पर्याय में अटक रहा

है, यही बन्धन है। कोई पर से बँधा हुआ नहीं है किन्तु अपनी विपरीत दृष्टि से ही बँधा हुआ है, उस दृष्टि के बदलते ही मुक्त हो जाता है।

त्रिकाल में भी जीव का कोई शत्रु या मित्र नहीं है। कोई उसका सुधारने या बिगाड़ने वाला नहीं है। वह विपरीत मान्यता से पराधीनता के भेद कर रहा था, और एकाकार ज्ञान-शांतिस्वरूप स्वाधीनता का नाश करता था, उस आकुलता का पूर्ण निराकुल स्वभाव की श्रद्धा के बल से नाश करके ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही चैतन्यभगवान शोभा को प्राप्त होते हैं, और वह स्वाधीन एकत्वस्वभाव में मिल जाने वाली निर्मल पर्याय भी निराकुलतारूप शोभा को प्राप्त होती है।

जगत की मोह ममता के लिये लोग कितने रुकते हैं? घर कुटुम्ब प्रतिष्ठा इत्यादि को यथावत् बनाये रखने का महान भार धारण करके, मानों मुझसे ही कुटुम्ब इत्यादि भलीभाँति चल रहे हैं, इसप्रकार पर का कार्य करने के मिथ्याभिमान से केवल आकुलता का ही वेदन करता है। कोई ज्ञानी या अज्ञानी पर का कुछ नहीं कर सकता, तथा पर का उपभोग नहीं कर सकता। अज्ञानी मात्र मूढ़भाव से मानता है, उस मान्यता को कोई दूसरा नहीं रोक सकता। चाहे जो कुछ मानने के लिये सब स्वतंत्र हैं। अज्ञानी मात्र अपने मोह का ही अज्ञानदशा में कर्ता है, और उसके फलस्वरूप चौरासी के जन्म-मरण में परिभ्रमण करना तथा महादारुण आकुलता का भोगना ही उसके लिये है। वर्तमान में स्वाधीनता से निवृत्ति लेकर सत्समागम से सत्य का श्रवण-मनन करे तो उसके फलस्वरूप उच्चपुण्य का बन्ध होता है, और जो सत्स्वरूप को समझे तो उसके लाभ की तो बात ही क्या है! संसार के घूरे का कूड़ा-कचरा उठाने की मजदूरी करके उसके फलस्वरूप दुःख ही भोगना होता है, इससे, तो सत्य को स्वीकार करके, उसका आदर करके, उसके समझने में लग जाना ही सर्वोत्तम है।

अनन्तकाल में दुर्लभ मनुष्यत्व प्राप्त हुआ है और सत्य को सुनने का सुयोग मिला है। यदि सत्य को एकबार यथार्थतया स्वीकार करके सुने तो अनन्तसंसार टूट जाये, ऐसी यह बात है। यदि सत् को स्वीकार नहीं की तो जैसे समुद्र में खोया हुआ चिंतामणि रत्न फिर से हाथ में आना लगभग अशक्य होता है, उसीप्रकार मनुष्यभव को पूर्ण करके यदि चौरासी के चक्कर में खो गया तो फिर मानवशरीर मिलना महादुर्लभ है।

परलक्ष्य से होनेवाले कोई भी विकारीभाव-शुभ हों या अशुभ, वे सब आकुलता करानेवाले हैं, और आकुलता दुःखस्वरूप है। मैं शुद्ध हूं, मैं आत्मा हूं इत्यादि विकल्प या जप भी आकुलता ही है, धर्म नहीं। धर्म तो स्वभावाधीन अकषायश्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता में ही है. धर्म ही आत्मा का स्वरूप है. आत्मा में ही सर्व सुख भरा हुआ है। जगत सुख और उसका उपाय बाहर से मानता है इसलिये वह सच्चे सुख से रहित है।

आत्मस्वभाव अविनाशीरूप है। जो अविनाशी है उसका कभी विनाश नहीं होता, जिसका कभी नाश नहीं होता उसकी उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् वह अनादि-अनंत है। निश्चयदृष्टि से-शुद्धनय से देखने पर अंतरंग में एकाकार शांत चैतन्यस्वभाव अनादि-अनंत देदीप्यमान एकरूप अनुभव में आता है।

सांसारिक रुचिवाला जीव बाह्यदृष्टि से परपदार्थ में अच्छा-बुरा मानकर उसमें राग-द्वेष, अज्ञान का सेवन करने की भावना करता है, और ऐसा मानता है कि मैं पर में कुछ करूं और दानादिक में धर्म-बुद्धि के द्वारा उसकी भावना करता है। लोग चाहते हैं कि ब्याज और मूलधन दोनों को सुरक्षित रखकर घर चलाया जाये; इसीप्रकार अज्ञानी जीव शुभराग को रखकर वीतराग होना चाहते हैं, और शुभराग में एकाग्र होते हैं। किन्तु यदि पराश्रित दृष्टि को बदल डाले तो आत्मा में जो पराश्रित भेद से रहित पूर्ण निर्मलस्वभावी वस्तु है उस मूल-

मन और उसकी भावना में परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, राग का अंश भी मुझमें नहीं है. मैं तो निरावलम्बी हूँ, इसप्रकार निर्मल श्रद्धा-ज्ञान की भावना करना और अपने में अपने स्वपरप्रकाशक ज्ञानस्वभाव को देखना सो निर्मलस्वभाव का सच्चा व्याज है, ज्ञानी उन दोनों को प्राप्त करता है ।

ज्ञान का स्वभाव अविरोधीरूप से जानना है । कोई विरोधी प्रहार करने को आये, विरोधरूप शब्द बोले तो "ऐसा क्यों ? यह नहीं चाहिये" इसप्रकार ज्ञेय का विरोधरूप ज्ञान न करे, क्योंकि उससमय अपने ज्ञान की वर्तमान योग्यता ही ऐसी है कि वे शब्द ज्ञेयरूप से हों; उसका (ज्ञान की पर्याय का) विरोध करने पर अपना ही विरोध होता है; परज्ञेय की मेरे ज्ञान में नास्ति है, मात्र वह मेरे ज्ञान में जानने योग्य है, उसका निषेध करने पर मेरे ज्ञान का ही निषेध होता है ऐसा ज्ञानी जानता है । जिसने परज्ञेय से हानि-लाभ माना है उसने पर के साथ अपने को एकरूप माना है ।

प्रश्नः—धर्मी जीव को बाह्य में (वचन और काय की चेष्टा में) दैदीप्यमान प्रसन्नता होती है सो कैसे ?

उत्तरः—धर्मी जीव के उत्कृष्ट पवित्र स्वभाव का बहुमान होता है इसलिये निमित्तरूप से बाहर मुखपर सौम्यता, प्रसन्नता और विशेषप्रकार की शांति सहज होती है । जिसे अधिक कषाय होती है ऐसे अज्ञानी की आँखों में लाली इत्यादि आकुलता दिखाई देती है । जो अनेकप्रकार के हाव-भाव करने में सयान मानता हो उसकी वैरवृत्ति बाहर से आकुलतारूप दिखाई दिये बिना नहीं रहती, कर्तृत्वभाव तथा अहंभाव का अभिमान वचन में प्रगट हुए बिना नहीं रहता; और ज्ञानी के पर के प्रति कर्तृत्व या ममत्व नहीं होता इसलिये बाह्य में भी वह अज्ञानी से अलग ही मालूम होता है; उसके वचनों में और चेष्टा में निस्पृहता और धैर्य दिखाई देता है, इसलिये मैं पर का कुछ

नहीं कर सकता ऐसे उसके निरपृहभाव का अनुमान होसकता है। ज्ञानी को निवृत्तिमय स्वरूप अनुकूल होगया है, ज्ञान की निराकुलता प्रतीत हुई है, इसलिये ज्ञानी में और अज्ञानी में अन्तर तथा बाह्य में बहुत बड़ा अंतर दिखाई देता है, यह सब व्यवहार की अपेक्षा से कथन है। किसी को सत्य की प्रतीति न हो किन्तु बाह्य में स्थिर होकर ध्यान में बैठता है-प्रायः ऐसा देखा जाता है; मैं पर का कुछ करता हूँ, और पर-पदार्थ मेरा कुछ कर सकते हैं, इसप्रकार तीनोंकाल के अनन्त पर-पदार्थों के प्रति कर्तृत्व-ममत्व मानता है, इसलिये उसे अनन्त राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहता। इसप्रकार बाहर से ध्यानमग्न दिखाई दे किन्तु भीतर अनेकप्रकार के मिथ्या अभिप्रायों की शल्य रहती है। इस अपेक्षा से बाह्य प्रवृत्ति पर आंतरिक गुणों का आधार नहीं है। अज्ञानी बाहर से शांत बैठा हुआ दिखाई देता हो किन्तु अंतरंग में ऐसे विचार उठते हैं कि यदि मैं कुछ करूँ और कुछ बोलूँ तो दूसरों से अधिक महान होजाऊँ। और ज्ञानी बाह्य में राज्य करता हो फिर भी उसके अंतरंग में ऐसे विचार होते हैं कि मैं बाह्य लक्ष्य से रहित स्वाश्रय स्वभाव में स्थिर होजाऊँ तो उसीमें मेरी महत्ता है। ज्ञानी को अज्ञानी की भाँति अधैर्य नहीं होता। यदि इकलौता जवान बेटा बीमार होगया हो तो ज्ञानी उसकी औषधि कराता है, उपचार करता है, सेवा करता है, किन्तु उसके अंतरंग में आकुलता नहीं होती और वह अपने मन को समाधान करके यह सोचता है कि जो होना होगा सो होगा। यदि पुत्र का मरण होजाये तो कभी ऐसा भी होता है कि ज्ञानी रोता है और अज्ञानी नहीं रोता; किन्तु इसप्रकार बाह्य चेष्टा से ज्ञानी और अज्ञानी की परीक्षा नहीं होसकती।

अब आगामी सोलहवीं गाथा की सूचना रूप कलश कहते हैं:—

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥ १५ ॥

अर्थः—यह ज्ञानघनस्वरूप नित्य आत्मा है सो उसकी सिद्धि के इच्छुक पुरुषों को साध्य-साधक भाव के द्विभेद से एक ही नित्य सेवन करना चाहिये ।

यह आत्मा पराश्रय के भेद से रहित, निरुपाधिक ज्ञानस्वरूप है, उसके पूर्ण केवलज्ञान स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों को साध्य (पूर्ण निर्मल अवस्था) और साधक (अपूर्ण निर्मल पर्यायरूप दर्शन ज्ञान-चारित्र) भाव को दो प्रकार से जानकर, एकाकार सामान्य स्वभाव को उपादेय मानकर उसीका सेवन करना चाहिये । वह पूर्ण स्वभाव ही साध्य है । केवलज्ञान व्यवहार से साध्य है; क्योंकि वह भी वास्तव में तो पर्याय ही है । निश्चय से त्रिकालस्थायी पूर्ण आत्मस्वरूप स्वयं ही साध्य है । स्वभाव के बल से पुरुषार्थ प्रगट होता है । साध्य के बल से साधन की निर्मलता होती है ।

साध्य-साधनभाव आत्मा में ही है, उसमें मन के अवलम्बन का साथ नहीं है, और शरीर या वाणी भी साधन नहीं है । कोई शुभविकल्प भी गुण-लाभ के लिये सहायक नहीं है, ऐसा जानकर निर्विकल्प निरावलम्बी पूर्ण ज्ञानस्वरूप को लक्ष्य में लेकर अपने एकत्व में स्थिर होना चाहिये ।

आत्मा निर्विकल्प अभेदस्वरूप है, ऐसा कहने पर अज्ञानी जीव कुछ नहीं समझ सकता, इसलिये अवस्था के भेद करके ज्ञानी उसे समझाते हैं कि जो श्रद्धा करता है सो आत्मा है, जो जानता है सो आत्मा है । वास्तव में मात्र ज्ञायकस्वभाव में भेद करना भूतार्थ नहीं है । जाननेवाला स्वयं नित्य स्वतः जानता है । जिसकी सत्ता में स्व पर के पृथक्त्व को जाननेवाला ज्ञातृत्व मालूम होता है वह जब अशुद्ध अवस्था में रुक जाता है तब परपदार्थ में अच्छाई-बुराई मानता है उसमें अवस्था जितने ही रागादिक मालूम होते हैं, किन्तु वे रागादिक ज्ञानस्वरूप में नहीं होते । राग-द्वेष की अस्थिरता को दूर करके तू निराकुल

स्थिरतारूप से रह सकता है। पराश्रय में रुक जानेवाली बहिर्मुख दृष्टि का त्याग करके उसका स्वभाव के बल से निषेध करके अब अपने स्वभाव में स्थिर हो जा।

दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधकभाव आत्मा में हैं और साधुओं को (इसमें श्रावक सम्यक्त्वी आदि सभी ज्ञानियों का समावेश है) उनका सेवन करना चाहिये, यह बात आगे की गाथा में कही जायेगी।

जैसे पिता अपने बड़े पुत्र से घर-गृहस्थी और व्यापार सम्बन्धी बातें करता है, किन्तु वे मात्र उसीके लिये नहीं होतीं, मगर उसके सभी पुत्रों के लिये होती हैं; इसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान की बातें उनके उत्तराधिकारी निर्ग्रंथ साधु, आर्यिका, श्रावक और श्राविका-चारों तीर्थ के लिये हैं। जो दर्शन ज्ञान और चारित्र मुख्यतयः साधुओं को सेवन करने के उद्देश्य से कहा है उसीप्रकार उपरोक्त चारों वर्ग के लिये भी समझना चाहिये। श्रद्धा ज्ञान और चारित्र तीनों एक आत्मा में ही होते हैं, तीनप्रकार अलग नहीं हैं। उन तीनों गुणों की अवस्था का विचार करना सो राग है; किन्तु राग को दूर करने का उपाय तो स्वाश्रय स्वभाव की श्रद्धा के बल से स्वरूप में एकाग्र होना ही है।

पुण्य-पाप की भावना जितना ही आत्मा नहीं है। पराश्रय से-मन के अवलम्बन से जो कुछ शुभाशुभभाव होते हैं सो सब विकारी भाव हैं, उनके आश्रय से कभी भी आत्मा की सुख-शांति प्रगट नहीं होती, और उसके द्वारा सम्यक्दर्शन भी नहीं होसकता। यदि पुण्य-पाप की भावना से रहित, निर्मल ज्ञायकस्वभाव को यथार्थ श्रद्धा के द्वारा लक्ष्य में लिया जाये तो ही स्वभाव में जो सुख-शांति भरी हुई है वह अवस्था में प्रगट होती है।

जगत का प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र-सुखी होना चाहता है, और प्रत्येक प्राणी ने अपना सुख कहीं परपदार्थ में कल्पित कर रखा है। किन्तु पराश्रय से कभी सुख नहीं मिलता, स्वतंत्रस्वभाव की प्रतीति के बिना

सुख का उपाय भी प्रगट नहीं होता। शुभ या अशुभ जो भाव होते हैं वह सब पराश्रय से होनेवाला विकार भाव है, अधर्मभाव है, बन्धनभाव है। वह स्वाश्रय स्वभाव में कोई सहायता नहीं करता। इसप्रकार यदि स्वाश्रयस्वभाव को माने तो उसके लिये उपाय करे। पराश्रयरूप अवस्था का लक्ष्य छोड़कर, मन के योग से किंचित् पृथक् होकर निज में लक्ष्य किया कि फिर उसे दृष्टि में संसार है ही नहीं।

यहाँ तो एक ही बात है-या तो संसार परिभ्रमण या सिद्धदशा। दोनों विरुद्ध हैं, एक साथ दोनों नहीं होसकते।

प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। स्वतंत्र वस्तु को कोई पर-मन, वचन, काय, की क्रिया, देव, गुरु, शास्त्र, बाह्य अनुकूलता या प्रतिकूलता-लाभ या हानि किंचित्मात्र भी नहीं कर सकता। उनके आश्रय से लाभ नहीं किन्तु बंधन है। इसलिये पराश्रय का त्याग करके स्वाश्रयस्वभाव को लक्ष्य में लेना ही प्रथम श्रद्धा का विषय है।

एक सूक्ष्म रजकण भी अपनी अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण अखण्ड वस्तु है, और अपने आधार से ध्रुवरूप स्थिर होकर प्रतिसमय स्वतंत्र अवस्था को बदलता रहता है। वह दूसरे चाहे जितने रजकणों के पिंड के साथ रहे फिर भी उसके गुण (स्पर्श रस वर्ण गंध इत्यादि) पर से भिन्न ही हैं, उसका किन्हीं दूसरे रजकणों के साथ परमार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है।

अनन्तकाल से बाह्य वृत्तिरूप अज्ञान का प्रवाह पर की ओर जारहा है-पराश्रय की ओर उन्मुख है, और पर के लक्ष्य से जितने शुभाशुभभाव करता है वह सब पराश्रयरूप व्यवहार है। पर में कुछ भी करने का जो भाव है सो सब अधर्मभाव है, वह स्वभाव में नहीं है; किन्तु एकसमयमात्र की आत्मा की विकारी अवस्था में परलक्ष्य से होता है। उस क्षणिक अवस्था पर लक्ष्य न देकर एकरूप ज्ञानस्वभाव पर लक्ष्य करे तो आत्मा सदा अखण्ड शुद्ध ज्ञानानंद स्वरूप ही है, पर के

अवलम्बन वाला नहीं है। अखण्ड अर्थात् किसी भी वस्तु के संयोग में रहने पर भी उसमें पराधीनता नहीं आती, या उसमें भेद नहीं होता; चैतन्य का कोई अंश अचेतनरूप या राग-द्वेषरूप नहीं होजाता।

जो पराश्रयरूप शुभाशुभ भेद होते हैं वह मेरा स्वरूप नहीं है, मेरे लिये सहायक नहीं हैं, किन्तु वह विरोधभाव है—ऐसा जानना सो व्यवहार है। मोक्षमार्ग भी अपूर्ण अवस्था है। वहाँ व्रतादि के जो शुभभाव होते हैं सो वे वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं हैं, किन्तु उनका ज्ञान करने के लिये कथनमात्र (व्यवहार) है। अखण्ड के लक्ष्य के बाद उसके निश्चय से युक्त अवस्था को जानना सो व्यवहार है, किन्तु स्वभाव के लक्ष्य के बिना मात्र अवस्था को ही जानना सो व्यवहार भी नहीं कहलाता ॥ १५ ॥

आचार्यदेव अब सोलहवीं गाथा में कहते हैं कि-पराश्रयरहित शुद्धस्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरतारूप मोक्षमार्ग एक ही है, और शुभाशुभभावरूप संसार-मार्ग एक ही है। दोनों विपक्ष हैं।

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

दर्शनज्ञानचरित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यम्।
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानमेव निश्चयतः ॥ १६ ॥

अर्थः—साधु पुरुषों को दर्शन ज्ञान और चारित्र सदा सेवन करना चाहिये; और उन तीनों को निश्चयनय से एक आत्मा ही जानो।

अपने में सर्व समाधानरूप पूर्ण सुख है, अज्ञानी जीव उसे भूलकर बाहर से ही सुख और सुख का उपाय मानता है; देह इन्द्रिय धन इत्यादि में जो सुख की कल्पना कर रखी है सो वह मान्यता अनादिकाल से दृढ़ होगई है, इसलिये यह मानता है कि मैं पराश्रय के बिना नहीं रह सकता; किन्तु यदि उस कल्पना को बदलकर यह माने

कि स्वाश्रित निश्चय से मैं एक स्वतंत्र सुखस्वरूप वस्तु हूँ, तो उसमें किसी की आवश्यकता नहीं होती। मिथ्याकल्पना करनेवाले ने अपने को भूलकर अनन्त परवस्तु में पराश्रय से सुख की कल्पना की थी; उस दृष्टि को बदलकर अंतरंग में माने कि मैं स्वतंत्र वस्तु हूँ, और जबकि स्वतंत्र वस्तु हूँ तो मेरे सुख के लिये, ज्ञान के लिये दूसरे की सहायता लेनी पड़े यह कैसे होसकता है? स्वभाव में ही अनन्तगुण भरे हुए हैं जोकि मेरे ही स्वाश्रय से प्रगट होते हैं। स्वाधीन स्वरूप को माने और उसमें स्थिर हो सो 'यही सुख का उपाय है। स्वाश्रित स्थिरता पर जितना भार दे उतना सुख प्रगट होता है, और पूर्ण स्थिरता के द्वारा जो अनन्त सुख भरा हुआ है सो प्रगट होता है; पराश्रय के द्वारा स्वाधीन सुखस्वभाव कभी प्रगट नहीं होसकता।

पराश्रय में सुख की कल्पना कर रहा था और जो ऐसी पराश्रित-दृष्टि थी कि अनन्त परवस्तुएँ मेरे सुख-दुःख का कारण हैं, उसे बदलकर स्वाश्रित दृष्टि से देखनेपर—'मैं पर से भिन्न हूँ' ऐसा निर्णय करनेपर अपने में जो अनन्तसुख भरा हुआ है उसका विश्वास हो जाता है। पहले जो दूसरे पर लक्ष्य रहता था वह अपने पर रहने लगे तो राग-द्वेष कम होता है।

यहाँ स्वाधीन सुख की रीति कही जारही है। यह बिल्कुल अंतरंग मार्ग है, उसे बाहर निकालकर कैसे बताया जासकता है? तुझे अपने सुख के लिये दूसरे की ओर ताकना पड़े यह कितना आश्चर्य है? अनुकूलता हो तो आदर करूँ, प्रतिकूलता को दूर करदूँ, धन-प्रतिष्ठा हो तो सुख मिले—यह सब मिथ्या कल्पनारूप दुःख ही है। जो पर में अच्छा-बुरा मानकर, उसके आधार से सुख-दुःख की कल्पना करता है उसने पर को अपना माना है और अपने को पराधीन, शक्ति-हीन माना है जैसे डिब्बी के संयोग में रहनेवाला हीरा डिब्बी से भिन्न ही है उसीप्रकार देहादि संयोग में रहनेवाला भगवान आत्मा

उससे अलग ही है; इसलिये उसपर लक्ष्य देने से तेरा स्वाधीन सुख प्रगट होगा।

जब पहले बहिर्मुख दृष्टि थी तब बाह्य में मुझे कौन अनुकूल है और कौन प्रतिकूल है, इसप्रकार परपदार्थ के लक्ष्य से राग-द्वेष में एकाग्र होता था और अपने को उसरूप मानता था; उस परोन्मुखता की दृष्टि को बदलकर यदि स्वभाव में गुण की ओर स्वाश्रित दृष्टि करे तो श्रद्धा ज्ञान चारित्ररूप से स्वयं अकेला अपने को सेवन करनेवाला होता है।

टीकाः—यह आत्मा जिस भाव से साध्य और साधन होता है (भाव एक और पर्याय दो–साध्य-साधक) उस भाव से ही नित्य सेवन करने योग्य है। भिन्न-भिन्न भावानुसार भेद नहीं करना पड़ते। पुरुषार्थ के द्वारा कर्म का क्षय करके जो पूर्ण निर्मलभाव प्रगट होने योग्य है सो साध्यभाव है, और बन्धनरूप राग-द्वेष का नाश करनेवाली जो अपूर्ण निर्मलदशा है सो साधन अथवा साधकभाव है। दोनों (साध्य-साधक) का ज्ञान करे, किन्तु निर्मल साध्यभाव तो मात्र शुद्ध आत्मा का सेवन करने से ही प्रगट होता है।

जैसे दियासलाई में वर्तमान अवस्था में उष्णता और प्रकाश प्रगट नहीं हैं तथापि वे शक्तिरूप से वर्तमान में भी भरे हुए हैं, ऐसी श्रद्धा पूर्वक उसे यदि योग्य विधि से घिसा जाये तो उसमें से अग्नि प्रगट होती है; इसीप्रकार आत्मा में तीनोंलोक को प्रकाशित करनेवाली केवलज्ञानज्योतिरूप शक्ति भरी हुई है। उस पूर्ण का लक्ष्य करनेवाला निर्मलभाव वर्तमान में अल्प है, तथापि प्रत्यक्ष है और श्रद्धा में पूर्ण है। सिद्धदशा का और केवलज्ञान का भाव भरा हुआ है, वह वर्तमान में अप्रगट है–परोक्ष है।

पानी में उष्णता प्रत्यक्ष है उसका लक्ष्य गौण करके, उसके ठंडे स्वभाव का लक्ष्य करने के बाद उसे शीतल करने की क्रिया प्रारंभ की तब उसमें थोड़ी ठंडक आने लगी सो वह वर्तमान में अंशतः प्रत्यक्ष

ठंडक है और उसमें जो सम्पूर्ण ठंडक लक्ष्य में आती है सो वह शक्तिरूप से परोक्ष है; उसीप्रकार वर्तमान में आत्मा में परनिमित्त के योगरूप अवस्था को गौण करके पूर्ण निर्मलस्वभाव का लक्ष्य करने के बाद परोक्ष केवलज्ञानस्वरूप की अखण्डता के लक्ष्य से वर्तमान में स्वाश्रय के बल से आंशिक निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रभाव प्रगट होता है, उसके द्वारा निर्मलस्वरूप आत्मा ही सेवन करने योग्य है।

यथार्थ प्रतीति में पूर्णस्वभाव की श्रद्धा और उसका लक्ष्य हो उसके साथ ही पूर्णभाव प्रगट होजाये तो बीच में, साधक दशा अर्थात् मोक्षमार्ग न आये, किन्तु ऐसा नहीं होता; क्योंकि पूर्ण निर्मलता प्रगट होने से पूर्व बीच में मोक्षमार्ग आये बिना नहीं रहे।

लेंडीपीपल में चौंसठपुटी चरपराहट आने की शक्ति वर्तमान में प्रगटरूप से नहीं है फिर भी उस पूर्ण की प्रतीति के लक्ष्य से वर्तमान में उसे घिसने से थोड़ी चरपराहट प्रगट होजाती है, जोकि पूर्ण चरपराहट का अंशतः कार्यरूप साधन है सो प्रत्यक्ष है, और पूर्ण चरपराहट प्रगट नहीं है तथापि उसकी प्रतीति है; इसीप्रकार आत्मा में केवलज्ञान वर्तमान में अप्रगट शक्तिरूप से भरा हुआ है, उसकी प्रथम श्रद्धा करे, और किसी भी दृष्टि से विरोध न रहे—इसप्रकार उसके साधन की भी यथार्थ पहिचान करे, पश्चात् स्व लक्ष्य से एकाग्रता के बल से जिन अंश में निर्मलभाव प्रगट हो वह प्रत्यक्ष है और वह पूर्ण का साधन है।

पीपल के दृष्टांत में लोगों का लक्ष्य पत्थर पर जाता है, किन्तु पत्थर से पीपल में चौंसठपुटी चरपराहट नहीं आई है। यदि पत्थर से चरपराहट आती हो तो कंकड़ पत्थर या लकड़ी के टुकड़ों को खरल में डालकर घोटने से उनमें भी चरपराहट आनी चाहिये। दृष्टान्त में से एक अंश को लेकर उसमें से सिद्धान्त को समझ लेना चाहिये। पीपल में चौंसठपुटी चरपराहट थी सो वही प्रगट हुई है। इसीप्रकार आत्मा में

केवलज्ञान शक्तिरूप से विद्यमान है, उसकी प्रतीतिरूप प्रथम साधन करने के पश्चात् स्थिरतारूप विशेष पुरुषार्थ होता है। पूर्ण अखंड की श्रद्धा में एकाकार पूर्णस्वभाव का ही लक्ष्य है, उसमें अपूर्णभाव के या पूर्ण-भाव के भेद नहीं होते। भेद के लक्ष्य से अभेद का पुरुषार्थ उद्भूत नहीं होता। अखण्ड पूर्णस्वभाव के बल से निर्मल श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता होती है। वर्तमान में अपूर्ण और शक्ति में पूर्ण—इसप्रकार दो अवस्थाओं का भेद करनेवाले व्यवहार को गौण करके सम्यक्दर्शन का लक्ष्य अखण्ड ज्ञानमय स्वरूप की ओर एकाकार है।

मैं पूर्णवस्तु एकरूप स्वतंत्रतया त्रिकालस्थायी हूँ; उसमें पूर्ण निर्मल अवस्था शक्तिरूप से नित्य भरी हुई है, और वर्तमान में अपूर्ण अवस्था है—यों दो प्रकार के भेद ज्ञान में प्रतीत होते हैं, किन्तु श्रद्धा का ध्येय (साधन का साध्य) पूर्ण अखण्डस्वरूप ही है।

लोग कुलदेवतादि को सर्वसमर्थ, रक्षक मानते हैं, किन्तु यह तो विचार कर कि तुझमें भी कुछ दम है या नहीं? तू नित्य है या अनित्य? स्वाधीनता के लक्ष्य से अन्दर तो देख! त्रिकाल स्वतंत्रतया स्थिर रहनेवाला भगवान आत्मा सतत जागृत ज्ञातास्वरूप है, वही सर्व-समर्थ देव है, उसीकी श्रद्धा कर; पर की श्रद्धा छोड़, पर से पृथक्त्व बतानेवाले निर्मल ज्ञान का विवेक कर, स्वभाव के बल से एकाग्रता कर और श्रद्धा-ज्ञान तथा स्थिरता को एकरूप स्वभाव में लगा यही मोक्षमार्ग है।

जो ज्ञान है सो साध्य-साधक दोनों भाव को जानता है, किन्तु सेवन तो मात्र निश्चयस्वरूप का ही करता है। इसका अर्थ यह है कि निश्चय वस्तु—आत्मा पर एकाकार लक्ष्य का जोर दिया जाये। निश्चय स्वभाव के बल से अपूर्ण पर्याय पूर्ण निर्मल होजाती है। मैं व्यवहार के भेद में रुकने वाला नहीं किन्तु पराश्रय के सर्व भेदों को नाशकरनेवाला हूँ, ऐसे निःशंक भाव से अखण्ड स्वभाव के बल से

हीन पर्याय को तोड़कर, अल्पकाल में साध्यरूप पूर्ण मोक्षदशा प्रगट करता है। यदि यह समझ में न आये तो धैर्य रखकर समझना चाहिये, क्योंकि समझ के मार्ग पर ही सत्य का आगमन होता है, विपरीत मार्ग से कभी अन्त नहीं आयेगा।

यदि आत्मा में पूर्ण शांति, और अपार ज्ञान-सुख न हो तो अशांति और पराश्रयता का दुःख ही बना रहे। यदि स्वभाव में सुख न हो तो चाहे जितना पुरुषार्थ करने पर भी वह प्रगट नहीं होसकता, किन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा में निरन्तर अनन्त सुख की पूर्ण शक्ति है, उसकी यथार्थ प्रतीतिरूप सम्यक्श्रद्धा करके अभेदस्वरूप के लक्ष्य से एकाग्र हो और त्रिकाल निश्चयस्वभाव की दृढ़ता करे तो स्वाधीन सुखरूप में शङ्का नहीं होती। उस श्रद्धा के बल के अनुसार निर्मलभाव की एकता के द्वारा एक आत्मा को ही सेवन करना योग्य है।

इसप्रकार स्वाश्रित निश्चय भक्ति करके अर्थात् एक ही भाव में मोक्ष और मोक्ष की प्राप्ति है, इसप्रकार स्वयं निर्णय करके अखण्ड वस्तु के व्यवहार से भेद करके दूसरे को समझाने के लिये कहते हैं, तथापि लक्ष्य तो पूर्ण का ही है। साधु पुरुषों को पराश्रय के भेद से रहित स्वाश्रित निर्मल दर्शन ज्ञान और चारित्र का नित्य सेवन करना चाहिये। यद्यपि कहनेवाले का लक्ष्य पूर्ण अभेद पर है, किन्तु भेद किये बिना दूसरे को समझाया नहीं जासकता। यदि किसी अज्ञानी से कहा जाये कि अखण्ड आत्मा सेवन करने योग्य है तो वह समझता नहीं है, इसलिये उपदेशक यह जानता है कि शुद्धनय का उपदेश आवश्यक है, फिर भी वह दर्शन ज्ञान और चारित्र के भेद करके कथन करता है, किन्तु उसका लक्ष्य तो अखण्ड निश्चय का ही है। यथार्थ निश्चयरूप निर्मल, एकरूप अखण्ड आत्मा को लक्ष्य में लेने पर उसकी स्थिरता के बल से अल्पकाल में मोक्षपर्याय प्रगट होजाती है। साधक अवस्था में अल्पकाल के लिये साधन-साध्यरूप अपूर्ण अवस्था और पूर्ण अवस्थारूप खण्ड पर लक्ष्य रहता है, किन्तु अखण्ड के बल से उस भेद का विकल्प

टूटता जाता है, और अपनी ओर के विकल्प भी टूटकर अल्पकाल में पूर्ण होजाते हैं।

व्यवहार से भेद करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप बताये, वर्तमान अपूर्ण अवस्था को बताये, किन्तु भेद को जानकर एक अभेद आत्मा को ही सेवन करना योग्य है, क्योंकि परमार्थ से तो ज्ञान दर्शन चारित्र-यह तीनों भेद आत्मा के ही परिणाम हैं, आत्मा से अलग नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि मन में दर्शन रहे, शास्त्र में ज्ञान रहे, और शरीरादि की क्रियां में चारित्र रहे; किन्तु अन्तरंग में स्वाश्रित अरूपी निर्मल भावरूप से तीनों गुणों की एकतामय आत्मा में स्थिर होना सो स्वरूपाचरण चारित्र है,-सम्यक् चारित्र है। एक स्थान पर शरीर का बैठे रहना सो सामायिक नहीं है, शरीर की कोई क्रिया सो चारित्र नहीं है; किन्तु मैं निरुपाधिक ज्ञान-स्वरूप आत्मा हूँ-इसप्रकार स्वलक्ष्य में स्थिर होना सो सामायिक और चारित्र है। शुभविकल्प में स्थिर होजाना भी सच्ची सामायिक नहीं है, किन्तु आत्मपरिणामों की स्थिरता सामायिक है। अशुभ से बचने के लिये शुभभाव करने का निषेध नहीं है, किन्तु उसीको धर्म मान लिया जाये तो उसका निषेध है। जिसे ऊपर चढ़ने का उपदेश दे रहे हैं, उसे व्यवहार से भी नीचे गिरने को कैसे कहा जायेगा?

जैसे देवदत्त का ज्ञान श्रद्धान और चारित्र देवदत्त के स्वभाव को उल्लंघन नहीं करते इसलिये वह देवदत्त के स्वरूप से है, अन्यरूप से नहीं है; इसीप्रकार आत्मा में भी पर से भिन्न, निरावलम्बी पूर्ण शुद्ध हूँ-ऐसी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसके अनुसार आचरण आत्मा के स्वभाव का उल्लंघन नहीं करते, अर्थात् उसमें से कोई गुण दूसरे का आश्रय नहीं लेता इसलिये वह नित्य शुद्ध आत्मा के आश्रय पर ही अवलम्बित है, अतः वे भी आत्मा ही हैं अन्य वस्तु नहीं।

यहाँ यह निश्चय हुआ कि पूर्ण निर्मल साध्यभाव भी आत्मा स्वयं है और निर्मल दर्शन ज्ञान चारित्ररूप साधकभाव-मोक्षमार्ग भी स्वयं ही

है। मोक्ष और मोक्षमार्ग का निश्चयकारण भी आत्मा स्वयं ही है। आत्मा का कोई साधन व्यवहार से भी किसी परवस्तु में नहीं है, मन, वाणी, देह की प्रवृत्ति में नहीं है, व्रतादि के शुभराग में भी नहीं है, ऐसा निश्चय करके अपने एक आत्मा का ही सेवन करने योग्य है; वह स्वयं अपने आप से ही प्रगट परमात्मारूप में प्रकाशमान है।

मनुष्य कभी-कभी आकुलित हो उठता है कि-ऐसे निश्चय (सर्वथा सत्य) स्वरूप को समझने बैठेंगे तो कहीं के नहीं रहेंगे, हम जो पुण्य में व्यवहार मानते हैं, वह साधन भी नहीं रहेगा तो फिर किसका आश्रय लेंगे? किन्तु हे भाई! तू अकेला ही स्वतंत्र पूर्ण प्रभु है, स्वयं ही नित्य शरणभूत परमात्मा है, मोक्ष का मार्ग बाह्य में और मोक्ष आत्मा में हो, अर्थात् कारण परपदार्थ में और उसका कार्य आत्मा में हो-ऐसा त्रिकाल में भी नहीं होसकता। यह बात कभी रुचिपूर्वक नहीं सुनी, सत्य को समझने की कभी चिंता नहीं की, इसलिये जो अपनी ही बात है वह कठिन प्रतीत होती है। समझने की जो रीति है उसके अनुसार सत्य को समझने की आदत रखनी चाहिये। भगवान आत्मा पर से भिन्न, मन और इन्द्रियों से पर है, उसे सत्समागम से समझने का प्रयत्न करे और सत्यासत्य की भलीभाँति परीक्षा करे तो समझ सकेगा। किन्तु यदि अपनी शक्ति में ही शङ्का करे और अपने से ही अज्ञान रहना चाहे तो अपूर्व रुचि के बिना समझ कहाँ से आयेगी? जिसे समझने की आकांक्षा है वह सत्य को सुनते ही भीतर से अति उत्साहित होकर बहुमान करता है कि अहो! यह अपूर्व बात तो मैंने कभी सुनी ही नहीं, यही मुझे समझना है। स्वभाव की दृढ़ता के द्वारा पर के अभिमान का नाश किया कि वह स्वयं निःसंदेह होकर स्वतंत्रता को घोषित करता है कि एक दो भव में ही इस संसार की समाप्ति है। इसलिये समझने की रुचि का उत्साह बारम्बार बढ़ाना चाहिये। यदि समझने में विलंब प्रतीति हो तो मानना चाहिये कि अभी अधिक रुचि की आवश्यकता है। जिससे परम हितरूप सुख ही होना है

उसके श्रवण-मनन में आकुलता नहीं आनी चाहिये। पूर्वापर विरोध से रहित अर्थात् पर-निमित्त के भेद से रहित, स्वतंत्र अविकारी परम सत् को स्वीकार करना सो सम्यक्दर्शन है।

भावार्थः—दर्शन ज्ञान और चारित्र–यह तीनों आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं, वे साधु पुरुषों और श्रावकों के द्वारा नित्य सेवन करने योग्य हैं, और व्यवहार से अन्य को भी वैसा ही उपदेश करना योग्य है। स्वाश्रित-निश्चय का फल मोक्ष है और पराश्रित व्यवहार का फल संसार है।

प्रश्नः—जबकि व्यवहार से मोक्ष प्राप्त नहीं होता तो व्यवहार का उपदेश किसलिये किया जाता है?

उत्तरः—व्यवहार का उपदेश तो अज्ञानी जीवों को परमार्थ समझाने के लिये किया है, किन्तु ग्रहण करने योग्य तो मात्र निश्चय ही है।

प्रश्नः—साधारण जनता को लोकप्रचलित व्यवहार का आदर करने का ही उपदेश क्यों नहीं देना चाहिये?

उत्तरः—वैसे व्यवहार का उपदेश देनेवाले अनेक स्थल हैं, किन्तु जिससे जन्म-मरण दूर होजाये–ऐसे सनातन सत्यमार्ग का उपदेश ही अत्यंत दुर्लभ है। ऐसे परमार्थ का उपदेश इस समयसार में किया गया है, इसलिये वह सत्य उपदेश सबके लिये करने योग्य है।

आठ वर्ष के बालक से लेकर वृद्धपुरुषों तक सभी में सत्य को समझने की योग्यता है, सभी प्रभु हैं। जो सत्य वक्ता होता है वह परम-सत्य का ही उपदेश करता है। सर्वज्ञभगवान के द्वारा कथित निश्चय के बिना त्रिकाल में मुक्ति का कोई दूसरा उपाय नहीं है। असत्य को माननेवालों की संख्या इस जगत में अधिक ही रहेगी, किन्तु इससे सत्य कहीं ढँक नहीं जाता।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र-यह तीनों आत्मा की ही पर्यायें हैं, कोई अलग वस्तु नहीं है, इसी अर्थ का सूचक कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयं ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥

अर्थः—यदि प्रमाणदृष्टि से देखा जाये तो यह आत्मा एक ही साथ अनेक अवस्थारूप ('मेचक') भी है, और एक अवस्थारूप ('अमेचक') भी है, क्योंकि उसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र से तो त्रयत्व है और अपने से अपने में एकत्व है।

प्रमाण अर्थात् त्रिकालस्वभाव और वर्तमान अवस्था—दोनों को एक ही साथ लक्ष्य में लेना। ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से देखने पर निश्चय से आत्मा के एकत्व ही है, पर्यायदृष्टि से आत्मा अनेकरूप है। जहाँतक पूर्ण निर्मल अवस्था प्रगट न हो वहाँतक भेद होते हैं, किन्तु स्वभावदृष्टि से देखने पर कभी भेद नहीं होते। पर्याय के लक्ष्य को गौण करके अखण्डस्वभाव की दृढ़ता का बल उस विकार का नाश करनेवाला है। आत्मा में ऐसी अवस्था है और ऐसे गुण हैं, इसप्रकार विचार में भेद करने पर रागमिश्रित विचारों में लगना पड़ता है, इसलिये पराश्रयरूप विकल्प को तोड़ने के लिये अभेद निश्चय पर भार देना चाहिये।

अज्ञानी जीव यह मान बैठा है कि—मैं देह की क्रिया को करता हूँ, और पुण्य-पाप का कर्ता हूँ, इसलिये वह उसी की भावना करता है, तथा रागादि को अपना मानकर अनन्तकाल से उन्हें करता चला आया है। जिसका स्वभाव ज्ञान अर्थात् सबको जानना है उसमें विकार नहीं होता, किन्तु यदि पर को जानते हुए उसे अपना मानले तो राग के कारण दुःख होता है। यदि पुत्र मर जाये और उसका ज्ञान ही दुःख का कारण हो तो जिन्हें पुत्रमरण का ज्ञान होता है उन सबको दुःख होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। जिसने पुत्र को अपना मान रखा है उसीको अपने राग के कारण दुःख होता है; जिसे राग एवं ममता नहीं है उसे दुःख नहीं होता। ज्ञान दुःख का कारण नहीं किन्तु उसमें होनेवाला राग और ममता ही दुःख का कारण है। मात्र ज्ञान करने में न तो कोई राग है और न द्वेष ही।

मैं ज्ञानस्वभावी स्व-पर का ज्ञाता हूँ, किन्तु किसी में अच्छा-बुरा मानकर रुकनेवाला नहीं हूँ। यदि सतत ज्ञातारूप ही रहे, जानने में कहीं न अटके तो राग-द्वेष न हो। जिसने पर के प्रति अपनेपन का और कर्तृत्व का अभिमान रखा है, वह पर में अनुकूलता और प्रतिकूलता मानकर उसमें राग-द्वेष करता है। वही बंध का कारण और संसार का मूल है।

जिसकी रुचि होती है, लोग उसी को बारम्बार रटते रहते हैं, इसप्रकार चैतन्यस्वरूप की रुचि करके, निरावलम्बी आत्मस्थिरता के लिये बारम्बार श्रवण-मनन करना चाहिये। यथार्थ स्वरूप की दृढ़ता के न्याय को बारम्बार याद करके उसी परमतत्व की भावना करना चाहिये।

अब नयविवक्षा कहते हैं:—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥ १७ ॥

अर्थः—आत्मा एक है तथापि व्यवहारदृष्टि से देखा जाये तो तीन स्वभाव के कारण अनेकाकाररूप ('मेचक') है, क्योंकि दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीन भावरूप परिणमन करता है।

भगवान आत्मा एकस्वरूप है, इसका यह अर्थ नहीं है कि—सभी आत्मा मिलकर एक होगये हैं, किन्तु प्रत्येक आत्मा स्वतंत्रतया भगवान है। शरीरादिक सर्व परपदार्थों से भिन्न, अनन्त ज्ञानादि गुणों का पिंड, अपने त्रिकाल गुण और पर्यायों से अभिन्न है—इसप्रकार एकरूप है; फिर भी यदि व्यवहारदृष्टि से देखा जाये तो ज्ञान दर्शन और चारित्र—ऐसे तीन स्वगुणों को लेकर अनेकाकार दिखाई देता है।

आत्मा में अनन्तगुण हैं, किन्तु उनमें दर्शन ज्ञान और चारित्र यह तीन मुख्य हैं; इन तीन भेदरूप से आत्मा को लक्ष्य में ले तो विकल्प-

रूप रागमिश्रित मलिनता आती है। परोन्मुखता और पर के करने का भाव परिभ्रमण की क्रियारूप अधर्म है। ज्ञानी उस भेद को जानते तो हैं, किन्तु उसका लक्ष्य गौण करके, त्रिकालस्थायी ध्रुवस्वभाव के लक्ष्य से एकरूप आत्मा की ही श्रद्धा करते हैं। भेद के लक्ष्य से एकरूप स्वरूप में स्वाश्रयता से स्थिर नहीं होसकते, एकस्वरूप में भेद करनेवाली मेचकदृष्टि—मलिनदृष्टि है।

यदि तुझे स्वतंत्र आत्मस्वभाव चाहिये हो तो पर के किसी भाव को अपने स्वभाव के खाते में मत डाल। निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के खण्ड करके एकरूप स्वभाव का विरोध मतकर; भेदरूप दृष्टि से यथार्थ श्रद्धा प्रगट नहीं होती।

जैसे सोना पीला, चिकना और भारी इत्यादि अनन्तगुणों से परिपूर्ण एकरूप है, और उनके भिन्न-भिन्न गुणों के विचार से सम्पूर्ण सोना यथार्थतया खयाल में नहीं आता; इसीप्रकार आत्मा में अनन्तगुण हैं, उसमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र इत्यादि गुण भी हैं; किन्तु यदि उसके भेदरूप विचार में लग जाये तो सम्पूर्ण वस्तु खयाल में नहीं आसकती। भेद करके विचार करने से राग होता है, उसमें मन का अवलम्बन आता है, उसके आधार से आत्मा का गुण प्रगट नहीं होता।

आत्मा एकरूप त्रिकालस्थायी अखण्ड ज्ञायक ही है। यदि उसे शुद्धनय से देखा जाये तो शुभाशुभ विकल्प लक्ष्य में नहीं आते। इतना ही नहीं, किन्तु दर्शन ज्ञान चारित्ररूप तीनों भिन्न भावों का लक्ष्य भी गौण होजाता है। एक आत्मा को तीनरूप परिणमित होता हुआ कहना सो व्यवहार है, यह अभेद में भेद हुआ। यह शुद्धदृष्टि की बात है, इसमें राग-द्वेष या पुण्यादि का कर्तृत्व है ही नहीं।

एक को तीनरूप परिणमित होता हुआ कहना सो व्यवहार है, असत्यार्थ है। भेद के द्वारा अभेद शुद्धस्वभाव नहीं जाना जासकता, और जाने बिना उसमें स्थिर नहीं हुआ जासकता, इसलिये निश्चय से

अनेकत्व अभूतार्थ है । एकरूप अभेद वस्तु का लक्ष्य करना सो यही सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान और चारित्र का कारण है ।

अब यहाँ परमार्थनय से आत्मा का स्वरूप कहते हैं:—

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्व ज्योतिषैककः ।
सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥ १८ ॥

अर्थः—शुद्ध निश्चयनय से देखा जाये तो प्रगट ज्ञायकता ज्योतिमात्र से आत्मा एकस्वरूप है, क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से सर्व अन्यद्रव्य के स्वभाव तथा अन्य के निमित्त से होनेवाले विभावों को दूर करने का उसका स्वभाव है, इसलिये वह 'अमेचक' है—शुद्ध एकाकार है।

प्रथम व्यवहार की बात कही है कि—आत्मा में वर्तमान अवस्था में राग है, किन्तु उस व्यवहारदृष्टि में राग-द्वेष को दूर करने की शक्ति नहीं है, पर्याय के लक्ष्य से राग दूर नहीं होता । निमित्त और पर्याय का लक्ष्य करना सो व्यवहार है, उसके लक्ष्य से राग ही उत्पन्न होता है । शुद्ध निश्चयनय से आत्मा को देखा जाये तो प्रगट ज्ञायक ज्योतिरूप से ही आत्मा एकस्वरूप है, परनिमित्त के भेदरूप से नहीं है । जहाँ दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद के विचार की भी बात नहीं है, वहाँ विकार का या मन, वचन, काय की क्रिया का कर्ता या पुण्य-पाप का कर्ता होने की बात ही कहाँ रही ?

इससे पूर्व के कलश में यह बात कही गई थी कि—भेद को जानना सो व्यवहार है, उससे लाभ होने की बात नहीं कही थी । समस्त भेदों का निषेध करनेवाले स्वभाव से आत्मा अखण्ड वस्तु है, उसे शुद्ध वस्तुदृष्टि से देखने पर सर्व अन्यद्रव्य के स्वभाव तथा उसके निमित्त से होनेवाले पुण्य-पाप के विकारों का नाश करनेवाला उसका निर्मल स्वभाव है, इसलिये वह अमेचक-शुद्ध एकाकार है । उसमें गुण के भेद नहीं हैं । बन्ध-मोक्षरूप अवस्था के भेद भी नहीं हैं । ऐसे निरपेक्ष

पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा के बल से विकल्प, राग टूटकर निर्मल दशा प्रगट होती है ।

मैं त्रिकालस्थायी अनतगुणों से परिपूर्ण एकरूप निश्चल हूँ, निरावलम्बी परमात्मा हूँ, ऐसी ध्रुवसत्ता के बल से तीनों गुणों के विकल्प श्रद्धा में छोड़ देना चाहिये, और पूर्ण एकाकार स्वभाव को श्रद्धा के लक्ष्य में अखण्डतया ग्रहण करना चाहियें, भेद में से अभेद स्वभाव को ले लेना चाहिये । एक स्वभाव में गुण को अलग करके विचारने के लिये रुक जाना सो गुण को प्रगट करने का कारण नहीं है; एक-एक गुण को अलग करके विचार करने पर एकत्व लक्ष्य में नहीं आता ।

अनादिकाल से परोन्मुखता का कारण जो बहिर्मुखदृष्टि है उसे बदला अर्थात् संसार की रुचिरूप परिभ्रमण की दिशा को बदला कि-स्वभाव में भव का भाव नहीं रहता, किन्तु उसका अभाव होजाता है।

सोलहवें कलश में आत्मा को प्रमाणज्ञान से बताया है, सत्रहवें कलश में व्यवहार से भेदरूप से मलिन 'मेचक' कहा है, अठारहवें कलश में निश्चय से अभेदरूप शुद्ध कहा है । अब यह सब चिंता छोड़कर विकल्प छोड़कर स्वरूप में ही एकाग्र होकर स्थिर होना चाहिये; सो कहते हैं:—

आत्मनश्चिंतयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥ १९ ॥

अर्थः—यह आत्मा मेचक है-भेदरूप अनेकाकार है, तथा अमेचक है-अभेदरूप एकाकार है, ऐसी चिंता से तो बस करो ! साध्य आत्मा की सिद्धि, दर्शन ज्ञान और चारित्र-इन तीन भावों से ही होती है, अन्यप्रकार से नहीं होती-ऐसा नियम है ।

मैं राग का कर्ता नहीं हूँ, और अवस्था में कर्तृत्वभाव से जो भेद किया जाता है उसरूप भी मैं नहीं हूँ। साध्यआत्मा की सिद्धि

निर्मल दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता से ही होती है। एकाकार अभेद-स्वभाव के अनुभव से ही हित है, दूसरे से आत्मा का हित नहीं है। बाह्य में क्रियाकांड से, पुण्यपाप के विकार से, पर की भक्ति-स्तुति से आत्मस्वभाव भिन्न है, इसलिये–गुण में दोषों का अभाव होने से बाह्य-प्रवृत्ति गुणों में किंचित्मात्र भी सहायक नहीं है।

भावार्थ.—आत्मा के शुद्धस्वभाव की साक्षात् प्राप्ति (पूर्ण मोक्षदशा) ही साध्य है। आत्मा मेचक है या अमेचक है–ऐसे विचारमात्र करते रहने से साध्य की सिद्धि नहीं होती। मैं स्वाश्रय के बल से पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, पर से–विकारों से अलग हूँ, ऐसी श्रद्धा होनेपर दृष्टि में सर्वथा मोक्ष ही होगया है। मुक्तस्वभाव को देखनेवाले ज्ञान-स्वभाव से तो आत्मा स्वयं ही पूर्ण कृतकृत्यस्वरूप पवित्र मोक्ष ही है, और सर्वथा मुक्ति तो केवलज्ञान एवं सिद्धदशा में ही होती है।

निर्मल शुद्ध पूर्ण मुक्तस्वभाव को अखण्डरूप से श्रद्धा के लक्ष्य में लेने के बाद भूमिकानुसार कैसा राग रहता है, और उसमें क्या निमित्त होता है, इसे ज्ञानी भलीभाँति जानता है, किन्तु बाहर से निश्चय करनेवाले को भीतर के गुणों की या बाहर की कोई खबर नहीं होती।

सम्यक्दर्शन साधक अवस्था है और पूर्ण निर्मलस्वभाव तथा उसकी पूर्ण निर्मल प्रगट अवस्था साध्य है। ज्ञानी ने द्रव्यदृष्टि से तो अपने मुक्तस्वभाव का ही ज्ञान किया है, किन्तु पर्यायदृष्टि से पूर्ण मुक्तस्वरूप की निर्मल दशा को प्रगट करे तब मोक्ष होता है; तथापि आंशिकस्वरूपा-चरणरूप शुद्धचारित्र होता है। यदि मात्र ऐसे मेचक-अमेचक विचार ही किया करे तो साध्य की सिद्धि नहीं होगी।

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि, नहिं और॥

(समयसार नाटक जीवद्वार २०)

एक में भेद करने से राग रहता है। प्रथम भेद को जानता तो है, किन्तु अभेद गुण के लक्ष्य से एक का ही सेवन करना योग्य है। भवस्थादृष्टि करके समल-विमल के भेद न करके, मैं एकाकार ज्ञायकस्वरूप हूँ, कृतकृत्य परमात्मास्वरूप हूँ, ऐसे निरपेक्ष एकरूप शुद्ध अखण्ड स्वभाव को ही देखना-जानना और उसीमें रमण करना सो यह एक ही सिद्धि का मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

दर्शन अर्थात् शुद्धआत्मा का अभेदरूप से अवलोकन अथवा उसकी निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान अर्थात् पूर्ण ज्ञानानंद स्वभाव को पर से भिन्न जानना और चारित्र अर्थात् शुद्धस्वभाव में स्थिरता;-इन्हीं से शुद्ध साध्य की सिद्धि होती है, यही मोक्षमार्ग है, इसके अतिरिक्त कोई मोक्षमार्ग नहीं है।

व्यवहारी जीव पर्याय के भेदों से समझते हैं। यदि वे भेद से त्रिकाल अखण्डस्वभाव को समझें तो वह भेद, निमित्त (व्यवहार) कहलाता है; इसलिये यहाँ दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद से समझाया है, किन्तु-वास्तव में तो निश्चयस्वभाव में स्थिर होना ही प्रयोजन है।१६।

अब व्यवहारी जीव को मोक्षमार्ग में लगाने के लिये दो गाथाओं में दृष्टान्तरूप से कहते हैं:—

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥ १८॥

यथा नाम कोपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥ १७ ॥
एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥ १८ ॥

अर्थः—जैसे कोई धन का इच्छुक पुरुष राजा को जानकर उसकी श्रद्धा करता है, और उसके बाद प्रयत्नपूर्वक उसका अनुचरण करता है, अर्थात् उसकी भलीभाँति सेवा करता है, इसीप्रकार मोक्ष के इच्छुक पुरुष को जीवरूपी राजा को जानना चाहिये, और फिर इसीप्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिये तथा उसके बाद उसीका आचरण करना चाहिये, अर्थात् अनुभव के द्वारा तन्मय होजाना चाहिये।

जिसे लक्ष्मी चाहिये हो वही राजा से परिचय और उसकी श्रद्धा करता है, इसप्रकार यहाँ इच्छुक पुरुष को ही दृष्टांत में लिया है। अन्धश्रद्धा से न मानकर-उसे पहिचानकर श्रद्धा करता है, और फिर वही राजा का प्रयत्न पूर्वक अनुचरण करता है, अर्थात् सावधानीपूर्वक उसके सेवक के रूप में प्रवृत्त होता है। इसीप्रकार जिसे आत्मलक्ष्मी की इच्छा हो वह पात्र होकर ज्ञानी को (सद्गुरु को) पहिचानकर उसीकी विनय करे, (वह वीतराग के मार्ग के विरोधी की विनय नहीं करता) इसीप्रकार मोक्ष के अभिलाषी को, अनन्तगुणों की लक्ष्मी के राजा को-अनन्तगुणों से शोभायमान आत्मा को भलीभाँति जान लेना चाहिये और फिर उसका ही श्रद्धान करना चाहिये, (यदि श्रद्धा में किसी भी पहलू से विरोध आता है तो भगवान आत्मा प्रसन्न नहीं होता, उत्तर नहीं देता है) और फिर तद्रूप अनुभव के द्वारा लीन होजाना चाहिये। इस एक ही प्रकार से उसीकी सेवा करनी चाहिये।

आत्मा की यथार्थ श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसीका आचरण करना सो यही हित और परमहित का उपाय है। संसार में अंश-मात्र भी सुख नहीं है, तथापि उसमें सुख माननेवाला पराधीनता में-आकुलता में सुख मानता है। पराश्रयरूप राग ही संसार है और पराधीनता में सुख मानना सो दुःख है। लोग कहा करते हैं कि-"पराधीन सपनेहु सुख नहीं" किन्तु उसके भाव को नहीं समझते। पराधीनता दुःख का ही लक्षण है। स्वाश्रय हितस्वरूप को जाने बिना पराश्रय दूर नहीं होता, इसलिये अविरोधीदृष्टि का निर्णय करके पर-

निमित्त के भेद से रहित शुद्धात्मा को सर्वप्रथम भलीभाँति जानना चाहिये। उसे जाने बिना अन्य जो कुछ जानना है, सो सब व्यर्थ है।

निश्चय से, जैसे धन का इच्छुक कोई पुरुष अत्यंत उद्यमपूर्वक राजा को जानता है कि यह राजा है। यहाँ धन के इच्छुक को ही लिया गया है, सभी धन के इच्छुक नहीं होते; कोई अन्य वस्तुओं के इच्छुक भी हैं; जैसे-कोई स्त्री का इच्छुक होता है, कोई वस्त्रादि का इच्छुक होता है,-इसप्रकार प्रत्येक में एक वृत्ति मुख्यता से होती है। चौबीस घन्टे में से चार घन्टे भी शांति से नहीं सो पाते और मात्र रुपये-पैसे की वृत्ति लेकर उसीमें लगे रहते हैं।

यहाँ धन का इच्छुक पहले भिन्न लक्षण से यथार्थतया राजा को जाने कि यह सत्ताधारी, राज्यलक्ष्मी का स्वामी अवश्य राजा ही है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई राजा नहीं है, इसीकी सेवा करने से अवश्य ही लक्ष्मी की प्राप्ति होगी-इसप्रकार श्रद्धा करता है, और फिर उसीका अनुचरण करता है, अर्थात् उसीके अनुकूल आचरण करता है, और उसी की हाँ में हाँ और ना में ना मिलाता है, उसकी अनुकूलता के अनुसार ही प्रवृत्ति करता है, उसकी आज्ञा में रहता है, और उसीको प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। इसीप्रकार मोक्षार्थी पुरुष को-जिसे आत्मा की पूर्ण निर्मल अवस्था प्रगट करने की चाह है, उसे मात्र आत्मा की ही सेवा करनी चाहिये।

जहाँ इन्द्रपद की या परमाणु के रागमात्र की अभिलाषा नहीं है, ऐसी उत्कृष्ट वीतराग स्वभाव की पहले से ही पहिचान करके बलवान रुचि होनी चाहिये; किन्तु यदि बीच में कोई लाग-लपेट की इच्छा करे या स्वर्गादिक और राजपदरूप संयोग की इच्छा होजाये तो समझना चाहिये कि वह बन्धन ही चाहता है, उसे अबन्धस्वभाव की रुचि नहीं है।

वर्तमान में अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यभव मिला है, तथापि प्राप्त अवसर के मूल्य को न जानकर पुनः स्वर्ग की या मनुष्यभव की अर्थात्

पुण्य के संयोग की इच्छा करता है। कोई देवपद का इच्छुक है तो कोई राजपद का आकांक्षी है, कोई मानार्थी है तो कोई रागार्थी है; इसप्रकार प्रत्येक पुरुष अपनी वृत्ति को पुष्ट करने का इच्छुक होता है, किन्तु मोक्षमार्ग में ऐसा कुछ नहीं है। जिसे आत्मा की स्वतंत्रता, निर्मलता और परिपूर्णता चाहिये है उसे सर्वप्रथम आत्मा को ही जानना चाहिये—अन्य कुछ नहीं। जबतक यह नहीं जानलेता कि स्वयं कौन है, तबतक देव गुरु शास्त्र को भलीभाँति नहीं जाना जा सकता। वीतरागी देव गुरु भी आत्मा ही हैं, और जो आत्मा की स्वतंत्र वीतरागता को बतलाते हैं वही सर्वज्ञ वीतरागकथित शास्त्र हैं।

प्रथम आत्मा को जानना चाहिये—ऐसा कहा है, सो उसमें अखण्ड स्वाधीन वस्तुस्वरूप को लिया है। द्रव्य और गुण त्रिकाल हैं, वे नवीन उत्पन्न नहीं होते, गुण त्रिकाल एकरूप अखण्ड हैं। वर्तमान अवस्था में पर निमित्त के अवलम्बन से भेदरूप विकार और अपूर्णता दिखाई देती है, सो वह स्वभाव में नहीं है। जो विकारी अपूर्ण अवस्था है सो संसार है और निर्विकारी पूर्ण निर्मल अवस्था है सो मोक्ष है;—यह दोनों आत्मा की अवस्थायें हैं। निश्चय से तो आत्मा एकरूप ही है। पहले उसी की यथार्थ पहिचान करनी चाहिये और फिर उसीमें स्थिर होना चाहिये। स्वानुभव में लीन होना ही प्रगट आनन्द का उपाय है।

पराश्रय को नष्ट करनेवाला स्वाधीन स्वाश्रयस्वभाव क्या है, सो इसे अनन्तकाल में भी नहीं पहिचान पाया। दूसरे की सहायता से, पराश्रय से पराधीनता का नाश नहीं होसकता, और स्वाधीनता प्रगट नहीं होसकती। प्रत्येक जीव और अजीव त्रिकाल में पर से भिन्न—स्वतंत्र हैं। कोई अपनी शक्ति में अपूर्ण नहीं है, इसलिये पराधीन नहीं है। इतना निश्चित् करले तो, मैं पर का कुछ नहीं करता हूँ, और पर से मुझे कोई हानि-लाभ नहीं होसकता, इतनी स्वाश्रित श्रद्धा में स्थिर होने में भी पर से निवृत्तिरूप अनन्तक्रिया और अनन्तपुरुषार्थ आजाता है। पराश्रित लक्ष्य से छूटकर अन्तर्मुख दृष्टि करने पर, इसप्रकार अभेद

स्वरूप की श्रद्धा करे कि-दूसरे की सहायता अथवा पुण्यपाप ही नहीं, किन्तु जो आंतरिक स्वभाव में गुण के भेद होते हैं सो उसरूप भी मैं नहीं हूँ; यही प्राथमिक उपाय कहा गया है।

यदि आत्मा को समझकर उसी का इच्छुक हो तो सत्समागम और अपनी पात्रता के द्वारा सत्य को भलीभाँति जाने-पहिचाने, यही धर्म का प्रथम मार्ग है, इसके अतिरिक्त मोक्ष की निर्मलदशा और उसके उपाय (मोक्षमार्ग) रूप धर्म का प्रारम्भ भी नहीं होसकता। शुद्धात्मा की यथार्थ श्रद्धा होने के बाद यह प्रश्न ही नहीं रहता कि अब मुझे क्या करना चाहिये। आत्मा को जैसा जाना है उसीका आचरण करना होता है। रागरहित स्याश्रय से जैसा अभेद आत्मा को जाना है वैसा ही ग्रहण करके बारम्बार उसमें अभेद लक्ष्य की दृढ़ता को बढ़ाना सो यही अंशतः राग नष्ट होकर गुण में स्थिर होने की क्रिया है। जो स्वभाव में स्थिर हुआ है सो पर में नहीं हुआ है। मैं पुण्य करूँ, गुण के भेद करूँ या पराश्रय ग्रहण करूँ तो धर्म हो-ऐसा नहीं है, किन्तु अभेद आत्मा का ही आचरण करने से कर्मों से अवश्य मुक्ति मिल जायेगी, ऐसी दृढ़ता होती है। उसमें ऐसी शंका नहीं होती कि-यदि कर्म कठिन होंगे तो कैसा होगा? अरे! तू भगवान आत्मा जागृत हुआ है और फिर दूसरे को याद करता है? स्वतत्व को अखण्डरूप से लक्ष्य में लेकर उसके बल से स्वरूप में स्थिर होना, उसकी रुचिरूप स्वलक्ष्य में एकाग्र होना-दृढ़ होना, सो गुण की क्रिया है।

पहले इसप्रकार सुख की प्राप्ति का जो उपाय है सो उसकी श्रद्धा करता है कि मैं त्रिकाल गुणरूप अखण्ड हूँ, पररूप नहीं हूँ, क्षणिक-पर्याय के रागरूप नहीं हूँ, किन्तु उसका नाशक हूँ। त्रिकाल अखण्ड गुणस्वरूप पर दृष्टि गई कि वर्तमान क्षणिकपर्याय का आश्रय और बाह्योन्मुखता नहीं रही, किन्तु स्वाश्रित दृढ़ता का जो अपूर्व बल आया सो उसमें प्रतिसमय अनन्त सुल्टा पुरुषार्थ आगया। वर्तमान में पूर्ण चारित्र नहीं है तथापि दृष्टि में अपने पूर्ण पुरुषार्थस्वरूप अनन्त

गुण का पिंड अपार शक्तिरूप से हूँ, उसकी प्रतीति पर भार देनेपर निराकुल ज्ञान-शांति का निःशंक पुरुषार्थ जागृत होता है और स्वरूप में रुचि तथा सत्‌रूप सावधानी बढ़ती है।

"ज्यौं शंका त्यौं गया संताप,
ज्ञान तहां शंका नहिं स्थाप।"

जो ऐसी शंका करता है कि अरे, मेरा क्या होगा? उसे भगवान आत्मा की यथार्थ श्रद्धा नहीं है। जिसे पुरुषार्थ में सन्देह होता है तथा भव की शंका रहती है उसे अपने स्वभाव की ही शंका रहती है, उसने वीतरागस्वभाव की शरण ही नहीं ली है। सर्वप्रथम भगवान आत्मा स्वतंत्र है, पूर्ण पवित्र अनन्त सुखरूप है, उसकी प्रतीत कर, पर्यायदृष्टि का भार छोड़कर अखण्डस्वभाव पर भार दे, तो स्वतः विश्वास होगा कि अवश्य एक दो भव में पूर्ण होजाऊँगा। गुणों की दृढ़ता होनेपर निःसन्देहता होजायेगी कि—मुझमें भय शंका दोष या दुःख का अभाव है, मेरे स्वभाव में विरोधभाव है ही नहीं।

महान सज्जन राजा की शरण लेनेवाले को लौकिक दुःख या भय नहीं होता, इसीप्रकार जिसने चैतन्य भगवान पूर्ण महिमामय आत्मा की शरण ली है उसे दुःख या भय है ही नहीं। सत् को समझ लिया हो और असत् जो राग-द्वेष-मोहरूप संसार है उसे पार करके किनारे पर न आये यह कैसे होसकता है? जिसे ऐसी श्रद्धा का बल प्राप्त होचुका है कि मैं भवरहित हूँ स्वतंत्र एवं पूर्ण हूँ, उसे कर्म, काल, क्षेत्र या कोई अन्य बाह्य संयोग बाधक नहीं होते।

वह अखण्ड गुण की दृढ़ता में अकेले पुरुषार्थ को देखता है, पूर्णस्वभाव की महत्ता को देखता है, उसीके गीत गाता है, अन्यत्र बड़प्पन नहीं देखता। परवस्तु उससे स्वतंत्र है, मैं अपनेरूप से निज में अभेद हूँ, ऐसी श्रद्धा की प्रतीति में पर से निवृत्त हुआ कि पर में अटकना न रहा, किन्तु स्वाधीन स्वभाव में ही स्थिर होना रहा। पा

में भटक जाने के राग (भावकर्म) की मेरे स्वभाव में नास्ति है। ऐसे रागरहित स्वभाव की प्रतीति के बल से और स्थिरतारूप चारित्र के बल से सर्व विकार का नाश ही करूँगा। ऐसी स्वाधीन स्वभाव की दृढ़ता मोक्ष का कारण है। यथार्थ स्वरूप को जाने बिना, उसकी श्रद्धा किये बिना, उसमें स्थिर होनेरूप चारित्र किसके बल से होगा?

कोई कहता है कि 'आत्मा शुद्ध है, उसे मैंने जानलिया है, अब मुझे क्या करना चाहिये? किन्तु जिसने पर से भिन्न यथार्थ स्वरूप को जानलिया है, उसके यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता कि-अब मुझे क्या करना चाहिये? अथवा मेरा क्या कर्तव्य है? या किसप्रकार पुरुषार्थ करना चाहिये? स्वभाव की श्रद्धा करके उसका ज्ञान करे, और फिर उसीका एकाकाररूप से अनुसरण करना चाहिये, दूसरा कोई प्रश्न है ही नहीं।

अखण्ड स्वभाव में अभेद लक्ष्य का जोर देनेपर बुद्धिपूर्वक विकल्पवृत्ति तोड़कर कुछ समय के लिये निर्विकल्प स्व में स्थिर होजाये सो चारित्र है, और सामान्य एकरूप स्वभाव की रुचि के द्वारा स्वलक्ष्य की जितनी स्थिरता को बना रखा है उतने अंश में निर्विकल्प चारित्र की सतत प्रवृत्ति है। पहले सत्य का स्वरूप जाने बिना सत्य में स्थिर नहीं हुआ जासकता।

स्व स्वरूप का आश्रय करके उसमें परिपूर्ण निःसन्देहरूप से श्रद्धा करना और परावलम्बन के भेद से रहित अखण्ड स्वतंत्र वस्तुरूप से हूँ सो ऐसा ही हूँ, अन्यरूप नहीं हूँ; ऐसा ज्ञान करना और फिर उसीका अनुचरण करना अर्थात् उसीमें ज्ञातारूप से रहना, स्वानुभव में लीन होना, सो यही सच्चा उपाय है। पूर्ण निर्मल मोक्षस्वरूप जो निष्कर्म अवस्था है, सो वह मुझमें ही है, मुझसे अभेद है; वही मेरा शुद्धस्वरूप है। इसमें पर का कुछ करना या किसी का आधार माँगना अथवा पुण्य की क्रिया करना इत्यादि कुछ नहीं होता। बीच में जब अशक्ति का कोई प्रकार होता है तब किसप्रकार का राग और कैसे

निमित्त होते हैं-इसे ज्ञानी भलीभाँति जानलेते हैं, किन्तु वे उसे सहायक नहीं मानते।

अब आत्मा की श्रद्धा के लिये क्या करना चाहिये, सो विशेषरूप से समझाते हैं। आत्मा के अनुभव में (जानने में) आने पर जो अनेक पर्यायरूप भेदभाव (पराश्रयरूप राग) होते हैं उनके साथ समिश्रता होनेपर भी उससे सर्वप्रकार भिन्नता का ज्ञान करनेवाला जो ज्ञायकभाव है सो उसमें रागभाव या पराश्रितता नहीं है, किन्तु पर से पृथक्त्व का अनुभव होना है।

वर्तमान अवस्था में परनिमित्त में युक्त होता हुआ विकारीभाव है और स्वभाव त्रिकाल एकरूप है, इसप्रकार दोनों की मिश्रता है। इसप्रकार अवस्था और स्वभाव को यथावत् जाना जाये तो स्वभाव के लक्ष्य से अवस्था में जो विकार है सो वह दूर किया जासकता है।

पानी का सतत प्रवाह चला जारहा हो और उसमें पेशाब के (क्षाररूप) प्रवाह का कुछ भाग मिलजाये तो वह वर्तमान समय के लिये ही मिश्र होता है, किन्तु वह क्षाररूप क्षारपन से है, जल के मिठासरूप से नहीं है, और मीठे जल का प्रवाह उसके मूलस्वभाव से स्वच्छ ही है; इसीप्रकार स्वभाव के गुण का प्रवाह एकरूप से है, उसमें पराश्रित शुभाशुभभाव का वर्तमान क्षणिक अवस्था में समिश्रण है; वह मिश्रता एकसमय की अवस्थापर्यंत है, तथापि स्वभाव में निश्चय से मिश्रता नहीं है।

आत्मा अनादि-अनंत गुण का पिंड है, उसमें बाहर से गुण नहीं आते। अखण्डस्वभाव की ओर दृष्टि न करके मैं बाह्योन्मुखरूप से हूँ, मुझे पराश्रय चाहिये-इत्यादि प्रकार से अज्ञानी जीव अनादिकाल से पर में एकत्व मान रहा है। उस भ्रांतिरूप पराधीनता की मान्यता को आत्मा की अपारशक्ति के द्वारा दूर करने पर, नित्य ज्ञायकरूप से जो जाननेवाला है सो ही मैं हूँ, क्षणिक विकारी या पररूप नहीं हूँ, ऐसे शुद्धस्वभाव की श्रद्धा होती है।

जैसे गाँव के निकट कोई बड़ा तालाब भरा हुआ हो और ऊपर से वर्षा का खूब पानी गिर रहा हो, जिससे तालाब छलककर फूटने की तैयारी में हो; तब ग्रामवासी विचार करते हैं कि यदि तालाब गाँव की ओर फूट गया तो गाँव डूब जायेगा, इसलिये वे जंगल की ओर थोड़ा सा फोड़ देते हैं जिससे तालाब का सारा पानी उस ओर चला जाता है और गाँव का भय दूर होजाता है। इस दृष्टांत को विपरीतरूप से घटाया जाये तो आत्मा में अनन्तगुण परिपूर्ण-छलाछल भरे हुए हैं, उन्हें भूलकर बाह्योन्मुख होने से गुणों का घात होता है। मैं पराश्रय के बिना नहीं रह सकता, मैं पर का कर्ता हूँ, राग-द्वेष मेरे हैं, ऐसी विपरीतमान्यता की दिशा को बदलकर भीतर जो पूर्ण गुणों से अखण्ड स्वभाव भरा हुआ है उसमें स्वाश्रय श्रद्धा की शक्ति लगानेपर–स्वोन्मुखता की ओर होनेपर सर्वथा एकरूप ज्ञान-सामर्थ्य का ही अनुभव होता है। फिर चैतन्यप्रवाह अपनी ज्ञानधारा से एकरूप भाव से स्वभाव की ओर ढलता है। जैसे पानी का जो भाग मैल को स्पर्श करता है उतना ही पानी मैला होता है, इसीप्रकार ज्ञानभाव से हटकर गुणों में भेद करे तो शुभाशुभ में रुकने का भाव होता है; किन्तु उसका गुण में स्वीकार नहीं होता। स्वभाव की शक्ति में क्षणिक विकार पर भार नहीं है।

अखण्ड आत्मवस्तु को भूलकर बाह्य में लक्ष्य करके राग-द्वेष जितना ही मैं हूँ, ऐसा माना सो मिथ्याज्ञान, मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याचारित्र है, और इसीसे संसार में परिभ्रमण होता है। इसलिये जिसे परिभ्रमण दूर करना हो, उसे उसपर से लक्ष्य हटाकर एकरूप ध्रुव ज्ञायकस्वभाव का ही लक्ष्य करना चाहिये। ज्ञान का स्वभाव स्वपरप्रकाशक है, राग-द्वेष उसे प्रकाशित नहीं करते।

वस्तु पूर्ण गुणरूप है, किन्तु वर्तमान अवस्थापर्यंत बाह्य में रुक जाने से–पराश्रयता स्वीकार करने से अवस्था में भेद होजाता है, एकरूप भाव में रागरूप भाव से मिश्रितता क्षणिक अवस्था में होती है, उसे

अपना स्वरूप मान लेना सो मिथ्या-दृष्टि है, स्वरूप की भ्रान्ति है। जहाँ गुण है वहीं उसकी विपरीत दशारूप भूल और विकार होसकता है, तथा जहाँ भूल और विकार है वहाँ उसे दूर करने का अविकारी स्वभाव भीतर भरा हुआ ही है, मात्र उस स्वभाव पर दृष्टि डालकर अखण्ड स्वाश्रय में निःशंकता का अनुभव करने की आवश्यकता है। आत्मा में ज्ञातारूप स्वभाव नित्य है, और पूर्ण गुण भी नित्य हैं। वस्तु की अवस्था उससे अलग नहीं है तो उसमें दोष कैसे होसकता है? आत्मा गुण स्वरूप है, उसके ज्ञानादि गुण सतत एकरूप निर्मल हैं, उसकी अवस्था भी निर्मलरूप से ही होती है, किन्तु मात्र दृष्टि में भूल है, उसे टालकर यदि स्वभाव पर देखें तो अपने में अपने से नित्य ज्ञान का ही अनुभव होता है।

ज्ञानगुण त्रिकाल एकरूप रहनेवाला है; वर्तमान विकारी अवस्था-पर्यंत ही नहीं है। स्वलक्ष्य का करनेवाला स्वयं है। अपनी ओर झुकता हूँ-ऐसा निश्चय करनेवाले ज्ञानस्वभाव से ही मैं हूँ। अवस्था में राग का जो भेद होता है सो वह मैं नहीं हूँ किन्तु जिस ओर झुकता है वह मैं हूँ; रागादिक-देहादिक परपदार्थ मुझे जाननेवाले नहीं हैं, मुझमें उनकी नास्ति है। जो क्षणिक शुभाशुभ वृत्ति होती है सो मेरा स्वरूप नहीं है; इसप्रकार भेदज्ञान में प्रवीणता से ऐसा स्वाश्रित ज्ञातृत्व नित्य ज्ञातारूप से है सो वही मैं हूँ। जितना ज्ञान है उतना ही मैं हूँ-ऐसी प्रतीति होती है।

विपरीत-पराश्रित दृष्टि के कारण विकार को अपना मानता है, किन्तु पराश्रय की मान्यता को बदलकर जब नित्य गुणस्वरूप को अपना स्वरूप मानता है तब विकाररूप नहीं होता, पराश्रयरूप से रुकनेवाला नहीं होता; ऐसे नित्य जागृत स्वरूप को (प्रगट अनुभूति-स्वरूप को-ज्ञायकस्वरूप को) अपना मानता है, इसप्रकार स्वसत्ता में ज्ञातास्वभाव की निःशंक प्रतीति जिसका लक्षण है-ऐसी नित्य अखण्ड स्वविषय करनेवाली श्रद्धा प्रगट होती है।

आत्मा में अंतरंग स्वभाव में अविकार और स्वतंत्र सामर्थ्य से पूर्ण अनन्तगुण भरे हुए हैं, उसमें से किसी गुण को अलग करके लक्ष्य में लेना सो रागमिश्रित रुकनेवाला भाव है। उसीसमय मैं परोन्मुखरूप नहीं हूँ, रागरूप नहीं हूँ, पराश्रय के भेद-भंग मुझमें नहीं हैं, मैं तो स्वभावोन्मुख ज्ञानरूप हूँ, स्वाश्रयरूप से त्रिकाल जाननेवाला हूँ, ऐसी आत्मप्रतीति से प्राप्त होनेवाली स्वाश्रित निर्मल श्रद्धा प्रगट होने से, समस्त अन्य भावों से रुकनेवाला भाव नष्ट होगया है।

आत्मानुभव से प्राप्त हुई श्रद्धा लक्ष्य है, और स्वभाव की अभेद प्रतीति उसका लक्षण है। अज्ञानी भी वास्तव में तो अपने ज्ञानगुण की अवस्था का ही अनुभव करता है, किन्तु अपने स्वभाव की प्रतीति नहीं है, इसलिये बाह्य में दृष्टि करके मैं पराश्रय हूँ—ऐसा मानकर स्वभाव में भेद करके आकुलता का अनुभव करता है।

अंतरंग में अखण्ड गुणरूप से पवित्र स्वभाव नित्य भरा हुआ है, किन्तु मान्यता के अन्तर से—पराश्रयदृष्टि से सबकुछ बाह्य में मानता है। जो पंचेन्द्रियों से ज्ञात होता है सो ही मैं हूँ, परपदार्थ मुझे जानने में सहायता करते हैं, परपदार्थ राग-द्वेष कराते हैं, पर से हानि-लाभ होता है, इसप्रकार अपने स्वभाव को ही पराश्रित मानकर आकुलता करता है, और स्वभाव में भेद डालता है, इसलिये अखण्ड-स्वभाव की प्रतीति नहीं होती।

ज्ञानगुण में राग नहीं है, किन्तु अपनी स्वाधीनता को भूलकर पर पदार्थ के साथ सम्बन्ध मानकर उसमें राग के भेद करके अज्ञानी जीव अटक रहा है। चावल में से कंकड़ बीननेवाला कहता है कि—मैं "चावल बीन रहा हूँ" किन्तु वह जानता है कि चावल रखने योग्य हैं और कंकड़ निकाल देने योग्य हैं, उसके लक्ष्य में मुख्य मात्र चावल ही हैं; इसीप्रकार चैतन्य आत्मा स्पष्ट ज्ञायक असंग है। उसमें परसम्बन्ध का स्वीकार करके उसओर उन्मुख होकर पराश्रयरूप जितनी बाह्यवृत्ति होती है वह रागमिश्रित कंकड़ हैं, उसे ज्ञानी जानता तो है किन्तु

अंतरंग में उन्हें दूर करने की दृष्टि है, रखने योग्य तो मेरा नित्य ज्ञानस्वभाव शांतिरूप ध्रुव है। स्वाश्रयरूप से रहनेवाला ज्ञानगुण नित्य है और स्वपरप्रकाशक सामर्थ्यरूप से पूर्ण है।

यथार्थ ज्ञान हुआ कि उसके साथ ही राग सम्पूर्ण दूर नहीं होजाता। श्रद्धा में स्वभावदृष्टि के प्रगट होने ही पर से भिन्न प्रगट स्वभाव ज्ञानरूप नित्य है, ऐसा झलकने लगता है। ज्ञान तो नित्य ज्ञानस्वभाव ही है, पर में अच्छा-बुरा मानकर उसमें रुक जाने के स्वभाववाला नहीं है। असंयोगी निश्चलस्वरूप आत्मा में अखण्ड स्वाश्रयरूप से जो ज्ञान स्थिर बना हुआ है वही मैं हूं. वर्तमान अपूर्ण भेदरूप अवस्था को लेकर मैं नहीं हूं, रागादि-देहादिक भी मैं नहीं हूं। प्रतिसमय स्वभाव की ओर ढलती हुई निर्मल अवस्था ज्ञानभाव से उत्पन्न होती है उसरूप ही मैं हूं; ऐसी स्वाश्रित प्रतीति में अपने ओर की दृढ़ता के बल से सम्यक्श्रद्धा प्रगट होती है। जिससमय अवस्था के भेद का लक्ष्य छोड़ करके. अखण्ड स्वभाव की ओर लक्ष्य किया उसीसमय नित्यस्वभाव का प्रगट अनुभव होता है। स्वयं अनन्त गुणों से पूर्ण होनेपर भी गुणों में पराश्रयता मानना. उसमें भेद करना सो रागमिश्रित भाव है। उस भेदरूप या पराश्रितरूप से मैं नहीं हूं किन्तु एकरूप रहनेवाला जो ज्ञान है सो उसीरूप हूं, और ज्ञान ही मेरा कर्तव्य है. ऐसी श्रद्धा ही निश्चयश्रद्धा है। मैं त्रिकाल ज्ञानस्वरूप हूं रागादिरूप नहीं हूं. ऐसी निःशंक प्रतीति जिसका लक्षण है ऐसी श्रद्धा उदित होती है-प्रगट होती है। अंतरंग में निर्मल श्रद्धावाला स्वभाव तो नित्य था. उस स्वभाव के बल से आंशिक निर्मल शक्ति प्रगट हुई है। जब इसप्रकार स्वाधीन पूर्णस्वभाव की प्रतीति होती है तब समस्त अन्य भावों से पृथक्त्व होने के कारण स्वभाव में निःशंक स्थिर होने के लिये समर्थ होता है, इसलिये आत्मा का आचरण उदय को प्राप्त होता हुआ शुद्धता का ही पालन करता है। प्रथम अनन्त पर के प्रति दृष्टि करके उसके प्रति राग में अटक जाता था और स्वभाव में शंका करके आकुलित होता था कि

अब क्या करूँ, कि जिससे गुण-लाभ हो ? यदि भगवान की तीन-बार पूजा करूँ तो क्या गुण-लाभ होगा ? अथवा यात्रा करने से या धर्म के कार्यों में सदा आगे आकर मुखिया बनकर रहूँ तो गुण-लाभ होगा ? यों अनेकप्रकार से पराश्रय की आकुलता के झूले पर झूलता था, और पराश्रय की आकुलता का ही वेदन करता था, उसका निराकरण स्वोन्मुख होनेपर तत्काल ही होजाता है।

स्वाधीन स्वभाव में निःशंक होने के बाद स्वभाव के बल से सहज ही पुरुषार्थ उत्पन्न है। पहले पूर्णस्वभाव के लक्ष्य से आंशिक निर्मलता को स्थिर रखकर, अशुभभाव से छूटकर, शुभभाव का अवलम्बन रहता है, और फिर शुभभाव को छोड़कर शुद्ध में ही रहना होता है, इसलिये पहले स्वाधीनता की श्रद्धा करनी चाहिये। ऐसा करने से परावलम्बन की व्याकुलतामय भ्रान्ति दूर होजायेगी। निरावलम्बी अभेदस्वभाव की यथार्थ समझ होनेपर ऐसी मान्यता नहीं होती कि-मैं देहादिक तथा पुण्यादि का कर्ता हूँ, और परपदार्थ मुझे हानि-लाभ करते हैं, एवं स्वभाव में तथा पुरुषार्थ में शंका नहीं होती। अब जो कुछ करना है वह सब अंतरंग में ही विद्यमान है, ऐसी अपूर्व प्रतीति हुई कि पर का कर्तृत्व छूट जाता है। पहले भी परपदार्थ का कुछ नहीं कर सकता था, मात्र अज्ञान से कल्पना करके ही ऐसा मान रहा था।

जैसे अन्धे का कमरे में से बाहर निकलना हो तब उसे जबतक यह ज्ञात नहीं होता कि-किस ओर द्वार है तबतक वह निःशंकतया गति नहीं कर सकता, किन्तु यदि कोई उससे कहे कि दाहिने हाथ की ओर जाइये, या अपने हाथ की लकड़ी की सीध में चले जाइये तो उसे विश्वास होजाता है कि इस ओर द्वार है; फिर वह निर्भयतापूर्वक चलकर उसओर पहुँच जाता है; किन्तु किसीप्रकार का यथार्थ चिन्ह मिले बिना उसे सभी दिशाएँ एक सी शंका वाली मालूम होती हैं; इसीप्रकार मैं परपदार्थ का कुछ नहीं कर सकता, मैं त्रिकाल पर से भिन्न ज्ञाता ही हूँ, पर का कर्ता नहीं हूँ, इसप्रकार स्वलक्ष के बल से

अनुभव सहित आत्मा का यथार्थ लक्ष हुए बिना निःसन्देहरूप से स्वभाव में स्थिर होने का पुरुषार्थ नहीं होसकता। किस ओर चलना चाहिये या क्या करना चाहिये इसप्रकार स्वभाव की दिशा से अनादिकाल से अजान है, इसलिये आत्मा में गुण की क्रिया की प्रतीति नहीं है, किन्तु भेदज्ञान होने के बाद निःशंक श्रद्धा होती है, और मुख्य दिशा की ओर अर्थात् मुख्य ज्ञायकस्वभावी शुद्ध आत्मा की ओर—ज्ञानगुण के अखंड खुले हुए द्वार की ओर स्वाश्रय के बल से स्वभाव में स्थिर होने के लिये निःशंक चला जाता है; पुण्य-पाप में कहीं भी नहीं रुकता। स्वाश्रय की श्रद्धा होते ही पराश्रय की ओर का झुकाव छूट जाता है। स्वरूप में स्थिर होनेरूप जो क्रिया है सो वही यथार्थ चारित्र है।

आत्मा का चारित्र तो नित्य है ही, किन्तु यथार्थ श्रद्धा के द्वारा आत्मा का ज्ञान करके जो अपने में स्थिर होजाता है, वह मोक्षदशा को निकट लाता है। इसप्रकार आत्मा में श्रद्धा ज्ञान और चारित्र के द्वारा साध्य आत्मा की सिद्धि होती है। अज्ञानदशा में जो आचरण पर की ओर करता था वह स्वाश्रयी तत्व की श्रद्धा होने के बाद नित्यस्वभाव की ओर आजाता है।

अनुभूतिस्वरूप—ज्ञानमय भगवान आत्मा ज्ञानमात्र का अनुभव करनेवाला है, और आबाल वृद्ध अर्थात् बालक से लेकर बूढ़े तक सभी आत्माओं को (जो अनुभव करना चाहता उसको) सदा ज्ञानस्वरूप से अनुभव में आता है। आत्मस्वरूप किसी की समझ में न आये ऐसा नहीं है। देहादि की क्रिया को, सर्व परपदार्थों को, और रागादि को जाननेवाला जो ज्ञान है सो उस ज्ञान को करनेवाला स्वयं ही ज्ञानस्वरूप है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ—पररूप नहीं हूँ, यह भूलकर अज्ञानी ने परपदार्थ पर दृष्टि जमा रखी है इसलिये वह यह मानता है कि मैं पर को ही जानता हूँ, किन्तु निश्चय से तो वह भी अपनी स्वपरप्रकाशक ज्ञानशक्ति को ही जानता है; राग द्वेष, मन, वाणी या इन्द्रियाँ आदि कुछ नहीं जानते।

ज्ञान से सभी प्राणियों को अपना नित्य ज्ञानभाव ही अनुभव में आता है, किन्तु श्रद्धान्तर होने से अज्ञानी यह मानता है कि–पर से ज्ञान होता है। यद्यपि अज्ञानी जीव यह मानता है कि मैं स्वतः नहीं जानता; किन्तु देह इन्द्रियादिक पर की सहायता से जानता हूँ, तथापि वह स्वतः ही अपनी अवस्था को जानता है–पर से नहीं जानता; मात्र मान्यता में ही उल्टा है, इसलिये उल्टा मानता है।

प्रत्येक आत्मा को वर्तमान विकास के अनुसार निर्मल अवस्था में निर्मलस्वभाव का नित्य अनुभव होता है, तथापि अनादिबन्धन के वश होकर (पराश्रितता से) दूसरे के साथ तथा पुण्यादिक में एकत्व के निर्णय के द्वारा ऐसी मान्यता होगई है कि मैं विकारी हूँ, बन्धनबद्ध हूँ; किन्तु वास्तव में आत्मा का स्वभाव वैसा नहीं होगया है। आत्मा में अपना ज्ञानगुण नित्य चैतन्यस्वरूप से प्रगट है, विकासस्वरूप है, यदि उसके द्वारा अपना विचार करे तो अंतरंग में पूर्ण निर्मल शक्ति भरी हुई है; किन्तु अपनी ज्ञानस्वभाव की शक्ति का विश्वास न करके मूढ़–अज्ञानी जीव बाह्य देहादि–रागादि को ही अपना स्वरूप मानता है, इसलिये उसे यथार्थज्ञान प्रगट नहीं होता, और यथार्थ जाने बिना सच्ची श्रद्धा कभी नहीं होती। जबतक पराश्रय की श्रद्धा होती है तबतक नित्यस्वभाव की दृढ़ता अंशमात्र नहीं होती। पराश्रय की श्रद्धा के द्वारा विपरीत मान्यता से अनन्त परपदार्थों में कर्तृत्व–ममत्व का अभिमान रखकर उसकी ओर के राग-द्वेष में रुक जाता है, और भिन्नस्वभाव में निःशंकतया स्थिर होने के लिये असमर्थ होने से यह मानता है कि जो रागमिश्रित विचार हैं सो ही मैं हूँ, पराश्रय के बिना मैं स्थिर नहीं रह सकता, कुछ जान नहीं सकता, और इसप्रकार अपने को पराधीन मानता है, इसलिये क्षणिक विकारभाव से भिन्न हूँ, नित्य हूँ, असंग ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसी श्रद्धा प्रगट नहीं कर सकता। अपनी आत्मा की स्वाधीनता को स्वीकार न करनेवाला स्वरूपस्थिरता-रूप चारित्र अंशमात्र भी प्रगट नहीं कर सकता।

साध्य करने योग्य भगवान आत्मा की प्राप्ति तो निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-सहित स्थिरता से ही होती है, अन्यप्रकार से नहीं; क्योंकि पहले तो आत्मा को स्वानुभवरूप से जानता है कि देहादि-रागादि से भिन्नरूप जो नित्य जाननेवाला प्रगट अनुभव में आरहा है सो वह मैं हूँ, तत्पश्चात् निःशंकस्वभाव की दृढ़ता के बल से आत्मा में निःशंक श्रद्धा होती है, फिर समस्त अन्य भावों से अलग होता है। मैं राग-द्वेष, मोहरूप नहीं हूँ, किन्तु राग का नाशक अखण्ड गुणरूप हूँ, इसप्रकार स्वाधीन ज्ञायकस्वभाव का अपने में एकरूप निर्णय करके अपने में स्थिर हो तो वह साध्य ऐसे शुद्धआत्मा की सिद्धि है। किन्तु जैसा सत्य है वैसा न जाने तो सच्चीश्रद्धा नहीं होसकती, और श्रद्धा के बिना स्थिरता कहाँ करेगा ? इसलिये उपरोक्त कथन के अतिरिक्त अन्यप्रकार से साध्य की सिद्धि नहीं होसकती, ऐसा नियम है।

कोई कहे कि बहुत जानकर क्या काम है ? बहुत अधिक सूक्ष्मरूप से जानकर क्या लाभ होना है ? यह सच है और यह मिथ्या है, ऐसा जानने से तो उल्टा राग-द्वेष होता है, इसलिये सच्चे-झूठे को जानना हमारा काम नहीं है; कुछ करेंगे तो पायेंगे; यों मानकर बाह्य-प्रवृत्ति पर भार देता है और जिससे जन्म-मरण दूर होता है ऐसे तत्वज्ञान की दरकार नहीं करता। आत्मा को जाने बिना सत्य-असत्य क्या है, हित-अहित क्या है, यह नहीं जाना जासकता। अपनी दरकार करके अपूर्व रुचि से समझने का मार्ग ग्रहण न करे तो मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

(मालिनी)

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिन्हं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥ २० ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि अनन्त चैतन्य जिसका चिन्ह है, ऐसी इस आत्मज्योति का हम निरंतर अनुभव करते हैं, क्योंकि उसके अनुभव के बिना अन्यप्रकार से साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं होती। वह आत्मज्योति कैसी है? जिसमें किसीप्रकार से त्रित्व को अंगीकार किया है तथापि जो एकत्व से च्युत नहीं हुई है और जो निर्मलता से उदय को प्राप्त होरही है।

आत्मा को शरीर मन वाणी से हानि-लाभ नहीं है, क्योंकि आत्मा परवस्तु का कुछ नहीं कर सकता; परवस्तु आत्मा के अधीन नहीं है और आत्मा पर के अधीन नहीं है। परनिमित्त से (पर लक्ष्य से) वर्तमान अवस्था में पुण्यपाप की जो विकारी वृत्ति होती है सो क्षणिक है, नाशवान है; और जो नाशवान है उसके द्वारा अविनाशी-अविकारी आत्मा को हानि-लाभ नहीं होता; यदि उस विकार को अपना माने तो अपने विपरीत भाव से हानि होती है, मान्यता का भाव अपना होने से वह लाभ-हानि का कारण होता है, किन्तु देहादि की किसी क्रिया से आत्मा को हानि-लाभ नहीं होता।

आत्मा के नित्य चैतन्यस्वरूप होने से देहादि या रागादि की क्षणिक अवस्थारूप से उसका अस्तित्व नहीं है। इसलिये सबसे भिन्न-ज्ञायकस्वभाव से स्वतंत्र हूँ ऐसी पूर्ण स्वभाव की प्रतीति करके हम इस अविकारी आत्मज्योति का निरंतर अनुभव करते हैं, राग-द्वेष, मोहरहित होने की भावना करते हैं। मैं एकरूप ज्ञानमात्र हूँ, वर्तमान अवस्था में जो पराश्रयरूप अस्थिर वृत्ति उत्पन्न होती है वह स्वभाव का कार्य नहीं है, मैं उस क्षणिक विकार जितना नहीं हूँ, किन्तु उसका नाशक हूँ, इसलिये मेरा स्वरूप वीतरागी ज्ञानस्वभाव है। ऐसे स्वभाव के बल से स्वलक्ष्य की एकाग्रता के द्वारा मोक्षदशा की प्राप्ति होती है।

मैं नित्य एकरूप अमृत का पिंड हूँ, पुण्य-पाप का विकारी भाव तथा देहादिक मृतक कलेवर है, चेतन नहीं; देहादि-रागादि नाशवान हैं और मैं

अविनाशी ज्ञानस्वभाव से नित्य हूँ। मैं पराश्रयरूप शुभाशुभ राग में अटकनेवाला स्वभाव से नहीं हूँ। निर्मल ज्ञानस्वरूप हूँ, पर से भिन्न हूँ, ऐसी प्रतीतिपूर्वक चिदानन्द स्वभाव से जितना स्थिर होऊँ उतना मेरा स्वाधीन अमृत धर्म है। एकरूप निरुपाधिक ज्ञान-शांतिस्वरूप अखण्ड स्वभाव है उसीका मेरे अवलम्बन है, इसलिये जो कुछ परोन्मुखता के भेदरूप शुभाशुभ भाव होते हैं वे पवित्रस्वरूप के धर्मभाव नहीं हैं।

पूर्ण स्वभाव के एकाकार लक्ष्य के बल से स्वरूप की एकाग्रता के बिना अन्यप्रकार से शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं होती। प्रथम ही मानने में, जानने में और प्रवृत्ति में भी यही प्रकार चाहिये।

वह आत्मज्योति कैसी है ?

जिसने किसी प्रकार से—व्यवहार से दर्शन, ज्ञान, चारित्र अवस्था को अंगीकार किया है, तथापि जो निश्चल एकस्वभाव से नहीं हटती और जो निर्मल ज्ञान-शांतिरूप से नित्य प्रगट होकर ज्ञायकत्व को प्राप्त होरही है।

व्यवहारदृष्टि से देखनेपर तीन गुण हैं। पूर्ण स्वभाव की प्रतीति करनेवाली श्रद्धा, पर से भिन्न नित्य ज्ञानस्वभाव को जाननेवाला ज्ञान और स्वाश्रय के बल से उसमें जो स्थिरता होती सो चारित्र; इसप्रकार दर्शन ज्ञान चारित्र तीन गुणों के भेद होनेपर भी एकरूप आत्मा कभी उस तीनरूप भेदयुक्त नहीं होजाता। व्यवहार से—रागमिश्रित विचार से देखें तो तीन भेद दिखाई देते हैं; किन्तु निश्चय से आत्मा का स्वभाव नित्य एकप्रकार से अभेद-निर्मल है। उस अखण्ड के लक्ष्य से स्वरूप में सावधान होने से प्रतिक्षण निर्मल अवस्था प्रगट होती है। ऐसी निर्मल आत्मज्योति का हम निरंतर अनुभव करते हैं, ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

यह सब आत्मा का धर्म अंतरंग से ही किसप्रकार प्रगट होता है सो कहते हैं। जगत माने या न माने, उसपर सत् का आधार नहीं है।

आत्मा स्वभाव में ही सबकुछ कर सकता है। आत्मा अपने गुणों से पृथक् नहीं है, उसे गुणों के लिये किसी पर का अवलम्बन नहीं लेना पड़ता।

यह समझे बिना अंतरंग में धर्मभाव की निर्दोष एकाग्रता नहीं होती, अर्थात् मुक्ति नहीं होती। आचार्यदेव कहते हैं कि हम एक-समय का भी अन्तर डाले बिना अखण्डस्वरूप में लीन होकर ज्ञान-स्वरूप का ही अनुभव कर रहे हैं, अंतरंग गुणों की एकाग्रता में लीन होकर उन्हीं का स्वाद लेरहे हैं। ऐसा कहने का यह आशय समझना चाहिये कि सम्यक्दृष्टि धर्मात्मा गृहस्थदशा में भी जैसा अनुभव हम करते हैं वैसा ही आंशिक अनुभव करते हैं-वे हमारी ही भाँति अनुभव इसकाल में कर सकते हैं। कोई यह कह सकता है कि-यदि धर्मात्मा-आचार्यों को निरंतर आत्मानुभव होता रहता है तो उन्होंने शास्त्र क्यों रचे और वे धर्म का उपदेश क्यों देते हैं? उसका समाधान यह है कि-अनुभव तो नित्य आत्मा का होता है, किन्तु जितना राग है-अस्थिरता है उसमें शुभाशुभभाव की वृत्ति रहती है और कभी कभी ऐसा विकल्प भी उठता है कि दूसरे को धर्म प्राप्त कराऊँ, किन्तु उसकी मुख्यता नहीं है, वहाँ तो निर्विकल्पस्वरूप में स्थिर होने की मुख्यता है।

मैं निर्विकार एकरूप ज्ञान-शांति का अनुभव करनेवाला एकरूप ज्ञायक हूँ, एकाकार लक्ष्य का अनुभव निरंतर धारावाही है, जो अप्रति-हत स्वानुभव है उसमें काल का, कर्म का, रागादि का और किसी भी संयोग का भेद नहीं होता; क्योंकि वहाँ निरावलम्ब स्वाश्रित गुण की शक्ति में ढलने का बल मुख्य है। वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति से पुण्य-पाप की जो वृत्ति उठती है उसे वह जानता है, किन्तु दृष्टि में उस-का स्वीकार नहीं है। अखण्ड निर्मल स्वभाव के बल से परावलम्बी वृत्ति का निरंतर नाश ही होता है, और गुण का अनुभव बढ़ रहा है, इस अपेक्षा से निरंतर चिदानन्द स्वरूप का ही अनुभव करते हैं, ऐसा कहा है।

आचार्यदेव कहते हैं कि–"न खलु न खलु यस्मात् अन्यथा साध्यसिद्धिः" वास्तव में, निश्चय से कहते हैं कि–इस रीति के बिना त्रिकाल में भी कोई दूसरा उपाय नहीं है।

शुद्ध ज्ञानानंद की शाश्वत मूर्ति अमृतकुंड आत्मा है उसकी शरण में आना होगा। पुण्य-पाप के भाव और शरीर तो मृतक कलेवर-विष-कुण्ड के समान हैं, नाशवान हैं, तेरे नहीं हैं। तू पर का कर्ता नहीं है; इसलिये पराश्रयरूप अधर्मभाव को छोड़! पर का कुछ भी करने का जो भाव है सो उपाधिमय दुःखरूप भाव है। एकबार भी सत्य की शरण लेने पर त्रिकाल के असत्य की शरण छूट जाती है। मैं परमुखापेक्षी–पराधीन नहीं हूँ, इसप्रकार स्वाश्रितता की एकबार श्रद्धा तो कर! कोई भी परवस्तु तेरे अधीन नहीं है। ऐसे परम सत्य को न मानकर जो यह मानता है कि परपदार्थों की सहायता के बिना हमारी सारी व्यवस्था टूट जायेगी, उसे पूर्व पुण्यानुसार ही संयोग मिलते हैं–यह खबर नहीं है, उसे पुण्य की श्रद्धा नहीं है। बाह्य संयोग, देहादि की अवस्था किसी आत्मा के अधीन नहीं है, किन्तु अपने में राग-द्वेष अज्ञानरूपी कार्य करना अथवा सत्य को समझकर तदनुसार मानना, स्थिर होना ही वर्तमान पुरुषार्थ से होसकता है।

मैं पराश्रय के बिना नहीं रह सकता, मैं पुण्य-पाप की लगनवाला हूँ, मैं देहादि की क्रिया कर सकता हूँ, इत्यादि मान्यता का नाम ही मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र है; उस विरुद्धभाव को अपना मानने में त्रिकाल ज्ञानस्वभाव की नास्ति आती है।

जो पुण्य-पाप के विकारीभाव उत्पन्न होते हैं सो वह मैं नहीं हूँ, मैं पर का कर्ता नहीं हूँ, परपदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं त्रिकाल असंयोगी, अविकारी चैतन्यस्वरूप हूँ, इसप्रकार मानना, जानना और स्थिर होना ही मेरा स्वधर्म है।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि आपने यह कहा कि–ज्ञान के साथ आत्मा तत्स्वरूप है, एकमेक है, ज्ञान से कभी अलग नहीं है, इसलिये

ज्ञान का ही नित्य सेवन करता है; यदि ऐसा ही है तो ज्ञान की उपासना करने की शिक्षा क्यों दी जाती है ? जैसे अग्नि और उष्णता अलग नहीं हैं इसलिये अग्नि को उष्णता के सेवन करने की आवश्यक्ता नहीं होती, इसीप्रकार आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, अन्यस्वरूप नहीं, वह ज्ञान को ही नित्य सेवन करता है और ज्ञान में ही एकाग्र है; तो उसे ज्ञान की उपासना-सेवा करने की क्या आवश्यक्ता है ? यहाँपर शिष्य ने अन्धश्रद्धा से न मानकर समझने की दृष्टि से जिज्ञासाभाव से पूछा है; और इसप्रकार वह भलीभाँति निश्चय करना चाहता है ।

जैसा सम्यक् स्वभाव है उसीप्रकार निश्चय करके मानना, जानना और सेवन करना सो सेवा अर्थात् सेवन है ।

शिष्य कहता है कि आपने तो एक ज्ञान की ही सेवा करने को कहा है, दूसरे का या दूसरे प्रकार से कुछ करने को नहीं कहा है, यह बात मेरे मन में कुछ जमी है । जड़-देहादि परपदार्थ की कोई क्रिया कोई नहीं कर सकता, पुण्य-पाप के राग में लग जाना आत्मा की सेवा नहीं है, क्योंकि आत्मा उससे भिन्न है; और आत्मा ज्ञान से अलग नहीं है । इतना सत्य तो शिष्य ने ढूँढ़ निकाला है ।

मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, उसमें परवस्तु की-पुण्य-पाप की लगन का अभाव है, उसे अपना मानना सो अनन्तसंसार का कारण है । जन्म-मरण का नाश होकर शाश्वत सुख प्राप्त करने का उपाय सुनने को मिले तथापि उसे भावपूर्वक सुनकर विचारपूर्वक सत्य का निर्णय न करे, स्व-पर के भेद को न जाने और सत्य का बहुमान करके जबतक अंतरंग से उत्साहित न हो तबतक मानों वह अज्ञानी ही रहना चाहता है । सत्य के लिये मनन-मन्थन न करे तो समझना चाहिये कि उसे सत्य की रुचि ही नहीं है ।

जैसे किसी मकान के द्वार और खिड़कियाँ कई वर्ष से बन्द हों तो उन्हें खोलने पर जब भीतर वायु प्रवेश करती है तब बहुत समय

से पड़ा हुआ वहाँ का कूड़ा-कचरा इधर-उधर उड़ने लगता है, तब यदि कोई खेद करे कि इससे तो अच्छा यही होता कि द्वार और खिड़कियाँ बन्द ही रहतीं, इससे कचरा तो नहीं उड़ता। ऐसा कहनेवाला मानों कचरे को रखने योग्य मान रहा है, क्योंकि उसे स्वच्छता की महिमा का ज्ञान नहीं है। इसीप्रकार यदि कोई कहे कि आत्मा तो दिखाई नहीं देता, उसे समझने के लिये समझ के द्वार खोलकर गहराई में उतरकर, शंका करके भीतर खलबलाहट करने की अपेक्षा तो अनादिकाल से जिसप्रकार राग-द्वेष, और शरीरादि में मूढ़ होरहे हैं वही ठीक है। यदि ऐसा माने तो कभी भी अज्ञान दूर नहीं होगा और यथार्थ समझ प्राप्त नहीं होगी। समझने के लिये अवश्य आशंका करके पूछना चाहिये और यथार्थ बात का समझपूर्वक मेल बिठाना चाहिये।

शिष्य ने समझने के लिये जिज्ञासापूर्वक प्रश्न किया है, इसलिये अवश्य ही यथार्थ समाधान होजायेगा। हिताहित क्या है और सत्यासत्य क्या है—इसका निर्णय न करे और जहाँ-तहाँ धर्म के नामपर हाँ-जी-हाँ और 'सत्यवचन महाराज' कहदे तो इससे कोई लाभ नहीं होसकता। पहले स्वाधीनता का—दुःखों से मुक्त होने का उपाय सोचना चाहिये। कोई आत्मा दूसरे के द्वारा नहीं समझ सकता और न कोई दूसरे को ही समझा सकता है, किन्तु स्वयं अपनी दरकार करके सत्य को समझे तो समझानेवाले को व्यवहार से निमित्त कहा जाता है।

आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द इत्यादि अनन्तगुण विद्यमान हैं; उनमें से यहाँ ज्ञानगुण को मुख्यता से लिया है। शिष्य ने इतना तो निश्चित् कर लिया है कि स्वाधीन वस्तु त्रिकाल है और वह पर से भिन्न है। इसप्रकार प्रत्येक आत्मा पर से भिन्न और अपने ज्ञान-गुण से त्रिकाल अभिन्न है।

शंकाः—यह तो सच है कि कोई आत्मा किसी पर का कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु यदि आप यह कहते हैं कि आत्मा ज्ञान से

कभी पृथक् नहीं है तो फिर उसे ज्ञान की उपासना करने को क्यों कहते हैं ?

समाधानः—जैसा कि तुम कह रहे हो वैसा नहीं है। ज्ञानादिक समस्त गुणों के साथ आत्मा तादात्म्यस्वरूप से है, तथापि अनन्तकाल से अपने गुणों का एक समयमात्र को भी सेवन नहीं किया है। पराश्रय से हटकर स्वाश्रिततारूप से अन्तरमुख होकर उस ओर ढलना सो यही ज्ञानस्वभाव की सेवा है, इसप्रकार निःशंक होकर एकसमय भी अपना सेवन नहीं किया है; अनादिकाल से अपने को भूलकर दूसरे पर विश्वास जमा रखा है। कुछ करूँ तो ठीक हो-इसप्रकार बाह्योन्मुखता के द्वारा राग की सेवा की है। अपनी सेवा कर सकता है सो तो की नहीं और पर का कुछ कर नहीं सकता सो उसका अभिमान किया है। पराश्रय की श्रद्धा ही भ्राति है। धर्म के नामपर भी बाह्य में सबकुछ किया, और राग-द्वेष में लगा रहा। जो एक क्षणमात्र को भी आत्मा की सेवा करे तो उसके जन्म-मरण और बन्धन नहीं रह सकता। स्व-लक्ष्य में दोष या दुःख नहीं होसकते। जो बाह्योन्मुखता की वृत्ति उद्भूत होती है सो त्रिकाल में भी आत्मा का स्वरूप नहीं है, अंतरंग गुणों में विकार नहीं है। निश्चय से या व्यवहार से गुणों में दोष प्रविष्ट नहीं होसकते।

अज्ञानी ने विपरीतमान्यता से परभावों का सेवन किया है। यदि एक समयमात्र को सत्यस्वभाव का सेवन किया हो तो संसार में परिभ्रमण न करे, क्योंकि स्वयंबुद्धता से अर्थात् वर्तमान में ज्ञानी की उपस्थिति के बिना स्वयं अपनेआप स्वभाव से जो जानलिया सो वह अथवा बोधित बुद्धत्व अर्थात् समझानेवाले सच्चे गुरु के द्वारा जानना, या गुरुज्ञान के सत्समागम से जानना सो, इसप्रकार कारणपूर्वक स्वयं अपने स्वभाव से ही जागृत होता है। एकबार सच्चे गुरु के निकट से अपनी रुचि के बल से जो यथार्थ सत्य को सुनता है उसे देशनालब्धिरूप कारण कहा जाता है; और स्वयं अपनी निज की

आकांक्षा से अंतरंग में निर्मल तत्व के विचार में लगने पर पहले गुरु के द्वारा सुना किन्तु वर्तमान में निमित्त विद्यमान नहीं है, तथापि स्वयं अपनेआप जाने–स्वभाव से अपनी ओर उन्मुख होकर यथार्थ स्वरूप को जाने तो तब गुरुगम निमित्त कहलाता है। इसप्रकार कारण-पूर्वक निर्मल अवस्थारूप कार्य की उत्पत्ति होती है।

स्वाश्रित ज्ञान का कारण दिये बिना स्वरूप की सेवा नहीं कर सकता। सच्ची सेवा का मूल कारण भेदविज्ञान है, यह उन्नीसवीं गाथा में कहा जायेगा। अनादिकालीन बाह्योन्मुखता को छोड़कर स्वसन्मुख हुआ, नित्य स्वाधीन ज्ञानस्वरूप हूँ, अन्यरूप नहीं, पर में कर्ता–भोक्तारूप नहीं हूँ–इसप्रकार स्वभाव की दृढ़ता करके उसमें पुरुषार्थरूप स्वकाल जागृत होता ही है, अर्थात् स्वसन्मुख होने पर स्वयं स्वभाव से ही जागृत होता है, अथवा स्वरूप को समझने की उत्कट आकांक्षा से सद्गुरु के पास जाकर उनके उपदेश से स्वरूप को समझता है। (जैसे सोया हुआ पुरुष स्वयं अपनेआप जागृत होता है अथवा उसकी जागने की तैयारी होनेपर कोई जगानेवाला निमित्त मिल ही जाता है, तब स्वयं जागृत होता है। एक में उपादान के कथन की मुख्यता और दूसरे में निमित्त का कथन है; किन्तु दोनों में जागता स्वयं अपने आप से ही है।)

यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि–यदि ऐसा है तो प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) होने के दो कारणों सहित अपने आत्मा को जानने से पूर्व क्या यह आत्मा अनादिकाल से अज्ञानी ही रहा है? अपने में अपना अजानपन ही है? मूढ़तारूप अविवेकीपन–अप्रतिबुद्धिता ही है? (इसप्रकार सत् को समझने की जिसे जिज्ञासा है उसे अपनी गहन आंतरिक आकुलता को दूर करने के लिये यह प्रश्न उपस्थित होता है।)

उत्तरः—यह बात ऐसी ही है अज्ञानी ही रहा है। समयसार में अत्यन्त अप्रतिबुद्ध जोकि यथार्थ कारणसहित अपनेपन को नहीं समझा

है और जो पर में अपनापन मान रहा है उसे समझाने के लिये उपदेश है।

उन्नीसवीं गाथा में कहा गया है कि जबतक अज्ञान के नाश का कारण जो भेदविज्ञान है उसे प्राप्त नहीं करेगा तबतक वह अज्ञानी ही है। ऐसे अत्यन्त अज्ञानी को समझाने के लिये मूल उपदेश समयसार में है, समझे हुए को नहीं समझाते हैं।

पर को अपना माननेरूप अज्ञान कबतक रहेगा? ऐसा पूछनेवाला, अज्ञानी रहने के लिये नहीं पूछता, किन्तु उसे अज्ञान को दूर करने की जिज्ञासा हुई है, कि अरे! यह अनादिकालीन अविवेक और मूढ़ता कबतक रहेगी? पूछनेवाले की ऐसी भावना है कि मुझे अब अधिक समय तक अज्ञान न रहे। जो यथार्थ को समझ लेता है वह अल्पकाल में ही स्वतंत्रस्वभाव अर्थात् मुक्ति को प्रगट कर लेता है, ऐसी सन्धिपूर्वक यह बात कही गई है।

अनन्तकाल व्यतीत होजाने पर भी भूल और अशुद्धता की स्थिति एक समयमात्र की अवस्था में है, किन्तु अंतरंग स्वभाव में वह भूल या विकारी अवस्था प्रविष्ट नहीं होगई है; गुण में कहीं दोष नहीं है। मात्र बाह्य लक्ष्य करके पर को अपना मानता है सो उस अवस्था की भूल किसप्रकार है—यह उन्नीसवीं गाथा में कहेंगे।

कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥ १६ ॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म।
यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत् ॥ १६ ॥

अर्थः—जबतक इस आत्मा को ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीरादिक नोकर्म में ऐसी बुद्धि रहती है कि 'यह मैं हूँ' और मुझमें (आत्मा में) 'यह कर्म-नोकर्म हैं' तबतक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है।

शास्त्र में यह सुन लिया कि कर्म हैं, इसलिये अज्ञानी ने इसीको पकड़ लिया कि कर्म मुझे हैरान करते हैं, और वे ही सुखी-दुःखी करते हैं, वे मेरे हैं और उनके कारण से मैं हूँ। जब देह पर दृष्टि थी तब मानता था कि शरीर और उसकी प्रवृत्ति मेरे आधार से होती है और जब शास्त्र में पढ़ा या सुना कि कर्म एक पदार्थ है, उसका निमित्त पाकर संयोगाधीन पुण्य-पाप के भाव तुझमें होते हैं, तो वहाँ निमित्त पर दोषारोपण करना सूझा। जब इच्छानुसार कुछ होता है तो कहता है कि इसे मैंने किया है और जब अनुकूल नहीं बैठता तब कर्म पर दोष डालता है कि मैंने पहले बुरे कर्म किये होंगे सो उन्हें भोग रहा हूँ। शास्त्रों ने तो तुझे तेरी शक्ति बतादी है कि स्व-पर को जानने की तेरे ज्ञान में शक्ति है। विकार होने में कर्म मात्र निमित्त हैं, ऐसा सुनकर अज्ञानी जीव कर्म को अपना मान बैठा है; और कहता है कि धर्म सुनने की इच्छा तो बहुत होती है, किन्तु अंतरायकर्म का उदय हो तो कहाँ से सुन सकता हूँ ? जबतक कि अंतरायकर्म मार्ग न छोड़दे तबतक सुनने का सुयोग कहाँ से मिल सकता है ? किन्तु ऐसा मानना बिलकुल मिथ्या है, क्योंकि जब स्वयं विपरीतभाव में लीन होता है तब कर्म मात्र निमित्त कहलाते हैं, किन्तु कर्म किसीको रोकते नहीं हैं। उन अन्य-जड़ कर्मों पर दोषारोपण करना बहुत बड़ी अनीति है।

स्त्री, धन, कुटुम्ब, शरीर इत्यादि नोकर्म कहलाते हैं, उन्हें जबतक अपना मानता है तबतक ऐसे स्वभाव की प्रतीति नहीं होती कि मैं पर से भिन्न हूँ।

टीका:—जिसप्रकार स्पर्श रस वर्ण गंध आदि भावों में विविध आकार में परिवर्तित पुद्गल के स्कन्धों में 'यह घड़ा है' इसप्रकार, और घड़े में 'यह स्पर्श रस गंध वर्ण आदिभाव तथा विविध आकार में परिणत पुद्गल स्कन्ध हैं,' इसप्रकार वस्तु के अभेद से अनुभूति होती है। परमाणु में मुख्यगुण स्पर्श है। जीव में पन्चेन्द्रियों में मुख्य स्पर्शन

इन्द्रिय है। एकेन्द्रियता में अन्य सब इन्द्रियों की शक्ति दब जाती है, तथापि एक स्पर्शन इन्द्रिय का विकास बना ही रहता है। परमाणुओं के स्कन्धरूप होने में स्पर्शगुण मुख्य है। सिद्ध होनेपर इन्द्रियों का सर्वथा अभाव होता है।

जो पुद्गलपरमाणु हैं सो वस्तु है, उसमें जो स्पर्शादिकभाव हैं सो गुण हैं, और आकार-प्रकार उसकी पर्याय हैं; इसप्रकार प्रत्येक वस्तु का अभेदत्व अपने-अपने गुण-पर्याय से जाना जाता है। इसीप्रकार कर्म मोह आदि अंतरंग परिणाम तथा नोकर्म शरीर आदि बाह्य वस्तुएं कि जो सब पुद्गल के परिणाम हैं और आत्मा का तिरस्कार करनेवाले हैं—उनमें 'यह मैं हूँ' इसप्रकार और आत्मा में 'यह कर्म-मोह आदि अंतरंग तथा नोकर्म-शरीर आदि बहिरंग आत्मतिरस्कारी पुद्गल-परिणाम हैं,' इसप्रकार वस्तु के अभेद से जहाँतक अनुभूति है वहाँतक आत्मा अज्ञानी है। परवस्तु को अपनी मानने में पर की महिमा की, इसलिये स्वयं अपनी स्वतंत्रता का तिरस्कार किया; ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा निर्मल परमानन्दमूर्ति है, उसमें वर्णादिक या रागादिक कुछ नहीं हैं। अपनी मूढ़ता के कारण पर की ओर दृष्टि डालने से अपने स्व-भाव में आवरण आता है, अर्थात् स्वयं ही अपने स्वभाव का तिरस्कार करनेवाला है। यदि ज्ञायकरूप से ही रहे तो गुण का विकास होना चाहिये, उसकी जगह ज्ञान को पराश्रय में रोकता है, पर से विकास मानता है, उसमें अच्छा-बुरा करके राग में लग जाता है, इसलिये ज्ञान का विकास रुक जाता है। राग-द्वेष भाव आत्मस्वरूप को हानि पहुँचानेवाले हैं, तिरस्कार करनेवाले हैं, अर्थात् राग-द्वेष को आत्मा का स्वरूप माननेवाला स्वयं अपना ही शत्रु है।

मैं बालक हूँ, वृद्ध हूँ, देहरूप हूँ, हम दोनों एक हैं, इसप्रकार देह को अपना मानता है, और कहता है कि जैसे पानी में लाठी मारने से पानी अलग अलग नहीं होजाता, इसीप्रकार मैं और मेरा शरीर एक ही है, और वह देह की अवस्था को अपनी ही अवस्था मानता है। किन्तु

जड़पदार्थ तुझे हानिकारक नहीं हैं। राग-द्वेष में एकाग्र होने से अपने वीतराग स्वभाव का तिरस्कार होता है। जो यह मानता है कि जबतक मैं रहता हूँ तबतक घर और व्यापार की व्यवस्था ठीक चलती रहती है, वह यह मानता है कि मैं सब परपदार्थरूप हूँ और समस्त परपदार्थ मेरे अधिकार में हैं, और ऐसा मानने से स्पष्ट है कि उसे पृथक्त्व की प्रतीति नहीं है। यदि परपदार्थ में कहीं कुछ परिवर्तन हो जाता है तो कहने लगता है कि मुझसे नहीं बन सका इसलिये बच्चे बीमार होगये हैं, मैं कुछ असावधान होगया इसलिये व्यापार में हानि होगई है, इसप्रकार पर में कर्तृत्व के अभिमान से वह स्वाधीन तत्त्व का अनादर करता है।

राग-द्वेष या पुण्य से अच्छा कर दूँ, यदि अमुक व्यक्ति की सहायता मिल जाये तो अच्छा हो, इसप्रकार वह स्वभाव का तिरस्कार करने वाले शत्रुभाव को अपना मानता है। यह मानना कि शरीर अच्छा हो तो धर्म हो, इसका अर्थ यह है कि मैं स्वयं निर्माल्य और पराधीन हूँ। जबतक यह मानता है कि मेरे स्वभाव में धर्म है ही नहीं, तबतक वह अज्ञानी ही है। मरण के समय यदि सत्पुरुषों का समागम-उनकी उपस्थिति हो तो वे मृत्यु को सुधार देंगे, वह मेरे भावों में सहायक होसकते हैं,-इसप्रकार जो मानता है उसे अपनी स्वतंत्रता की श्रद्धा नहीं है। पुण्य-पापभाव उस स्वभाव से विरोधीभाव हैं, उनसे अविकारी गुण को सहायता मिलती है,-इसप्रकार जो मानता है उसे विकाररहित पृथक् स्वभाव की खबर नहीं है, अपने गुणों की प्रतीति नहीं है। देहादिक अथवा रागादि में कभी चैतन्य नहीं है और चैतन्य में देहादि-रागादि नहीं हैं।

कोई कहता है कि एकान्त वन में किसी गुफा में बैठे हों, चारों तरफ हरा-भरा वन दिखाई देता हो, झरने कलकल नाद करते हुए बह रहे हों, तो ऐसा स्थान आत्मशांति के लिये सहायक होसकता है या नहीं? किन्तु इसप्रकार जो आत्मशांति के लिये दूसरे को सहायक

मानता है वह परक्षेत्र से गुण-लाभ मानता है, अर्थात् वह यह नहीं मानता कि अपने में किसी के आधार के बिना स्वतः गुण भरे हुए हैं। घर में स्त्री, पुत्रादि का संयोग मुझे ध्यान की स्थिरता नहीं होने देता, इसप्रकार माननेवाला अपने को निमित्ताधीन तत्व मानता है।

जो अपने में अस्तिरूप से हो वह अपने को हानि-लाभ का कारण होसकता है, किन्तु शरीरादिक जोकि अपने में नास्तिरूप से ही हैं वे हानि-लाभ का कारण नहीं होसकते। जिनकी अपने में नास्ति है वह मुझे हानि पहुँचाते हैं, यों कहना मानों ऐसा है कि मुझे खरगोश ने अपने सींगों से छेद दिया है और उससे बहुत खून निकला है। कुछ लोग यह मानते हैं कि मस्तक में ब्राह्मी के तेल की मालिश करने से, बादाम खाने से बुद्धि की वृद्धि होती है, किन्तु परपदार्थ से बुद्धि का आना या बढ़ना मानना सर्वथा मिथ्या है। क्या जड़वस्तु में चैतन्य को गुण देने की शक्ति होसकती है? यदि जड़वस्तु आत्मा को सहायक हो तो आत्मा स्वयं शक्तिहीन और पराधीन कहलायेगा। जिस वस्तु पर लक्ष्य करने से शुभाशुभ भाव होते हैं उस वस्तु को सहायक मानना भी मूढ़ता है।

सत्समागम की महिमा अपने गुण की रुचि का बहुमान प्रगट करने के लिये है। पर की ओर का झुकाव राग है, राग के आश्रय से वीतरागता नहीं होती अथवा वीतरागी गुण में सहायता भी नहीं होती। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के निमित्त भी पर हैं, उनका अवलम्बन भी शुभराग होने से स्वाधीन स्वभाव में सहायक नहीं है। यह नग्न-सत्य है। जो सत्य है सो त्रिकाल सत्य ही रहेगा। असत्य कभी सत्य नहीं होता। पर की ओर का विषय मात्र राग में जाता है; उस निमित्त और राग को भूलकर स्वाश्रय के बल से स्वलक्ष्य में स्थिर हो सो यही गुणकर है।

जो यह मानता है कि-मैं पर को हानि-लाभ कर सकता हूँ, और पर मुझे हानि-लाभ कर सकता है, वह दो तत्वों को एक मानता

है, वह स्वतंत्र आत्मा को नहीं मानता इसलिये वह मूढ़ है-अविवेकी है। निज का अस्तित्व कहने से पर के नास्तित्व का ज्ञान आजाता है।

जैसे स्वच्छता दर्पण का गुण है, उसमें जो कुछ भी दिखाई देता है वह स्वच्छता ही दिखाई देती है; उसके सम्मुख रखी हुई अग्नि अग्निरूप में ही है, दर्पणरूप में नहीं है; तथा दर्पण, दर्पणरूप से है अग्निरूप से नहीं है। इसीप्रकार अरूपी आत्मा में स्व-पर को जाननेवाला ज्ञायकतत्व ही है, पर में कहीं रुकना नहीं होता। जानना ही आत्मा का स्वरूप है, पुण्य-पाप और रागादिक सब जड़ के हैं। इसप्रकार अपने से ही अथवा पर के उपदेश से सम्यक् भेदविज्ञान की अनुभूति होती है। यह अध्यात्मशास्त्र है इसलिये स्वभाव से बोध होता है, यह पहले कहा है। पहले एकबार पात्रता से सत्समागम के द्वारा गुरु के निमित्त से समझना चाहिये।

"बूझी चहत जो प्यासको, है बूझनकी रीति,
पावे नहि गुरुगम विना, ए ही अनादि स्थित।"

जहाँ सत् को समझने की अपनी प्यास-तीव्र आकांक्षा होती है वहाँ सत् को समझानेवाला गुरु मिल ही जाता है। किसीको यह नहीं मान लेना चाहिये कि-गुरुज्ञान के बिना अपने आप ही समझ लेंगे तथा गुरु भी समझा देंगे। अपनी पूर्ण तैयारी होने पर सत्समागम के लिये रुकना नहीं पड़ता, किन्तु अपनी जागृति में अपूर्णता हो, कमी हो तो अपने ही कारण से अपने को रुकना पड़ता है। जहाँ अपनी तैयारी होती है वहाँ सद्गुरु का निमित्त मिल ही जाता है।

हम निमित्त पर भार न देकर उपादान पर भार देते हैं। गुरु से ज्ञान प्राप्त नहीं करता किन्तु उसके निमित्त के बिना-सत्समागम के बिना सत्य को नहीं समझता। या तो पूर्व के सत्समागम का स्मरण करके अपने आप समझे या जिससमय स्वयं समझने को तैयार हो उससमय ज्ञानी पुरुष का समागम अवश्य मिलता है। इसप्रकार जब भेदविज्ञान

मूलक अनुभूति उत्पन्न होगी तभी स्वयं प्रतिबुद्ध होगा, अर्थात् स्व-पर की भिन्नता को जाननेवाला सम्यक्ज्ञानी होगा। ज्ञान होने के बाद पुरुषार्थ की जितनी अशक्ति होती है उतना राग होता है, किन्तु दृष्टि में उसका स्वीकार नहीं है।

पहले सामान्य ज्ञान तो था, किन्तु भेदविज्ञान अर्थात् विशेषतः पृथक्त्व का ज्ञान-सम्यक्ज्ञान नहीं था। जब यथार्थ स्वाश्रय से भेदज्ञान-स्वरूप आत्मा की अनुभूति प्रगट होगी तभी पर में कर्तृत्व और भोक्तृत्व की मान्यता की भ्रान्ति दूर करके स्वरूप का सच्चा ज्ञान होगा-स्वभाव का ही कर्ता होगा।

शिष्य पूछता है कि आत्मा अपने धर्म से अजान कबतक रहता है? इसके उत्तरस्वरूप उन्नीसवीं गाथा है।

जैसे स्पर्शादि में पुद्गल का और पुद्गल में स्पर्शादि का अनुभव होता है, अर्थात् जो जड़ है सो रस, गंध आदि है और जो रस गंधादि है सो जड़ है। वे दोनों जैसे एकरूप मालूम होते हैं वैसे ही आत्मा में कर्म-नोकर्म को माने और वे दोनों एकरूप भासित हों तबतक वह अज्ञानी है, उसे पृथक्त्व की प्रतीति नहीं है। पृथक्त्व को जाने बिना मुक्ति की प्राप्ति कैसे कर सकता है?

आत्मा तो ज्ञाता ही है। कर्म और राग-द्वेष जड़ के घर के ही हैं, ऐसा जानले तभी धर्म होता है। दृष्टि में से शरीर, कर्म, राग-द्वेष, पुण्य-पाप का अभिमान दूर हुआ कि मैं मात्र उसका ज्ञाता ही हूँ, इसप्रकार ज्ञान में दृढ़ता का रहना ही धर्म है। आत्मा तो ज्ञान ही है, और ज्ञानस्वभावमय ही है, कर्म-नोकर्म सब पुद्गल के ही हैं, इसप्रकार जिसने जानलिया उसने आत्मस्वभाव को जानलिया।

जिस दर्पण में अग्नि की ज्वाला दिखाई देती है उस दर्पण में अग्नि नहीं दिखाई देती, किन्तु उस दर्पण की स्वच्छता ही दिखाई देती है। अग्नि के गुण कहीं दर्पण में प्रविष्ट नहीं होगये हैं। दर्पण में

लालरूप में परिणमित होने की योग्यता थी इसलिये वह लाल रंग-रूप होगया है, कहीं अग्नि ने लालरूप में परिणमित नहीं किया है। यदि अग्नि से दर्पण की लाल अवस्था हुई होती तो लकड़ी में भी हो-जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। उसमें योग्यता हो तभी वह उसरूप हो। इसीप्रकार आत्मा ज्ञानानंद चैतन्यमूर्ति है, उसमें जो कर्म-नोकर्म दिखाई देते हैं सो उसके ज्ञान की स्वच्छता है। कर्म या नोकर्म आत्मा में घुस नहीं गये हैं। आत्मा स्वयं अपनी अवस्था को ही जानता है, प्रस्तुत निमित्त को लेकर जानता हो सो बात नहीं है। आत्मा ज्ञानस्वरूप ऐसा निर्मल दर्पण है कि उसमें जो मकान इत्यादि दिखाई देते हैं उन्हें वह नहीं जानता, किन्तु अपने ज्ञान की अवस्था को ही जानता है। अपना ज्ञानस्वभाव परनिमित्त को लेकर नहीं, किन्तु पर्याय होने की योग्यतानुसार ज्ञान की शक्ति के अनुसार निमित्त सन्मुख उपस्थित होता है, किन्तु वह निमित्ताधीन आत्मा का ज्ञान नहीं है।

दर्पण में जब लाल-पीलेरूप में होने की योग्यता होती है तब उसप्रकार के निमित्त सन्मुख उपस्थित होते हैं। दर्पण में रंगगुण त्रिकाल है; किन्तु काली, पीली, लाल अवस्थाएँ त्रिकाल नहीं हैं। अवस्थाएँ बदल जाती हैं स्थिर नहीं रहतीं; किन्तु रंगगुण सदा ही बना रहता है। परमाणु का अवस्था बदलना स्वतंत्रस्वभाव है।

शरीर, इन्द्रियाँ और कर्म तो रजकण हैं, उनके कारण ज्ञान नहीं होता। जहाँ यह जाना कि शरीर हिला है, वहाँ उस ज्ञान की स्वच्छता की योग्यता में अपने ज्ञान की अवस्था जानी जाती है; शरीर के हिलने से ज्ञान हुआ हो सो बात नहीं है। जो अवस्था बदलती है सो अपने कारण से बदलती है, पर के-निमित्त के कारण से नहीं। आत्मा का ज्ञानगुण सदा बना रहनेवाला है, उसमें जो अवस्था होती है वह प्रस्तुत वस्तु के कारण नहीं किन्तु अपनी उस अवस्था की योग्यता के कारण है। शरीर की चलने-बोलने इत्यादि की क्रिया जड़ की क्रिया है। वह

ज्ञान की अवस्था में उसीसमय ज्ञान की अवस्था के कारण ज्ञात होती है। आत्मा न तो हिलता है, न बोलता है, न खाता है, न पीता है, किन्तु वह शरीर की अवस्था को अपने ज्ञान की अवस्था में अपने स्वतंत्र कारण से जानता है। इसप्रकार सततस्वभाव को जानना सो उसका नाम धर्म है।

शब्द के कारण ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञान की अवस्था तैयार हुई है तब वैसे शब्द विद्यमान होते हैं। शब्द को लेकर ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञान को लेकर ज्ञान होता है। शब्द को लेकर ज्ञान मानना ही सबसे बड़ी 'भूल में भूल' है।

"स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी,
तातैं वचन भेद भ्रम भारी;
ज्ञेय दशा दुविधा परगासी,
निजरूपा-पररूपा भासी।"

एक ज्ञानगुण अपनी और पर की अवस्था को अपने कारण से जानता है। जो शब्द से ज्ञान मानता है वह यह मानता है कि मैं पर में हूँ। मेरे ज्ञान की अवस्था मुझमें है, ऐसा न मानकर यह मानता है कि प्रस्तुत वस्तु के कारण मेरे ज्ञान की अवस्था होती है, वह अपने स्वतंत्र स्वभाव को ही नहीं मानता, सो यही अज्ञान-मिथ्याभ्रान्तिरूप अधर्म है। आत्मा के ज्ञान की अवस्था ही कुछ ऐसी है कि जिससमय प्रस्तुत वस्तु उपस्थित होती है उससमय उसमें (ज्ञान में) अपनी वैसी अवस्था अपने स्वतंत्र कारण से होनी होती है।

कर्म-नोकर्म कहीं आत्मा में घुसे हुए नहीं हैं। ज्ञान की अवस्था ज्ञान से ही होती है, ऐसा भेदज्ञानरूप अनुभव किसीसमय अपने से होता है और किसीसमय उपदेश से होता है। यहाँ उपादान से और निमित्त से बात ली है। आत्मा के ज्ञान की अवस्था की जिस-समय जैसी योग्यता होती है उससमय निमित्त उसके कारण से सन्मुख

उपस्थित होता है। ऐसा आत्मा पर के अवलम्बन से रहित, पर के आधार से अवस्थारूप न होनेवाला है, उसका जो ज्ञान है सो भेदविज्ञान है। आत्मा की अवस्था पर के कारण से नहीं होती और न पर की अवस्था आत्मा के कारण से होती है।

अब इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव ॥ २१ ॥

अर्थः—जो पुरुष अपनेआप ही अथवा पर के उपदेश से-किसी भी प्रकार से, भेदविज्ञान जिसका मूल उत्पत्तिकारण है-ऐसी अविचल अपने आत्मा की अनुभूति को प्राप्त करते हैं, वे ही पुरुष दर्पण की भाँति अपने में प्रतिबिम्बित हुए अनन्तभावों के स्वभावों से निरंतर विकार-रहित होते हैं; ज्ञान में जो ज्ञेयों के आकार प्रतिभासित होते हैं उनसे वे रागादि विकार को प्राप्त नहीं होते।

शरीरादि की अवस्था उसके अपने स्वतंत्र कारण से है। मेरी अवस्था मुझमें अपने कारण से है। देह के जितने जन्म-मरणादि स्वभाव-संयोग हैं वे सब भगवान आत्मा के ज्ञान की सामर्थ्य भूमिका में ज्ञात होते हैं, किन्तु आत्मा उसकी अवस्था को नहीं करता, अथवा वे परपदार्थ आत्मा की अवस्था को नहीं करते। आत्मा अरूपी है, उसमें यदि वृक्षादिक रूपी पदार्थ आजाते हों तो वह रूपी होजाये, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। परपदार्थ ज्ञानस्वभाव में ज्ञात होते हैं सो वह अपनी ही अवस्था है। उसमें किसी का प्रतिबिम्ब नहीं आता। यह तो मात्र निमित्त से कहा जाता है कि मुझे इससे ज्ञान हुआ है।

परपदार्थ में अच्छा-बुरा माने, और ऐसा माने कि पर को लेकर मैं और मुझे लेकर परपदार्थ हैं, तो राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा।

किन्तु यदि ऐसा माने कि न तो पर को लेकर मैं हूँ और न मेरे कारण परपदार्थ हैं; तो राग-द्वेष नहीं होगा।

निंदा-स्तुति आदि कोई पर आत्मा से ऐसा नहीं कहता कि तू मुझमें अच्छा-बुरा करके रुकजा। तथा आत्मा स्वयं भी पर में नहीं जाता—वह अपने में ही रहकर पर को अपने ज्ञान की स्वच्छता में जानता है।

दर्पण में अग्नि इत्यादि दिखाई देती है सो तो दर्पण की निर्मलता की अवस्था है; वह अग्नि इत्यादिक दर्पण में प्रविष्ट नहीं होजाते। इसीप्रकार निंदा-स्तुति इत्यादिक कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं होजाते। यदि शरीरादिक आत्मा में प्रविष्ट होजायें या एकमेक होजायें तो आत्मा जड़ होजाये, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। आत्मा चैतन्य है, उसके गुण चैतन्य हैं और उसकी पर्याय भी चैतन्य है। पुद्गल जड़ है, उसके गुण जड़ हैं, और उसकी पर्याय भी जड़ है। आत्मा के ज्ञानरूपी निर्मल दर्पण में राग द्वेषादिक परवस्तु ज्ञात होती है, किन्तु उसमें अच्छा-बुरा कुछ भी करना ज्ञान का स्वभाव नहीं है। इसलिये धर्मात्मा पर से पृथक्त्व के स्वभाव की प्रतीति के कारण पर में राग-द्वेष नहीं करते। स्वभाव में राग-द्वेष नहीं है, यदि कभी कुछ अल्प राग-द्वेष हो तो वह पुरुषार्थ की अशक्ति है। कोई परवस्तु राग-द्वेष का कारण नहीं है।

मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, यह तो अभिमान है; इसे दूर किये बिना ज्ञान नहीं होसकता। तीनलोक और तीनकाल में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। आत्मा तो एकमात्र ज्ञाता ही है।

प्रायः लोग कहा करते हैं कि कोई इतनी गालियाँ दे तो फिर कहीं क्रोध हुए बिना रह सकता है? किन्तु उन्हें यह ज्ञात नहीं है कि—जैसे पाँच गालियों के शब्दों को जानने की आत्मा में शक्ति है उसीप्रकार अनन्त ज्ञेयों के जानने की शक्ति भी उसमें है; किन्तु अज्ञानी कहता

है कि—"ऐसी कान को फाड़ देनेवाली गालियाँ कैसे सुनी जासकती हैं"? किन्तु प्रभो! तेरा ज्ञानगुण तो अनन्तस्वभाववाला है, उसमें चाहे जोकुछ हो वह सब उस ज्ञान में ज्ञात होता है। यदि पर को जानने से इन्कार करे तो अपने ज्ञान की अवस्था का ही निषेध होता है। यह बात कहीं वीतराग होजाने वालों की नहीं है, किन्तु जिन्हें वीतराग होना हो, जिन्हें आत्मा की निर्विकल्प शांति चाहिये हो, उनके लिये यह बात है ॥ १९ ॥

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) किसप्रकार पहिचाना जासकता है? उसका कोई चिन्ह बताइये। पहले शिष्य ने काल पूछा था और अब लक्षण पूछ रहा है। उसके उत्तर में तीन गाथाएँ कही हैं:—

अहमेदं एदमहं अहमेदस्स हि अत्थि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२०॥

आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि ॥२१॥

एयत्तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२॥

अहमेतदेतदहं अहमेतस्यास्ति ममैतत्।
अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं वा ॥ २० ॥

आसीन्मम पूर्वमेतदेतस्याहमप्यासं पूर्वम्।
भविष्यति पुनर्ममैतदेतस्याहमपि भविष्यामि ॥ २१ ॥

एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः।
भूतार्थं जानन्न करोति तु तमसंमूढः ॥ २२ ॥

अर्थः—जो पुरुष अपने से अन्य परद्रव्य को–सचित्त स्त्री-पुत्रादिक, अचित्त धनधान्यादिक, अथवा मिश्र ग्रामनगरादिक को–यह समझता है कि मैं यह हूँ और यह परद्रव्य मुझस्वरूप हैं, मैं इनका हूँ और यह मेरे हैं, यह मेरे पहले थे, मैं भी पहले इनका था, यह भविष्य में मेरे होंगे, मैं भी भविष्य में इनका हूँगा; ऐसा झूठा आत्मविकल्प करने वाले मूढ़ हैं, मोही हैं, अज्ञानी हैं; और जो पुरुष परमार्थ वस्तुस्वरूप को जानते हुए ऐसा झूठा विकल्प नहीं करते वे मूढ़ नहीं किन्तु ज्ञानी हैं।

स्त्री–पुत्रादिक मेरे कारण पल-पुस रहे हैं, मैं उन्हें जिसप्रकार रखना चाहूँ वैसे रहते हैं, धनधान्यादि को इसप्रकार लुका-छिपाकर रखता हूँ कि किसी को खबर नहीं होसकती, मैं ही सारे गाँव का रक्षक हूँ, इसप्रकार अज्ञानी मानता है; वह स्त्री को अर्द्धांगिनी मानता है किन्तु उसका शरीर अलग है और तेरा शरीर अलग है, प्रत्येक का आत्मा अलग है। यह मेरे पुत्र हैं, यह मेरी पुत्रियाँ हैं, यह मेरे हैं और मैं इनका हूँ, यह पहले मेरे थे और मैं भी पहले इनका था, भविष्य में ये मेरे होंगे और मैं इनका होऊँगा, यह मेरा पालन करेंगे और मैं इनका पालन करूँगा, यह मेरी सेवा करेंगे और मैं सबकी सेवा करूँगा; जो ऐसे झूठे विकल्प करता है वह अज्ञानी, अधर्मी और सच्चा मूर्ख है। और जो उपरोक्तभाव नहीं करता वह ज्ञानी है, धर्मात्मा है।

टीकाः—यहाँ दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि–जैसे कोई पुरुष अग्नि और लकड़ी को एकरूप दिखाई देने से एकरूप ही मानले और यह समझे कि अग्नि लकड़ी की है और लकड़ी अग्नि की है। पहले ऐसा था और भविष्य में भी ऐसा होगा, तो ऐसा विपरीतभाव करनेवाले को अग्नि और लकड़ी के त्रिकाल भिन्नस्वभाव की प्रतीति नहीं है। अग्नि उष्ण है और लकड़ी उष्ण नहीं है, इसप्रकार दोनों का स्वभाव भिन्न है, यह स्पष्ट बात अज्ञानी को मालूम नहीं होती। इसप्रकार आत्मा को

अग्नि की, और परद्रव्य को लकड़ी की उपमा दी ई है। जो ऐसा विचार करता है कि जबतक मैं हूँ तबतक घर, स्त्री, पुत्र, रुपया पैसा इत्यादि हैं, और जबतक यह हैं तबतक मैं हूँ, इसप्रकार परद्रव्य को–परवस्तु को अपने आधार पर अवलम्बित माने और अपने स्वभाव को परद्रव्यों पर अवलम्बित माने तो उसे अपने त्रिकाल स्वतंत्र चैतन्यस्वरूप की प्रतीति नहीं है।

जिसने शरीर को अपना माना है वह शरीर की समस्त क्रियाओं को अपना मानता है।

आत्मा अखंडानन्द त्रिकाल पर से भिन्न है, पर के कारण मेरी कोई अवस्था नहीं है, ऐसी जो श्रद्धा है सो आत्मा का व्यवहार है। शरीरादि की जो क्रिया होती है सो वह मेरी है और मैं मनुष्य हूँ, ऐसी जो मान्यता है सो मनुष्यत्व का व्यवहार है। अज्ञानी जीव पर की सत्ता के साथ अपनी सत्ता को मान लेता है, अर्थात् पर से अपने को हानि-लाभ होना मानता है। जो यह मानता है कि–अपने में पर-पदार्थ की सत्ता प्रविष्ट होगई है उसे पर से भिन्न स्वतंत्र स्वभाव की श्रद्धा नहीं है, इसलिये वह अधर्मी है। अज्ञानी मानता है कि यह लोग मेरे सम्बन्धी थे, यह वर्तमान में मेरे सम्बन्धी हैं और भविष्य में यह मेरे सम्बन्धी होंगे, किन्तु वास्तव में कोई किसीका त्रिकाल में भी नहीं होता।

अब सीधी दृष्टि से विचार करते हैं। अग्नि, अग्नि की है और ईंधन, ईंधन का है। अग्नि कभी ईंधन की नहीं थी और ईंधन अग्नि का नहीं था। भविष्य में भी अग्नि ईंधन की और ईंधन अग्नि का नहीं होगा। दोनों पृथक् ही हैं, इसलिये त्रिकाल पृथक् ही रहते हैं।

जो जिसके होते हैं वे उससे कभी अलग नहीं होते। किसी परद्रव्य की अवस्था मेरे हाथ की बात नहीं है। मैं होऊँ तो दूसरे का ऐसा समाधान करा दूँ, मैं दूकान पर बैठूँ तो इतना व्यापार कर डालूँ, इत्यादि मान्यता जिसकी है वह परद्रव्य को ही अपना स्वरूप मानता है।

परद्रव्य मुझस्वरूप नहीं है, मैं तो मैं ही हूँ और परद्रव्य परद्रव्य ही है; त्रिकाल में भी मैं कभी परद्रव्य का नहीं था, मैंने कभी परद्रव्य का कुछ नहीं किया। पहले मैं ही अपना था, परद्रव्य परद्रव्य का ही था; मैं भविष्य में अपना होऊँगा और परद्रव्य भविष्य में उसीका होगा; इसप्रकार परद्रव्य से अपने पृथक्त्व का और अपने से परद्रव्य के पृथक्त्व का सच्चा ज्ञान, सच्चा विकल्प जो करता है वह प्रतिबुद्ध है—ज्ञानी है। धर्मी का वह लक्षण है।

परद्रव्य का मैं कुछ कर सकता हूँ, ऐसा अभिमान जिसके हृदय में रहता है वह अज्ञानी है और जिसके मन में ऐसा विकल्प नहीं रहता और जो ऐसा नहीं मानता वह ज्ञानी है।

भावार्थः—आत्मा अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूलकर पर को अपना मान रहा है, उसका लक्षण क्या है? और वह कैसे पहिचाना जासकता है?

जो परवस्तु को अपनी मानता है, वह अज्ञानी का चिह्न है। वह यह कहा करता है, कि मुझे कर्मों ने अनादिकाल से चारों गतियों में परिभ्रमण कराया है, अभी करा रहे हैं और भविष्य में भी करायेंगे। इसप्रकार जड़ से अपनी हानि मानता है; और यह नहीं मानता कि मैं अपने भावों से ही परिभ्रमण करता हूँ, वह अज्ञानी है।

यदि कोई यह कहे कि "भूखे भजन न होय गुपाला," और यह माने कि पेट में रोटियाँ पड़ने पर ही आत्मा का गुण प्रगट होसकता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह रोटियों में से ही आत्मा का गुण प्रगट होना मानता है। क्योंकि उसने रोटियों से आत्मा को माना है, इसलिये पर को अपना माना है, अर्थात् आत्मा को जड़ माना है, वह अज्ञानी है। पर को लेकर आत्मा में धर्म नहीं होता। शरीर साधन कहलाता है किन्तु वह सच्चा साधन नहीं है। शरीर के रजकणों में परिवर्तन होने से, आत्मा को हानि-लाभ नहीं होता। यह मान्यता भी ठीक

नहीं है कि घूमने को जायेंगे तो शरीर अच्छा रहेगा और शरीर स्वस्थ होगा तो आत्मा में स्फूर्ति रहेगी, तथा उससे धर्म होगा।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि 'हमने जो अपनी आँखों से देखा है सो क्या वह सब मिथ्या है?' उससे कहते हैं कि तुम्हारी दृष्टि ही मिथ्या है। किसीने यह अपनी आँखों से नहीं देखा कि कुनेन से बुखार उतरता है। यदि आँखों से देखा हो, और यह सच हो तो प्रत्येक आदमी का बुखार कुनेन से उतर जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। लोग तो अपने विपरीत अभिप्राय को ही आँखों से देखते हैं। साता का उदय होनेपर ही बुखार उतरता है, किन्तु निमित्त से यह कहा जाता है कि दवा से बुखार उतरा है।

जैसे जादूगर डुगडुगी को इधर हिलाता है तो इधर बजती है और उधर हिलाता है तो उधर बजती है; इसीप्रकार संसार का जादूगर (संसारी जीव) यह मानता है कि मैं संसार को इसप्रकार तैयार करूँ तो यह ऐसा चले, मैंने चतुराई से काम लिया तो ऐसा होगया, मैंने अपनी होशियारी से माल खरीद कर रखलिया था, भाव बढ़ गया इससे लाभ हुआ है, किन्तु यह धारणा बिलकुल गलत है। पर का जो होना होता है सो वही होता है, किन्तु अज्ञानी जीव पर में कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि करता है, वह मानता है कि मुझे पर से ही हानि होती है और पर से लाभ होता है, किन्तु आत्मा स्वतंत्र वस्तु है, जगत के किसी परपदार्थ से आत्मा को कोई हानि-लाभ नहीं होता, तीनलोक और तीनकाल में कोई परपदार्थ आत्मा का कुछ भी करने के लिये समर्थ नहीं है।

यह ग्राम ही ऐसा है कि जिससे मुझे सुख प्राप्त नहीं होता, पानीपत के मैदान में बुरे विचार उत्पन्न हुए, धरती का भी ऐसा असर होता है, इसप्रकार की मान्यता मिथ्या है; क्योंकि उसी पानीपत के मैदान से अनन्त जीव मोक्ष गये हैं।

कोई अज्ञानी जीव इन्द्रियों को राग-द्वेष का कारण मानकर अपनी आँखें फोड़ डाले और कान बन्द करले तो इससे क्या होगा? परवस्तु

राग या द्वेष का कारण है ही नहीं। परपदार्थ से लाभ-हानि माननेवाला जो पदार्थ अनुकूल होता है उससे अपना राग नहीं हटाता और जो प्रतिकूल मालूम होता है उससे द्वेष कम नहीं करता। इसप्रकार अज्ञानी की मान्यता है। अनादिकाल से उसकी दृष्टि परपदार्थ पर ही है।

ज्ञानी मानता है कि मेरा आत्मस्वभाव ज्ञायक, शुद्ध चैतन्य है। जो राग-द्वेषादिक होते हैं वे पर के कारण नहीं किन्तु मेरे अपने पुरुषार्थ की ही अशक्ति से होते हैं, ऐसा जानकर वह राग-द्वेष को दूर करने का उपाय करता है। ज्ञानी की दृष्टि अपने ऊपर ही है।

यह बात अग्नि और ईंधन के दृष्टान्त से दृढ़ की गई है। अब आचार्य भगवान जगत के जीवों पर करुणा करके कलशरूप काव्य कहते हैं:—

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥ २२ ॥

अर्थः—हे जगत के जीवो! अनादिकालीन संसार से लेकर आजतक अनुभव किये गये मोह को अब तो छोड़ो, और रसिकजनों को रुचिकर एवं उदय होते हुए ज्ञान का आस्वादन करो; क्योंकि इस लोक में जो आत्मा हैं वे वास्तव में किसी भी प्रकार से अनात्मा के साथ कभी भी तादात्म्यवृत्ति (एकत्व) को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि आत्मा अन्य द्रव्य के साथ एकरूप नहीं होता।

हे जगत के जीवो! अनादि संसार से लेकर आजतक अनुभव किये हुए मोह को-शरीर, मकान, धन, इत्यादि सर्व परवस्तुओं पर की दृष्टि को अब तो छोड़ो! हे जगत के प्राणियो! अविकारी स्वभाव का नाश करनेवाली शरीर मन वाणी पर की तथा विकारीभाव की दृष्टि को अब तो छोड़ो! जगत के जड़ पदार्थों के रसिकजनो! परपदार्थ पर जो मिथ्याभाव है उसे अब तो छोड़ो!

चैतन्यमूर्ति आत्मा का स्वरूप पर से भिन्न है, जिसका अनुभव अनादिकाल से आजतक कभी भी नहीं किया; इसलिये हे भव्य जीवो! अब तो स्वभाव का अनुभव करो! स्वभाव के रसिकजनों को रुचिकर और उदय को प्राप्त जो ज्ञान-चैतन्यमूर्ति आत्मस्वभाव का झरना है सो उसका रसास्वादन करो, अनुभव करो! संसारिक स्वाद विष के समान है, उसके साथ स्वाभाविक सुख और ज्ञानामृत के स्वाद की तुलना कभी भी किसी भी प्रकार से नहीं की जासकती।

अनादिकाल से परपदार्थ के साथ रह रहा है, तथापि भगवान आत्मा ज्ञानानंद की मूर्ति मिटकर शरीर, मन, वाणी जैसा कभी भी नहीं होसकता, क्योंकि जो अलग हैं वे कभी एकमेक नहीं होसकते, इसलिये तू पर से भिन्न अपने एकरूप स्वभाव का अनुभव कर सकता है।

अज्ञानी ने परपदार्थ के साथ एकत्व मान रखा है, इसलिये भिन्नत्व की मान्यता करना कठिन प्रतीत होती है। आत्मा एक है, परवस्तु अनेक हैं, इसलिये आत्मा उन परवस्तुओं के साथ कभी भी एकरूप नहीं होता। जबकि आत्मा और परपदार्थ कभी भी न तो एकमेक हुए हैं और न हो ही सकते हैं, तो फिर परवस्तुओं का मोह छोड़ो! और एकरूप आत्मस्वभाव का आस्वादन करो! अनादिकाल से परवस्तुओं में एकमेक होगया हूँ, ऐसा जो अज्ञान है सो उसका भेदज्ञान-पृथक्त्व का ज्ञान कराकर कहते हैं कि अनादिकाल से जिस मूढ़दृष्टि से आत्मस्वभाव ढका हुआ है उस मोहदृष्टि को अब तो छोड़ो! ज्ञान के अनाकुल आनन्द का आस्वादन करो! दूसरा कोई भी स्वाद ग्रहण करने योग्य नहीं है।

मोह मिथ्या है; परवस्तु को अपना मानना व्यर्थ है, वह सर्वथा विपरीत मान्यता है। मोह वृथा है, मिथ्या है, दुःख का ही कारण है, इसलिये उसे छोड़कर अब ज्ञान का आस्वादन करो!

अब इस गाथामें आचार्यदेव अप्रतिबुद्ध को समझाते हैं। अप्रतिबुद्ध का अर्थ है बिल्कुल अज्ञानी जीव, जोकि शरीर, मन और वाणी से धर्म

मानता है, उसे आचार्य समझाते हैं। पाँचवें-छट्ठे गुणस्थानवर्ती को नहीं समझा रहे हैं, किन्तु बिल्कुल अप्रतिबुद्ध को समझा रहे हैं:—

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥२३॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पुग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२४॥
जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सत्तो वत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥२५॥

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यम्।
बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः ॥ २३ ॥
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यम्।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदम् ॥ २४ ॥
यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत्।
तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यम् ॥ २५ ॥

अर्थः—जिसकी मति अज्ञान से मोहित है और जो मोह, राग-द्वेष आदि विविध भावों से युक्त है ऐसा जीव यह कहता है कि यह शरीरादिक बद्ध तथा धन-धान्यादिक अबद्ध पुद्गलद्रव्य मेरा है। आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया जो सदा उपयोग लक्षणवाला जीव है सो वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे होसकता है ? तू कैसे कहता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ? यदि जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप होजाये और पुद्गल द्रव्य जीवत्व को प्राप्त होजाये, तो तू यह कह सकता है कि पुद्गल द्रव्य मेरा है। (किन्तु ऐसा तो नहीं होता)।

जो अनादिकाल से धर्म के विषय में बिल्कुल अज्ञान है, जिसे यह खबर नहीं है कि आत्मा और जीव पृथक् हैं, ऐसे अज्ञानी को

समझाने के लिये इस गाथा में स्पष्ट कथन है। विशेषतः यह पंचमकाल के अज्ञानी जीवों के लिये कहा है।

अज्ञानी जीव मानता है कि—यह शरीरादिक बद्ध तथा धन-धान्य इत्यादि अबद्ध पुद्गलद्रव्य मेरे हैं और मैं इनका हूँ, यह मेरा कार्य करते हैं और मैं इनका कार्य करूँ। यहाँ बद्ध का अर्थ है निकट-एकक्षेत्र में रहनेवाले और अबद्ध का अर्थ है दूर-अलग क्षेत्र में रहनेवाले। शरीरादिक बद्ध हैं, क्योंकि वे एकक्षेत्र में रहते हैं, और घर आदिक अबद्ध हैं क्योंकि वे दूर-भिन्न क्षेत्र में रहते हैं।

एक ही साथ अनेकप्रकार की बन्धन की उपाधि के अति निकटरूप से वेगपूर्वक वहते हुए अस्वभाव भावों को अज्ञानी जीव अपना मानता है। वेगपूर्वक वहने का अर्थ यह है कि बाहर के अनेकप्रकार से संयोग-वियोग, स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब इत्यादि का एक ही साथ आना और जाना, इच्छा हो और शरीर एकदम चले या न चले, रुपयों-पैसों का आना जाना, यह सब शीघ्रता से होता है, और भीतर कर्म के निमित्त से अनेकप्रकार के विकारीभाव होते हैं, यह सब एकदम वेगपूर्वक वहता है, शीघ्रता से भाव बदलते हैं। एक ही साथ एकक्षण में अनेक-प्रकार के बंधनों की उपाधि से अति वेगपूर्वक होता हुआ परिणमन वह अस्वभाव भाव है, संयोगभाव है, किन्तु वह स्वभावभाव नहीं है। भावकर्म, द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म का बाह्यफलरूप जो नोकर्म है उसके संयोग का दल एकसाथ आता है। जैसे कर्म के निमित्त से अपने विपरीत पुरुषार्थ से होनेवाली इच्छा, शरीरादि की प्रवृत्ति, और बाह्य संयोग आदि अनेकप्रकार के बन्धन की उपाधि एकसाथ बनी हुई है; ऐसे पर परिणमन के अस्वभाव भावों के संयोग के वश होकर जीव अज्ञानी होजाता है, और इसीलिये अपने भिन्न निर्मल स्वभाव को नहीं जानता।

अज्ञानी जीव परसंयोग से भिन्न अपने स्वभाव को नहीं समझता। जैसे स्फटिकमणि अपने स्वभाव से शुभ्र है, किन्तु परसंयोग से उसमें रंग दिखाई देता है। स्फटिकमणि स्वयं तो स्वच्छ-निर्मल है, किन्तु

उसमें भिन्न-भिन्न रंग दिखाई देते हैं सो स्फटिक में वह पर की उपाधि है; इसीप्रकार आत्मा मूलस्वभाव से तो शुद्ध-निर्मल ही है, किन्तु अनेकप्रकार के जो शुभाशुभ विकारी उपाधिभाव चैतन्य में पर-संयोग से दिखाई देते हैं, अज्ञानी जीव उनके वश में होगया है, अथवा पर को अपने वश में करता है, और स्वयं दूसरे के वश में होजाता है। वह अनेकप्रकार के पदार्थों के संयोग से रंगे हुए स्फटिक-मणि के समान है।

स्फटिक में परसंयोग के समय भी स्फटिक का स्वभाव तो स्वच्छ और निर्मल ही है, किन्तु अन्य वस्तु की निकटता से उसमें रंग दिखाई देता है, इसीप्रकार भगवान आत्मा विकारीभाव के संयोग के समय भी निर्मल स्फटिक के समान शुद्धस्वभाव वाला है, परन्तु अत्यंत निकटवर्ती राग-द्वेष-मोह इत्यादि अनेकप्रकार के अस्वभाव भाव के वश होकर जिसकी बुद्धि परवश होगई है, जिसकी समस्त भेदज्ञानज्योति अर्थात् बोधबीजरूप शक्ति अस्त होगई है और जो यह मानता है कि पुण्य-पाप की क्रिया मैं करता हूँ, शरीरादि की क्रिया मैं करता हूँ, विकारी-भाव का कर्ता मैं हूँ, वह मेरा स्वभाव है, तथा अपने को ऐसा मानता है कि-मानों निज में ज्ञाता-दृष्टापन है ही नहीं और मैं तो पर की क्रिया करनेवाला ही हूँ; इसप्रकार अत्यंत तिरोभूतरूप से अर्थात् स्वभाव के ढक जाने से जिसकी भेदज्ञानज्योति अस्त होगई है अर्थात् नष्ट नहीं हुई है, किन्तु ढक गई है, सूर्य की भाँति अदृश्य होगई है, जो चैतन्य के ज्ञानस्वभाव के द्वारा ज्ञात होनेवाले विकारी भावों को अपना मानता है, ऐसा अज्ञानी जीव स्व-पर की भिन्नता न करके अस्वभाव भाव को ही अपना मानता है; पर से भिन्नत्व के स्वभाव को भूलकर पुद्गल द्रव्य को और विकारी भाव को अपना मानता हुआ स्वयं अपने से ही विमोहित होरहा है, किसीने उसे मोहित बनाया नहीं है, स्वयं अपनेआप से ही भूला हुआ है। किसी ईश्वर ने या किसी कर्म ने उसे नहीं भुलाया है।

जैसे स्फटिकमणि में लाल पीले रंग का आभास होता है यह बात असत्य नहीं है, इसीप्रकार कर्मसंयोग के समय आत्मा विकारी होता है, यह बात भी असत्य नहीं है। अवस्था में–पर्याय में राग-द्वेष होता है इसलिये आत्मा पर्याय से अशुद्ध है; किन्तु यदि कोई यह माने कि–आत्मा वर्तमान में विद्यमान अवस्था में भी शुद्ध है तो वह बात असत्य है। पर्यायदृष्टि से भी आत्मा में विकार हुआ ही नहीं, और वह शुद्ध ही है–यह मानना असत्य है। अवस्था में विकारीभाव हुआ है अर्थात् संयोगी-भाव के वश हुआ उसीसमय अज्ञानी हुआ है और तब वह अनुभव करता है कि पुद्गलद्रव्य मेरा है। विकारीभावों को भी पुद्गलद्रव्य कहा गया है। यहाँ दो प्रकार से बात कही है, एक चैतन्य द्रव्यदृष्टि और दूसरी पुद्गल द्रव्यदृष्टि। एकओर राग-द्वेष, पुण्य-पाप का फल, शरीर मन वाणी की प्रवृत्ति, कुछ करने की इच्छा, द्रव्यकर्म, यह सब पर-संयोग का दल है–परदल है, और वह एक ही प्रकार का है, उसका एक ही प्रकार है, पुद्गल के ही भाव हैं। मैं ज्ञाता-दृष्टा भिन्न हूँ, ऐसी प्रतीति न करके जो संयोग और संयोगीभाव हैं सो मैं हूं, वे मेरे हैं–ऐसी जो दृष्टि है सो पुद्गल द्रव्यदृष्टि है। ऐसी दृष्टिवाला निरा अप्रति-बुद्ध–अज्ञानी है।

दूसरी ओर चैतन्य का दल है, यह पुद्गल के दल से भिन्न है। जो मात्र शुद्ध चैतन्यदल है सो ही मैं हूँ, ऐसी जो दृष्टि है सो चैतन्यद्रव्यदृष्टि है। यहाँ द्रव्य के दो भेद किये गये हैं। परसंयोग-जनित होनेवाले शुभाशुभभाव को भी जड़ में गिना है और चैतन्य-उपयोग अकेला कहकर जीव को भिन्न किया है।

जो विकारीभाव हैं सो वे परपदार्थ के संयोगवश होनेवाले भाव हैं, वे अस्वभावभाव हैं, आत्मा का स्वभावभाव नहीं हैं। अज्ञानी जीव कर्म की अनेकप्रकार की उपाधि को अपनेरूप में मानता है, इसलिये उसे यह नहीं दिखाई देता कि आत्मा का शुद्धस्वभाव ढक गया है, और पुद्गल द्रव्य मेरा है–ऐसा अनुभव करता है।

यदि कोई मनुष्य लक्ष्मीचंद नाम के मनुष्य से मिलना चाहता हो, किन्तु वह यह न जानता हो कि लक्ष्मीचंद कैसे होंगे या किस स्वभाव के होंगे; तथा लक्ष्मीचंद को उनके लक्षण द्वारा भी नहीं पहिचानता, इसलिये उनके स्थान पर वह पोथीचन्द को भी लक्ष्मीचंद मान लेगा। इसप्रकार लक्ष्मीचन्द अर्थात् आत्मा के स्वभावरूप ज्ञान आनन्द और शान्तिरूप लक्ष्मीस्वभाव को न समझे, न पहिचाने और पोथीचन्द अर्थात् पोथी में ऐसा लिखा है, आगम में ऐसा कहा है, और इसप्रकार मात्र पोथी के पन्ने ही बदलता रहे-उसने पोथी में आत्मा को मानलिया है किन्तु पोथी में आत्मा नहीं है। पोथी अलग है, विकारीभाव अलग हैं और आत्मा अलग है, इसप्रकार भिन्न लक्षणों के द्वारा जिसने पृथक् आत्मा को नहीं जाना किन्तु पर को अपना मानलिया है, उसने पोथीचन्द को लक्ष्मीचंद मानलिया है, जोकि लक्ष्मीचंद से अलग है। जो पर की प्रभा को-आभास को अपना मानता है और अपने स्वभाव को आच्छादित कर बैठा है, ऐसे अज्ञानी को समझाते हैं कि हे दुरात्मन्! तू अपने स्वभाव को भूल रहा है और पर को अपना मान रहा है, यही आत्मा की हिंसा है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे दुरात्मन्! तुझे अपने चैतन्यस्वभाव की प्रतीति नहीं है, यही तेरे आत्मा की हिंसा है। पर को अपना मानना और अपने निर्मल स्वरूप को भूल जाना ही हिंसा है।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि आचार्यदेव ने पहली गाथा में समस्त आत्माओं को सिद्ध समान कहा था, और यह कहा था कि मेरे तुम्हारे सर्व आत्माओं को सिद्धसमान स्थापित करके बात कर रहा हूँ। इसप्रकार एकबार सभी आत्माओं को सिद्ध कहकर यहाँ दुरात्मा क्यों कहा है?

उत्तरः—पहले जो सिद्ध कहा था सो द्रव्यदृष्टिसे-स्वभाव की अपेक्षा से कहा था; तेरा जो नित्य ध्रुव स्वभाव है उस अपेक्षा से कहा था, किन्तु यहाँ तो पर्याय की बात है। पर्याय को सुधारने के

लिये कुछ कठोर होकर कहा है, किन्तु उसमें करुणाभाव निहित है, यहाँ अवस्था में रहनेवाली अशुद्धता को दूर करने के लिये कहा है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने भी 'अधमाधम' शब्द का प्रयोग अवस्थादृष्टि से किया है और पुरुषार्थ को जागृत करके अपनी पर्याय को शुद्ध करने के लिये कहा है। अपनी भूल कहाँ होती है, इसे समझे बिना भूल को दूर करने का क्या उपाय करेगा ?

आचार्यदेव दृष्टांतपूर्वक कहते हैं कि हे दुरात्मन्! आत्मघातक अर्थात् आत्मा के अहिंसक स्वभाव को न जाननेवाले! जैसे परम अविवेक पूर्वक खानेवाला हाथी लड्डुओं को तृणसहित खा जाता है, ऐसे अविवेक पूर्ण खाने के स्वभाव को तू छोड़! जैसे हाथी को परम अविवेक के कारण मिष्टान्न के सुन्दर आहार और तृण की खबर नहीं होती इसीप्रकार तुझे तृणवत् पुण्यादि के भाव और मिष्टान्नवत् आत्मस्वभाव के पृथक्त्व का भान नहीं है। ऐसे पर से भिन्न करने के प्रतीतिहीन स्वभाव को तू छोड़! अज्ञानी को मात्र पर का ही स्वाद आता है उसे अपने निर्मल स्वभाव का स्वाद नहीं आता।

विकार के साथ एकमेक होने से तू अपने अविकारी स्वभाव को भूल गया है, इसलिये अब स्वभाव के अमृतरस को जानकर पर के स्वाद को छोड़! तू जो कुछ भोग रहा है वह तेरा स्वभाव नहीं है। कोई पर को नहीं भोगता किन्तु उस पर के प्रति होनेवाली राग-द्वेष, हर्ष-शोक की आकुलता को ही भोगता है। यह भोग तेरा स्वभाव नहीं है, इसलिये तू उसे छोड़!

सर्वज्ञदेव ने पूर्णस्वभाव से प्रत्यक्ष देखा है कि तेरा स्वभाव भिन्न है। जिसने आत्मा की पूर्णदशा प्रगट की है, तथा समस्त सन्देह दूर किये हैं ऐसे सर्वज्ञ भगवान ने कहा है कि—तेरा स्वभाव पर से भिन्न है और पर का स्वभाव तेरा नहीं है।

हम तो कुछ नहीं समझते, किन्तु धर्म कुछ होगा—इसका नाम है अनध्यवसाय, और विपरीत मानना सो विपर्यय है। भगवान ने ऐसे

अनध्यवसाय और विपर्यय को सर्वथा दूर किया है। सर्व दोषों से मुक्त सर्वज्ञभगवान कहते हैं कि तेरा उपयोगस्वरूप आत्मा पर से बिल्कुल भिन्न है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मैं ही मात्र अकेला नहीं कह रहा हूँ, किन्तु सर्वज्ञदेव का यह कथन है, मैं तो उनके कथन का मात्र एक दलाल हूँ! तू महा अज्ञानी–मूढ़ है, जबकि सर्वज्ञदेव सम्पूर्ण ज्ञानी हैं। आचार्यदेव ने यह नहीं कहा है कि 'मैं कहता हूँ' किन्तु 'सर्वज्ञदेव कहते हैं;' ऐसा कहकर स्वयं मात्र बीच में दलालवत् ही रहे हैं। सर्वज्ञ को बीच में रखने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि–स्वयं भी सर्वज्ञ होने की तीव्र आकांक्षा है।

कैसे हैं सर्वज्ञभगवान? जिन्होंने जगत के सर्व पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली अपूर्व अचिंत्यज्योति को प्रगट किया है। सूर्य चन्द्रमा तो अमुक स्थान पर ही प्रकाश करते हैं किन्तु यह अपूर्वज्योति सर्व स्थलों पर प्रकाश करती है। ऐसे सर्वज्ञभगवान ने नित्य सम्पूर्ण निर्मल उपयोग-स्वभाव को स्वयं प्रगट करके तुझसे कहा है कि आत्मा सदा निर्मल उपयोगस्वभाववाला है।

नित्य उपयोगस्वभाव कहने से यह भी प्रगट होता है कि–द्रव्य की अनादि–अनन्त निरपेक्ष कारणपर्याय भी शुद्ध है। द्रव्य और गुण तो त्रिकाल शुद्ध हैं, किन्तु उनकी निरपेक्ष पर्याय भी शुद्ध है, यह बात इसमें से स्पष्ट ज्ञात होती है।

ऐसे नित्य चैतन्यस्वरूप आत्मा का वर्णन भगवान ने किया है। वह चैतन्यस्वरूप आत्मा पुद्गलमय कैसे होगया कि जिससे तू यह अनुभव करता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है, तथा अपने शुद्धस्वभाव को भूलकर परपदार्थ के प्रति ऐसा कहता है कि यह मेरा है? यहाँ द्रव्य-दृष्टि को सामने रखकर विचार किया गया है। एक ओर चैतन्यद्रव्यदृष्टि अर्थात् चैतन्य के अखण्ड पूर्णस्वभाव पर दृष्टि है और दूसरी ओर पुद्गल-द्रव्यदृष्टि है। पुण्य-पाप, कर्म, शरीर और परसंयोग से होनेवाले शुभा-

शुभ भावों को जड़ में अन्तर्गत करके एक पुद्गलद्रव्य कह दिया है। उसपर जिसकी दृष्टि है वह पुद्गलद्रव्यदृष्टि है।

आत्मा शुद्ध, निर्मल, सदा पर से भिन्न है। वह सदा उपयोग* सहित चैतन्यलक्षणवाला है। ज्ञानक्रिया ही शुद्ध आत्मा के निर्मल स्वभाव का लक्षण है।

वस्तु तो सदा स्थिर है, उसका लक्षण भी स्थिर है, उसका लक्षण नित्य शुद्ध निर्मल है। भगवान ने ऐसा नित्य टंकोत्कीर्ण आत्मा एकरूप स्वभाव से देखा है; भला वह कैसे पुद्गल द्रव्यमय होसकता है, कि जिससे तू पुद्गल द्रव्य में अपनापन मान रहा है? चैतन्यस्वरूप आत्मा सदा परद्रव्य से पृथक् है; यह बात दृष्टान्त पूर्वक समझायी जारही है।

यहाँ आत्मा का अधिकार है। आचार्यदेव ने जड़ और चैतन्य दोनों को बिल्कुल अलग बताया है। शरीर, मन, वाणी आदि मेरे हैं, और इनसे मुझे सुख मिलता है, तथा वे परद्रव्य चैतन्य-आत्मा का कुछ कर सकते हैं, ऐसा माननेवाले अप्रतिबुद्ध हैं। उन्हें आचार्यदेव समझाते हैं कि-सर्वज्ञदेव ने जैसा आत्मस्वभाव देखा है वैसा कहा है।

चैतन्यस्वभाव नित्य उपयोगस्वरूप है। उपयोग का अर्थ है ज्ञान-दर्शन स्वभाव; भला वह पुद्गल कैसे होसकता है? और जड़स्वरूप पुद्गल क्योंकर उपयोगस्वरूप होसकते हैं? आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन की क्रिया का ही करनेवाला है, वह पर का कुछ भी करनेवाला नहीं है। जो यह मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ वह आत्मा को जड़ मानता है। तू एक स्वभाव से अनाकुल शांतस्वरूप है; उसे भूलकर पर को अपना मान रहा है; किन्तु परपदार्थ तेरा तब होसकता है जबकि जड़ आत्मा होजाये और आत्मा जड़ होजाये; और यदि ऐसा होता हो तो तेरी मान्यता सच कहला सकती है, किन्तु ऐसा तो कभी होता नहीं है और न हो ही सकता है।

---

* चैतन्यानुविधायी परिणामः उपयोगः = चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करके होनेवाला आत्मा का जो व्यापार है सो उपयोग है।

शरीर, वाणी, मन-जोकि जड़ हैं, यदि वे आत्मा होसकते हों, और उनका काम आत्मा कर सकता हो तो तेरा अनुभव सच कहला सकता है, किन्तु ऐसा तो कभी भी किसी भी प्रकार से नहीं होता।

अपने पवित्र ज्ञानस्वरूप को भूलकर मैं शरीर कुटुम्ब लक्ष्मी इत्यादि को भोग सकता हूँ, और यही मेरा स्वरूप हैं, इसप्रकार की तेरी मान्यता सच तब होसकती है, जबकि नमक का पानी और पानी का नमक बनने के समान आत्मा जड़ होजाये और जड़ आत्मा होजाये; किन्तु ऐसा तो कभी नहीं होता।

जैसे पानी स्पष्टतया खारा नमक होता हुआ दिखाई देता है, इसीप्रकार यदि शरीर मकान कुटुम्ब इत्यादि तेरे आत्मा के होते हुए दिखाई दें तो तेरी मान्यता सच कही जासकती है; किन्तु ऐसा तो कभी नहीं होता।

नमक लक्ष्य है, और खारापन उसका लक्षण है; ऐसा नमक पानीरूप होता हुआ देखा जाता है और पानी लवणरूप होता हुआ देखा जाता है, अर्थात् पानी नमकरूप और नमक पानीरूप में परिवर्तित होता हुआ अनुभव में आता है।

जैसे समुद्र का पानी नमक की डली में परिवर्तित होजाता है, और नमक की डली फिर पानीरूप होजाती है; अर्थात् खारेपन और प्रवाहीपन के एकसाथ रहने में कोई बाधा नहीं आती और प्रवाही-जल का डलीरूप होने में कोई विरोध नहीं आता, उसीप्रकार नित्य उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य तथा उसकी जानने-देखनेरूप क्रिया भी नित्य है, उसे पुद्गल द्रव्यरूप में परिवर्तित होता हुआ कभी नहीं देखा जाता।

जैसे नमक की डली का स्वरूप क्षारा है, इसीप्रकार चैतन्य आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप है। वह कभी शरीर मन या वाणीरूप में होता हुआ दिखाई नहीं देता। जैसे नमक पानी में गल जाता है, उसीप्रकार

आत्मा शरीरादिक पुद्गल द्रव्य में गलता हुआ दिखाई नहीं देता। जिसका व्यापार जानने-देखने की क्रिया से रहित है वह जड़द्रव्य चेतन-रूप होता हुआ दिखाई नहीं देता।

जैसे नमक की एक पर्याय पानी के रूपमें और दूसरी पर्याय डली के रूप में होती है उसीप्रकार आत्मा की एक अवस्था जानने-देखने की और दूसरी अवस्था जानने-देखने से रहित हो, ऐसा त्रिकाल और तीन-लोक में भी नहीं होसकता।

जिसका परिणमन जानने-देखने की क्रिया से रहित है ऐसे जड़ रजकण (अष्टकर्म की धूल) बदलकर कभी चैतन्यरूप नहीं होते।

जैसे अन्धकार और प्रकाश दोनों परस्पर विरोधी हैं, इसीप्रकार ज्ञान-दर्शन की क्रिया और जड़ की क्रिया दोनों परस्पर विरोधी हैं, अर्थात् जड़ की क्रिया और चैतन्य की क्रिया दोनों एकद्रव्य में नहीं रह सकतीं।

जैसे अन्धकार में प्रकाश नहीं होता और प्रकाश में अन्धकार नहीं होता, इसीप्रकार शुभाशुभ परिणाम और शरीरादि की क्रिया तेरे ज्ञानप्रकाश में नहीं होती, और तेरा ज्ञानप्रकाश शुभाशुभ परिणाम और शरीरादि की क्रिया में नहीं होसकता।

जैसे अन्धकार के प्रकाशरूप होने में विरोध है, उसीप्रकार नित्य-स्थायी उपयोगलक्षण चैतन्य को अनुपयोगस्वरूप जड़ होने में विरोध है। जड़ की क्रिया चैतन्यरूप हो और चैतन्य की क्रिया जड़रूप हो यह तीनकाल और तीनलोक में नहीं होसकता।

जैसे अन्धकार और प्रकाश एकसाथ नहीं होते, इसीप्रकार जागृत चैतन्यज्योति और जड़स्वरूप अन्धकार कभी भी एकसाथ—एकत्रित नहीं होसकते। आत्मा के चिदानन्दस्वभाव का, उपाधिरूप विकारी-भाव और शरीरादिक जड़पदार्थों के साथ रहने में विरोध है। न तो जड़पदार्थ बदलकर आत्मा होसकता है और न आत्मा जड़रूप हो-सकता है।

यहाँ तो पुण्य-पाप के विकार को भी जड़ कह दिया है, अर्थात् द्रव्यों में दो भेद कर दिये हैं। ज्ञान-दर्शन का व्यापार पुण्य-पाप के विकाररूप नहीं होता और पुण्य-पाप का विकार ज्ञान-दर्शन के व्यापार-रूप नहीं होता। ज्ञान-दर्शन की आन्तरिक अरूपी क्रिया और जड़ की रूपी क्रिया-दोनों एक ही समय होती हैं, तथापि दोनों भिन्न हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि तेरा धर्म अर्थात् तेरा गुण और तेरा सुख क्या आत्मा में से जड़ में चला गया है कि जिससे तू उसे जड़ में ढूँढना चाहता है ! और क्या जड़ तेरे आत्मस्वरूप में परिणत हो-गया है, कि जिससे तू परपदार्थ में सुख ढूँढने जाता है ? स्वयं ही ज्ञानस्वरूप है, किन्तु दूसरे में ज्ञानस्वरूप को ढूँढने जाता है, यह आश्चर्य की बात है। अज्ञानी जीव जड़-अनुपयोग को लक्ष्य करके कहता है कि-मुझे तेरा ज्ञान है, किन्तु मुझे अपना ज्ञान नहीं है। शरीर कुटुम्ब लक्ष्मी इत्यादि को अपना मान रखा है, इसलिये उनकी देखरेख करता है, किन्तु अपनी देखरेख करना नहीं सूझता। अज्ञानी मानवों को रुपया-पैसा कमाने की बात सरल मालूम होती है किन्तु यदि आत्मा के विचार करने की बात कही जाती है तो कठिन मालूम होती है।

उपयोगस्वरूप आत्मा में जड़स्वरूप मन, वाणी, देह का और अनुपयोगस्वरूप जड़ में चैतन्यउपयोग का अंश भी नहीं है।

परद्रव्य को अपनेरूप मानना सो भ्रान्ति है, और अनुकूलता-प्रति-कूलता में राग-द्वेष का होना अचारित्र है।

भाई ! तेरा निरुपाधिक स्वभाव है, अर्थात् उपाधिरहित स्वभाव है जो कि निराकार है। उसमें किसी भी प्रकार का परद्रव्य का आकार* नहीं है। शरीर के रजकण और रक्त इत्यादि आकार वाले हैं। शरीर के

* आत्मा परद्रव्य की अपेक्षा से निराकार है किन्तु स्वद्रव्य की अपेक्षा से साकार है।

रजकणों को और रक्त को यह खबर नहीं होती कि–हम किस आकार में और किस रंग में परिणमित हुए हैं; शरीर का ऐसा रंग है और ऐसा आकार है यह निर्णय कौनसी सत्ता–भूमिका में किया है ? वैसा निर्णय जड़ सत्ता में नहीं होता, किन्तु चैतन्य सत्ता में ही होता है। नित्य ध्रुवस्वरूप ज्ञाता चैतन्य और शरीर तथा रंग के साथ कभी मेल नहीं खा सकता, अर्थात् वे कभी एकमेक नहीं होसकते ।

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई ! जड़ की क्रिया में अपने धर्म को ढूँढ़ना छोड़दे । इस चैतन्य में अर्थात् जानने–देखने में तेरा धर्म है, सो वह कभी भी जड़ नहीं हुआ है । अब मैं दो द्रव्यों के भेद करके कहता हूँ कि तीनकाल तीनलोक में भी बाह्य में धर्म नहीं है । इसलिये तू सर्वप्रकार से प्रसन्न हो, अपने चित्त को उज्वल करके सावधान हो, और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है' ऐसा मानकर अनुभव कर ।

तू एक वस्तु है और ज्ञाता–दृष्टा स्वभावस्वरूप है; इसलिये न तो जड़ तेरे लिये सहायक है और न तू जड़ के लिये । इसलिये तुझसे कह रहे हैं कि–विकारीभाव को बदलकर अविकारी होजा, एकबार सम्पूर्णतया प्रसन्न हो, आनन्दानुभव कर ।

"धर्म कैसे होता होगा ? धर्म कहाँ मिलेगा ? बाह्य में तो अनेक प्रकार के धर्म दिखाई देते हैं" इसप्रकार विचार करके आकुलित मत होना। श्री आनन्दघन जी ने कहा है कि:—

धरम धरम करतो जग सहु फिरे, धर्म न जाणे हो मर्म; जिनेश्वर !
धरम जिनेश्वर चरण ग्रह्या पछी, कोई न बांधे हो कर्म; जिनेश्वर !

समस्त जगत धर्म धर्म कह रहा है, किन्तु धर्म का मर्म क्या है इसे लोग नहीं जानते । धर्म अर्थात् आत्मा के स्वभावरूप चरण को ग्रहण करने से कर्म नहीं बँधते । तेरा ज्ञानानंद चिदानन्दस्वरूप है, उसे पहिचानकर मान, और उसमें स्थिर हो, तो यही धर्म है, तेरे गुण कहीं अन्यत्र नहीं चले गये हैं, वे जड़ में नहीं जा मिले हैं ।

२३ से २५वीं गाथातक आचार्यदेव ने बिल्कुल अप्रतिबुद्ध को समझाने की स्पष्ट बात कही है। यहाँ चौथे या छट्ठे-सातवें गुणस्थान-वर्ती की बात नहीं है, किन्तु आचार्यदेव महाअज्ञानी से कहते हैं कि तू ऐसा मानना छोड़ दे कि मेरी समझ में नहीं आसकता। यह ज्ञानमूर्ति आत्मा कभी भी जड़ के साथ एकमेक नहीं हुआ है, इसलिये जड़ और आत्मा दोनों भिन्न पदार्थ हैं इसप्रकार भलीभँति जानकर अपने चित्त को उज्वल कर सावधान हो ! मैं परमात्मस्वरूप हूँ, मेरा कुछ बिगड़ा नहीं है, यह समझकर अपने चित्त को उज्वल कर ! कहीं अन्यत्र से सुख प्राप्त होगा, ऐसे मलिन भाव को हटाकर उज्वल हो।

जैसे लोकव्यवहार में लड़के के लिये धन-दौलत का हिस्सा बाँट-कर दे दिया जाता है, उसीप्रकार आचार्यदेव ने जड़ और चेतन का बँटवारा करके दो भाग कर दिये हैं, कि 'तेरा भाग तुझमें और जड़ का भाग जड़ में है; इसलिये अब एकबार आनन्दित हो और आश्चर्य कर कि अहो ! आनन्दघन-चैतन्यस्वभाव ऐसा है ? इसप्रकार आनन्द-विभोर होकर सावधान हो, अनादिकालीन दिशा को बदल दे, उसके बिना तेरे परिभ्रमण का अन्त नहीं आयेगा।

जब किसी का मरण होता है तो कहा जाता है कि मरनेवाले ने महाप्रयाण किया है, इसीप्रकार आचार्यकथित आत्मस्वरूप को समझ लेनेपर चौरासी के भवभ्रमण का अन्त आयेगा। अज्ञानी जीव यह मानता है कि शरीर मकान इत्यादि मेरे हैं, किन्तु वह धूल-मिट्टी के अतिरिक्त और क्या है ? और जो पुण्य-पाप के परिणाम की क्रिया को अपना मानता है, वह जोंक के समान केवल दुर्गुणग्राही है।

हे भाई ! सावधान हो ! सावधान हो ! यह तेरे हाथ की बात है। आचार्यदेव ने कहीं यह नहीं कहा है कि काल बाधक होता है या पंचमकाल बाधा देता है, किन्तु 'सावधान हो' यह कहकर पुरुषार्थ बताया है। पहले कहा था कि तू स्वयं ही विमोहित होरहा है और अब कहते हैं कि तू स्वयं ही सावधान हो।

आचार्यदेव कहते हैं कि तू तनिक कह तो कि तुझे क्या चाहिये है, कुछ बोल तो सही ! परपदार्थ को अपना मानने का जो भूत तेरे सिरपर चढ़ा हुआ है उसे छोड़दे और सावधान होजा।

यहाँ जो सावधान होना कहा है सो इसमें मिथ्यात्व का अभाव बताया है, और कहा है कि धर्म तुझमें भरा हुआ है; तेरा आत्मा नमक की डली के समान पृथक् चैतन्यमात्र है, वह कभी जड़ नहीं होता।

जड़ कभी आत्मा नहीं होता और आत्मा कभी जड़ नहीं होता, इसप्रकार सर्वज्ञ भगवान ने दोनों पदार्थ अलग अलग देखे हैं, तब फिर तूने एक कहाँ से देख लिये ? उपयोगस्वरूप आत्मा को पहिचानकर उसमें स्थिर हो !

देवाधिदेव त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव कहते हैं कि अब व्यर्थ की मान्यताओं को छोड़ो ! सुख और स्वाधीनता का मार्ग तुम्हीं में है।

अब आचार्यदेव तीन गाथाओं का साररूप कलश कहते हैं:—

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥ २३ ॥

अर्थः—आचार्यदेव अत्यंत कोमल सम्बोधन ('अयि') से कहते हैं कि हे भाई ! तू किसीप्रकार महा कष्ट से अथवा मरकर भी तत्वों का कौतूहली होकर, इस शरीरादिक मूर्त्तद्रव्य का एक मुहूर्त के लिये पड़ौसी होकर आत्मा का अनुभव कर, कि जिससे तू अपने आत्मा को विलासरूप सर्व परद्रव्यों से भिन्न देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्‌गल द्रव्य के साथ एकत्व के मोह को तुरंत ही छोड़ सके।

मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व का नाश कैसे हो और अनादिकालीन विपरीत मान्यता और महापाप कैसे दूर हो ? इसका उपाय बताते हैं।

आचार्यदेव अत्यंत कोमल सम्बोधन करके कहते हैं कि हे भाई ! क्या यह तुझे शोभा देता है ? और वे जागृत करते हुए कहते हैं कि तू किसीप्रकार से, महाकष्ट सहन करके अथवा मरकर भी अर्थात् मरण के बराबर कष्ट आयें तो उन्हें भी सहन करके एकबार तत्व का कौतूहली हो।

जैसे कोई डुबकी लगानेवाला साहसी पुरुष कुएँ में डुबकी मारकर नीचे से घड़ा निकाल कर ले आता है, इसीप्रकार ज्ञान से भरे हुए चैतन्यरूपी कुएँ में पुरुषार्थ करके गहरी डुबकी लगा और ज्ञानघट को ले आ, तत्वों के प्रति विस्मयता ला, और दुनियाँ की चिन्ता छोड़ दे ! दुनियाँ तुझे एकबार पागल कहेगी, किन्तु दुनियाँ की ऐसी अनेकप्रकार की प्रतिकूलताओं के आने पर भी तू उन्हें सहन करके, उनकी उपेक्षा करके, चैतन्य भगवान कैसे हैं,–उन्हें देखने का एकबार कौतूहल तो कर ! यदि तू दुनियां की अनुकूलता या प्रतिकूलता में लग जायेगा तो तू अपने चैतन्यभगवान को नहीं देख सकेगा। इसलिये दुनियाँ के लक्ष्य को छोड़कर और उससे अलग होकर एकबार महाकष्टों से भी तत्व का कौतूहली हो।

जैसे सूत और बेत का मेल नहीं खाता वैसे ही जिसे आत्मा की पहिचान करनी हो उसका और जगत का मेल नहीं खा सकता। सम्यक्‌दृष्टिरूप सूत और मिथ्यादृष्टिरूप बेत का मेल नहीं खाता। आचार्यदेव कहते हैं कि हे बन्धु !-तू चौरासी के कुएँ में पड़ा हुआ है, उसमें से निकलने के लिये चाहे जितने उपसर्ग–परिषह आयें और मरण जितना भी कष्ट उठाना पड़े तो भी तू उनकी चिन्ता छोड़कर पुण्य-पाप रूप विकारभाव का दो घड़ी के लिये पड़ौसी हो, तो तुझे चैतन्य-दल अलग ही मालूम होगा। शरीरादिक तथा शुभाशुभभाव सब मुझसे भिन्न हैं और मैं इनसे भिन्न हूँ,–इनका पड़ौसी हूँ, इसप्रकार एकबार पड़ौसी होकर आत्मा का अनुभव कर !

यथार्थ प्रसमपूर्वक निकट में रहनेवाले पदार्थों से मैं अलग हूँ, ज्ञाता-दृष्टा हूँ, शरीर, मन, वाणी इत्यादि बाहर के नाटक हैं, इन सब को नाटकस्वरूप से ही देख, तू उनका साक्षी है। स्वाभाविक अन्तरंग-ज्योति से ज्ञानभूमिका की सत्ता में यह सब जो ज्ञात होता है सो वह मैं नहीं हूँ; किन्तु उसे जाननेवाला मात्र मैं हूँ, इसप्रकार उसे जान तो सही ! और उसे जानकर उसमें लीन होजा। आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान और लीनता प्रगट होती है, उसका आश्चर्य करके एकबार पड़ोसी बन।

जैसे किसी मुसलमान का और ब्राह्मण का घर पास पास हो तो ब्राह्मण उसका पड़ोसी होकर रहता है, किन्तु वह उस मुसलमान के घर को अपना नहीं मानता; इसीप्रकार तू भी परपदार्थों का दो घड़ी के लिये पड़ोसी होकर चैतन्यस्वभाव में स्थिर होकर आत्मा का अनुभव कर।

शरीर, मन और वाणी की क्रिया तथा पुण्य-पाप के परिणाम इत्यादि सब पर हैं। विपरीत पुरुषार्थ के द्वारा पर में स्वामित्व मान रखा है, विकारीभावों की ओर तेरा बाहर का लक्ष्य है वह सब छोड़कर स्वभाव में श्रद्धा, ज्ञान और लीनता करके एक अन्तर्मुहूर्त के लिये अलग होकर चैतन्यमूर्ति को पृथक्रूप में देख, चैतन्य के विलासरूप आनन्द को कुछ अलग होकर देख, उस आनन्द को अन्तरंग में देखने पर तू शरीरादि के मोह को तत्काल ही छोड़ सकेगा। यह बात सरल है क्योंकि यह तेरे स्वभाव की बात है। केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी को स्वरूपसत्ता की भूमि में स्थिर होकर देख, तो परपदार्थ सम्बन्धी मोह को झट छोड़ सकेगा।

यदि तीनकाल और तीनलोक की प्रतिकूलताओं का समूह एक ही साथ सम्मुख आ उपस्थित हो तो भी मात्र ज्ञातारूप रहकर उस सबको सहन करने की शक्ति आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की एकसमय की पर्याय में विद्यमान है। जिसने शरीरादि से भिन्नरूप आत्मा को जाना है उसपर इन परीषहों का समूह किंचित्मात्र भी असर नहीं कर

सकता, अर्थात् चैतन्य अपने व्यापार से किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता।

जैसे किसी सुकोमल राजकुमार को किसी अग्नि की भयंकर भट्टी में जीवित ही फेंक दिया जाये तो उसे जो दुःख होता है उससे भी अनन्तगुना दुःख पहले नरक में है, और पहले नरक से दूसरे तीसरे आदि सातों नरकों में एक दूसरे से अनन्तगुना दुःख है। ऐसे अनन्तदुःखों की प्रतिकूलता की वेदना में पड़ा हुआ, महा-भयंकर घोरपाप करके वहाँ गया हुआ तथा तीव्र वेदना के समूह में पड़ा हुआ होने पर भी कभी कोई जीव यह विचार करने लगता है कि-अरेरे! ऐसी वेदना! इतनी पीड़ा! और ऐसा विचार करते हुए स्वोन्मुख होने पर उसे सम्यक्दर्शन प्रगट होजाता है। वहाँ सत्समागम नहीं है, किन्तु पहले एकबार सत्समागम किया था, सत् का श्रवण किया था, इसलिये वर्तमान सम्यक्विचार के बल से सातवें नरक की घोर वेदना में पड़ा हुआ होनेपर भी, उस वेदना के लक्ष्य को दूर करने से सम्यक्दर्शन प्रगट होजाता है, आत्मा का संवेदन होने लगता है। सातवें नरक में रहनेवाले सम्यक्दृष्टि जीव को उस नरक की वेदना असर नहीं कर सकती, क्योंकि उसे यह दृढ़ प्रतीति है कि-मेरे ज्ञानस्वरूप चैतन्य पर कोई अन्यपदार्थ असर नहीं कर सकता। ऐसी अनन्त वेदनाओं में पड़ा हुआ जीव भी आत्मानुभव को प्राप्त होजाता है तो फिर यहाँ तो सातवें नरक के बराबर दुःख नहीं है, मनुष्यभव पाकर भी व्यर्थ का रोना क्यों रोया करता है? अब सत्समागम से आत्मा को पहिचानकर आत्मानुभव कर। आत्मानुभव की ऐसी महिमा है कि परीषह आने पर डिगे नहीं, और एक दो घड़ी के लिये स्वरूप में लीन होजाये तो पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होजाता है, जीवन-मुक्तदशा प्राप्त होजाती है, और मोक्षदशा प्रगट होती है। तब फिर इस मनुष्यभव में मिथ्यात्व का नाश करके सम्यक्दर्शन प्रगट करना तो और भी सुगम है।

शंका:—आप तो एक अन्तर्मुहूर्त की बात कहते हैं किन्तु हम तो घन्टों बैठकर विचार करते हैं फिर भी क्यों कुछ समझ में नहीं आता ?

उत्तर:—अपना निजका ही दोष है; स्वतः समझने की चिंता नहीं करता, और या तो गुरु का दोष निकालता है या फिर शास्त्र को दोषी ठहराता है; किन्तु इसमें गुरु का या शास्त्र का कोई दोष नहीं है, जो कुछ दोष है सो तेरा अपना ही है। अभीतक तूने सत्य को समझने की रुचि या जिज्ञासा ही नहीं की। भगवान त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव भी अपनी वाणी द्वारा कहकर अलग होजाते हैं किन्तु समझना तो अपने हाथ की बात है।

अभीतक आचार्यदेव ने अप्रतिबुद्ध शिष्य से यह कहा है कि शरीर, मन, वाणी और विकार तेरे नहीं हैं, परोन्मुख होनेवाले शुभाशुभभाव भी तेरे नहीं हैं, तो फिर शरीरादिक तो तेरे कहाँ से होसकते हैं। अनादिकाल से शरीरादि को अपना मानता चला आरहा है सो भेदज्ञान के द्वारा उसको पृथक्स्वरूप समझाया है; और कहा है कि परपदार्थ का और तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, तू यह अनुभव कर कि—चिदानन्द परमात्मस्वरूप आत्मा परपदार्थ से बिल्कुल भिन्न है। तीनकाल और तीनलोक में शरीर और आत्मा एक नहीं हैं, यह बात महाअज्ञानविमोहित चित्तवाले जीवों को भलीभाँति समझाई है। २५।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि हे प्रभु! आपने अत्यंत भार देकर कहा है कि शरीर और आत्मा दोनों बिल्कुल भिन्न हैं, किन्तु मैं शास्त्र का प्रमाण देकर बतला सकता हूँ कि शरीर और आत्मा एक है। वह गाथा इस प्रकार है:—

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥२६॥

यदि जीवो न शरीरं तीर्थकराचार्यसंस्तुतिश्चैव।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ॥ २६ ॥

अर्थः—अप्रतिबुद्ध कहता है कि जो जीव है वह शरीर नहीं है तो तीर्थंकर और आचार्यों की जो स्तुति की है सो सब मिथ्या सिद्ध होती है; इसलिये हम तो यह समझते हैं कि जो आत्मा है सो वह देह ही है।

अप्रतिबुद्ध पुरुष कहता है कि हे प्रभु! जो जीव है वह यदि शरीर नहीं है तो तीर्थंकर और आचार्यों की आप भी जो स्तुति करते हैं सो वह भी मिथ्या सिद्ध होगी। जब आप स्वयं भगवान की स्तुति करते हैं तब आप मात्र आत्मा की ही स्तुति नहीं करते और केवल यही नहीं कहते कि भगवान का आत्मा ऐसा है, किन्तु उनकी स्तुति में यह भी कहते हैं कि भगवान का रूप रंग ऐसा था, उनकी दिव्यध्वनि ऐसी थी, उनका आकार-प्रकार ऐसा था इत्यादि; इसलिये मैं समझता हूँ कि जो आत्मा है सो वह शरीर ही है। आप भले ही भार देकर यह कहते हों कि शरीर और आत्मा बिल्कुल अलग है, किन्तु मैं तो शास्त्राधारपूर्वक यह कह रहा हूँ कि-शरीर और आत्मा एक है। शिष्य शास्त्रों को जानता है, और उसीके आधार पर प्रश्न करता है कि जब आप भी भगवान के शरीर की स्तुति करते हैं तब यह कैसे कहते हैं कि शरीर और आत्मा अलग हैं! यदि आपका कथन सत्य है तो आपकी स्तुति मिथ्या सिद्ध होती है।

आपकी वह स्तुति इसप्रकार है:—

> कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुंधन्ति ये
> धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
> दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
> वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥ २४ ॥

अर्थः—वे तीर्थंकर-आचार्यदेव वन्दना करने योग्य हैं, जोकि अपने शरीर की कान्ति से दशों दिशाओं को धोते हैं-निर्मल करते हैं, अपने तेज के द्वारा उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादि के तेज को ढक देते हैं, अपने

रूप से, लोगों के मन को मोह लेते हैं–हर लेते हैं, अपनी दिव्यध्वनि से (भव्य जीवों के) कानों में साक्षात् सुखामृत की वर्षा करते हैं और जो एकहज़ार आठ लक्षणों को धारण करते हैं।

जब जगत के जीवों की पात्रता स्पष्टतया तैयार होती है, तब कोई एक जीव ऐसा होता है कि जो जगत के जीवों में से उन्नतिक्रम से बढ़ता हुआ, दूसरे जीवों के तारने में निमित्तरूप जगद्गुरु का विरद लेकर आता है, उन्हें तीर्थंकर देव कहते हैं। तीर्थंकर देव उसी शरीर से मोक्ष जाते हैं, वह महापुरुष पुण्य और पवित्रता में परिपूर्ण होते हैं। आचार्यदेव भी छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए, गुण के निधान और विशेष पुण्यवान होते हैं। वे तीर्थंकर और आचार्यवर्य वन्दना करने योग्य हैं। वे तीर्थंकरदेव अपने शरीर की कांति से दशों दिशाओं को धोते हैं–उन्हें निर्मल करते हैं, उनकी दिव्यध्वनि में से साक्षात् अमृतरस की वर्षा होती है, वे अपने तेज से उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादि को ढक देते हैं, इत्यादि कथन शास्त्रों में आता है, और आप ऐसी स्तुति करने को भी कहते हैं, इसलिये हम यह समझते हैं कि शरीर और आत्मा एक ही है।

जिज्ञासु शिष्य उपरोक्त शंका करता हुआ कहता है कि शास्त्रों में अनेक स्थलों पर यह लिखा पाया जाता है कि–भगवान ऐसे रूपवान हैं, ऐसे सुन्दर हैं, उनकी वाणी ऐसी सुन्दर है इत्यादि। हमारे पास इसके लिये अनेक शास्त्रीय प्रमाण मौजूद हैं।

शिष्य कहता है कि हे प्रभु! आप बारम्बार यह कहते हैं कि आत्मा शरीर से बिल्कुल अलग है, किन्तु जब आप भगवान की स्तुति करते हैं तब यह नहीं कहते कि भगवान का आत्मा निर्विकार वीतराग पिंड अलग है, और शरीर की स्तुति निमित्त से है।

शास्त्रों में अनेक स्थलों पर ऐसा स्पष्ट कथन आता है कि–तीर्थंकरदेव का शरीर स्फटिकमणि जैसा होजाता है, उनके शरीर में सर्वोत्कृष्ट

पुण्य होता है, भगवान के शरीर के रजकणों की रचना ऐसी होती है कि जिसमें पुण्य के पूर्ण रस की सामग्री का योग होता है; इसलिये वह लोगों के मन को हर लेता है। तीर्थंकर भगवान के शरीर में एकहजार आठ लक्षण होते हैं, ध्वजा, जहाज आदि लक्षण होते हैं। उनके ओंठ बन्द होते हैं, और सम्पूर्ण शरीर में से ॐकार ध्वनि खिरती है, जिसे अपनी अपनी योग्यता के अनुसार समझ लेते हैं, वह दिव्य-ध्वनि भव्य जीवों के कान में साक्षात् अमृत ही पिला देती है, इत्यादि। इसलिये शिष्य का प्रश्न यह है कि—आपने तीर्थंकरदेव की स्तुति करते समय यह न कहकर कि उनका स्वरूप केवलज्ञान केवलदर्शन और निर्विकल्प समाधिस्वरूप है, किन्तु शरीर का वर्णन करके, उसी दृष्टि से भगवान का स्वरूप बताया है। आपने भगवान की स्तुति करते समय कहीं यह स्पष्ट नहीं कहा कि यह शरीर का रंग रूप और तेज भगवान के आत्मा का नहीं किन्तु शरीर का है, प्रत्युत आप तो हमें ऐसी स्तुति करना सिखाते हैं कि—हे नाथ! आपकी सुन्दरता ऐसी है, आपका रूप-रंग ऐसा है, आपकी वाणी ऐसी है, और उसप्रकार आप ही भगवान को वाणी और शरीर का स्वामी सिद्ध करते हैं।

यहाँ शिष्य परमार्थ की बात को भूलकर केवल व्यवहार को पकड़ बैठता है और शास्त्र की बात सुनकर अपने को शास्त्राभ्यासी एवं घर का भेदिया मानकर ऐसे कुतर्क करता है।

आचार्यदेव शिष्य को उत्तर देते हुए कहते हैं कि—शरीर और आत्मा एक ही स्थान पर रहते हैं इसलिये शास्त्रों में निमित्त से कथन है कि—भगवान का शरीर ऐसे वर्ण का है और उनकी वाणी ऐसी है इत्यादि। जैसे मिट्टी के घड़े को घी के संयोग से घी का घड़ा कहा जाता है, और ऐसा रूढ़व्यवहार अनादिकाल से चला आरहा है। यद्यपि घी का घड़ा कहा जाता है किन्तु घड़ा मिट्टी का होता है,—यदि यह लक्ष्य में हो तो उस निमित्त के कथन का व्यवहार भी सच कहा जासकता है; इसीप्रकार शरीर और आत्मा का एक ही स्थान पर रहने

का सम्बन्ध है, इसलिये शरीर के द्वारा भगवान की स्तुति की जाती है; किन्तु परमार्थ से तो दोनों द्रव्य अलग ही हैं; यदि यह लक्ष्य में हो तो निमित्त के कथन से होनेवाली स्तुति का व्यवहार भी सच है।

शास्त्र में निमित्त से यह कथन आता है कि आत्मा के साथ कर्म बंधे हुए हैं और कर्म आत्मा लिये बाधक हैं। यह बात जहाँ आती है वहाँ निमित्त को ही पकड़ बैठना ठीक नहीं है। परपदार्थस्वरूप जो कर्म हैं सो आत्मा को हानि-लाभ नहीं पहुँचा सकते तथापि जगत के जीव व्यवहार-कथन को ही परमार्थ मान बैठते हैं, इसलिये उनके द्वारा 'मूल में भूल' होती है!

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! शास्त्रों में दो प्रकार का कथन होता है,—एक परमार्थ का और दूसरा निमित्त का। जैसे यह कहा जाता है कि—ज्ञानावरणीकर्म ने आत्मा के ज्ञानगुण को रोक रखा है; किन्तु क्या जड़कर्म चैतन्य आत्मा के गुणों को रोक सकते हैं? सच तो यह है कि स्वयं अपने से रुका हुआ है, किन्तु उपचार से यह कहा जाता है कि—ज्ञानावरणी कर्म ने ज्ञानगुण को रोक रखा है। किन्तु तू अपेक्षाकथन को नहीं समझता और व्यवहार को परमार्थ के खाते में तथा परमार्थ को व्यवहार के खाते में डाल देता है। भूल तो स्वयं करता है, किन्तु अनादिकाल से व्यावहारिक रूढ़िवश ऐसा कहा जाता है कि कर्म भूल कराते हैं। शास्त्रों में अनेक अपेक्षाओं को लेकर, अनेक दृष्टियों से कथन होता है, उसमें व्यवहार की भी हजारों बातें होती हैं। भगवान की वाणी और उनके आत्मा का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, इसलिये भगवान की स्तुति करते हुए भगवान के आत्मगुणों पर लक्ष्य पहुँचाने के लिये व्यवहारदृष्टि से यह कहा जाता है कि हे भगवन्! आपके मुख से अमृत की वर्षा होरही है।

शिष्य कहता है कि आप व्यवहार की तो बात करते हैं और परमार्थ समझाना चाहते हैं; ऐसी बातें मेरी समझ में नहीं आतीं। मैं तो समझता हूँ कि निश्चय ही शरीर और आत्मा एक ही है।

उसका समाधान करते हुए गुरु कहते हैं कि हे भाई ! शास्त्रों में व्यवहार और परमार्थ दोनों प्रकार का कथन होता है। एकबार शास्त्र में यह कहा हो कि-आत्मा में तीनलोक और तीनकाल में भी राग-द्वेष नहीं है, वहाँ यह समझना चाहिये कि यह कथन स्वभाव की अपेक्षा से-द्रव्यदृष्टि से है। और उसी शास्त्र में यह भी लिखा होता है कि आत्मा में राग-द्वेष हैं, तो वहाँ यह समझना चाहिये कि-यह कथन वर्तमान अशुद्ध अवस्था की अपेक्षा से-पर्यायदृष्टि से है। इसप्रकार जो कथन जिस दृष्टि से है उसे उसी दृष्टि से समझना चाहिये, दोनों की खिचड़ी नहीं बना डालनी चाहिये।

जहाँ शास्त्रों में यह कथन आता है कि आत्मा नित्य है, वहाँ द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से नित्य समझना चाहिये और जहाँ शास्त्र में यह कथन होता है कि आत्मा अनित्य है, वहाँ पर्याय की अपेक्षा से-अवस्था-दृष्टि से कहा हुआ समझना चाहिये। यदि कोई अपेक्षादृष्टिपूर्वक कही गई दोनों बातें को भलीभाँति न समझे और सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य को ही मान बैठे तो वह निरा अज्ञानी है, एकान्तदृष्टि है। आत्मा चिदानन्द भगवान, पर से भिन्न, शुद्ध ज्ञायक है, ऐसी जो दृष्टि है सो परमार्थदृष्टि है-ध्रुवदृष्टि है। प्रतिक्षण बदलनेवाली अवस्था पर जो दृष्टि है सो व्यवहारदृष्टि-भंगदृष्टि-भेददृष्टि है।

शास्त्रों में एक स्थानपर मुनियों के लिये ऐसा कहा गया है कि मुनि को ईर्यासमिति पूर्वक देखकर चलना चाहिये, और दूसरी जगह यह कहा गया है कि-यदि यह मानेगा कि शरीर की क्रिया मेरा आत्मा करता है तो महामिथ्यादृष्टि कहलायेगा। एक डग उठाना भी तो तेरे हाथ की बात नहीं है। यहाँ बुद्धिपूर्वक कथन का पृथक्करण करना चाहिये। जहाँ यह कहा है कि-देखकर चलना चाहिये, वहाँ यह समझना चाहिये कि जब आत्मा अपने निर्विकार शुद्धस्वभाव में सम्पूर्ण-तया स्थिर न रह सके तब अशुभभावों को दूर करने के लिये शुभभाव करना कहा है, और जब शुभभाव हो अर्थात् परजीवों को दुःख न

देने के भाव हों तब शरीर की क्रिया ऐसी नहीं होती कि जिससे दूसरे जीवों को हानि पहुँचे, लगभग ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। जो चैतन्य के विकारी शुभपरिणाम होते हैं सो अपने कारण से होते हैं, शरीर की क्रिया शरीर के कारण से होती है, और जो दूसरा जीव नहीं मरता तो उसमें उसकी आयु कारण होती है; इसीप्रकार सबके अपने अपने कार्य भिन्न स्वतंत्रतापूर्वक होते हैं, तथापि उपचार से यह कहा जाता है कि इस जीव ने इसे बचाया है।

अपने शुभभाव का निमित्त हो, शुभभावानुसार शरीर की क्रिया का उदय हो और आयु कर्म का उदय हो—ऐसा मेल लगभग होजाता है, तब उपचार से यह कहा जाता है कि इसके शुभभावों से यह जीव बच गया; किन्तु यदि उसे कोई परमार्थ से ऐसा ही मानले तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि एक जीव दूसरे जीव को बचा सके ऐसी शक्ति तीनलोक और तीनकाल में भी किसी की नहीं है। किन्तु दूसरे जीव को दुःख देने के भाव न हों, अर्थात् शुभभाव हों, तब शरीर की क्रिया भी दूसरे जीवों को दुःख देने की नहीं होती; लगभग ऐसे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को लेकर दूसरे जीवों को बचाने का और देखकर चलने का उपदेश दिया जाता है। यदि शुभभाव करने से कोई जीव बच सकता हो तो जब जब शुभभाव हों तब तब हरबार उसे बच ही जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। जैसे कोई मुनि ईर्यासमिति पूर्वक चले जारहे हों तथापि उनके पैर के नीचे कोई जीव आकर मर जाये तो मुनि को दोष नहीं लगता, क्योंकि उनके भाव मारने के नहीं हैं, इसलिये 'देखकर चलना चाहिये' इस कथन का यह भाव है कि—जब सम्पूर्ण अप्रमत्त ध्यान में न रहा जासके तब हिंसा के अशुभभाव से बचने के लिये शुभभाव में रहने को कहा है। शरीर की क्रिया आत्मा के अधीन नहीं है। चैतन्यतत्व पर से भिन्न है, वह पर का कुछ नहीं कर सकता। यदि इसे न समझे और व्यवहार में ही फँसा रहे तो यह ठीक नहीं है ॥ २६ ॥

आचार्यदेव कहते हैं कि तू नय के विभाग को, उसकी व्यवस्था को नहीं जानता। वह नयविभाग इसप्रकार हैः—

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥२७॥

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः ॥ २७ ॥

अर्थः—व्यवहारनय तो यह कहता है कि—जीव और शरीर एक ही है, किन्तु निश्चय का कहना यह है कि जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं।

जो एकवस्तु को परवस्तु की अपेक्षा से जानता है, और कथन करता है उस ज्ञान को व्यवहारनय कहते हैं, और जो वस्तु को वस्तु की स्व अपेक्षा से जानता है और कथन करता है उस ज्ञान को निश्चयनय कहते हैं। जो जानता है सो ज्ञाननय और जो कथन करता है सो शब्दनय। स्व आश्रित वह निश्चयनय, और पर आश्रित वह व्यवहारनय।

जैसे इस लोक में सोने और चाँदी को गलाकर एक करने से एकपिंड का व्यवहार होता है। सोना और चाँदी—दोनों को गलाकर उन्हें एकत्रित करने से एकपिंड होजाता है, उसे लोग मिलवाँ सोना कहते हैं। यद्यपि यहाँ एकवस्तु नहीं है किन्तु रूढ़ि से एकपिंड का व्यवहार होता है; वास्तव में सोना और चाँदी एकमेक नहीं हुए हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप में परिणत नहीं होसकता, यह सिद्धान्त है। जैसे सोने और चाँदी को गलाकर एक कर देने से एकपिंड का व्यवहार होता है, उसीप्रकार आत्मा और शरीर के परस्पर एकक्षेत्र में रहने से एकत्व का व्यवहार होता है। इसप्रकार व्यवहारमात्र से ही आत्मा और शरीर का एकत्व है; परन्तु निश्चय से एकत्व नहीं है; आत्मा और

शरीर का एकक्षेत्र में रहने का जो सम्बन्ध है सो वह पर्याय को लेकर है, द्रव्य को लेकर नहीं। दोनों को एकक्षेत्र में रहने की पर्याय की योग्यता है। एकक्षेत्र में रहने पर भी दोनों की पर्याय अलग अलग है, वह कभी एक नहीं होती। भगवान का केवलज्ञान और दिव्यध्वनि–दोनों की पर्यायें एक स्थानपर होती हैं, तथापि वे दोनों भिन्न भिन्न हैं। दिव्यध्वनि और आत्मप्रदेशों का कम्पन–दोनों अवस्थाएँ एक ही स्थान पर होती हैं, तथापि दोनों की पर्याय भिन्न भिन्न है, किन्तु जो एक ही स्थानपर दोनों की पर्यायें हैं सो व्यवहार है। व्यवहार अर्थात कथन-मात्र है; वह–व्यवहार व्यापकरूप से नहीं है। व्यापक का अर्थ यह है कि उस द्रव्य की पर्याय उस द्रव्य में ही हो, दूसरे द्रव्य में न हो; और व्यवहारनय एक द्रव्य की अवस्था को दूसरे द्रव्य की अवस्थारूप से कथन करता है, इसलिये व्यवहार व्यापकरूप से नहीं है।

जैसे सोने का पीलापन इत्यादि और चाँदी का सफेदी इत्यादि स्वभाव है, और उन दोनों में अत्यंत भिन्नता है, इसलिये वे दोनों एक पदार्थ नहीं होसकते, अतः उनमें अनेकत्व ही है। इसीप्रकार उपयोग-स्वभाववाले आत्मा और अनुपयोगवाले शरीर में अत्यंत भिन्नता होने से वे दोनों एकपदार्थ नहीं होसकते, अतः उनका अनेकत्व सदा सिद्ध है।

जैसे सोना और चाँदी–दोनों पृथक् पदार्थ हैं, इसीप्रकार उपयोग-स्वरूप अर्थात् जानने-देखने के स्वभाववाला आत्मा और अनुपयोग-स्वरूप अर्थात् न जानने-देखने के स्वभाववाला जड़ पदार्थ–दोनों सर्वथा भिन्न हैं। उन पृथक् पदार्थों को यथावत् पृथक् ही जानना सो निश्चय और पृथक् पदार्थ में पर का आरोप करना सो व्यवहार है।

यदि व्यवहार में निमित्त को पकड़े और निश्चय को न पकड़े तो जैसा ऊपर शिष्य ने कहा है वैसे अनेक भ्रम उत्पन्न होसकते हैं। यद्यपि व्यवहार से कहा जाता है कि–यह भगवान का शरीर है, किन्तु परमार्थ से भगवान और शरीर दोनों पृथक् हैं।

"हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और" होते हैं; इसीप्रकार शास्त्र के कथन का भेद समझने का प्रयत्न करना चाहिये। शास्त्र में व्यवहार का कथन बहुत होता है, किन्तु जितने व्यवहार के-निमित्त के कथन होते हैं वे अपने गुण में काम नहीं आते अर्थात् पेट भरने में काम नहीं आते, मात्र वे बोलने में काम आते हैं। आत्मा परमार्थ से पर से भिन्न है-ऐसी श्रद्धा करके उसमें लीन हो तो आत्मजागृति हो। जो परमार्थ है सो व्यवहार में-बोलने में काम नहीं आता, किन्तु उसके द्वारा आत्मा को शांति होती है, ऐसा यह प्रगट नयविभाग है।

ऐसे नयविभाग को न समझकर मात्र व्यवहार को ही पकड़कर कहता है कि-हम परदुःखभंजन हैं। किन्तु वास्तव में इसका अर्थ तो यह है कि-स्वयं दूसरे के दुःख को देखकर कातर होजाता है, और उस वेदना को स्वयं सहन नहीं कर सकता इसलिये उसे मिटाने के लिये अपना समाधान करता है और बीच में दूसरे निमित्तरूप से आते हैं। जब बीच में दूसरे का निमित्त आता है, तब लोगों को यह दिखाई देता है कि इसने उसका दुःख दूर किया है; किन्तु कोई पर का दुःख दूर नहीं कर सकता। निम्नभूमिका में शुभाशुभभाव आये बिना नहीं रहते, इसलिये स्वयं अपने भाव का ही समाधान करता है।

प्रश्नः—यदि आँखें बन्द करके बैठे तो आत्मप्रतीति होगी या नहीं?

उत्तरः—आँखें बन्द करने से क्या होनेजाने वाला है। यदि अन्तरंग के ज्ञाननेत्रों को जागृत करे तो राग-द्वेष न हो। जो वीतराग निर्विकल्प आनन्दगुण है वही गुण विकारी होता है, पर से विकार नहीं होता; इसे न समझे और आँखें बन्द करके बैठा रहे या कान में खीले ठोककर बैठ जाये तो वह केवल भ्रान्ति है। जो यह मानता है कि-आँखें बन्द कर लेने से रूप नहीं दिखाई देगा और कानों में खीले ठोकने से शब्द नहीं सुनाई देगा, अर्थात् तत्सम्बन्धी राग-द्वेष नहीं होगा; तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि उसने यह माना है कि परपदार्थ मुझे राग-द्वेष कराता है, और ऐसा मानने-

वाले ने निमित्त पर भार दिया है। आँखें बन्द करके और कान बन्द करके तो वृक्ष भी खड़े हुए हैं (वृक्ष के आँख कान होते ही नहीं हैं), इसलिये उन्हें भी राग-द्वेष नहीं होना चाहिये, किन्तु स्वयं ही अपने स्वभाव को भूलकर पर में भटक रहा है इसलिये राग-द्वेष होता है; कोई दूसरा—परपदार्थ राग-द्वेष नहीं करा देता। आत्मा एक अखण्ड ज्ञानस्वभावी है, उसे अपने में न जानकर, अपने विकास को भूलकर विकार में लग जाना ही परमार्थतः बन्धन है।

व्यवहारनय पर की अपेक्षा से एकक्षेत्र में रहना बतलाकर उपचार से यह कहता है कि शरीर और आत्मा एक है, अतः व्यवहारनय से ही शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन होता है।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन ! आप एकबार आत्मा को अलग कहकर फिर व्यवहार से ऐसी स्थिति सिखलाते हो सो यह कुछ मेरी समझ में नहीं आता, हम तो सरल और सीधी बात समझ सकते हैं।

आचार्य कहते हैं कि जो परपदार्थ है वह त्रिकाल में भी कभी अपना नहीं होता, इसलिये पर को अपना बनाना ही दुर्लभ है और अपना स्वभाव जोकि अपने ही पास है उसे समझना ही सरल है, किन्तु अनादिकालीन अनभ्यास के कारण वह कठिन मालूम होता है।

जो शरीर वाणी और रंग-रूप को आत्मा कहा है सो तो व्यवहार से बोलने की रीति है। जैसे भगवान पार्श्वनाथ कृष्णवर्ण थे, भगवान नेमिनाथ श्यामवर्ण थे और भगवान महावीर स्वर्णवर्ण थे,—यह सब व्यवहार से कहा जाता है किन्तु शरीर और आत्मा तीनलोक और तीनकाल में कभी भी एक नहीं हैं। भगवान की प्रतिमा की ओर देखकर कहता है कि हे भगवान ! मेरा उद्धार करो ! किन्तु वह यह भूल जाता है कि—भगवान अपनी ओर—स्वयं ही है, और मात्र निमित्त

की ओर देखता है, मानों परपदार्थ में से ही गुण-लाभ प्राप्त होता है ! किन्तु यह तो विचार कर, कि गुण का सम्बन्ध गुणी के साथ होता है या पर के साथ ? स्वयं निर्विकल्प वीतराग स्वरूप में स्थिर नहीं होसकता इसलिये निमित्त की ओर का शुभविकल्प उठता है, अतः स्तुति में लग जाता है, किन्तु भगवान कौन है, यह प्रतीति हुए बिना यह मानना कि परपदार्थ से मुझे गुण-लाभ होता है, सो पराश्रित मिथ्यादृष्टिता है ।

भगवान को 'तरणतारण' कहा जाता है, किन्तु जीव तरता तो अपने भाव से ही है. फिर भी वीतराग के प्रति बहुमान होने से विनयपूर्वक यह कहा जाता है कि हे भगवान ! आपने मुझे तार दिया । जब अपने में तरने का उपाय जानलिया तब निमित्त में उपचार से कहा जाता है । स्वयं अभी अपूर्ण है और वीतराग होने की तीव्र आकांक्षा है, इसलिये देव गुरु शास्त्र के प्रति बहुमान हुए बिना नहीं रहता, विनय हुए बिना नहीं रहती । ऐसा नयविभाग है ।

अभीतक आचार्यदेव ने यह कहा है कि शरीर और आत्मा दोनों पृथक् हैं, क्योंकि यह शरीरादि तो अजीव जड़वस्तु है और वह रूपी है; तथा आत्मा चैतन्य एवं अरूपी है । उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र, बल इत्यादि अनन्तगुण अरूपी हैं; आत्मा स्वयं अरूपी है, उसके गुण अरूपी हैं, और उसकी पर्याय भी अरूपी है, तथा शरीरादिक जड़ हैं जोकि रूपी हैं; इसलिये दोनों पदार्थ अलग हैं । इसलिये रूपी से अरूपी को कोई लाभ नहीं होसकता और उस रूपी से धर्म भी नहीं होता । आत्मा ज्ञाता-दृष्टा पूर्ण वीतरागस्वरूप है, यदि उसको पहिचान-कर उसमें स्थिर हो तो धर्म हो ।२७।

शिष्य ने प्रश्न किया था कि हे प्रभु ! आपने तो जड़ और आत्मा दोनों को पृथक् कहा है, और मात्र आत्मा के ही गीत गाये हैं, किन्तु प्रभो ! आप भी भगवान की स्तुति करते हुए उन्हें अनेकप्रकार की ऐसी उपमाएँ देते हैं कि–आपका मुख चन्द्रमा से भी अधिक उज्वल

है और सूर्य से भी अधिक प्रतापी है; तथा शास्त्रों में भी अनेक स्थलों पर ऐसा ही कथन है, एवं ज्ञानियों और मुनियों इत्यादि ने भी भगवान के शरीर की स्तुति करके भगवान की स्तुति की है; इसलिये हम भी यही समझते हैं कि शरीर के गुणों से भगवान की स्तुति होती है, शरीर का गुणगान करने से आत्मा का गुणगान होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि शरीर और आत्मा एक है। यदि शरीर और आत्मा एक न हो तो ज्ञानी और मुनिगण शरीर की स्तुति से भगवान की स्तुति क्यों करते हैं? और इसीलिये हमको यह बात नहीं जमती कि शरीर और आत्मा अलग हैं।

निम्नलिखित गाथा में इस बात का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि:—

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥

इदमन्यत् जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः।
मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवान् ॥ २८ ॥

अर्थः—जीव से भिन्न इस पुद्गलमय देह की स्तुति करके साधु यह मानते हैं कि हमने केवली भगवान की स्तुति की है, उनकी वन्दना की है।

जैसे परमार्थ से सफेदी सोने का स्वभाव न होनेपर भी चांदी का गुण जो सफेदी है उसके नाम से स्वर्ण का नाम 'श्वेतस्वर्ण' कहा जाता है, सो यह व्यवहारमात्र से ही कहा जाता है।

जैसे, सोने को और चांदी को गलाकर एक पिंड किया जाता है, और उसे 'श्वेतस्वर्ण' व्यवहार से कहा जाता है। किन्तु परमार्थ से सफेदी सोने का स्वभाव नहीं है, तथापि पीलापन मिटकर सफेदी दिखाई देती है इसलिये उसे श्वेतस्वर्ण कहा जाता है। इसीप्रकार आत्मा और शरीर एक स्थान पर अपनी अपनी योग्यता से रह रहे हैं। उस आत्मा

और शरीर को एक स्थान पर रहने का जो सम्बन्ध है सो द्रव्य की अपेक्षा से नहीं, किन्तु पर्याय की अपेक्षा से है; किन्तु एकक्षेत्र में रहने पर भी दोनों पृथक् हैं।

मुनिगण और ज्ञानीजन शरीर के द्वारा भगवान की स्तुति करते हैं, किन्तु उन्हें अन्तर में यह प्रतीति वर्तती है कि भगवान देह से अलग हैं, भगवान का आत्मा और भगवान का शरीर दोनों एकक्षेत्र में रह रहे हैं इसलिये शरीर का आरोप भगवान के आत्मा पर करके उनकी स्तुति में यह कह दिया जाता है कि भगवान स्वर्णवर्णी हैं। वास्तव में तो भगवान देह से सर्वथा भिन्न हैं। भगवान की जो वाणी खिरती है सो वह भी उनकी इच्छा के बिना ही खिरती है। जो वाणी खिरती है उसमें भगवान की उपस्थितिमात्र का सम्बन्ध है, इसलिये ऐसा उपचार से कहा जाता है कि हे नाथ ! आप दिव्यवाणी की अमृत-वर्षा करते हैं। जहाँ केवलज्ञान और वीतरागता प्रगट होती है वहीं ऐसी दिव्यवाणी का योग होता है, दिव्यवाणी के समय केवलज्ञान की विद्यमानता का ही सम्बन्ध है, अर्थात् ऐसी वाणी का योग केवलज्ञानी के अतिरिक्त अन्य किसी के नहीं होसकता। ऐसा निमित्त की उपस्थिति-मात्र का सम्बन्ध है–यह लक्ष्य में रखकर श्रावक और मुनिगण विवेकपूर्वक भगवान के शरीर और उनकी वाणी को निमित्त बनाकर स्तुति करते हैं; ऐसी प्रतीतिपूर्वक होनेवाली स्तुति व्यवहारस्तुति कहलाती है। जहाँ ऐसी प्रतीति नहीं होती वहाँ की जानेवाली स्तुति व्यवहार से भी स्तुति नहीं है।

भक्तजन स्तुति-पाठ में कहा करते हैं कि 'सिद्धा सिद्धं मम दिसंतु' अर्थात् हे सिद्ध भगवान ! आप हमें सिद्धपद दीजिये। किन्तु भगवान किसी को मुक्ति नहीं दे देते। जिसे ऐसी दृढ़ प्रतीति होती है कि–यदि साक्षात् सिद्ध भगवान ही उतर आयें तो भी वे किसी को मुक्ति नहीं दे सकते, मैं स्वयं ही ज्ञानमूर्ति पूर्ण सिद्धसमान हूँ, ऐसा मेरा स्वभाव है, मेरे पुरुषार्थ के द्वारा ही मेरी सिद्ध पर्याय प्रगट होसकती

हैं; वही विनयपूर्वक भगवान को आरोपित करके कहता है कि हे सिद्ध भगवान ! मुझे सिद्धपद दीजिये, और जब इसप्रकार समझपूर्वक स्तुति करता है तब उसकी इस बाह्यस्तुति को व्यवहार कहा जाता है। ऐसे निश्चय की प्रतीतिपूर्वक होनेवाले स्तुति के शुभपरिणाम अशुभ से बचाते हैं, इसलिये व्यवहार कथंचित् सत्य है। जब अन्तरंगआत्मा में परमार्थ-स्तुति प्रगट होती है तब बाह्यस्तुति को निमित्त कहा जाता है।

अज्ञानी का लक्ष्य मात्र भगवान के शरीर पर ही रहता है, और वह मात्र शारीरिक दृष्टि रखकर ही स्तुति करता है, इसलिये उसकी स्तुति यथार्थ नहीं है; व्यवहार से भी उसकी स्तुति ठीक नहीं है। अज्ञानी मात्र भगवान के पुद्गलस्वरूप शरीर पर ही लक्ष्य रखकर—भगवान के शरीर को ही भगवान मानकर स्तुति करता है; जैसे सोलह भगवान स्वर्णवर्ण और शेष आठ भगवान रक्त, श्याम आदि वर्ण के होगये हैं, इसप्रकार अज्ञानी जीव शरीर पर ही लक्ष्य रखकर स्तुति करता है इसलिये उसका व्यवहार भी सत्य नहीं है। इसप्रकार की स्तुति करते हुए यदि कषाय को मंद करे तो शुभभाव होता है और उससे पुण्यबंध होता है, किन्तु आत्मप्रतीति के बिना भव-भ्रमण दूर नहीं होता।

जिनेन्द्रस्तवन में अनेक जगह यह कहा जाता है कि स्वर्णवर्ण वाले सोलहों जिनेन्द्रों की वंदना करता हूँ; किन्तु वह निमित्त से कथन है। क्या इसका अर्थ यह है कि भगवान वर्णवाले थे ? वास्तव में भगवान वैसे स्वर्णवर्ण के नहीं थे, किन्तु जिन्हें ऐसा भान नहीं है वे अज्ञानी जीव शरीर को ही भगवान मान लेते हैं। भगवान सुवर्ण-वर्ण हैं, चलते हैं, बोलते हैं, इसप्रकार जो एकान्तभाव से मानता है वह व्यवहार को ही परमार्थ मान लेता है; वह शरीर के गुण गाकर भगवान को ही वैसा मान लेता है। इसप्रकार माननेवाला भगवान की सच्ची स्तुति नहीं कर सकता और न वह वीतराग का भक्त ही है। जगत के अज्ञ जीव व्यवहार और निश्चय में गड़बड़ करके व्यवहार को ही निश्चय मान लेते हैं।

यदि अज्ञानी जीव ऐसी स्तुति करता हुआ राग को कम करे तो मात्र पुण्य का बन्ध करता है, किन्तु इससे आत्मा को कोई लाभ नहीं होता। अज्ञानी के स्तुति का व्यवहार अर्थात् भगवान के शरीर पर जो आरोप करना है वह भी यथार्थ नहीं है।

जिसे सोने के पीले गुण के स्वभाव की खबर है वह सोने पर सफेदी का आरोप कर सकता है, किन्तु जिसे यह खबर ही नहीं है कि सोना कैसा होता है उससे आरोप ही क्या होगा? अर्थात् उसका आरोप भी सच नहीं होसकता। इसीप्रकार जिसे ऐसी प्रतीति है कि मेरा आत्मा पर से भिन्न है, ज्ञायकस्वरूप है वह मुनि आदि ज्ञानीजन यह जानते हैं कि भगवान का आत्मा शरीर आदि से भिन्न है, इसीप्रकार मेरा आत्मा शरीर आदि से रहित है. इसप्रकार दोनों को अलग जानकर जो शरीरादि की स्तुति करता है वही भगवान की स्तुति कर सकता है, और उसके द्वारा भगवान के आत्मा पर शरीर एवं वाणी का किया गया आरोप भी सच है और वही वीतराग का सच्चा भक्त है। जिसे वस्तुस्वभाव की प्रतीति है, उसके द्वारा किया गया आरोप भी सच है। आरोप का अर्थ है एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ को घटित करके कहना, किन्तु जिसे वस्तु के पृथक् स्वभाव की प्रतीति नहीं है वह आरोप को ही वस्तु मान लेता है, इसलिये उसका आरोप ही कहाँ रहा?

भगवान अरूपी हैं और शरीरादिक रूपी हैं, अरूपी भगवान शरीरादि रहित हैं, और जो शरीरादि हैं वह भगवान नहीं हैं। ज्ञानी को यह प्रतीति होती है कि मैं जो शरीर के गुणों की स्तुति करता हूँ सो वे परमार्थ से भगवान के गुण नहीं हैं। जिनेन्द्र भगवान के जो वीतरागता सर्वज्ञता अनन्तचतुष्टय आदि अनन्तगुण हैं, वे जिनेन्द्रदेव के आत्मा में हैं और शरीरादि से भिन्न हैं। ऐसे लक्ष्यसहित जैसे जिनवर के गुण हैं वैसे ही गुण मेरे आत्मा में हैं, इसप्रकार जो जिनेन्द्रदेव के गुणों की स्थापना अपने आत्मा में करके स्तुति करता है सो वही सच्ची स्तुति है।

ज्ञानी समझता है कि मेरा आत्मा पूर्ण आनन्दसागर अरूपी है, इसलिये अरूपी की स्थिति ही अरूपी होती है। जिनेन्द्रदेव का आत्मा और मेरा आत्मा भिन्न हैं, इसलिये पर-दृष्टि छोड़कर अन्तरंग स्वभाव में स्थित होना ही सच्ची परमार्थ स्थिति है। अपने स्वरूप में पुण्यादि का विकल्प छोड़कर स्थिर हो तो भगवान को आरोपित करने की आवश्यकता न रहे, और यही निश्चय स्तुति है। किन्तु स्वयं स्थिर नहीं होसकता, इसलिये स्व-सन्मुख दृष्टि स्थापित करके, स्व-पर के भेदपूर्वक जिनेन्द्र-भगवान पर लक्ष्य रखकर स्तुति करने का जो शुभविकल्प उठता है सो वह व्यवहारस्तुति है। जितना स्वरूप में स्थिर होना है सो निश्चयस्तुति है और जितना शुभविकल्प में युक्त होना है सो व्यवहार-स्तुति है।

जैसे भगवान का आत्मा शरीरादिक और पुण्य-पाप के विकार से रहित है, उसीप्रकार शरीरादिक मेरे नहीं हैं, और पुण्य-पापरूप विकार-भाव मेरा स्वभाव नहीं है; ऊँचे से ऊँचा जो शुभविकल्प उठता है सो वह भी मेरा स्वभाव नहीं है, ऐसी प्रतीति ज्ञानी को निरंतर रहती है। ऐसे भिन्न आत्मा की प्रतीति पूर्वक स्वरूप में सर्वथा स्थिर नहीं होसकता, इसलिये अशुभ से बचने के लिये शुभविकल्प (भगवान की स्तुति का) आता है, सो व्यवहार है, और जितने अंश में प्रतीति ज्ञान और स्थिरता होती है उतनी निश्चयस्तुति है।

स्तुति का जो शुभविकल्प है सो असद्भूत व्यवहारनय है। क्योंकि वह अपना स्वभाव नहीं है इसलिये असद्भूत है; किन्तु अपनी अवस्था में विकार अवश्य होता है इसलिये वह व्यवहार है, और उसका ज्ञान करना सो नय है; और ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि का जो पुरुषार्थ है सो सद्भूत व्यवहारनय है। क्योंकि वह अपना स्वभाव है इसलिये सद्भूत है। साध्य-साधक का भेद होता है इसलिये व्यवहार है, अभेद में भेद पड़ता है इसलिये व्यवहार है; उसका ज्ञान करना सो नय है। अपूर्ण और विकारी पर्याय से रहित अखण्ड पूर्ण ज्ञायकस्वभाव

का जो ज्ञान है सो निश्चयनय है। इस नय के प्रकार आत्मा का परिचय होने के पश्चात् धर्मात्मा के ही होते हैं—दूसरे के नहीं।

प्रश्न:—व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है, और शरीर जड़ है, ऐसी स्थिति में व्यवहारनय के आश्रय से जड़ की स्तुति करने का क्या फल है?

उत्तर:—व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है। स्वभाव की यथार्थ-श्रद्धा हुई कि पूर्णस्वभाव की प्रतीति होजाती है; और प्रतीति के होते ही उसीसमय पूर्ण वीतरागता प्रगट होजाये ऐसा नहीं होता, इसलिये बीच में पुण्य-पाप के परिणाम आयें बिना नहीं रहते, अर्थात् अशुभ से बचने के लिये शुभभाव के अवलम्बन में भगवान की प्रतिमा इत्यादि का निमित्त आता है, सो व्यवहार है, जोकि कथंचित् सत्यार्थ है। व्यवहार व्यवहार से सच है, किन्तु परमार्थ से असत्यार्थ है। शुभभाव भगवान के निकट नहीं पहुँचाता किन्तु यदि शुभभाव का नाश करके शुद्धभाव प्रगट करे तो वह भाव भगवान (आत्मा) तक पहुँचा देता है; इसलिये वह व्यवहार असत्यार्थ है। किन्तु जबतक साधक है, अपूर्ण है तबतक शुभपरिणाम आये बिना नहीं रहते, इसलिये व्यवहार कथंचित् सत्य है। देव-गुरु शास्त्र की ओर उन्मुख करनेवाला शुभभाव होता है यह जानना सो व्यवहारनय है। जब स्वयं समझे तब शुभभाव और देव-गुरु-शास्त्र निमित्त कहलाते हैं निमित्त का निमित्त के रूप में ज्ञान में स्वीकार करना सो व्यवहारनय है। निमित्त के बिना नहीं होता, किन्तु निमित्त से भी नहीं होता; जो निमित्त को सहायक मानता है सो मिथ्या-दृष्टि है। निमित्त आये बिना नहीं रहता किन्तु निमित्त से कुछ होता नहीं है। जिसे निश्चय की प्रतीति है, उसका व्यवहार यथार्थ है, और वहां ही सच्चा निश्चय तथा व्यवहार है। किन्तु जिसे निश्चय की प्रतीति नहीं है, वह व्यवहार को ही निश्चयरूप मान बैठा है; उसके न निश्चयनय है और न व्यवहारनय ही। जो व्यवहार को आदरणीय मानता है सो मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो ज्ञानी के विवेक की बात है। प्रतीति-

रहित शरीर के लक्षणों से भगवान की स्तुति करे तो पुण्यबन्ध करता है, उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है।

संसार की प्रशंसा करने के और स्त्री-पुत्रादि की प्रशंसा करने के भाव निरे पापभाव हैं, मात्र अशुभभाव हैं। भगवान के गुणों की प्रशंसा और स्तुति करने के भाव शुभभाव हैं। अशुभभावों को दूर करके शुभभावों के करने का निषेध नहीं है, किन्तु यदि यह माने कि उससे धर्म होगा तो वह मिथ्यादृष्टि है। जितनी पुण्यभाव की वृत्ति उत्पन्न होती है वह मैं नहीं हूँ, वह मुझे किंचित्मात्र भी सहायक नहीं है। जिसे यह प्रतीति है कि—मेरा आत्मलाभ पुण्य-पाप के विकल्प से रहित है, उसे भगवान की ओर उन्मुख होने का शुभभाव होता है; इसे समझना सो सच्चा व्यवहारनय है।

शिष्य ने प्रश्न किया था कि जड़ की स्तुति करने का क्या फल है? उसका उत्तर यह है कि—साक्षात् जिनेन्द्रदेव या उनकी प्रतिमा शांत मुद्रा को देखकर अपने को भी शांतभाव होता है, ऐसा निमित्त जानकर शरीर का आश्रय लेकर भी स्तुति की जाती है। वीतराग की शांतमुद्रा को देखकर अन्तरंग में वीतरागभाव का निश्चय होता है; यह भी उपकार (निमित्त) है। छद्मस्थ को अरूपी आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, किन्तु उसकी प्रतीति होसकती है, इसलिये भगवान की प्रतिमा की अक्रिय मुद्रा को देखकर अपने आत्मा के अक्रिय स्वभाव का निश्चय होता है। अपने अक्रिय स्वभाव का तथा वीतराग स्वभाव का निश्चय हुआ और स्वमें स्थिर हुआ सो यह अपने ही वीर्य से होता है, उसमें निमित्त ने कुछ नहीं किया किन्तु उससमय भगवान की मुद्रा की निमित्तरूप उपस्थिति होने से भगवान सम्यक्दर्शन होने में कारण (निमित्त) कहे जाते हैं, यह भी एक उपकार (निमित्त) है।

ज्ञानी को स्वभाव की शांति प्रगट होती है, उसे भगवान की शांति, उनकी अक्रियता और वीतरागी मुद्रा देखकर अपने में शांत भाव होता है,

और ऐसी प्रतीति होती है कि मैं तो अक्रिय ज्ञानानन्द हूँ, मन-वाणी की क्रियारूप नहीं हूँ; तथा वहाँ भगवान की ओर सन्मुख होता हुआ शुभलक्ष्य है, किन्तु भगवान की निमित्तरूप उपस्थिति में उनकी वीतरागता को देखकर अपनी वीतरागता का स्मरण स्वतः होजाता है, और तब अपने द्वारा अपना लक्ष करके अन्तरंग वीतरागभाव में स्थिर होजाता है, अर्थात् शुभभाव छूट जाता है। इस अपेक्षा से भगवान को और उनकी प्रतिमा को शांतभाव प्रगट होने में निमित्त कहा जाता है। यदि इसमें कहीं कोई शब्द उल्टा-सुल्टा होजाये तो सारा न्याय ही बदल सकता है। तीनकाल और तीनलोक में यह सत्य नहीं बदल सकता।

धर्मात्मा जब परलक्ष को छोड़कर और विकल्प को तोड़कर अन्तरंग में स्थिर होते हैं तब भगवान की ओर का विकल्प नहीं रहता। स्वोन्मुखता से परोन्मुखता को छोड़कर अपने पुरुषार्थ से शांति प्रगट हो तो जो भगवान की ओर का बाह्यलक्ष किया था उस बाह्यलक्ष को और भगवान को उपचार से निमित्त कहा जाता है, किन्तु जिसे भगवान की मुद्रा देखकर अक्रिय स्वभाव का निश्चय नहीं हुआ और शांतभाव प्रगट नहीं हुआ उसे भगवान का निमित्त कैसा? यदि स्वयं समझे तो भगवान निमित्त कहलाते हैं। २८।

अब इस गाथा में कहते हैं कि शारीरिक गुणों का स्तवन करने से परमार्थतः केवली भगवान के गुणों का स्तवन नहीं होता:—

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२६॥

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवंति केवलिनः।
केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्वं केवलिनं स्तौति ॥ २६ ॥

अर्थः—वह स्तवन निश्चय से योग्य नहीं है क्योंकि शरीर के जो गुण हैं वे केवली के नहीं हैं; जो केवली के गुणों की स्तुति करता है वह परमार्थ से केवली की स्तुति करता है।

जैसे चाँदी के सफेद गुण का सोने में अभाव है, इसलिये निश्चय से सफेदी के नाम से सोने का नाम नहीं बनता, किन्तु सोने के पीत आदिक जो गुण हैं उन्हीं के नाम से सोने का नाम होता है; इसीप्रकार शरीर के गुण जो शुक्लता-रक्तता इत्यादि हैं उनका तीर्थंकर-केवली पुरुष में अभाव है, इसलिये निश्चय से शरीर के शुक्लता-रक्ततादि गुणों का स्तवन करने से तीर्थंकर-केवली पुरुष का स्तवन नहीं होता; किन्तु तीर्थंकर-केवली पुरुष के स्तवन करने से ही तीर्थंकर-केवली पुरुष का स्तवन होता है।

जैसे चाँदी का गुण सफेद है, इसलिये सोने में चाँदीपन के गुण का अभाव है, इसीप्रकार भगवान के शरीर में जो एकहजार आठ लक्षण हैं वे भगवान के आत्मा में नहीं होसकते। वाणी वाणी में है, और शरीर के गुण शरीर में हैं। वह जड़ है इसलिये शरीर का और वाणी का कोई कर्तव्य भगवान के आत्मा में नहीं होसकता, इसलिये परमार्थ से उस शरीरादि की स्तुति या भक्ति भगवान की नहीं है, किन्तु भगवान के गुणों की स्तुति भगवान की स्तुति है। देव-गुरु-शास्त्र की ओर होनेवाले जो भाव हैं उन्हें छोड़कर स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा के साथ स्वरूप में स्थिर होना सो यही सच्ची परमार्थस्तुति और भक्ति है; यही सच्चे व्रत हैं। वास्तव में तो स्वयं ही चिदानन्द है और पर से अलग है, जब ऐसी श्रद्धा करे तब उसके बाद स्तुति का जो शुभभाव आता है उसके व्यवहार से बाह्य में केवली के गुण गाता है,—ऐसा कहा जाता है, किन्तु निश्चय से तो अपने गुणों की ही स्तुति करता है।

शरीर का स्तवन करने से भगवान का स्तवन नहीं होता, परन्तु भगवान के आत्मा के गुणों का स्तवन करने पर भगवान का स्तवन होता है। यदि वास्तव में देखा जाये तो भगवान के गुणों का स्तवन करने पर निश्चय से अपने आत्मा का ही स्तवन होता है और यही सच्ची परमार्थस्तुति है। इसप्रकार शरीर के स्तवन से भगवान का स्तवन नहीं होता किन्तु भगवानआत्मा के गुणों का जो स्तवन

है सो यही परमार्थ से भगवान का स्तवन है और जो भगवान के गुणों का स्तवन है सो अपने आत्मा का स्तवन है, और यही सच्ची स्तुति है। अखण्डस्वभाव की जो स्तुति है सो केवली भगवान की स्तुति है। जो स्वरूप में स्थिर होता है वह केवली के गुण गाता है, अर्थात् वह स्वयं ही अंशतः केवली होता है, यही वास्तव में परमार्थ-स्तुति है। भगवान की ओर का जो भाव है सो परोन्मुखता का राग भाव है, उसे छोड़कर स्वयं ही अंशतः वीतराग होना सो यही निश्चय-स्तुति है। स्वयं अपने में स्थिर हुआ सो स्वयं ही परमार्थ से अंशतः भगवान होना है, यही परमार्थभक्ति है। जब भगवान के गुणगान करता है तब जो स्वभाव की दृष्टि उपस्थित होती है सो वह धर्म है और जो शुभभाव होता है सो उतना पुण्य है।

भक्ति कहो या स्तुति कहो, बाह्य दया कहो या व्रत के परिणाम कहो, यह सब शुभभाव हैं, विकार हैं। जो विकार हैं सो निर्मल निर्विकारी स्वभाव की हत्या करनेवाले हैं। जैसे अच्छा रक्त निरोगता का चिन्ह है, और उसमें जो मवाद पड़जाता है सो रोग है, इसलिये जितना मवाद होता है वह निकाल देना पड़ता है; इसीप्रकार आत्मा वीतराग स्वभाव है, उसमें जितना राग होता है उतना मवाद है-विकार है, उसे दूर कर देने पर ही आत्मा की पूर्ण निर्मलता और निरोगता होती है, किन्तु स्वभाव में स्थिर नहीं होपाता इसलिये शुभ का अवलम्बन लेना पड़ता है, वह आत्मा के स्वभाव की हत्या करनेवाला है।

धर्म क्या है? वह कहाँ है? यह बात लोगों ने अनादिकाल से कभी नहीं सुनी, इसलिये उन्हें यह कहाँ से मालूम होसकता है कि धर्म कैसा होता है? धर्म के नामपर जगत में अनेक प्रकार की गड़बड़ चल रही है। प्रायः लोग बाह्यक्रिया में धर्म मान रहे हैं, किन्तु बाह्य-क्रिया से आत्मा को तीनकाल और तीनलोक में धर्म का अंश भी प्राप्त नहीं होता। पुण्यभाव तो मवाद है-विकार है, उससे संसार ही फलित होता है। धर्म तो तभी होता है जब पर से रहित अपने स्वभाव को पहिचाने।

जिसे अब संसार नहीं चाहिये है उसे यह बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिये ! जिसे परिभ्रमण अच्छा लगता है उसे आत्मा नहीं रुचता, और जिसे आत्मा रुचता है उसे कदापि परिभ्रमण नहीं रुचता। यदि संसार का नाश करना हो तो पहले यह जानना होगा कि अविनाशी-स्वभाव क्या है।

जहाँ आत्मप्रतीति होती है वहाँ शुभभाव भी अलौकिक होता है। जैसे–महाराजा श्रेणिक को आत्मप्रतीति थी, और उन्होंने उस आत्मप्रतीति की भूमिका में उच्च शुभभाव होने से तीर्थंकर गोत्र का बन्ध किया था। आत्मप्रतीति के बिना ऐसे अलौकिक शुभभाव भी नहीं होते।

लोग कहते हैं कि ऐसी बारीक बातें समझना तो कठिन मालूम होता है, यदि हम पाँच–दस उपवास कर डालें तो क्या हमारी तमाम झंझटें नहीं मिट सकतीं ? इसप्रकार लोगों ने शुभ परिणामरूप उपवास को ही धर्म मान लिया है, और वे स्वयं कोरे उपवास में धर्म मानते हैं तथा दूसरों से मनवाते हैं। किन्तु ऐसे निर्जल उपवास तो सतत छह-छह महीने तक अनन्तबार किये हैं, किन्तु आत्मस्वभाव की प्रतीति न होने से अंशमात्र भी धर्म नहीं हुआ। धर्म तो आत्मा को पहिचानने से ही होता है।२६।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभो ! आत्मा तो शरीर का अधिष्ठाता है–स्वामी है, इसलिये शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन निश्चयतः क्यों युक्त नहीं है ? शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन होजाता है, इसका आप विरोध क्यों करते हैं ? आप यह कैसे कहते हैं कि शरीर के गुणों को भगवान के आत्मा के गुणों पर आरोपित करना उचित नहीं है ? शरीर का कर्ता आत्मा है, आत्मा शरीर का हलन-चलन कर सकता है, इसलिये शरीर का अधिष्ठाता आत्मा है–यह बात मैं ही नहीं किन्तु सब लोग मानते हैं, परन्तु आप शरीर और आत्मा को पृथक् कैसे मानते हैं, आपने ऐसी नई बात कहाँ से ढूँढ़ निकाली ?

इन प्रश्नों के उत्तरस्वरूप दृष्टांतसहित गाथा कहते हैं:—

णयरम्मि वरिणदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥ ३० ॥

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवंति ॥ ३० ॥

अर्थः—जैसे नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं होता, उसीप्रकार देह के गुणों का स्तवन करने से केवली के गुणों का स्तवन नहीं होता।

जैसे कोई नगर का वर्णन करे कि नगर ऐसा सुन्दर है, नगर में ऐसे बाग-बगीचे हैं और नगर के ऐसे सुन्दर बाजार हैं, किन्तु इसप्रकार नगर के गुण गाने से राजा का गुण गान नहीं होता। ऐसे सुन्दर नगर का जो राजा राज्य करता हो वह यदि अधर्मी हो, लंपटी हो, प्रजा पर अनुचित कर डालकर अपना बड़प्पन बढ़ाता हो, तो उसकी नगरी की प्रशंसा करने से राजा की प्रशंसा नहीं होती, और यदि राजा अच्छा हो तो भी नगरी की प्रशंसा से राजा की प्रशंसा नहीं होती; क्योंकि नगर और राजा दोनों भिन्न हैं।

राजा में अनेकप्रकार के अवगुण हों या अनेकप्रकार के गुण हों, किन्तु नगरी की प्रशंसा में राजा के गुण-दोष नहीं आते। कोई कहता है कि ऐसा अधर्मी राजा हमें नहीं चाहिये, और कोई कुछ कहता है। इसप्रकार लोग दूसरे का दोष निकालते हैं किन्तु अपना दोष नहीं ढूँढ़ते। अपने पुण्य की कमी के कारण ऐसे निमित्त मिलते हैं, इसलिये अपना ही दोष समझना चाहिये।

राजा के अधर्मी होनेपर भी वन्दीजन विरदावली बखानते हैं कि महाराजाधिराज, अन्नदाता आप ईश्वर के अवतार हैं इत्यादि, किन्तु ऐसे लम्बे-लम्बे विशेषणों से राजा गुणवान नहीं कहलाता। राजा

नीतिवान हो, उदार हो, शीलवान हो, परस्त्री का त्यागी हो, उसे परस्त्री माता बहिन के समान हो, प्रजा का प्रतिपालक हो, प्रजा के प्रति पिता की की भाँति स्नेह रखनेवाला हो, इत्यादि लौकिक गुण राजा में हों तो कहा जाता है कि यह रामराज्य है। इसप्रकार राजा ऐसा गुणवान हो तो उसके ऐसे गुणगान करने पर राजा के गुण गाये जाते हैं, किन्तु नगरी की प्रशंसा से राजा की प्रशंसा नहीं होती।

इसीप्रकार शरीर के स्तवन से केवलीभगवान का स्तवन नहीं होता, क्योंकि शरीर और आत्मा भिन्न हैं। वस्तु, गुण और पर्यायभेद—तीनोंप्रकार से शरीर और आत्मा भिन्न हैं, इसलिये शरीर का अधिष्ठाता आत्मा नहीं है, शरीर तो परमाणुओं की एक पर्याय है, परमाणु वस्तु है और रंग गंध आदि उसके अनन्तगुण हैं और लाल, पीला, सुगन्ध, दुर्गन्ध, उस रंग और गन्ध गुण की पर्यायें हैं। वस्तु और गुण स्थायी हैं और पर्याय क्षण-क्षण में बदलती रहती है। जैसे—रोटियाँ जब डिब्बे में रखी थीं तब परमाणु की अवस्था से वे रोटीरूप थीं और जब वे रोटियाँ पेट में चली गईं सो उनकी पर्याय बदलकर इस शरीररूप होगई। शरीर उन परमाणुओं की अवस्था है, इसलिये उनका कार्य स्वतंत्रतया अपने कारण से होता है, आत्मा के कारण से नहीं होता। इसलिये आत्मा उस शरीर की अवस्था का कर्ता नहीं है।

आत्मा भी वस्तु है, उसके ज्ञान-दर्शन आदि अनन्तगुण हैं, और जो क्षणक्षण में बदलती रहती हैं सो उसकी पर्यायें हैं। आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र, सहज आह्लादरूप आनंद की शक्ति का पिंड है। स्वयं पवित्र अंतरंग में शुद्ध ज्ञानस्वभाव है, यदि उसकी रुचि करे तो वैसी पवित्र अवस्था हो, और यदि ऐसी रुचि करे कि मैं शरीरवाला हूँ, मैं इन्द्रियवाला हूँ, तो ऐसी भ्रान्तिरूप मलिन अवस्था होती है। जिसकी जैसी रुचि होती है उसकी वैसी अवस्था होती है। आत्मा या तो भ्रान्ति से मलिन अवस्था को अथवा अपने स्वभाव की रुचि करे तो निर्मल अवस्था को प्राप्त हो, किन्तु आत्मा त्रिकाल में भी जड़ की

अवस्था का कर्ता नहीं होता। लोगों ने भ्रान्तिवश आत्मा को पर का कर्ता मान रखा है, किन्तु जड़ शरीरादि का कर्ता आत्मा त्रिकाल में भी नहीं है। शरीर और आत्मा वस्तुदृष्टि से, गुणदृष्टि से और पर्याय-दृष्टि से-सभी प्रकार भिन्न हैं, इसलिये शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता।

जात-पाँत ब्राह्मण वैश्य इत्यादि सब शरीर की अवस्थाएँ हैं। मैं वणिक हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं अग्रवाल हूँ, मैं खंडेलवाल हूँ, इत्यादि शरीर की अवस्थाओं को आत्मरूप मानना सो अज्ञान है-मिथ्यात्व है, क्योंकि आत्मा न तो वणिक है, न ब्राह्मण है और न किसी जात-पाँत वाला है, आत्मा तो इन समस्त जातियों से रहित, स्वाभाविक ज्ञान स्वाभाविक आनन्द और स्वाभाविक वीर्य की मूर्ति है। यदि उसे उस स्वभाव से देखे तो वहीं उसकी निर्मलता प्रगट हो।

समस्त आत्मा द्रव्य और गुणों में समान हैं, किन्तु आत्मप्रतीति करे तो मुक्ति और उसे भूले तो संसार है। यदि विकार की दृष्टि को छोड़ दे तो आत्मा निर्मल ही है, किन्तु परपदार्थ पर दृष्टि रखने से विकार होता है। दृष्टि के बदलने से ही संसार होता है और दृष्टि के बदलने से ही मोक्ष मिलता है।

जगत को ऐसा मिथ्याविश्वास जम गया है कि-आत्मा की जैसी आज्ञा या जैसी इच्छा होती है तदनुसार आत्मा में क्रिया होती है। लोग यह मानते हैं कि हाथ पैरों का हिलना, आँखों का फिरना और बोलचाल इत्यादि सब हम ही कर सकते हैं; किन्तु हे भाई! मात्र शरीर के रजकणों की अवस्था तो शरीर के कारण से होती है। स्वांस का चढ़ना, कफ निकलना, पसीना निकलना इत्यादि शरीर के ही परिवर्तन से होता है। बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था भी शरीर के अपने कारण से होती है। बाल्यावस्था अर्थात् शरीर की कोमल अवस्था, युवा-वस्था अर्थात् रक्त माँसादि की सुदृढ़ अवस्था, वृद्धावस्था अर्थात् रक्त-माँस की शिथिल अवस्था। यहाँ विचार यह करना है कि युवावस्था को छोड़-

कर वृद्धावस्था को कौन चाहता है? फिर भी इच्छा के बिना वृद्धावस्था तो आती ही है। दाँतों का गिरना, आँखों से दिखाई न देना, कानों से सुनाई न देना इत्यादि शारीरिक परिवर्तन शरीर के कारण होते ही रहते हैं। इसमें आत्मा की इच्छानुसार कुछ भी नहीं होता। युवावस्था हो, अच्छा शारीरिक वैभव हो और सर्वप्रकार से सांसारिक सुखों से सम्पन्न हो, ऐसी स्थिति में मरने के किंचित्मात्र भी भाव न हों, तथापि आयु के पूर्ण होने पर मरता तो है ही! कुछ इच्छित हो ही नहीं सकता। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि–आत्मा शारीरिक अवस्थाओं का किंचित्मात्र भी अधिष्ठाता नहीं है।

तात्पर्य यह है कि शरीर के स्तवन से भगवान के आत्मा का स्तवन परमार्थतः नहीं होसकता। भगवान के शरीर का स्तवन करने से निर्विकल्प आत्मा की स्तुति नहीं होती, तथा भगवान के आत्मा की स्तुति नहीं होती।

यहाँ शिष्य पूछता है कि भगवान का शरीर ऐसा है, भगवान का रंग ऐसा है, इत्यादि प्रकार से स्तुति तो होती है, किन्तु आप कहते हैं कि आत्मा ऐसा है और आत्मा वैसा है, तब फिर दोनों का मेल क्या है? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो भगवान के आत्मा को जानता है वह अपने आत्मा को जानता है। भगवान जैसे निर्विकारी शांत और वीतरागी हैं वैसा ही मैं हूँ, ऐसा निर्णय करे तो फिर भगवान की प्रतिमा को देखकर जो शुभभाव होते हैं उसे व्यवहार से स्तुति कहते हैं।

भगवान का आत्मा शुभाशुभभाव से रहित है, उसीप्रकार मेरा आत्मा भी शुभाशुभभाव से रहित है, ऐसा निश्चय न करे और मात्र भगवान के शरीर पर ही लक्ष करके स्तुति करे तो वह व्यवहार से भी स्तुति नहीं है, मात्र शुभभाव है। जहाँ निश्चय होता है वहां व्यवहार होता है और जहाँ निश्चय नहीं है वहाँ व्यवहार भी नहीं है।

कई लोग यह मानते हैं कि भगवान हमें मुक्ति दे देंगे, किन्तु वीतरागभगवान का तत्व अलग है और प्रत्येक आत्मा का तत्व भी अलग है। एक तत्व दूसरे तत्व को कुछ नहीं देसकता, एक तत्व से दूसरे तत्व को कोई लाभ नहीं होता। यदि कोई एक आत्मा किसी दूसरे का कुछ करसकता हो तो एक आत्मा आकर मुक्ति देगा और दूसरा आत्मा आकर उसे नरक में ढकेल देगा; तब फिर इसमें स्वतंत्रता कहाँ रही ? स्वयं अपने द्वारा देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप और अपने आत्मा का स्वरूप अपने ज्ञान के द्वारा निश्चित् करता है तब देव-गुरु-शास्त्र के द्वारा उपकार हुआ कहलाता है। कोई वस्तु किसी के वश में नहीं है, कोई किसी का उपकार नहीं करता, जब स्वयं तैयार होता है तब देव-गुरु-शास्त्र में निमित्त का आरोप कहलाता है। व्यवहार से कहाजाता है कि भगवान की प्रतिमा देखकर शांतभाव होगया है, किन्तु जब यह प्रतीति होती है कि न तो मैं पुण्य हूँ न पाप, तब व्यवहार से कहा जाता है कि यह प्रतिमा मेरे लिये उपकाररूप है, यह गुरु मुझे उपकाररूप हैं और यह शास्त्र मुझे उपकाररूप है। देव-गुरु-शास्त्र के निमित्त के बिना यह नहीं होता किन्तु निमित्त से भी नहीं होता। कोई द्रव्य किसी द्रव्य के आधीन नहीं है। अपने गुण की पर्याय अपने ही द्वारा होती है, किन्तु मुझे निमित्त से ज्ञान हुआ है इसप्रकार देव-गुरु पर आरोप करके विनय से नम्रतापूर्वक कहता है कि प्रभो ! आपने मुझपर उपकार किया है। जब स्वयं सच्ची समझ करता है तब सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को निमित्त के रूप में स्थापित करके कहता है कि हे प्रभु ! आपने मुझे तार दिया; आपने मुझे निहाल कर दिया।

मैं शांत हूँ, निर्मल हूँ, ऐसी प्रतीति आत्मा में रहे और भगवान के गुणों के लक्ष्यपूर्वक भगवान के शरीर की स्तुति का शुभभाव हो तो उसे व्यवहार से स्तुति कहते हैं।

विकारी शुभभावों से आत्मा के अविकारी गुणों का निश्चय और लाभ हो ऐसा किसी भी क्षेत्र, काल या भाव में नहीं होसकता।

सांसारिक व्यवहार में भी, पर का कुछ भी नहीं किया जासकता, मात्र शुभाशुभभाव कर सकता है; फिर भी जगत का बहुभाग असत्य को स्वीकार कर रहा है। किन्तु ज्ञान में सत्य का स्वीकार होना चाहिये अर्थात् वस्तु का स्वभाव जैसा है उसका वैसा ही स्वीकार होना चाहिये; तभी मुक्ति होती है।

जीवों ने अनादिकाल से यह नहीं जानपाया कि तत्व क्या है, पुण्य-पाप क्या है, धर्म क्या है वस्तुस्वभाव क्या है। और न इसकी कभी जिज्ञासा ही की है; किन्तु दूसरे का ऐसा करदूँ, वैसा करदूँ, इसप्रकार पर में विपरीतश्रद्धा जमी हुई है, ज्ञान में विपरीतता को पकड़ रखा है-और उल्टा सीधा समझ रखा है। किन्तु यदि स्वभाव में कुलाँट मारे तो विपरीतश्रद्धा नाश होकर सच्चीश्रद्धा प्रगट होजाये।

आचार्यदेव ने शिष्य को दृष्टांत देकर समझाया है कि—नगरी का वर्णन करने से उस नगरी के राजा का वर्णन नहीं होता इसीप्रकार शरीर की स्तुति से आत्मा की यथार्थ स्तुति या वर्णन नहीं होता, किन्तु यदि शरीर की स्तुति के पीछे अंतरंग में आत्मा के गुणों की शुद्ध प्रतीति हो, और भगवान के गुणों का भान हो तो वह व्यवहार से भगवान की स्तुति है। किन्तु जबतक शरीर पर दृष्टि है तबतक आत्मा की स्तुतिपरमार्थ से नहीं होती, और भगवान के आत्मा की स्तुति भी परमार्थ से नहीं होती, तथा शरीर के वर्णन से भगवान के गुणों का वर्णन नहीं होता।

नगरी के वर्णन से राजा का वर्णन नहीं होता, सो नगर का वर्णन करते हुये कलश में समझाते हैं कि:—

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम्।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥ २५ ॥

अर्थः—यह नगर ऐसा है कि जिसने अपने कोट के द्वारा आकाश को ग्रसित कर रखा है, और बगीचों की पंक्तियों से भूमितल को निगल

गया है, तथा कोट के चारों ओर जो खाइयाँ हैं उनके घेरे से मानों पाताल को ही पी रहा है। अर्थात् नगर का गढ़ बहुत ऊँचा है, चारों ओर बगीचों से पृथ्वी ढँकी हुई है, और उसकी खाई बहुत गहरी है।

यह नगर ऐसा है कि जिसका कोट मानों आकाशतक पहुँच गया है, और यह नगर बाग-बगीचों की पंक्तियों से भूमितल को निगल गया है, अर्थात् बगीचों के कारण भूमितल दिखाई नहीं देता, और चारों ओर खाई इतनी गहरी है कि मानों वह पाताल तक पहुँच गई हो। यहाँ आचार्यदेव ने ऊर्ध्व, मध्य और अधः इसप्रकार तीनों ओर से नगरी को उपमा दी है।

ऊर्ध्व-चारों ओर से गढ़ मानों आकाशतक पहुँच गया हो।

मध्य-सम्पूर्ण भूमि मानों बगीचों से ढँक गई हो।

अधः- चारों ओर की खाई इतनी गहरी है कि मानों वह पाताल तक चली गई हो।

इसप्रकार नगरी का भलीभाँति वर्णन किया, किन्तु इससे कहीं राजा का वर्णन नहीं होसकता, नगर के निमित्त संयोग के कारण से राजा उसका अधिष्ठाता व्यवहार से कहलाता है; तथापि राजा को ऐसा अभिमान होता है कि मैं इस नगरी का मालिक हूँ इसलिये यह कहा जाता है कि राजा उसका अधिष्ठाता है; किन्तु राजा के शरीर में या उसके आत्मा में, नगर का कोट बाग या खाई आदि कुछ भी नहीं पाया जाता। नगर और राजा दोनों भिन्न-भिन्न ही हैं।

शरीररूपी नगरी के स्तवन से भी आत्मा का स्तवन नहीं होता। यह, भगवान के शरीर का वर्णन करके इस कलश द्वारा समझाते हैं:-

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेंद्ररूपं परं जयति ॥२६॥

अर्थः—जिसके सर्व अंग सदा अविकार और सुस्थित हैं, जिसमें अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है, और जो समुद्र की भाँति क्षोभरहित है; ऐसा जिनेन्द्र का परमरूप जयवंत हो!

जिनेन्द्र भगवान का उत्कृष्ट रूप सदा जयवंत हो! देवों और इन्द्रों के शरीर से भी तीर्थंकरदेव के शरीर में रूप और उत्कृष्ट सुन्दर कांति सदा बनी रहती है। सामान्यजनों का युवावस्था में जो रूप होता है वह वृद्धावस्था में बदल जाता है, किन्तु जिनेन्द्रदेव के शरीर की सुन्दरता अन्ततक ज्यों की त्यों जयवंत रहती है। जिनेन्द्रदेव के सर्व अवयव सदा अविकार रहते हैं; भगवान के समस्त अंग सुस्थित होते हैं; उनके अंगों में कहीं भी कोई दूषण नहीं होता, और जिस स्थानपर जैसा जो सुन्दर अवयव चाहिये सो वैसा ही होता है; भगवान के जन्म से ही अपूर्व लावण्य होता है, जिसे देखकर इन्द्र भी विस्मित होजाते हैं, उनका वह अपूर्व लावण्य स्वाभाविक होता है, भगवान का लावण्य ऐसा अपूर्व होता है जिसे देखकर इन्द्र भी स्तम्भित रह जाता है। जिनेन्द्रदेव बाल्यावस्था से ही ऐसी मधुरवाणी बोलते हैं कि वह सबको अत्यंत प्रिय मालूम होती है, भगवान का शरीर बिना आभूषणों के ही सुशोभित रहता है, शरीर को सुन्दर दिखने के लिये कोई कृत्रिम शृंगार-बनाव नहीं करना पड़ता। उनका शरीर बाल्यावस्था से ही समुद्र की भाँति सहज गम्भीर होता है—अक्षोभ होता है। यदि कोई नई बात दिखाई दे तो उनके शरीर में कौतूहल—विस्मय और आश्चर्य के चिन्ह नहीं दिखाई देते; उनका शरीर छोटा होनेपर भी गम्भीर होता है, मानों कि वे सम्पूर्ण अनुभव प्राप्त करके कृतकृत्य ही होगये हों।

इसप्रकार शरीर के पुण्य के वर्णन का अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिये कि पुण्य आदरणीय है, किन्तु यहाँ तो मात्र यही कहा जारहा है कि, उत्कृष्ट शुभभावों से ऐसा पुण्यबन्ध होता है। इस शरीर का रूप आत्मा का रूप नहीं किन्तु पुद्गल की पर्याय है।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव पूर्वभव में जब पवित्रदशा में आगे बढ़ रहे हों तब अलौकिक शुभभाव होनेपर ऐसे अलौकिक पुण्य का बंध होता है ।

यह तो शरीर की प्रशंसा हुई, किन्तु इसमें भगवान के आत्मा की कोई प्रशंसा नहीं आई । शरीर और आत्मा बिल्कुल भिन्न हैं इसलिये शरीर के गुणों का आत्मा के गुणों में अभाव है, किन्तु यदि कोई शरीर के गुणों के स्तवन में ही लगजाये और यह माने कि भगवान का आत्मा ही ऐसा है, तो वह ठीक नहीं है । वे भगवान के आत्मा के गुण नहीं हैं, इसलिये शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता । तीर्थंकर भगवान को शरीर का अधिष्ठता कहाजाता है, किन्तु शरीर के गुण आत्मा के गुण नहीं हैं, इसलिये शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता ।

अज्ञानी मानता है कि भगवान मुझे संसार से पार उतार देंगे, इसका अर्थ यह हुआ कि वह अपने को बिल्कुल निर्माल्य मानता है, दीन-हीन मानता है । और इसप्रकार पराधीन होकर भगवान की प्रतिमा अथवा साक्षात् भगवान के समक्ष खड़ा होकर दीनतापूर्वक भगवान से कहता है कि मुझे मुक्त करदो !

"दीन भयो प्रभुपद जपे मुक्ति कहाँ से होय ?" फिर भी दीन-हीन और निर्माल्य होकर कहता है कि हे प्रभु ! मुझे मुक्ति दीजिये; किन्तु भगवान के पास तेरी मुक्ति कहाँ है ? तेरी मुक्ति तो तुझमें ही है । भगवान तुझसे कहते हैं कि-प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, मैं भी स्वतंत्र हूँ और तू भी स्वतंत्र है, तेरी मुक्ति तुझ ही में है ।

आत्मा अपने पद की ओर उन्मुख न हो और मात्र पर-प्रभुपद को भजता रहे तो कौन मुक्ति दे देगा ? राग-द्वेष से मुक्त तेरा जो निर्मल स्वभाव है उसकी पहिचान किये बिना भगवान वह नहीं दे देंगे, इसलिये यह निश्चय जान कि तेरी मुक्ति तुझ ही में है । जब परिचय

पूर्वक तैरने का उपाय अपने में ज्ञात कर लिया तब भगवान पर आरोपित करके विनयपूर्वक यह कहा जाता है कि भगवान ने मुझे तारा है; यह शुभभाव व्यवहार-स्तुति है।

जो शरीरादि है सो मैं हूँ, पुण्य-पापभाव भी मैं हूँ-ऐसे मिथ्याभाव छोड़कर, मैं एक चैतन्यस्वभाव अनन्तगुण की मूर्ति हूँ-ऐसी प्रतीतिपूर्वक जो भगवान की ओर का शुभभाव होता है सो व्यवहार-स्तुति है, और ऐसी प्रतीतिपूर्वक शुभभावों का भी परित्याग करके स्वरूप में स्थिर हो सो परमार्थस्तुति है ।३०।

अब आगामी गाथा में परमार्थ-स्तुति की स्पष्टता करते हुए तीर्थंकर-केवली की निश्चय-स्तुति बतलाते हैं। इसमें पहले ज्ञेय-ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करके कहते हैं कि:—

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥३१॥

य इंद्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावधिकं जानात्यात्मानम्।
तं खलु जितेंद्रियं ते भणंति ये निश्चिताः साधवः ॥३१॥

अर्थः—जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा को जानता है उसे, जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं वे यथार्थ जितेन्द्रिय कहते हैं।

यहाँ विधि निषेध द्वारा धर्म का स्वरूप बताया है। अपना आत्मा ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक है—पृथक् है। अन्य द्रव्यों से पृथक् कहने पर स्वद्रव्य से परिपूर्ण होजाता है। अन्य द्रव्य से आत्मा भिन्न है, इसमें यह भी आगया कि अन्य द्रव्य के निमित्त से होनेवाले रागभाव से भी आत्मा भिन्न ही है। अन्य द्रव्य से पृथक् मात्र स्वद्रव्य में विकार नहीं होसकता; यदि एक द्रव्य में अन्य द्रव्य का सम्बन्ध लक्ष में लिया जाये तो उस द्रव्य में विकार कहा जासकता है, किन्तु

अन्य द्रव्यों का सम्बन्ध तोड़कर (सम्बन्ध का लक्ष छोड़कर) मात्र द्रव्य को अलग लक्ष में ले तो द्रव्यदृष्टि हुई, और द्रव्यदृष्टि में विकार नहीं होता। यही सच्ची स्तुति है।

टीकाः—'णाणसहावाधिअं' अर्थात् ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अलग-ऐसा कहकर द्रव्यदृष्टि कराई है। द्रव्यदृष्टि का करना ही जितेन्द्रियता है। जब द्रव्यदृष्टि करके अपने ज्ञानस्वभाव को लक्ष में लिया तब इन्द्रियों का अवलम्बन छूट गया, मन सम्बन्धी बुद्धिपूर्वक विकल्प छूट गये और परद्रव्यों का लक्ष भी छूट गया; इसप्रकार द्रव्य-दृष्टि होनेपर द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयभूत परद्रव्यों से-सबसे अधिक हुआ-अलग हुआ सो यही जितेन्द्रियता है। द्रव्यदृष्टि के द्वारा ज्ञानस्वभाव का अनुभव करनेपर विकार से किंचित्मात्र (दृष्टि की अपेक्षा से) अलग हुआ सो वही वीतराग की स्तुति है। वीतराग-केवलज्ञानी विकाररहित हैं और उनकी निश्चय-स्तुति भी विकार-रहितता का ही अंश है।

प्रश्नः—यदि कोई जीव ज्ञानस्वरूप आत्मा को न पहिचाने और शुभभाव से भगवान की स्तुति किया करे, तो वह व्यवहार-स्तुति कह-लायेगी या नहीं?

उत्तरः—भगवान कौन हैं और स्वयं कौन है, यह जाने बिना निश्चय और व्यवहार में से कोई भी स्तुति नहीं होसकती। शुभभाव करके कषायों को मन्द करे तो उससे पुण्यबन्ध होगा किन्तु आत्मा की पहि-चान के बिना, मात्र शुभराग को व्यवहारस्तुति नहीं कहा जासकता। जगत के पापभावों को छोड़कर भगवान की स्तुति, वंदना, पूजा इत्यादि शुभभाव करने का निषेध नहीं है किन्तु मात्र शुभ में धर्म मानकर उसीमें संतुष्ट न होकर आत्मा का परिचय करने को कहा जारहा है, क्योंकि आत्मा को पहिचाने बिना अनन्तबार शुभभाव किये तथापि भव का अन्त नहीं आया। जो पहले अनन्तबार कर चुका है उस शुभ

की धर्म में मुख्यता नहीं है, किन्तु जिसे अनन्तकाल में कभी नहीं किया ऐसा अपूर्व आत्मज्ञान करके भव का अन्त करने की मुख्यता है।

यहाँ निश्चयस्तुति और व्यवहारस्तुति की चर्चा होरही है। जीव राग से अलग होकर अपने ज्ञानस्वभाव के लक्ष में स्थिर हुआ सो निश्चयस्तुति है, और ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होने पर भी अस्थिरता के कारण स्तुति के राग की वृत्ति उत्पन्न होती है; किन्तु ज्ञानी के उस वृत्ति का निषेध होता है, इसलिये वह व्यवहारस्तुति कहलाती है। परन्तु अज्ञानी उस वृत्ति को ही अपना स्वरूप मान बैठा है और वृत्ति से पृथक् स्वरूप को नहीं मानता इसलिये उसकी शुभवृत्ति व्यवहारस्तुति भी नहीं कही जासकती। विकल्प को तोड़कर ज्ञानस्वभाव को राग से अलग अनुभव करता है सो वह निश्चयस्तुति है, क्योंकि इसमें राग नहीं है। और जीव को आत्मा के ज्ञानस्वभाव का परिचय होने के बाद राग की शुभवृत्ति उद्भूत होती है, उसे ज्ञानस्वभाव में स्वीकार नहीं करता, किन्तु वहाँ राग का निषेध करता है, इसलिये उसकी व्यवहारस्तुति कही जाती है। यहाँपर यह ध्यान रखना चाहिये कि मात्र राग को व्यवहार नहीं कहा है किन्तु रागरहित स्वभाव की श्रद्धा के बल से राग का निषेध पाया जाता है तब राग को व्यवहार कहते हैं। अज्ञानी को रागरहित स्वरूप की खबर नहीं है इसलिये वास्तव में उसके व्यवहार भी नहीं होता। निश्चय की प्रतीति के बिना, पर की भक्ति, राग की और मिथ्यात्वरूप अज्ञान की ही भक्ति है, अर्थात् संसार की ही भक्ति है, उसमें भगवान की भक्ति नहीं है।

स्तुति कौन करता है? स्तुति पुण्य-पाप की भावना से रहित शुद्धभाव है। आत्मा की पहिचानपूर्वक और रागरहित जितनी स्वरूप में एकाग्रता की जाती है उतनी ही सच्ची स्तुति है, जो राग का भाव है सो वह स्तुति नहीं है। सच्ची स्तुति तो साधक-धर्मात्मा के ही होती है। जिसे आत्मप्रतीति नहीं है उसके सच्ची स्तुति नहीं होती, तथा जो आत्मप्रतीति करके पूर्णदशा को प्राप्त हुए हैं उन्हें

स्तुति करने की आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि वे स्वयं ही पूर्णदशा को प्राप्त होगये हैं, अब उससे आगे कोई ऐसी दशा नहीं है जिसकी प्राप्ति के लिये वे स्तुति करें। जिसने पूर्णस्वरूप की प्रतीति तो की है किन्तु पूर्णदशा प्रगट नहीं हुई है, ऐसे साधक जीव स्तुति करते हैं। इसप्रकार चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यक्दृष्टि से लेकर बारहवें गुणस्थान तक स्तुति होती है, बारहवें गुणस्थान के बाद स्तुति नहीं होती। चौथे से बारहवें गुणस्थान तक स्तुति के तीनप्रकार हैं—चतुर्थ गुणस्थान में जघन्य स्तुति प्रगट होती है और बारहवें गुणस्थान में उत्कृष्ट स्तुति होती है, तथा बीच के गुणस्थानों में मध्यम स्तुति होती है। स्तुति करनेवाला कौन है यह जाने बिना सच्ची स्तुति नहीं होती।

इस गाथा में पहली—प्रारंभिक स्तुति का स्वरूप बताया है। राग से अलग ज्ञानस्वभाव को जानना ही प्रथम स्तुति है। 'अधिक ज्ञान-स्वभाव' कहने से ज्ञान में विकार नहीं रहा, इन्द्रियों का अवलम्बन नहीं रहा और अपूर्णता भी नहीं रही, मात्र परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव ही लक्ष में आया सो यह पहली स्तुति है, यहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है।

देव-गुरु-शास्त्र की ओर का प्रेम सच्ची स्तुति नहीं है। जो यह मानता है कि देव-गुरु-शास्त्र की ओर का जो शुभराग होता है उससे आत्मा को लाभ होता है, वह राग की भक्ति करता है, आत्मा के साथ एकता करके आत्मा की भक्ति नहीं करता। जितनी आत्मश्रद्धा करके आत्मा के साथ एकता प्रगट की जाती है उतनी ही निश्चय स्तुति है, किन्तु जितना परलक्ष है उतना राग है। अज्ञानी को आत्मा की प्रतीति ही नहीं है इसलिये उसे आत्मा की भक्ति नहीं है, प्रत्युत वह प्रतिक्षण अनात्मा की—विकार की ही भक्ति कर रहा है।

भक्ति का अर्थ है भजना। प्रत्येक जीव प्रति समय भक्ति तो करता ही है, किन्तु अज्ञानी जीव जड़ की और विकार की ही भक्ति करता है, तथा ज्ञानी अपने वीतराग स्वभाव की भक्ति करता है। निश्चयभक्ति

में अपने को ही भजना होता है, और व्यवहार में परलक्ष होता है। जब आत्मा को निश्चय स्वरूप की प्रतीति हो किन्तु अभी स्वरूप में स्थिरता न कर सके तब पूर्णता की भावना करने पर राग के द्वारा वीतराग भगवान पर लक्ष जाता है, उस राग का भी आदर नहीं है इसलिये उसके व्यवहार स्तुति है। निश्चय स्तुति में सबका लक्ष छूटकर मात्र स्वरूप में ही एकाग्रता होती है। (यहाँ निश्चय भक्ति और निश्चय स्तुति दोनों को पर्यायवाची समझना चाहिये।)

यहाँ कोई यह कह सकता है कि यह बात तो बहुत कठिन है, यह हमसे नहीं होसकती, उसके समाधानार्थ कहते हैं कि–हे भाई! यह बात कठिन नहीं है, पहले तू सच्ची जानकारी प्राप्त कर, अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति कर। अनन्त धर्मात्मा क्षणभर में अपने भिन्नतत्व की प्रतीति करके स्वरूप की एकाग्रतारूप निश्चय स्तुति करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, वर्तमान में ऐसी ही प्रतीति करनेवाले अनेक जीव हैं; और भविष्य में भी अनन्त जीव ऐसे ही होंगे; इसलिये इसमें अपना स्वरूप समझने की ही बात है। स्वरूप न समझा जासके ऐसा नहीं है। तू राग तो कर सकता है, और राग को अपना मान रहा है, तब फिर राग से अलग होकर, ज्ञान के द्वारा आत्मा को पहिचानना और राग को अपना न मानना तुझसे क्यों नहीं होसकता? जितना तुझसे होसकता है उतना ही कहा जारहा।

अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान के विना कोई जीव भगवान की सच्ची स्तुति या भक्ति कर ही नहीं सकता; यदि वह बहुत करे तो अज्ञानभाव से दान-पूजा द्वारा लोभ को कम करके पुण्यबन्ध कर सकता है, किन्तु उसे व्यवहार से भी भक्ति नहीं कह सकते, क्योंकि वह पुण्य को अपना मानता है, और इसीलिये वह प्रतिक्षण मिथ्यात्व के महापाप का सेवन कर रहा है। ज्ञानी समझता है कि मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, एक रजकण भी मेरा नहीं है, जो राग होता है वह मेरा स्वरूप नहीं है, परपदार्थ के साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है, समस्त परपदार्थों से

भिन्न मेरा ज्ञानस्वभाव स्वतंत्र है। जहाँ ऐसी ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान होता है, वहीं वास्तव में ममता कम होती है। ज्ञानी जैसी तृष्णा कम करता है, वैसी अज्ञानी नहीं कर सकता। ज्ञानी वीतराग स्वभाव के भक्त होते हैं, वे वीतराग भक्ति के द्वारा स्वयं वीतराग होनेवाले हैं, उन्हें वीतराग का उत्तराधिकार मिलनेवाला है।

सम्यक्दर्शन अपूर्व वस्तु है। जिसके आत्मा में सम्यक्दर्शन होजाता है उसे आचार्यदेव ने 'जिन' कहा है; सम्यक्दृष्टि जीव 'जिनपुत्र' है। सम्यक्दर्शन होने से जो जिनेन्द्र के लघुनन्दन होजाते हैं वे एक दो भव में अवश्य मुक्ति को प्राप्त होंगे। जो भगवान का सच्चा भक्त है वह अवश्य भगवान होगा उसे भव की शंका नहीं रहती। जिसे भव की शंका होती है वह भगवान का भक्त नहीं है। सम्यक्दृष्टि को भव की शंका नहीं होती। सम्यक्दर्शन ही सर्वप्रथम सच्ची स्तुति है।

शरीरादिक जड़वस्तु, राग के कारण खंड-खंड होता हुआ ज्ञान और सर्व परवस्तुओं से भिन्न अपने अखण्ड आत्मस्वरूप का अनुभवन करना सो यही पहली सच्ची स्तुति है।

द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और परवस्तुओं से अपने आत्मा को पृथक् अनुभव करना सो यही उसका जीतना है। वह आत्मा के ही बल से जीता-जाता है या उसके लिये किसी की आवश्यक्ता होती है सो कहते हैं-उसमें पहले द्रव्येन्द्रियों को किसप्रकार अलग करना चाहिये सो बतलाते हैं-'निर्मल भेदअभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त जो अंतरंग में प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव है, उसके अवलम्बन के बल से अपने से द्रव्येन्द्रियों को अलग जानना सो द्रव्येन्द्रियों का जीतना है।

यहाँ चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन का ही बल कहा है। चैतन्य-स्वभाव अंतरंग में प्रगट ही है। जिस ज्ञानस्वभाव में शरीरादिक सब प्रत्यक्ष ज्ञात होता है वह ज्ञानस्वभाव अंतरंग में प्रगट ही है।

आत्मा में ज्ञानस्वभाव प्रगट है, किन्तु विकार में ज्ञान नहीं है। चैतन्य-आत्मा अंतरंग में सदा प्रगट ही है। उसका ज्ञान कभी ढँका

ही नहीं है। भले ही विकार हो किन्तु आत्मा का ज्ञान तो उससे भिन्न रहकर जान लेनेवाला है, विकार में ज्ञान ढंक नहीं जाता जैसे किसी हीरे को सात डिब्बियों के बीच रख दिया जाये तो यह कहा जाता है कि हीरा ढंका हुआ है, किन्तु उसका ज्ञान नहीं ढंकता। ज्ञान में तो हीरा स्पष्ट झिलमिला रहा है, अर्थात् हीरा सम्बन्धी ज्ञान तो प्रगट ही है, ज्ञान ढंका हुआ नहीं है। शरीर और कर्म दोनों को जाननेवाला चैतन्यस्वभाव प्रगट ही है।

पहले २३-२५ वीं गाथा में कहा था कि वेगपूर्वक बहते हुए अस्वभावभावों के संयोगवश अज्ञानी जीव पुद्गल द्रव्य को 'यह मेरा है' इसप्रकार अनुभव करता है, किन्तु उसे अपना चैतन्यस्वभाव अनुभव में नहीं आता। वहाँ अस्वभावभावों को 'वेगपूर्वक बहता हुआ' विशेषण दिया है, अर्थात् वे प्रतिक्षण बदलते ही रहते हैं। जो क्षायोपशमिक ज्ञान है सो वह भी बदलता है, शुभाशुभ इच्छा भी बदलती है, और बाह्य क्रियाएँ भी बदलती रहती हैं, तब सदा एकरूप स्थिर चैतन्यभाव को न जाननेवाले अज्ञानी को ऐसा प्रतिभासित होता है कि-इस सारी क्रिया का कर्ता मैं ही हूँ, और ज्ञान तथा राग एकत्रित ही हैं।

प्रतिक्षण इच्छा बदले और जो इच्छा हो उसे ज्ञान जाने, इसप्रकार ज्ञान का परिणमन होता रहता है, और जैसी इच्छा होती रहती है लगभग वैसी ही बाह्य में शरीरादि की क्रिया होती है, वहाँ जो इच्छा है, सो राग है; जो ज्ञान किया, सो आत्मा है; और जो बाहर की क्रिया है, सो जड़ का परिणमन है; इसप्रकार तीनों अलग हैं किन्तु अज्ञानी उन्हें अलग नहीं कर सकता, इसलिये वह यह मानता है कि सब कुछ अपने से ही होता है। मैं राग और शरीर से अलग हूँ, ज्ञाता हूँ, ऐसी प्रतीति के बल से अपने आत्मस्वभाव को अस्वभाव से अलग अनुभव करने की उस अज्ञान में शक्ति नहीं है।

यहाँ यह कहते हैं कि चैतन्यस्वभाव अंतरंग में प्रगट ही है, उसके बल से ही इन्द्रियाँ अलग की जाती हैं। ज्ञान यह जानता है

कि मुझे अमुक शुभ या अशुभ भाव हुआ है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि मैं स्वयं इस भावरूप हो गया हूँ, क्योंकि ज्ञान राग में नहीं चला जाता। जो शुभ या अशुभ भाव होता है वह क्षणभर में बदल जाता है और उसे जाननेवाला ज्ञान अलग ही रह जाता है। जहाँ अज्ञानी यह कहता है कि मैं शरीर से ढँक गया हूँ और मुझे अपना स्वरूप ज्ञात नहीं होता, वहाँ यह किसने जाना कि मैं ढँक गया हूँ? जाननेवाले का ज्ञान प्रगट है या अप्रगट? अप्रगट तो जान नहीं सकता अतः जो प्रगट है उसी ने जाना है। सच तो यह है कि चैतन्य स्वभाव कभी ढँकता ही नहीं है।

प्रश्नः—इसमें भगवान की स्तुति की बात कहाँ है?

उत्तरः—स्तुति का अर्थ यह है कि जिसकी स्तुति करता है उसी जैसा अंश अपने में स्वयं प्रगट करना। यहाँ यह कहा जा रहा है कि अपने में शुद्धता का अंश कैसे प्रगट हो। अंतरंग में प्रगट चैतन्य स्वभाव के अनुभव से, यह जानना कि द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और समस्त पर-पदार्थों से मैं भिन्न हूँ, यह जितेन्द्रियता है तथा यह जघन्य स्तुति है। आत्मा का स्वरूप जाने बिना भगवान की सच्ची स्तुति नहीं होती। जिस भाव से तीर्थंकर तरे हैं उस भाव को पहिचान कर उसका अंश अपने में प्रगट करना सो यही स्तुति है। जिसे स्वभाव की प्रतीति हुई है किन्तु अभी पूर्णदशा प्रगट नहीं हुई है, ऐसे साधक जीव जिनकी पूर्ण-दशा प्रगट होगई है ऐसे भगवान की निश्चय स्तुति करते हैं। किन्तु जिसे स्वभाव की प्रतीति ही नहीं है वह निश्चय स्तुति नहीं कर सकता और जो स्वभाव की प्रतीति तथा स्थिरता करके पूर्ण हो गये हैं, उन्हें स्तुति करने की आवश्यक्ता नहीं रह जाती।

मैं जाननेवाला हूँ, अपने चैतन्य स्वभाव के द्वारा मैं समस्त पदार्थों से भिन्न हूँ इसप्रकार अपने स्वभाव की अधिकता को जानना सो भग-वान की सच्ची स्तुति है; परन्तु ज्ञान स्वभाव की सच्ची श्रद्धा और पर से

पृथक्त्व के ज्ञान के बिना, किसी के निश्चय स्तुति या व्यवहार स्तुति नहीं हो सकती। शुभराग को व्यवहार स्तुति नहीं कहा जासकता। अपने राग से रहित स्वभाव की जो श्रद्धा और ज्ञान है सो भगवान की निश्चय-स्तुति है, और भगवान की स्तुति की ओर का जो विकल्प पाया जाता है सो वह मेरा स्वरूप नहीं है, यदि ऐसी प्रतीति है तो उस विकल्प को व्यवहार स्तुति कहा जाता है। तू चैतन्य स्वरूप है, जड़ इन्द्रियाँ और उस ओर का क्षयोपशम ज्ञान तेरा स्वरूप नहीं है। अज्ञानी जीव परवस्तु में सुख मानकर परपदार्थ के राग और आकुलता से प्रतिक्षण हत होरहा है। अज्ञानी जीव से कहते हैं कि तू इन्द्रियों में और उनके विषय में सुख मान रहा है, किन्तु तेरा सुख पर में नहीं है, फिर भी पर में सुख मानकर तू संसार में परिभ्रमण कर रहा है। जड़ इन्द्रियों में या पुण्य के फल में सुख नहीं है, और जो खण्ड-खण्ड रूप प्रगट ज्ञान है वह भी आत्मा का स्वरूप नहीं है; वर्तमान में पुण्य का फल जिसे मीठा लग रहा है ऐसे अज्ञानी के मन में यह बात कैसे जमेगी? किन्तु तू अपूर्ण ज्ञान जितना नहीं है यह बताकर पृथक् ज्ञानस्वभाव की पहिचान कराते हैं। त्रिलोकी-नाथ तीर्थंकरदेव की दिव्यवाणी से भी तेरे स्वरूप का पूरा गुणगान नहीं होसकता, ऐसी तेरी प्रगट महिमा है, किन्तु स्वयं अपना विश्वास नहीं है। अज्ञानी को स्वरूप की प्रतीति नहीं है इसलिये उसकी दृष्टि बाह्य में है। वह बाह्य में शारीरिक व्याधि को देखसकता है, और उसे दुःख मानता है, किन्तु अंतरंग में स्वरूप की अचेतदशा से पुण्य-पाप की व्याधि में प्रतिक्षण भावमरण होरहा है सो उस अनन्त दुःख को अज्ञानी नहीं देख सकता। अंतरंग में ज्ञान स्वरूप को भूलकर जो आकुलता होती है सो वही दुःख है, अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है; इसलिये यहाँ सच्ची स्तुति का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं कि हे भाई! तेरा ज्ञानस्वभाव अंतरंग में प्रगट है और वह इन जड़ इन्द्रियों से तथा राग से भिन्न है। इसप्रकार पर से भिन्न अपने ज्ञान स्वरूप को जानना सो यही भगवान की निश्चय स्तुति का प्रारम्भ है।

सम्यक्‌दर्शन के द्वारा ज्ञान स्वभाव आत्मा की यथार्थ पहिचान करना ही निश्चय भक्ति है। निश्चय भक्ति का सम्बन्ध अपने आत्मा के साथ है, किन्तु प्रथम संसार की ओर के तीव्र अशुभराग से छूटकर सच्चे देव सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र के परिचयपूर्वक उनके प्रति भक्ति का शुभराग होता है। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की पहिचान और भक्ति का उल्लास हुए बिना किसी को अपने आत्मा की निश्चय भक्ति प्रगट नहीं होती; और देव-गुरु-शास्त्र के प्रति राग से भी निश्चय भक्ति नहीं होती। निश्चय भक्ति का अर्थ है सम्यक्‌दर्शन, वह सम्यक्‌दर्शन कैसे प्रगट हो यह विचारणीय है।

पहले संसार की रुचि और कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र की मान्यता के अशुभ भावों से छूटकर सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति होनेवाले भाव से राग की दिशा को बदलकर और फिर 'यह राग भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं राग से अलग ज्ञानस्वभाव हूँ, पर की ओर जानेवाला राग-मिश्रित ज्ञान भी मेरा स्वरूप नहीं है' इसप्रकार रागरहित अपने अखण्ड स्वभाव को प्रतीति में ले तब सम्यक्‌दर्शन प्रगट होता है, और यही भगवान की प्रथम निश्चय स्तुति है।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का शुभराग पहले होता तो है, किन्तु वह शुभराग सम्यक्‌दर्शन में सहायक नहीं है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव निर्विकार ज्ञान स्वरूप है और राग विकार है। विकार निर्विकारता में बाधक ही है, सहायक नहीं। इसलिये राग के द्वारा भगवान की निश्चय स्तुति नहीं होसकती।

जहाँ यह समझाया है कि-सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति होनेवाले राग से सम्यक्‌दर्शन नहीं होता, वहाँ यदि कोई देव-गुरु-शास्त्र का सच्चा परिचय करना ही छोड़दे तो वह वस्तुस्वरूप को ही नहीं समझा। प्रथम भूमिका में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का परिचय और उसकी श्रद्धा का शुभविकल्प आये बिना नहीं रहता। बीच में विकल्प का जो राग

होता है यदि उसे न माने तो वह विकल्प को दूर करके स्वभाव का लक्ष्य कैसे कर सकेगा ? यद्यपि उस शुभराग के द्वारा स्वभाव का लक्ष्य नहीं होता, परन्तु स्वभाव का लक्ष्य करते हुए बीच में शुभविकल्प आजाता है। देव-गुरु-शास्त्र के प्रति शुभराग का जो विकल्प उठता है वह अभावरूप नहीं है, यदि उसे अभावरूप माने तो वह ज्ञान मिथ्या है, तथा यदि उस राग को सम्यक्दर्शन का कारण मान लिया जाये तो वह मान्यता (श्रद्धा) भी मिथ्या है। बीच में शुभराग आता तो है किन्तु उसे जानकर भी सम्यक्दर्शन का कारण न माने तो वह प्रमाण है, अर्थात् ज्ञान और मान्यता दोनों सच हैं।

आत्मा का स्वभाव अनन्त गुणस्वरूप निर्विकार है, और उसे जाननेवाला तथा श्रद्धा में लानेवाला सम्यक्दर्शन-सम्यक्ज्ञान भी विकाररहित है। देव-गुरु-शास्त्र सम्बन्धी शुभ विकल्प भी राग है, विकार है। विकार करते-करते आत्मा का निर्विकार स्वभाव कभी प्रगट नहीं हो सकता, क्योंकि कारण में विकार हो तो उसका कार्य निर्विकार कभी भी नहीं हो सकता। कारण और कार्य एक ही जाति के होते हैं। यहाँ यह बताना है कि राग के द्वारा भगवान की सच्ची स्तुति नहीं होती, किन्तु सम्यक्दर्शन-सम्यक्ज्ञान के द्वारा ही सच्ची स्तुति होती है। भगवान सम्पूर्ण वीतराग हैं, वीतराग की स्तुति राग के द्वारा नहीं होसकती, किन्तु वीतरागभाव से ही होसकती है। सम्यक्दर्शन ही सर्वप्रथम स्तुति है, क्योंकि सम्यक्दर्शन के होने पर आंशिक वीतरागभाव प्रगट होते हैं। जितना वीतरागभाव प्रगट होता है, उतनी ही निश्चय स्तुति है, और जो राग शेष रह जाता है वह निश्चय स्तुति नहीं है।

यह बारम्बार कहा गया है कि शुभ राग आत्मा के निर्विकार स्वरूप के लिये सहायक नहीं है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शुभभाव भी पाप हैं, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति-पूजा इत्यादि के भावों से पुण्य होता है, किन्तु यहाँ पुण्यभाव को छोड़कर पापभाव करने को नहीं कहा है। किसी जीव की हिंसा चोरी इत्यादि का भाव करना सो

पाप है, और पर जीव की दया, दान, सेवा इत्यादि की जो भावना है सो लौकिक पुण्य है, एवं सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान करके उनकी भक्ति इत्यादि के शुभभाव करना सो उसमें अलौकिक पुण्य है। यह पुण्य भी वास्तव में धर्म का कारण नहीं है, किन्तु यह प्राथमिक दशा में आये बिना नहीं रहता। अपना स्वरूप उस शुभराग से अलग है, जो यह जानता है वह जितेन्द्रिय अर्थात् सम्यक्दृष्टि है, और वही भगवान का सच्चा भक्त है।

अनादि अनन्त बन्ध पर्याय के वश होकर जिसमें समस्त निज पर का विभाव अस्त होगया है (जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही है कि भेद दिखाई नहीं देता) ऐसी शरीर परिणाम को प्राप्त जो द्रव्येन्द्रियाँ हैं उन्हें अपने से अलग कर दिया है। उन्हें कैसे अलग किया है सो कहते हैं—निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त जो अंतरंग में प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्य स्वभाव है, उसके अवलम्बन के बल से अलग किया है।

अज्ञानी को 'अनादि अनन्तरूप बन्ध पर्याय के वश' की बात समझाई जा रही है। सम्यक् दर्शन से पूर्व भी यह जीव इतना तो समझा ही है कि मैं अनादि काल से हूँ और अनादि काल से मुझ में बन्ध पर्याय हो रही है; मैं पहले मुक्त था और बाद में बँध गया ऐसी बात नहीं है, किन्तु बन्धन अनादि काल से है, और अब उस बन्धन से मैं अपने आत्मा को अलग करना चाहता हूँ। जो बन्धन है उससे आत्मा अलग हो सकता है। जो आत्मा भेद करने का प्रयत्न करता है वही भिन्नता कर सकता है, मैं दोनों के बीच भेद करना चाहता हूँ (दोनों को अलग करना चाहता हूँ,) किन्तु जगत में दूसरे अनन्त आत्मा हैं जो सब भेद करने का पुरुषार्थ नहीं करते; तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न है और प्रत्येक का पुरुषार्थ स्वतंत्र है। इतनी बात तो सम्यक् दर्शन होने से पूर्व ही समझने के लिये आनेवाले जीव ने स्वीकार कर ली है।

बन्धन अनादि काल से है, किन्तु मेरा स्वरूप बन्धन स्वरूप नहीं है इसलिये बन्धन दूर हो सकता है,—इतना मानकर जीव बन्धन को दूर करने का उपाय करने के लिये आया है। जीव की भूल तो अनादि-काल से हो रही है, किन्तु यथार्थ समझ के द्वारा उस भूल को जो नष्ट कर देता है उसकी बलिहारी है। 'बन्ध पर्याय के वश' का अर्थ यह है कि-मेरी पर्याय में बन्धन है, उसके वशीभूत होकर भूल हुई है, अर्थात् मैंने बन्ध पर्याय को अपना मानकर भूल की है, किसी दूसरे ने भूल नहीं कराई है, तथा किसी ईश्वर की प्रेरणा से मैंने भूल नहीं की है। जो यह सब समझता है उसके व्यवहार शुद्धि होती है,—जब जीव इतना समझता है तब वह गृहीत मिथ्यात्व से छूटकर सम्यक् दर्शन को प्राप्त करने के उपाय की ओर उन्मुख होता है, किन्तु अभी यहाँ तक सम्यक्दर्शन प्रगट नहीं हुआ है। अब यहाँ यह बताते हैं कि भेद ज्ञान किस प्रकार करता है।

शरीर परिणाम को प्राप्त जो इन्द्रियाँ हैं उन्हें चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन के बल द्वारा आत्मा से अलग कर दिया सो यह भेद ज्ञान है। यहाँ 'शरीर परिणाम को प्राप्त जो इन्द्रियाँ' इतना कहकर जड़ वस्तु और उसका परिणमन दोनों सिद्ध किये हैं। चेतन से भिन्न जो जड़-वस्तु है उसका अपना स्वतंत्र परिणमन है, वह स्वयं अपने परिणमन से बदल कर इन्द्रियादिरूप होती है। चेतन का परिणमन और जड़ का परिणमन अलग-अलग है। परमाणु स्वतंत्र वस्तु है, अभी जिन परमाणुओं की शरीररूप अवस्था हुई है इससे पूर्व वे परमाणु दूसरी पर्याय के रूप में थे। इस प्रकार परमाणु बदलते रहते हैं और वही परमाणु बदलकर इन्द्रिय रूप हुए हैं, इसलिये इन्द्रियों और इन्द्रियों के द्वारा होनेवाला राग मिश्रित ज्ञान दोनों मेरा स्वरूप नहीं है, किन्तु एकरूप जो चैतन्य है सो मैं हूँ,—इस प्रकार परिचय करके यदि इन्द्रिय सम्बन्धी राग को छोड़ दे तो उन परमाणुओं में भी इन्द्रियरूप अवस्था बदलकर अलग हो जायेगी। तू अपने ज्ञान को इन्द्रियों की ओर से खींच ले तो इन्द्रियों के परमाणु

स्वयं दूसरी अवस्था रूप में परिणमित हो जायेंगे। तू अपने ज्ञान को स्वोन्मुख कर तो इन्द्रियों का निमित्तभाव भी छूट जायेगा। यह बात तो अभी सम्यक् दर्शन को प्रगट करने के लिये है। इस प्रकार द्रव्येन्द्रियों से मेरा चैतन्य स्वभाव अलग है, ऐसे प्रवीण भेदज्ञान के अभ्यास से अपने चैतन्य स्वभाव को इन्द्रियों से पृथक् अनुभव करना सो द्रव्येन्द्रियों को जीतना है, और यही भगवान की सच्ची स्तुति है।

इसप्रकार द्रव्येन्द्रिय को जीतने की बात कहकर अब भावेन्द्रिय को जीतने की बात कहते हैं। यद्यपि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उसके विषयभूत पर द्रव्यों को जीतना (उनसे भिन्नत्व का ज्ञान) एक ही साथ होता है, परन्तु यहाँ क्रम से बात कही गई है। जहाँ अपने शुद्ध चैतन्य स्वभाव का परिचय करके सम्यक् दर्शन प्रगट किया कि वहाँ उन तीनों को अपने से अलग जान लिया है। इसमें पहले यह बताया गया है कि द्रव्येन्द्रिय की भिन्नता किस प्रकार है।

अब यहाँ यह बतलाते हैं कि–भावेन्द्रिय का पृथकत्व किस प्रकार है। 'भिन्न-भिन्न अपने अपने-अपने विषयों में व्यापार भाव से जो खण्ड-खण्ड रूप में ग्रहण करती हैं (ज्ञान को खण्ड खण्ड रूप जानती हैं) ऐसी भावेन्द्रियों की प्रतीति में आने पर अखण्ड एक चैतन्य शक्तिभाव के द्वारा अपने से अलग जानकर इन भावेन्द्रियों का जीतना हुआ, इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जाता है।

भावेन्द्रिय का अर्थ है क्षयोपशम ज्ञान। क्षयोपशम ज्ञान भी आत्मा से भिन्न है, क्योंकि यहाँ निश्चय स्तुति का अधिकार होने से निश्चय स्वभाव क्या है सो बतलाना है। आत्मा का त्रिकाल केवल ज्ञान स्वभाव है, उसकी वर्तमान अपूर्ण दशा को भावेन्द्रिय कहते हैं, वह अल्प क्षयोपशमवाला ज्ञान एक-एक विषय को जानता है। जब वह एक विषय के जानने में प्रवृत्त होता है तब अन्य विषयों में प्रवृत्त नहीं होता, इसप्रकार वह खण्डरूप ज्ञान है; जबकि आत्मा का ज्ञानस्वभाव सबको एक साथ जानने का अखण्डरूप है। जिस ज्ञान में खण्ड होते हैं वह

आत्मा का स्वरूप नहीं है। अपूर्ण ज्ञान मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा ज्ञान स्वभाव पूर्ण है। पूर्ण स्वभाव क्या है और अपूर्ण स्वभाव क्या है यह ध्यान में आये बिना परमार्थ स्वरूप में प्रवेश नहीं हो सकता। पूर्ण स्वभाव की प्रतीति के बिना सम्यक् श्रद्धा नहीं हो सकती। और वर्तमान अपूर्ण दशा का ज्ञान किये बिना परमार्थ स्वरूप के लक्ष में नहीं पहुँचा जा सकता। परिपूर्ण स्वभाव को प्रतीति में लेनेवाला ज्ञान निश्चय-नय है, और अपूर्ण दशा का ज्ञान करना सो व्यवहारनय है। यदि अवस्था पर से दृष्टि हटाकर निश्चय स्वरूप पर दृष्टि करे तो अवस्था के ज्ञान को व्यवहार कहा जाता है। व्यवहार को जाने बिना परमार्थ सच नहीं हो सकता, और निश्चय की श्रद्धा के बिना व्यवहार अकेला नहीं होता; निश्चय और व्यवहार दोनों साथ में ही हैं। अपूर्ण ज्ञान-दशारूप व्यवहार को जानकर पूर्ण स्वभाव को प्रतीति के बल से, अपूर्णता का निषेध करना सो यही भावेन्द्रिय को जीतने का उपाय है। भावेन्द्रिय को जीतना सो नास्ति से कथन है, और अस्ति भाव से ले तो ज्ञान स्वभाव आत्मा की पहिचान करके उसका लक्ष करने पर भावेन्द्रिय का (ज्ञान की अपूर्ण पर्याय का) लक्ष छूट जाना सो यही भगवान की सच्ची स्तुति है।

यहाँ यह बताया जारहा है कि भगवान की निश्चय स्तुति किस प्रकार हो सकती है। 'ज्ञेय ज्ञायक संकर दोष' के परिहार से पहली स्तुति होती है, उसके बिना सच्ची स्तुति नहीं होती। ज्ञेय ज्ञायक संकर दोष अर्थात् ज्ञेय और ज्ञायक का एक मानने का दोष, अथवा स्व-पर को एकमेक मानना स्व-पर को भिन्न-भिन्न न मानना सो ज्ञेय ज्ञायक संकर दोष है। आत्मा ज्ञायक स्वरूप है, उसमें शरीरादिक पर वस्तु को तथा पुण्य-पाप के भावों को एकमेक रूप से मानना सो मिथ्या दर्शन है, क्यों कि उस मान्यता में यथार्थ सत् की स्वीकृति नहीं है। सच्ची समझ के द्वारा उस मिथ्या मान्यता रूप दोष का नाश हो सकता है।

जिसे स्वतंत्र आत्म स्वभाव प्रगट करना है, उसे सत् स्वरूप को पहिचानना होगा। सत् स्वरूप की शरण के बिना असत् के मार्ग से स्वतंत्रता प्रगट नहीं होगी। आत्मा ज्ञाता स्वरूप है। शरीरादिक वस्तुएँ पर हैं, इन्द्रियाँ पर हैं। इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात होनेवाले पर पदार्थ और उन पर पदार्थों की ओर होने वाली पुण्य-पाप की विकारी भावनाएँ,—सब आत्मा के ज्ञान स्वभाव से भिन्न हैं। उनसे आत्म हित होता है यह मानना ही मिथ्या दर्शन है। मिथ्या दर्शन का अर्थ है सत् स्वरूप का अनादर। यही अनन्त संसार का कारण है।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि ज्ञाता आत्मा और ज्ञेय पदार्थों की एकताबुद्धि का त्याग कैसे हो, और मिथ्या दृष्टिपन कैसे दूर हो? मिथ्यादृष्टिपन के दूर हुए बिना व्रत-तप इत्यादि सच्चे हो ही नहीं सकते। धरती के बिना वृक्ष कहाँ उगेंगे? सम्यक् दर्शन के द्वारा वस्तु को जाने बिना व्रत तप या चारित्र पालन कहाँ करेगा? जैसे धरती के बिना वृक्ष नहीं होता इसी प्रकार सम्यक् दर्शन के बिना चारित्र धर्म कदापि नहीं हो सकता। आत्मा के निर्मल स्वरूप की प्रतीति ही प्रथम धर्म जीव की धर्म-भूमिका है। आत्मा धर्मी है और आत्मा की शुद्ध पर्याय धर्म है। धर्मी वस्तु को पहिचाने बिना धर्म नहीं होता। आत्म प्रतीति के बिना राग को कम करे तो पुण्य बन्ध हो जायेगा, किन्तु आत्मधर्म नहीं हो सकता, और आत्मधर्म के बिना भगवान की सच्ची स्तुति नहीं कहलाती। अब यहाँ वह बतलाते हैं कि आत्मधर्म की प्रतीति कैसे हो सकती है।

सर्व प्रथम चैतन्य आत्म बल से यह प्रतीति करनी चाहिये कि-मैं इन्द्रियों से भिन्न हूँ। इस प्रतीति के लिये पर पदार्थ की आवश्चयक्ता नहीं होती किन्तु वह स्व पदार्थ के अवलम्बन से होती है। सम्यकत्व और मिथ्यात्व दोनों आत्मा के श्रद्धागुण की पर्याय हैं। सम्यकत्व गुण नहीं किन्तु पर्याय है। गुण त्रिकाल रहता है और पर्याय नई-नई प्रगट होती है। अनादि काल से जो मिथ्यात्व है सो श्रद्धा गुण की विकारी

दशा है क्षणभर में उस दशा को बदल कर सम्यक्त्व दशा प्रगट की जा सकती है। श्रद्धागुण त्रैकालिक है, वह नया प्रगट नहीं होता, तथा नष्ट भी नहीं होता। यदि सम्यक् श्रद्धा कहो तो वह श्रद्धा गुण की निर्मल पर्याय है, जो कि नवीन प्रगट होता है। आत्मा वस्तु त्रिकाल है, उसके अनन्त गुण त्रिकाल हैं और इन गुणों की पर्याय नई नई हुआ करती है। यह द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जैन दर्शन का मूल या जैन दर्शन की इकाई है। यदि द्रव्य-गुण पर्याय का यथार्थ स्वरूप ध्यान में ले तो यह स्वलक्ष में आ सकता है कि अपना ज्ञान इन्द्रियादिक पर पदार्थ के अधीन नहीं है, किन्तु वह अपनी ओर से ही प्रगट होता है किन्तु जो इन्द्रियों के अवलम्बन से या राग से ज्ञान का होना मानते हैं वे द्रव्य, गुण पर्याय के स्वरूप को ही नहीं जानते। सम्यक्दर्शन आत्मगुण की पर्याय है जो कि आत्मा में से ही प्रगट होता है, वह किसी देव-गुरु-शास्त्र के आधार से प्रगट नहीं होता।

आत्मा त्रिकाल वस्तु है। वस्तु गुण के बिना नहीं होती। आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है। शक्ति का अर्थ है गुण, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, कर्तृत्व, इत्यादि। अनन्त शक्तियाँ प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है, यह अपनी त्रिकाल शक्तियाँ हैं किन्तु उनकी प्रतीति में अन्तर आने से यह संसार दशा होती है, और उस शक्ति की यथार्थ प्रतीति होने पर मोक्ष दशा प्रगट होती है। यह संसार और मोक्ष दोनों पर्याय हैं, इनमें से मोक्ष दशा तो वर्तमान में (समझने के लिये आने वाले जीव के) है नहीं, वर्तमान विकार दशा है, इसलिये भेद ज्ञान कराते हैं कि विकार आत्मा का स्वरूप नहीं है, आत्मा का स्वरूप ज्ञान है, और ज्ञान विकार से भिन्न है, विकार दोष है, इसलिये विकार आत्मा का स्वरूप नहीं और विकार की ओर जाता हुआ ज्ञान भी आत्मा का स्वरूप नहीं है, इस प्रकार आत्मा के अखण्ड ज्ञान स्वरूप को पर से और विकार से भिन्न अनुभव करना ही सम्यक् दर्शन है और यही तीर्थंकर केवली भगवान का पहला स्तवन है।

पर से और विकार से भिन्न आत्मतत्व अविनाशी है; उसके गुण भी अविनाशी हैं, उसमें ऐसी विपरीत मान्यता करना कि 'पर से मुझे ज्ञान होता है, देव-गुरु-शास्त्र मेरा हित कर देंगे' सो मिथ्यात्व दशा है और 'वह मिथ्यात्व दशा मेरा स्वरूप नहीं है, पर से मेरा ज्ञान भिन्न है, किसी पर द्रव्य से मुझे हानि या लाभ नहीं है,' ऐसी अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा की जो यथार्थ मान्यता है सो सम्यक्त्व दशा है। वस्तु और गुण त्रिकाल हैं, बन्ध और मोक्ष अवस्था में हैं। मोक्ष दशा नवीन प्रगट होती है, किन्तु गुण नवीन प्रगट नहीं होता यदि द्रव्य गुण न हो तो वे नवीन प्रगट नहीं होते, और जो द्रव्य गुण है वे कभी नष्ट नहीं होते, मात्र उनकी अवस्था प्रतिक्षण बदलती रहती है। यदि पर्याय में स्वभाव को भूलकर पर में दृष्टि करें तो वह विपरीत दृष्टि है, और विपरीत दृष्टि में विकारी दशा होती है। यदि पर्याय को स्वोन्मुख करके स्वभाव की दृष्टि करे तो सीधी दृष्टि या द्रव्य दृष्टि है, उस दृष्टि में निर्विकार दशा होती है। मान्यता की विकारी दशा ही संसार का मूल्य है उस विकारी मान्यता को छोड़कर सच्ची मान्यता करना ही मोक्ष का कारण है, आत्म धर्म के लिये पर वस्तु के ग्रहण या त्याग की आवश्यक्ता नहीं होती, किन्तु विपरीत मान्यता का ही त्याग करना होता है। स्वभाव की एकाग्रता के द्वारा विकारी अवस्था का त्याग ही संसार का त्याग और मुक्त दशा की उत्पत्ति है।

द्रव्येन्द्रियों और भावेन्द्रियों में अपनेपन की मान्यता ही संसार है, उसमें स्वयं अपने स्वभाव को भूलकर विकार से विजित हो गया है; और मैं तो ज्ञान स्वभाव हूँ, इन्द्रियाँ और पर पदार्थों की ओर जाने वाला ज्ञान मेरा स्वरूप नहीं है, जो अखण्ड चैतन्यता है सो मैं हूँ ऐसी स्वभाव की श्रद्धा करना सो उसमें, स्वभाव के बल से स्वयं द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय को जीता है, और यही भगवान की सच्ची स्तुति है। आत्मा में ज्ञान गुण अखण्ड है, किन्तु ज्ञान गुण की वर्तमान अपूर्ण दशा विषयों को खण्ड-खण्ड रूप से जानती है, अपूर्ण ज्ञान खण्ड-खण्ड

वाला है, सो वह आत्मा का मूल स्वरूप नहीं है, किन्तु वह अपूर्णता आत्मा की ही अवस्था में है, किसी जड़ में नहीं है। जो अपूर्ण ज्ञान है सो आत्मा का ही अरूपी भाव है, किन्तु आत्मा उतने ज्ञान वाला नहीं है, इसलिये अपूर्ण ज्ञान को ही अपना स्वरूप मान ले और पूरे ज्ञान स्वभाव की प्रतीति न करे तो स्पष्ट है कि उसने भगवान की सच्ची स्तुति नहीं की है। पूर्ण ज्ञान स्वभाव की प्रतीति रखकर अपूर्ण दशा को जानता तो है, किन्तु उससे अपना स्वभाव भिन्न है ऐसा माने तो वह भावेन्द्रियजयी है। पर लक्ष में खण्ड-खण्ड होने वाले ज्ञान को स्वोन्मुख करके जितनी अखण्डता की जाती है उतनी निश्चय स्तुति है।

द्रव्येन्द्रियाँ जड़ हैं, वे आत्मा से भिन्न हैं। जड़ इन्द्रियों से आत्मा का पृथक्त्व पहले ही बता दिया है, अब यहाँ भावेन्द्रिय से (अपूर्ण ज्ञान से) आत्मा के स्वभाव का पृथक्त्व बतलाते हैं। अपूर्ण ज्ञान को ही पूर्ण आत्मा मान लेना सो मिथ्यादृष्टित्व है, क्योंकि जिसने आत्मा को अपूर्ण ज्ञान जितना ही माना है उसने आत्मा के सम्पूर्ण ज्ञान स्वभाव का अनादर किया है, अर्थात् केवली के परिपूर्ण ज्ञान को भी उसने नहीं माना है, इसलिये उसने केवली भगवान की अस्तुति की है। किन्तु जिसने अपने ज्ञान स्वभाव को पूर्णतया स्वीकार किया है, और यह जाना है कि केवली भगवान को वैसा ज्ञान स्वभाव सम्पूर्ण तथा प्रगट हो गया है, उसीने केवली भगवान की सच्ची स्तुति की है।

आत्मा का चैतन्य गुण त्रिकाल परिपूर्ण है तथापि पर्याय में ज्ञान अपूर्ण जानता है। अपूर्ण जानना ज्ञान का मूल स्वरूप नहीं है। ज्ञान का स्वभाव एक ही पर्याय में सब कुछ एक ही साथ जान लेना है, उसकी जगह यदि जीव ऐसा मान ले कि एक के बाद दूसरे पदार्थ को जानने की शक्ति वाला खण्ड रूप ज्ञान मेरा स्वरूप है तो वह मिथ्या दृष्टि है, क्योंकि वह पर्याय के लक्ष में भटक रहा है। पर्याय है अवश्य, किन्तु यदि अपूर्ण ज्ञान की पर्याय को ही स्वीकार करे तो उसकी व्यवहार दृष्टि ही मिथ्या है, और वह स्थूल गृहीत मिथ्या दृष्टि

है। परन्तु अपूर्ण पर्याय को जानने पर यदि ऐसा मान ले कि इस पर्याय जितना ही मैं हूँ, और सम्पूर्ण द्रव्य को भूल जाये तो वह भी मिथ्या दृष्टि ही है। जब तक अखण्ड परिपूर्ण स्वभाव को दृष्टि में स्वीकार नहीं करता तब तक मिथ्यादृष्टिपन दूर नहीं हो सकता।

आत्मा और उसका ज्ञान त्रिकाल है। ज्ञान की वर्तमान पर्याय अपूर्ण है। मेरा ज्ञान स्वभाव पूर्ण है, तथापि मेरी कचाई के कारण पर्याय में ज्ञान अपूर्ण है-इतना जो पहले स्वीकार नहीं करता उसे व्यावहारिक स्थूल भ्रान्ति है, अपनी पर्याय का विवेक भी वह चूक गया है, जिसे अपनी पर्याय का ही विवेक नहीं है वह द्रव्य स्वभाव को भी कहाँ से स्वीकार करेगा? यदि पहले पर्याय के अस्तित्व को स्वीकार करे तो फिर उसके लक्ष को छोड़कर द्रव्य की ओर उन्मुख हो, किन्तु जिसने अभी पर्याय को भी स्वीकार नहीं किया वह कभी द्रव्य की ओर नहीं झुक सकता। क्या ज्ञान की अपूर्ण अवस्था सर्वथा नहीं है? क्या अपूर्ण दशा का खर-विषाण की तरह सर्वथा अभाव है? यदि अपूर्ण दशा नहीं है तो क्या अभी तेरा द्रव्य पर्याय रहित है? अथवा परिपूर्ण दशा विद्यमान है? यदि पूर्ण दशा हो तो परमानन्द प्रगट होना चाहिये, और सम्पूर्ण ज्ञान एक ही साथ होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है, और द्रव्य पर्याय रहित कभी होता ही नहीं, इसलिये यह निश्चय से जानना चाहिये कि वर्तमान पर्याय अपूर्ण है। पहले अपूर्ण दशा है, इसे यदि स्वीकार न करे तो समझने का उपाय ही क्यों करे? पहले अपूर्ण दशा को स्वीकार न करे तो उसका व्यवहार ही मिथ्या है। और यदि मात्र अपूर्ण दशा को ही स्वीकार करे और परिपूर्ण स्वभाव को न समझे तो उसका निश्चय मिथ्या है। पहले अपूर्ण दशा को स्वीकार करने के बाद उस अपूर्ण दशा का ज्ञान भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो अखण्ड पूर्ण हूँ, इस प्रकार स्वभाव की श्रद्धा करे तो उसकी यथार्थ श्रद्धा है, यथार्थ श्रद्धा सहित ज्ञान भी सच्चा ही होता है। सच्चा ज्ञान निश्चय और व्यवहार

दोनों को भलीभाँति जानता है । मैं परिपूर्ण ज्ञान स्वभाव हूँ; किञ्चित् मात्र भी अपूर्ण स्वभाव नहीं है और वर्तमान पर्याय अपूर्ण है, इस प्रकार ज्ञान में दोनों को जानने के बाद, पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा के बल से ज्ञान अपूर्ण दशा का निषेध करता है, और स्वभाव की एकाग्रता के द्वारा अपूर्ण दशा को दूर करके पूर्णता प्रगट करता है । इसमें श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र तीनों का समावेश हो जाता है । इसका नाम भगवान की स्तुति है । इसे समझे बिना किसी के सच्ची स्तुति नहीं हो सकती। अज्ञानी जन मात्र स्तोत्र-पाठ पढ़ जाने को ही स्तुति मानते हैं, और समझ से तो बिल्कुल काम ही नहीं लेते,—ऐसे लोगों के सच्ची स्तुति नहीं हो सकती । स्तुति करने वाला आत्मा है या जड़ ? भाषा और शब्द तो जड़ हैं, तब क्या जड़ के द्वारा स्तुति हो सकती है ? स्तुति करने वाला आत्मा है, और आत्मा की जो शुद्ध पर्याय है वही आत्मा की स्तुति है ।

जो पहले द्रव्य गुण और पर्याय को यथावत् नहीं जानता वह जैन नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु वह जैन-व्यवहार तक भी नहीं पहुँच सका है । यदि अपूर्ण पर्याय को ही नहीं मानेगा तो उस अपूर्णता को कौन दूर करेगा ? अपूर्ण पर्याय को स्वीकार करने के बाद इससे भी आगे को जाना है, कि अपूर्ण अवस्था को स्वीकार कर लेने से भी धर्मीपन नहीं आता । यहाँ यह बताया है कि भावेन्द्रिय आत्मा का स्वरूप नहीं हैं अर्थात् जो समझने के योग्य हो गया है उस जीव को भावेन्द्रिय (अपूर्ण ज्ञान) को तो खबर है, किन्तु वह सम्पूर्ण स्वभाव और अपूर्ण दशा के बीच भेद नहीं कर सका, उसे अब भेद ज्ञान करवा कर ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष दूर करते हैं ।

मैं तो अखण्ड एक चैतन्य स्वभाव हूँ, अखण्ड ज्ञान मेरा स्वरूप नहीं है, इस प्रकार जो मानता है सो धर्मी-जितेन्द्रिय है । जो जीव अपूर्णता को मानता ही नहीं वह पर्याय को ही स्वीकार नहीं करता, ऐसे जीव की यहाँ बात ही नहीं है, अर्थात् वह तो तीव्र मिथ्या दृष्टि है । जो

अपूर्ण दशा को स्वीकार करता है किन्तु उसी को पूर्ण स्वरूप मान बैठा है, वह भी मिथ्या दृष्टि है। उसने व्यवहार को स्वीकार किया है किन्तु परमार्थ को नहीं माना।

अब यहाँ परमार्थ को स्पष्ट करते हैं। प्रतीति में आने पर 'अखण्ड एक चैतन्य शक्ति के द्वारा (भावेन्द्रियों को) अपने से भिन्न जाना'-ऐसा जो कहा है सो उसमें प्रतीति में आने वाला जो अखण्ड एक चैतन्य स्वभाव है वह परमार्थ है-निश्चय है, और भावेन्द्रियों को अपने से भिन्न जाना-इसमें जानने वाली पर्याय व्यवहार है। यहाँ प्रत्येक गाथा में निश्चय-व्यवहार की संधि पाई जाती है। यह ऐसी अलौकिक रचना है कि प्रत्येक गाथा में निश्चय और व्यवहार दोनों बतला कर बाद में व्यवहार को उड़ा दिया है। जो निश्चय एक रूप स्वरूप है सो तू है, जो कि अंगीकार करने योग्य है, किन्तु जो व्यवहार बताया है सो वह तेरा स्वरूप नहीं है और वह आदरणीय नहीं है; इस प्रकार विवेक जाग्रत किया है।

इसमें त्रिकाल स्वभाव और वर्तमान पर्याय दोनों का ज्ञान आगया है। मैं अखण्ड एक रूप चैतन्य पिंड हूँ ऐसे अस्ति स्वभाव की प्रतीति करना और अपूर्ण खण्ड रूप भाव को अपना स्वभाव न मानना सो सम्यक् दर्शन है। यही भावेन्द्रियविजय है और यही सच्ची स्तुति है।

यदि आत्मा की पर्याय में भूल न हो तो आत्मा को समझने का अवसर ही कहाँ रहा? इसलिये जो भूल ही स्वीकार नहीं करता उसकी यहाँ बात नहीं है, किन्तु जो भूल को स्वीकार करके दूर करने आया है, उस भूल को दूर करने का उपाय बताया जा रहा है। भूल को स्वीकार कर लेने मात्र से भूल दूर नहीं हो जाती और भूल के दूर हुए बिना धर्म नहीं होता। भूल मेरा स्वरूप नहीं है, विकार या अपूर्णता भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं अखण्ड चैतन्य स्वरूप हूँ, त्रिकाल ज्ञान मूर्ति हूँ,-इस प्रकार सम्पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करने पर अन्तरंग में अपूर्ण अवस्था का ज्ञान रहे किन्तु प्रतीति में पूर्ण स्वभाव

का बल प्रगट हो गया है वह सम्यक् दृष्टि है, और उसी को भगवान स्वरूप अपनी आत्मा की स्तुति प्रारंभ हुई है।

सम्पूर्ण वस्तु की प्रतीति करने वाला जीव श्रद्धा में विकार से अलग हो गया है। मैं शरीर-मन-वाणी नहीं हूँ, पुण्य-पाप नहीं हूँ और अपूर्ण ज्ञानदशा भी मेरा स्वरूप नहीं है; मैं तो अखण्ड एक रूप पूर्ण स्वरूप हूँ,–इस प्रकार सम्पूर्ण वस्तु की प्रतीति करने पर विकार के अनुभव से अलग हुआ सो यही सम्यक्‌दर्शन, इसी में भगवान की सच्ची स्तुति है। यद्यपि आत्मा की अवस्था अपूर्ण है किन्तु शक्ति स्वभाव से आत्म-त्रिकाल पूर्ण है, केवल ज्ञान, केवल दर्शन अनन्त सुख और अनन्त वीर्य की वाटिका का फल (समूह) तो आत्मा ही है। आत्मा के स्वभाव में से ही केवलज्ञान और केवल दर्शनादिक प्रगट होते हैं, कहीं बाहर से नहीं आते। केवलज्ञानादि को प्रगट करने की शक्ति का कन्द तो भीतर ही पड़ा है, किन्तु स्वभाव शक्ति के प्रतीति रूप पोषण के अभाव से केवलज्ञान रुका हुआ है; जहाँ पूर्ण स्वभाव का प्रतीति रूप पोषण मिला कि वहाँ केवल ज्ञानादि रूप फल प्रगट होजाता है। मात्र श्रद्धा के अभाव से ही पर्याय रुक रही है। जगत को बाहर की श्रद्धा जमी हुई है, वह पुण्य की–विकार की श्रद्धा करता है, किन्तु अंतरंग में जो केवलज्ञान स्वभाव विद्यमान है उसकी श्रद्धा नहीं करता; यही संसार का कारण है।

जगत के लोग यह विश्वास तो कर लेते हैं कि मोर के छोटे से अंडे में से रंग-बिरंगे पंखों वाला तीन हाथ मोर निकलेगा किन्तु इस अखण्डानन्द आत्मा के स्वभाव के प्रतीति रूप अंडे में से केवलज्ञान रूपी मोर प्रगट होता है इस स्वभाव-महिमा की प्रतीति नहीं होती, और श्रद्धा में यह स्वभाव भाव नहीं जमता। स्वभाव की प्रतीति के द्वारा सम्यक् श्रद्धा होती है और स्वभाव की स्थिरता के द्वारा वीत-रागता तथा केवलज्ञान होता है; वह केवलज्ञान बाह्य अवलम्बन से नहीं आता किन्तु अंतरंग स्वभाव से ही प्रगट होता है। अखण्ड स्वभाव

की प्रतीति के बल से स्वाश्रय से गुण की पूर्ण परिणति प्रगट होती है। सम्यक्दर्शन और केवलज्ञान के प्रगट होने में अपूर्ण ज्ञान का अवलम्बन भी नहीं है-खण्ड-खण्ड ज्ञान के आश्रय से सम्यक्दर्शन या केवलज्ञान नहीं होता, इसलिये यहाँ यह कहा है कि खण्ड-खण्ड रूप ज्ञान अर्थात् भावेन्द्रिय आत्मा के स्वभाव से भिन्न है।

ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है, स्वभाव के कारण ज्ञान की अपूर्ण अवस्था नहीं होती। अपूर्णता पर निमित्त में युक्त होने से होती है, इसलिये वह अपूर्ण ज्ञान आत्मा का स्वरूप नहीं है, आत्मा का स्वरूप सम्पूर्ण जानना है; पूर्ण ज्ञान स्वभाव त्रिकाल है-इस प्रकार पूर्ण की श्रद्धा के बल से केवलज्ञान प्रगट होता है, किन्तु यहाँ केवलज्ञान प्रगट होने से पूर्व पूर्ण स्वभाव की सच्ची श्रद्धा और ज्ञान करने की बात चल रही है। जिसे पूर्ण स्वरूप की श्रद्धा ही नहीं है, वह पूर्णदशा लायेगा कहाँ से ! क्योंकि 'मूलं नास्ति कुतोशाखा' अर्थात् जहाँ मूल ही नहीं है-जड़ ही नहीं है, वहाँ वृक्ष कहाँ से होगा। इसी प्रकार सम्यक् श्रद्धाहीन कोई व्यक्ति कहे कि मैंने बहुत कुछ धर्म किया है तो उसकी बात सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि सम्यक्श्रद्धाज्ञान रूपी बीज के बिना केवल दर्शन और केवलज्ञानरूपी वृक्ष कहाँ से आयेंगे? जिसके श्रद्धारूपी जड़ पक्की होगी, उसके वृक्ष अंकुरित होकर कुछ ही समय में केवल ज्ञानादि रूपी फल अवश्य उत्पन्न होंगे। इसलिये जैन धर्म सर्व प्रथम सम्यक्श्रद्धा करने पर भार देता है। जो अपूर्ण अवस्था को आत्मा का सच्चा स्वरूप मान लेता है, वह आत्मा के पूर्ण स्वरूप की हत्या करता है। और जिसने यह माना है कि-अपूर्ण अवस्था से मेरा त्रिकाल स्वरूप भिन्न है, वह भावेन्द्रिय को जीतता है, यही भगवान की स्तुति है।

यहाँ ज्ञान की अपूर्ण दशा से अपने को भिन्न जानने की बात कही है, किन्तु ज्ञान की अपूर्ण दशा उस समय आत्मा से अलग नहीं की जा सकती, आत्मा से अवस्था अलग नहीं की जा सकती। किन्तु त्रिकाल परिपूर्ण स्वभाव के लक्ष से यह प्रतीति में लेता है कि यह

अपूर्ण दशा मेरा स्वरूप नहीं है,-जो अपूर्णता है सो मैं नहीं हूँ, किन्तु मैं अखण्ड चैतन्य मूर्ति हूँ। इस प्रकार स्वभाव की ओर लक्ष करने पर पर्याय का लक्ष छूट जाता है, उसमें 'भावेन्द्रिय को अलग कर दिया' ऐसा कहा जाता है। अर्थात् दृष्टि की अपेक्षा से अपना स्वरूप भावेन्द्रिय से भिन्न है, यह प्रतीति में लिया सो जितेन्द्रियता है, और यही भगवान की सच्ची स्तुति है। इस प्रकार द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय से आत्मा की भिन्नता बताने वाली बात कही है।

अब यहाँ इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों से आत्मा की भिन्नता बतलाते हैं,-ग्राह्य ग्राहक लक्षण वाले सम्बन्ध की निकटता के कारण जो अपने संवेदन के साथ परस्पर एक से हुए दिखाई देते हैं, ऐसे भावेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले जो इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादिक पदार्थ हैं, उन्हें, अपनी चैतन्यशक्ति की स्वयमेव अनुभव में आने वाली जो असंगति है, उसके द्वारा अपने से सर्वथा भिन्न किया, सो यह इन्द्रियों के विषय भूत पदार्थों का जीतना हुआ। इसका विस्तृत विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

ग्राह्य=जानने योग्य पर पदार्थ। ग्राहक=जानने वाला ज्ञान। यहाँ पहले ही 'ग्राह्य ग्राहक' कहकर परवस्तुओं और आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है। 'जगत सब कल्पना मात्र है, पर वस्तुएँ कुछ हैं ही नहीं,' इस प्रकार जो वस्तु का अस्वीकार करता है और यह मानता है कि एक आत्मा ही सर्व व्यापी है सो वह स्थूल मिथ्या दृष्टि है; क्यों कि एक-एक आत्मा अपने से पूर्ण है, ऐसा न मानकर 'सब मिलकर एक ही आत्मा है, और सब उसी के अंश हैं' इस प्रकार जो मानता है, वह एक आत्मा को अनन्तवाँ भाग मानता है, और जगत के अनन्त आत्माओं को भी पूर्ण स्वरूप से न मानकर अनन्तवाँ भाग माना है। उस मान्यता में अनन्त जीव हिंसा का पाप है। इस जगत में अनन्त आत्मा हैं, वे सब अपने स्वरूप से पूर्ण हैं, देव-गुरु-शास्त्र हैं, कर्म हैं, जड़ पदार्थ हैं, राग हैं, संसार हैं, मोक्ष हैं; यह सब स्वीकार करने के

बाद उन देव-गुरु-शास्त्र या रागादि के साथ आत्मा का कैसा सम्बन्ध है, सो कहते हैं।

आत्मा और समस्त पदार्थों का ग्राह्य ग्राहक लक्षण वाला सम्बन्ध अर्थात् ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है। पन्चेन्द्रियों के विषयों की ओर का जो लक्ष है, सो शुभ या अशुभ राग है। देव-गुरु-शास्त्र शुभराग के निमित्त हैं, और स्त्री पुत्र लक्ष्मी इत्यादि अशुभ राग के निमित्त हैं। शुभ या अशुभ किसी भी प्रकार का राग इन्द्रिय-विषयों के लक्ष से ही होता है, स्वभाव के विषय में किसी प्रकार का राग नहीं होता; इसलिये देव-गुरु-शास्त्र तथा स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी इत्यादि के लक्ष होने वाला शुभाशुभराग भी परमार्थ से तो ज्ञेय में ही जाता है। आत्मा के ज्ञान स्वभाव के लक्ष से राग नहीं होता, इसलिये आत्मा के स्वरूप में राग नहीं है, और इसलिये राग ज्ञेय पदार्थ में जाता है, तथा ज्ञान स्वभाव उसे जानने वाला है; इस प्रकार ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है।

देव-गुरु-शास्त्र और रागादि के साथ आत्मा का ग्राह्य ग्राहक सम्बन्ध है, आत्मा उन सबको जाननेवाला है और वे सब जानने योग्य हैं, वहाँ उसे जानते हुए यदि यह माने कि यह वस्तु मुझे हानि-लाभ करेगी तो वह मिथ्यादृष्टि है। मात्र जानने में राग-द्वेष कहाँ है?

ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध की निकटता के कारण आत्मा और पर पदार्थ एक से दिखाई देते हैं, किन्तु एक नहीं हैं भिन्न ही हैं, यहाँ, ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध की निकटता बतलाते हैं;-जिस प्रकार का ज्ञेय प्रस्तुत हो वैसा ही आत्मा में ज्ञान होता है, और जैसा ज्ञान होता है वैसा ही प्रस्तुत ज्ञेय होता है। सामने सफेद मूर्ति विद्यमान हो और ज्ञान में काली हंडिया ज्ञात हो, ऐसा नहीं होता; ज्ञेय ज्ञायक का ऐसा मेल है, उसे यहाँ निकट सम्बन्ध कहा है; निकट सम्बन्ध दो पदार्थों का पृथकत्व बतलाता है, यदि ज्ञेय के आधार से ज्ञान हो तो ज्ञेय ज्ञायक में निकट सम्बन्ध नहीं रहा किन्तु दोनों एकमेक हो गये। ज्ञान और ज्ञेय की एकता नहीं है इसलिये ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं होता। ज्ञेय और

ज्ञान का निकट सम्बन्ध होने पर भी ज्ञेय पदार्थों के कारण ज्ञान नहीं होता।

ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध की ऐसी निकटता है कि सामने अलमारी हो तो ज्ञान में अलमारी ही ज्ञात होती है, घड़ी हो तो घड़ी दिखाई देती है, घड़ी में चार बजकर सत्रह मिनिट हुए हों तो ज्ञान में वैसा ही ज्ञात होता है; तात्पर्य यह है कि सामने जैसा भी पदार्थ हो ज्ञान वैसा ही स्वतंत्रतया जान लेता है। जो ऐसे ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध को नहीं समझता उस अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो जाता है कि मेरा ज्ञान ज्ञेय पदार्थ के आश्रय से होता है। जब राग होता है तब ज्ञान में राग ही प्रतीत होता है, द्वेष नहीं इसलिये मेरा ज्ञान राग के अधीन है इस प्रकार अज्ञानी अपने ज्ञान को पराधीन मानकर ज्ञेय ज्ञायक संकरदोष उत्पन्न करता है, और इसलिये उसे ज्ञेय पदार्थों से भिन्न अपने स्वतंत्र ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं है। यहाँ ज्ञेय ज्ञायक की भिन्नता समझाते हैं कि भाई! तेरा ज्ञानस्वभाव स्वतः जाननेवाला है, और समस्त ज्ञेय तेरे ज्ञान में ज्ञात होते हैं, ऐसा ज्ञेय ज्ञायकता का निकट सम्बन्ध है, किन्तु कर्ता कर्म का सम्बन्ध नहीं है, इसलिये समस्त पदार्थों से अपने ज्ञानस्वरूप को भिन्न मान।

यह भगवान की स्तुति की बात चल रही है। जैसा भगवान ने किया वैसा करने से भगवान की स्तुति होती है या उससे कुछ दूसरा करने से? भगवान ने तो सर्व से और विकार पर से अपने ज्ञानस्वभाव को अलग जाना है, और राग-द्वेष को दूर करके उसमें स्थिर हुए तब उनके पूर्णदशा प्रगट हुई हैं। उन भगवान की स्तुति करने के लिये पहले यह निश्चय करना चाहिये कि—भगवान की ही भाँति मेरा ज्ञानस्वभाव पर से और विकार से भिन्न है; तभी भगवान की सच्ची स्तुति हो सकती है, दूसरे उपाय से नहीं।

जैसे भगवान का केवल ज्ञान किसी पर पदार्थ के आधार से नहीं जानता उसी प्रकार निम्न दशा में उसी ज्ञान पर के आधार से नहीं जानता,

किन्तु स्वतः जानता है। ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध की निकटता वह भूल का कारण नहीं है, किन्तु ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध को कर्ता कर्म रूप से मान लेता है, यही विपरीत मान्यता है, और यह मान्यता ही विकार का मूल है। यदि ज्ञेय पदार्थों के साथ निकट सम्बन्ध भूल का कारण हो तो केवली भगवान को बहुत सी भूलें होनी चाहियें क्योंकि वे सभी ज्ञेयों को जानते हैं; ज्ञान में जो वस्तु ज्ञात होती है वह भूल का कारण नहीं है। ज्ञान में अधिक वस्तुएँ ज्ञात हों या थोड़ी वह आत्मा के चैतन्य स्वभाव की घोषणा है। उस समय 'मैं आत्मा तो जानने वाला हूँ, राग करने वाला नहीं हूँ. पर के कारण मेरा ज्ञान नहीं होता' इस प्रकार अपनी स्वाधीनता की श्रद्धा करने की जगह यह मान लें कि 'पर वस्तु के कारण अपना ज्ञान हुआ है और ज्ञान में पर वस्तु ज्ञात हुई इसलिये राग हुआ है, अर्थात् मेरा ज्ञान ही राग वाला है' सो यही भूल है। ज्ञेय का लक्ष करते हुए अपने सम्पूर्ण ज्ञान स्वभाव को ही भूल जाता है, और इसलिये ज्ञेय पदार्थों के साथ ज्ञान का एकत्व भासित होता है। किन्तु ज्ञेयों को जानकर 'मेरा ज्ञान स्वभाव सबसे भिन्न ही है' इस प्रकार अपने ज्ञान स्वभाव को अलग ही प्रतीति में लेना, सो यही इन्द्रियों के विषयों को अलग करना है। जिसने ज्ञेयों से भिन्न ज्ञान स्वभाव की प्रतीति की है, उसने, अस्थिरता के कारण पर लक्ष से होने वाले अल्प राग द्वेष भी वास्तव में तो ज्ञेय रूप ही हैं, जो राग द्वेष होता है सो उसे वह जान लेता है किन्तु उसे अपना स्वरूप नहीं मानता यही भगवान की सच्ची स्तुति है, यही धर्म है।

हे भाई! तुझे धर्म करना है, सुखी होना है, किन्तु मैं कौन हूँ और पर कौन है, ऐसे स्व-पर के पृथक्त्व को जाने बिना तू अपने में क्या करेगा? पहले पर पदार्थों से अपने पृथक्त्व को तो पहिचान! समस्त पर पदार्थों से मेरा स्वरूप भिन्न है' यह निश्चय करने पर अनन्त पर वस्तु की दृष्टि दूर होकर स्वभाव की दृष्टि में आगया अर्थात् सम्यक् दर्शन हो गया। बस, यहाँ से धर्म का प्रारम्भ होता है; इसलिये सर्व

प्रथम आचार्य भगवान स्व-पर का स्वरूप बताकर भेद विज्ञान ही कराते हैं, भेद विज्ञान से ही सर्व सिद्धि होती है।

आत्मा ज्ञान स्वरूप है और पर वस्तुएँ उसका ज्ञेय हैं। ज्ञान आत्मा को लेकर है और ज्ञेय वस्तुओं को लेकर है। दोनों अपने-अपने स्वतंत्र कारणों से हैं, किन्तु उन्हें ज्ञेय ज्ञायक की निकटता का व्यावहारिक सम्बन्ध अनादि काल से है। ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध को यहाँ व्यावहारिक सम्बन्ध इसलिये कहा है कि वह पर्याय की अपेक्षा से है, द्रव्य की अपेक्षा से एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। स्व द्रव्य और पर द्रव्य त्रिकाल भिन्न हैं, तथापि अज्ञानी को ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध की निकटता से मानों स्व-पर एक हो जाते हों इस प्रकार एक से भासित होते हैं पृथकत्व भासित नहीं होता। स्व और पर एक नहीं हैं, किन्तु एक से भासित होते हैं, इसीलिये अज्ञान है। यदि स्वपर के पृथक्त्व को जान ले तो अज्ञान न रहे।

अच्छे मिष्टान्न को देखने पर उस समय राग होता है, और मुँह में पानी आजाता है। वहाँ मिष्टान्न के कारण अथवा उसके ज्ञान के कारण राग नहीं हुआ है, और न मुँह में पानी आने का कारण कोई रोग है। मिष्टान्न अलग वस्तु है, ज्ञान अलग है, राग अलग है, और मुँह में जो पानी आया है सो वह अलग है। ज्ञान जानने वाला है, और मिष्टान्न, राग, पानी, ज्ञेय हैं। ज्ञानी उस होने वाले राग को जानता अवश्य है, किन्तु उसे अपना स्वभाव नहीं मानता। और अज्ञानी उस राग को जानता है, किन्तु वह उस राग और ज्ञान के बीच भेद नहीं कर सकता, अर्थात् राग को अपना स्वरूप मान बैठा है। यहाँ आचार्यदेव ने राग और ज्ञान के बीच सूक्ष्म भेद ज्ञान कराया है। आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान का क्षयोपशम होता है, उसी प्रकार का ज्ञेय स्वयं विद्यमान होता है, वहाँ जिसे आत्मा का लक्ष नहीं है उसे यह खबर नहीं है कि अपना ज्ञान आत्मा में से ही प्रगट होता है, इसलिये 'यह प्रस्तुत वस्तु ऐसी है जिसके कारण मुझे

ज्ञान हुआ है' इस प्रकार अज्ञानी को ज्ञेय और ज्ञायक एक-से मालूम होते हैं, किन्तु वे एक नहीं हैं, अपनी चैतन्य शक्ति का स्वयमेव अनुभव में आने वाला जो असंग भाव है सो उसके द्वारा पृथकत्व स्पष्ट भासित होता है। चैतन्य शक्ति असंग है वह अपने स्वभाव से ही जानती है, किसी पर पदार्थ के संयोग से नहीं।

प्रश्नः—यदि आप यह कहेंगे कि ज्ञेय पदार्थ के कारण से ज्ञान नहीं होता तो कोई सत् शास्त्रों का बहुमान नहीं करेगा; क्योंकि शास्त्र के कारण से तो ज्ञान होता नहीं है?

उत्तरः—जो सत्य को समझेगा उसी को सत् के निमित्तों की ओर का यथार्थ शुभ विकल्प उठेगा। शास्त्र के कारण ज्ञान नहीं हुआ है, किन्तु जब स्वयं सत्य को समझता है तब सत् शास्त्रादिक ही निमित्त के रूप में होते हैं। जब निमित्त की ओर से लक्ष को हटाकर निज में लक्ष किया तब सत्य को समझता है, और तभी पर वस्तु में निमित्तपन का उपचार होता है। कोई जीव परमार्थ से देव-गुरु-शास्त्रादि पर पदार्थों का बहुमान नहीं करता, किन्तु अपने को जो सत् समझ में आया है उस सत् समझ का ही स्वयं बहुमान करता है, किन्तु अभी वीतराग दशा नहीं है इसलिये सत् को समझने का बहुमान करने पर शुभ विकल्प उठता है, और शुभ विकल्प के समय अशुभ निमित्तों का लक्ष नहीं होता, सच्चे किन्तु देव-गुरु-शास्त्रादिक शुभ निमित्तों का ही लक्ष होता है; इस प्रकार यथार्थ समझ होने पर सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के बहुमान का शुभ विकल्प आये बिना नहीं रहेगा। किन्तु जो जीव देव-गुरु-शास्त्र के कारण से आत्मा का ज्ञान होना मानता है वह अपने स्वाधीन तत्व की हिंसा करता है, और देव-गुरु-शास्त्र की आज्ञा का अनादर करता है। देव-गुरु-शास्त्र तो यह बतलाते हैं कि–तू ज्ञान स्वरूप है, तेरा ज्ञान तेरे स्वभाव में से ही प्रगट होता है, तेरे ज्ञान के लिये पर का आधार नहीं है, ऐसा न मानकर जो ऐसा विपरीत

मानता है कि–मेरा ज्ञान पर के आधार से प्रगट होता है, वह देव-गुरु-शास्त्र के कथन को नहीं मानता।

'ज्ञान अमुक इन्द्रियों के विषय में लग गया है' ऐसा कहा जाता है, वहाँ विषय जड़ नहीं किन्तु राग है; पर वस्तु में ज्ञान नहीं रुकता, किन्तु पर वस्तु को जानने पर स्वयं राग बांध करके राग में अटक जाता है। जानने में राग करके अटक जाना ही विषय है। स्व विषय का लक्ष छोड़कर पर में लक्ष का जाना ही विषय है। ज्ञान की एकता आत्मा के साथ करने की जगह पर लक्ष में ज्ञान की एकता हुई सो यही विषय है। राग और राग का निमित्त पर वस्तु-दोनों को एक करके उसे 'इन्द्रिय विषय' कहकर आत्मा से अलग कहा है। एक ओर मात्र ज्ञान स्वभाव रखा है, दूसरी ओर सब ज्ञेय में अन्तर्हित कर दिया; इस प्रकार दृष्टि के द्वारा दो भेद ही कर डाले हैं। शुभ या अशुभ किसी भी प्रकार का राग, और उस राग के निमित्त आदि-सबसे मैं अलग ज्ञाता ही हूँ ऐसे असंग स्वरूप का ज्ञान करना ही-इन्द्रियों के विषय भूत स्पर्शादिक पदार्थों को जीतना है।

यहाँ 'इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादिक पदार्थ' कहा है, इसलिये किसी को प्रश्न उठ सकता है कि–स्पर्शादिक तो गुण है, तब उन्हें पदार्थ क्यों कहा है? उसका समाधान यह है कि–यद्यपि स्पर्शादिक गुण हैं, किन्तु गुण गुणी के अभिन्न होने से स्पर्शादिक गुण के जानने पर वस्तु ही साथ ही साथ ज्ञात हो जाती है, इस अपेक्षा से यहाँ स्पर्शादि को पदार्थ कहकर गुण और वस्तु की अभिन्नता से कथन किया है। और फिर यहाँ स्पर्शादि कहने का यह भी आशय है कि यहाँ इन्द्रियों के विषय का वर्णन है। इन्द्रियों के द्वारा परमाणु ज्ञात नहीं होता, तथा स्पर्श रस, गंध, वर्ण-यह सभी गुण एक साथ ज्ञात नहीं होते, किन्तु स्पर्शादि एक गुण ही ज्ञात होता है, इसलिये यहाँ 'स्पर्शादिक पदार्थ' कहा है।

इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों की ओर लक्ष करने पर राग का अनुभव होता है, किन्तु यह प्रतीति में लेने पर कि मेरा ज्ञान विषयों

से भिन्न है—चैतन्य की असंगता स्वयमेव अनुभव में आती है; वहाँ राग की या इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती । ज्ञान स्वयं ही अनुभव में आता है । ज्ञान के समय पर वस्तुयें भले ही विद्यमान हों किन्तु उन वस्तुओं के आधार से ज्ञान का विकास नहीं हुआ है, ज्ञान का विकास तो मात्र ज्ञान स्वभाव के ही आधार से होता है । चैतन्य का ज्ञान राग में या पर में नहीं मिल जाता, इसलिये, वह असंग है । ज्ञान पर के आधार से तो होता ही नहीं, किन्तु वास्तव में ज्ञान स्वतः ज्ञान दशा को ही जानता है, पर को नहीं जानता, ज्ञान के द्वारा स्वयमेव ज्ञान का अनुभव करने पर परपदार्थ ज्ञात हो जाते हैं ।

पर पदार्थों से ज्ञान की भिन्नता ही है, इस प्रकार स्वयमेव (मात्र आत्मा से) अनुभव में आने वाली जो असंगता है, उसकी श्रद्धा के द्वारा इन्द्रियों के विषयभूत पर द्रव्यों को अपने से जुदा कर दिया । असंग चैतन्य स्वरूप का अनुभव करने पर राग और पर द्रव्यों का लक्ष छूट जाता है, इसी को जितेन्द्रियता कहा है । जो असंग चैतन्य स्वरूप और इन्द्रियों के विषय भूत पदार्थों की एकता मानकर संग-असंगता की खिचड़ी बनाते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं संकर दोष युक्त हैं और चैतन्य की असंगता की श्रद्धा के द्वारा उस विपरीत मान्यता रूप संकर दोष का परिहार होता है; संकर दोष का परिहार ही भगवान की सच्ची स्तुति है ।

भगवान की सच्ची स्तुति के तीन प्रकार हैं । उसमें से द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय को जीतने के दो प्रकार कहे जा चुके हैं, यहाँ तीसरे की चर्चा है । पर पदार्थों से अपनी असंगता है, ऐसी दृष्टि के द्वारा अपने ज्ञान स्वभाव से पर पदार्थ को सर्वथा अलग किया—अलग जाना सो पर पदार्थों का जीतना है । मैं अखण्ड ज्ञान स्वरूप आत्मा जड़ इन्द्रियों से भिन्न हूँ, खण्ड-खण्ड ज्ञान से भिन्न अर्थात् अपूर्ण ज्ञान जितना नहीं हूँ, और सर्व ज्ञेय पदार्थों से भिन्न हूँ, ऐसी अंतरंग स्वभाव की दृष्टि का होना ही सच्ची स्तुति है । पर पदार्थ की सहायता से

मुझे आत्म लाभ होता है ऐसी मान्यता छोड़कर अपने स्वभाव में एकाग्रता करना सो उसका लाभ इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को जीतना अथवा सम्यक् दर्शन है, और यही भगवान की सच्ची स्तुति है।

प्रश्नः—इसमें कहीं भी भगवान का तो नाम ही नहीं आता और मात्र आत्मा ही आत्मा की बात है, तब फिर इसे भगवान की स्तुति कैसे कहते हो ?

उत्तरः—यहाँ भगवान की निश्चय स्तुति की बात है। निश्चय से तो जैसा भगवान का आत्मा है वैसा ही स्वयं है, इसलिये निश्चय में आत्मा की ही बात आती है। पर की स्तुति (भगवान का लक्ष) निश्चय स्तुति नहीं है, किन्तु शुभराग है। अपने पूर्ण स्वभाव की प्रतीति करना ही भगवान की निश्चय स्तुति है,-यही आत्म धर्म है। अपने लिये तो स्वयं ही भगवान है, इसलिये निश्चय से जो अपनी स्तुति है सो वही भगवान की स्तुति है। भगवान में और अपने में निश्चय से कोई भी अन्तर माने तो वह भगवान की स्तुति नहीं कर सकता। दृष्टि में असंग चैतन्य स्वरूप की स्तुति की सो वह जितेन्द्रिय हो गया। अपने अलग स्वरूप की दृष्टि करने पर सभी पर पदार्थों को और विकार को अपने से पृथक जानना ही जितेन्द्रियता है। यहाँ टीका में द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयभूत पर पदार्थों को जीतने की बात क्रमशः की गई है, परन्तु उसमें कोई क्रम नहीं होता। जहाँ अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ कि वहाँ तीनों का जीतना एक ही साथ होता है। यहाँ जीतने का अर्थ उन पदार्थों का दूर ढकेल देना नहीं है, और न उन पर द्रव्यों में कोई परिवर्तन ही करना है, किन्तु अपना लक्ष अपनी ओर करके उन्हें लक्ष में से दूर करना है। उन सब की ओर के लक्ष को छोड़कर स्वभाव का लक्ष किया सो यही उनका जीतना है।

द्रव्येन्द्रियों से खण्ड खण्ड रूप ज्ञान से या ज्ञेय पदार्थों से आत्मा का सम्यक्दर्शनादि कार्य कर सकता हूँ। ऐसी मान्यता में ज्ञेय ज्ञायक

संकर दोष है, स्व-पर की एकत्व मान्यता है, और यही मिथ्यात्व है, किन्तु उस ओर से लक्ष को छोड़कर स्व-लक्ष से उस स्व-पर के एकत्व की मान्यता को छोड़ देने पर संकर दोष दूर हुआ और सम्यक्दर्शन प्रगट हुआ। परन्तु यदि इन्द्रियों से ज्ञान माने या विकल्प से अथवा पर वस्तु से ज्ञान माने तो उसका ज्ञान कभी भी वहाँ से हटे ही नहीं; किन्तु मेरा ज्ञान स्वतंत्र है, जड़ इन्द्रियों की, विकल्प की या पर वस्तु की मेरे ज्ञान में नास्ति है,—यदि इसे समझ ले तो ज्ञान स्वभाव में लक्ष करे और उन पर से ज्ञान का लक्ष हटा ले।

यहाँ द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयभूत पर पदार्थों से ज्ञानस्वभाव अलग है, यह बात तीन प्रकार से भेद करके बताई है, किन्तु वास्तव में तीनो में एक ही का समझाना है कि–तेरा जो लक्ष पर की ओर जाता है, उसे अपनी ओर कर। जब तेरा लक्ष अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव से हटा है तब वह जड़ इन्द्रियों पर गया है, और जब जड़ इन्द्रियों की ओर लक्ष गया तब ज्ञान में भेद होकर भावेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, और भावेन्द्रियों के द्वारा जाननेवाला ज्ञान पर ज्ञेयों को ही जानता है,–इसलिये उन तीनों का निषेध करके ज्ञानस्वरूप आत्मा का लक्ष कराया है।

अतीन्द्रिय आत्मा इन्द्रियों से परे है। उसका लक्ष करने पर इन्द्रियों का अवलम्बन छूट जाता है, वही इन्द्रियों का जीतना है। पर सन्मुख होने में द्रव्येन्द्रियादिक तीनों एक साथ आते हैं और स्व-सन्मुख होने पर तीनों के अवलम्बन का एक साथ अभाव होता है। निमित्त खण्ड और पर इन तीनों से परे स्वतंत्र, अखण्ड चैतन्य स्वभाव की ओर ढलकर उसकी प्रतीति करना ही धर्म है, यही अनन्त तीर्थंकरों की सच्ची स्तुति है।

इस प्रकार अखण्ड ज्ञान स्वरूप के लक्ष से इन्द्रियादि को जीतकर स्तुति की सो उस स्तुति के फल का यहाँ कुछ वर्णन करते हैं। 'इस प्रकार द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को जीत-

कर, (अज्ञानदशा में) जो ज्ञेय ज्ञायक संकर नामक दोष आता था वह सब दूर होने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभाव के द्वारा सर्व अन्य द्रव्यों से परमार्थतः भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करता है, वह निश्चय से जितेन्द्रिय जिन है।" (श्री समयसार–गुजराती, पृष्ठ ५७)

यहाँ आचार्यदेव ने सम्यक्दृष्टि को निश्चय में जिन कहा है। जिन्हें सम्यक्दर्शन हुआ है वे अल्पकाल में ही अवश्य जिन होंगे। जिन्होंने जिनेन्द्रदेव की भाँति ही अपने आत्म-स्वभाव को पहिचान कर उसकी प्रतीति कर ली है, वे 'जिन' ही गये हैं। सम्यक्दृष्टि को अनेक स्थान पर शास्त्रों में जिन कहा है। अरे! जगत को सम्यक् दर्शन की महिमा ज्ञात नहीं है। सम्यक् दर्शन ने तो सम्पूर्ण पूर्णानन्दी द्रव्य को प्रतीति में समाविष्ट कर लिया है। सम्पूर्ण द्रव्य को प्रतीति में लिया कि फिर पूर्ण दशा अलग हो ही नहीं सकती।

आत्मा का एक रूप स्वाभाविक चैतन्य स्वभाव होने पर भी, पहले अज्ञान दशा के कारण अनेक रूप से खण्ड-खण्ड रूप मानता था, किन्तु जहाँ सच्चे ज्ञान के द्वारा स्वभाव को प्रतीति में लिया कि वहाँ पर के साथ एकत्व बुद्धि दूर होगई और खण्ड-भेद रहित एकत्व स्वरूप में स्थित टंकोत्कीर्ण एकाकार स्वभाव अनुभव में आगया, ऐसा अनुभव करने वाला जितेन्द्रिय जिन है।

प्रश्नः—यहाँ सिद्ध पर्याय का स्वरूप बताया जा रहा है?

उत्तरः—सिद्ध पर्याय का स्वरूप नहीं किन्तु अखण्ड द्रव्य का स्वरूप बताया जा रहा है। सिद्ध तो एक पर्याय है और यहाँ ऐसी अनन्त पर्यायों से अखण्ड द्रव्य बताया जाता है, इस द्रव्य में से ही सिद्ध दशा प्रगट होती है। यहाँ पर्याय का लक्ष छुड़ाकर स्वभाव का लक्ष करने को कहा गया है, क्योंकि अखण्ड द्रव्य स्वभाव को लक्ष में लेना ही धर्म है। अखण्ड, एकरूप चैतन्य स्वभाव की प्रतीति में पर की ओर का लक्ष ही नहीं है, आत्मा की सम्पूर्ण चैतन्य शक्ति अन्त-

मुख होने की शक्ति से युक्त है, वह शक्ति इन्द्रियादिक बाह्य सामग्री की हीनता से हीन नहीं होती। स्वयं स्वभाव की रुचि करके अपूर्ण ज्ञान को अपनी ओर करे तो कोई पर द्रव्य उसे नहीं अटकाते। यहाँ जो पर लक्ष से अवस्था के खण्ड होते हैं, उन्हे उड़ा दिया है,-एक ओर सम्पूर्ण ज्ञान मूर्ति अखण्ड आत्मा को रखकर इन्द्रियों, खण्डरूप ज्ञान और पर वस्तुओं को आत्मा से अलगरूप में बताया है। इस प्रकार पर का, विकल्प का, और पर्याय का लक्ष हटाकर एकरूप अखण्ड स्वभाव की प्रतीति करना ही ईश्वर का साक्षात्कार है, वही आत्म दर्शन है वही निश्चय स्तुति है, और वही प्रथम धर्म है।

अवस्था में अपूर्ण ज्ञान हो और यदि वह पर की ओर जाये तो आत्मा को नहीं जान सकता, तथा जो ज्ञान आत्मा को नहीं जानता वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। अवस्था में अल्प ज्ञान हो तथापि यदि वह सामान्य स्वभाव की ओर ढले तो वह ज्ञान आत्मा का ज्ञाता होने से स्वभाव की ओर का हुआ। जितना ज्ञान अपने स्वभाव की ओर गया उतना ज्ञान तो आत्मा के साथ एक हुआ है, इसलिये वह अखण्ड है, और जो ज्ञान पर की ओर जाता है वह खण्ड खण्ड रूप है; उस खण्ड खण्ड ज्ञान को यहाँ आत्मा का स्वरूप नहीं कहा है; क्योंकि यहाँ सम्यक्दर्शन को अखण्ड विषय बताया है; इसलिये यहाँ मात्र सामान्य की बात ली गई है। ज्ञानी की दृष्टि अखण्ड एक रूप स्वभाव पर है, स्व के जानने पर पर का ज्ञान होता है। अज्ञानी को स्व का भान न होने से वह परोन्मुख होकर इस प्रकार ज्ञान का माप करता है कि-'मैं पर को ही जानता हूँ, मेरा ज्ञान पर को जाननेवाला है। ज्ञानी जानता है कि मैं स्वयं ही ज्ञान हूँ, अपने ज्ञान के विशेषों के द्वारा मैं अपने को ही जानता हूँ।

अपूर्ण खण्ड खण्ड रूप ज्ञान आत्मा की पर्याय में होने पर भी यहाँ उसे चैतन्य स्वभाव से अलग क्यों कहा है? वास्तव में तो ज्ञान की अपूर्ण पर्याय भी आत्मा के ज्ञान स्वभाव के ही विशेष हैं, परन्तु दर्शन

का विषय अभिन्न है, उसमें विशेष अवस्था का ग्रहण नहीं है। दर्शन में तो सामान्य परिपूर्ण ही आता है। जब दर्शन सामान्य स्वभाव को निश्चित करता है तब पर्याय को गौण करके ज्ञान स्वोन्मुख होकर सम्यक् होता है, और वह सम्यक् ज्ञान सामान्य विशेष दोनों को जानता है।

अखण्ड आत्म स्वभाव की ओर उन्मुख होने वाले-चतुर्थ गुण स्थानवर्ती सम्यक् दृष्टि को यहाँ जितेन्द्रिय 'जिन' कहा है। राग और अपूर्णता से रहित पूर्ण स्वरूप को दृष्टि में लिया है और पर्याय की अशक्ति से अल्प राग-द्वेष होता है, उसे अपना नहीं मानता, इसलिये दृष्टि की अपेक्षा से वह (सम्यक् दृष्टि) जिन है। आत्मा पर से भिन्न मात्र ज्ञाता दृष्टा है, ऐसे स्वभाव की स्वाश्रित दृष्टि के द्वारा ज्ञान को स्वोन्मुख करके जिसने पर के आश्रय को जीत लिया है (ज्ञान में से पराश्रय को छोड़ दिया है) वही जिन है। ज्ञान में से पराश्रयता को छोड़ दिया या उसे अस्वीकार कर दिया सो इससे अपूर्णता का भी निषेध होगया। क्योंकि ज्ञान में जो अपूर्णता थी वह पराश्रय से थी। स्वभाव के आश्रय से अपूर्णता नहीं है। ऐसी प्रतीति करने के बाद अल्प अस्थिरता के कारण जो राग रह गया उसका ज्ञाता हो गया है। पहले अज्ञान दशा में विकार जितना ही अपना स्वरूप मानकर स्वयं पर वस्तु से विजित हो जाता था, जब विकार रहित अपने त्रिकाल स्वभाव की प्रतीति के द्वारा विकार से अलग हो गया है, अर्थात् पृथक् ज्ञान स्वभाव क द्वारा इन्द्रियों की विषयभूत पर वस्तु को जीत लिया है, इसलिये वह वास्तव में जितेन्द्रिय जिन है।

'ज्ञान स्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है इसलिये उसे लेकर आत्मा सर्वाधिक है, अलग ही है। जड़ पंचेन्द्रियों की हीनता होने से आत्मा के ज्ञान की हीनता मानने वाला जड़ बुद्धि है। पंचेन्द्रियाँ तो अचेतन हैं, उनसे आत्मा का ज्ञान नहीं होता, किन्तु यहाँ आचार्य देव यह बतलाते हैं कि पंचेन्द्रियों के निमित्त से होने वाला खण्ड-खण्ड

रूप ज्ञान कदाचित् शिथिल हो जाये (पर को जानने के लिये अशक्त हो जाये) तथापि आत्मा की ओर की श्रद्धा में किंचित् मात्र भी शिथिलता नहीं आती। यहाँ इन्द्रियों के निमित्त से होने वाले ज्ञान के शिथिल होने की बात कही है, क्योंकि इन्द्रियों के निमित्त से जानने वाला ज्ञान पर को ही जानता है, और पर को जानने वाले ज्ञान की महिमा नहीं है, किन्तु निज को जानने वाले ज्ञान की महिमा है, इसलिये पर को जानने में ज्ञान की शिथिलता हो तथापि कहीं स्व को जानने की मेरे ज्ञान की शक्ति कम नहीं होती। भले ही पर का ज्ञातृत्व विशेष न हो किन्तु ज्ञान की स्व में एकाग्रता के द्वारा मैं केवलज्ञान प्राप्त करूँगा, क्योंकि मेरे ज्ञान स्वभाव को किसी पर का अवलम्बन नहीं है।

जड़ इन्द्रियाँ तो अचेतन हैं ही किन्तु यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि-जड़ इन्द्रियों के निमित्त से होने वाला पर की ओर का खण्ड-खण्ड ज्ञान भी अचेतन है; क्योंकि पर के जानने में रुका हुआ ज्ञान चैतन्य के विकास को रोकता है। पर को जानते जानते केवलज्ञान नहीं होता, किन्तु निज को जानते जानते केवलज्ञान होता है। पर को जानने में रुक जाने वाला ज्ञान केवलज्ञान को रोकता है, इसलिये वह भी अचेतन है। जिसका एकत्व चैतन्य के साथ नहीं है उसे चेतन कैसे कहा जा सकता है? इसलिये इन्द्रियों और खण्ड-खण्ड रूप ज्ञान से चैतन्य स्वभाव भिन्न है। इसप्रकार सम्यक् दृष्टि अनुभव करते हैं।

जो इन्द्रियाँ अपने स्वरूप में नहीं हैं वे उग्र रहें या मन्द, इससे आत्मा को क्या लेना देना है? इतना ही नहीं किन्तु यदि पर को जाननेवाली खण्ड खण्ड रूप ज्ञान की शक्ति कम हो तो भी स्व के लिये कोई बाधा नहीं है। पर को जाननेवाला ज्ञान कम हो या बढ़े, उसके साथ केवलज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है। मात्र आत्मा स्व-ज्ञान स्वभाव का पिंड है, जहाँ उस अन्तर स्वभाव में दृष्टि गई कि वहाँ बाह्य पदार्थों को जानने की वृत्ति ही छूट जाती है; अर्थात् भावेन्द्रियाँ

भी छूट ही जाती हैं, क्योंकि भावेन्द्रियों का झुकाव बाहर ही है। निमित्ताधीन होने पर ज्ञान का झुकाव निज में नहीं होता। जो ज्ञान स्वोन्मुख होता है उस ज्ञान में निमित्त का अवलम्बन छूट जाता है।

समस्त निमित्तों का अवलम्बन छूटकर मात्र ज्ञान के द्वारा अनुभव में आनेवाला आत्मा का ज्ञान स्वभाव कैसा है, सो कहते हैं। "विश्व के (समस्त पदार्थों के) ऊपर रहता हुआ (उन्हें जानता हुआ भी उस रूप न होने वाला) प्रत्यक्ष उद्योतभाव से सदा अंतरंग में प्रकाशमय अविनश्वर स्वतः सिद्ध और परमार्थ रूप भगवान ज्ञानस्वभाव है",

(श्री समयसार गुजराती, पृष्ठ ५८)

जो ज्ञानस्वभाव है सो भगवान ही है, क्योंकि मात्र ज्ञान में विकार नहीं रहता, अपूर्णता नहीं रहती, पर वस्तु का संग नहीं होता। सब के ज्ञातृत्व और अपने से परिपूर्णता युक्त ज्ञान भगवान ही है। भगवान के भव नहीं है, तथा ज्ञान स्वभाव में भी भव नहीं है। जिसे ज्ञान स्वभाव की प्रतीति होती है उसे भव की शंका नहीं रहती 'ज्ञान स्वभाव विकार से अधिक है, वह विश्व के ऊपर स्पष्ट ज्ञान होता है; वह समस्त पदार्थों को जानता है, किन्तु कहीं भी अपनापन मानकर अटक नहीं जाता। वह सबसे अलग ही रहता है, ज्ञान स्वभाव ऐसा नहीं है कि जिसे विकार हो सके। विकार के द्वारा ज्ञान स्वभाव दब नहीं जाता, किन्तु विकार से अलग का अलग साक्षीभूत रहता है, वह विकार भी ज्ञाता ही रहता है। जहाँ विकार का मात्र ज्ञाता ही होता है, वहाँ विकार कहाँ रहेगा? आत्मा तो ज्ञाता है, ज्ञाता भाव में विकार भाव नहीं रह सकता, इसलिये वह अल्प काल में दूर हो ही जाता है। इस प्रकार आत्मा का ज्ञान स्वभाव समस्त भावों से पृथक् रहकर मात्र जानता है, इसलिये वह विश्व पर उत्तरित रहता है।

और वह ज्ञान स्वभाव प्रत्यक्ष उद्योत भाव से सदा ही अंतरंग में प्रकाशमान है, अर्थात् वह खण्ड-खण्ड ज्ञान जितना नहीं है। पहले ज्ञान

बाह्योन्मुख रहता था किन्तु अब यह ज्ञान सदा अन्तरोन्मुख रहने वाला है, अपने को जानने में प्रत्यक्ष उद्योतमान है । इन्द्रिय ज्ञान सदा बाहर का ही जानता था, किन्तु यह स्वभावोन्मुख ज्ञान सदा अंतरंग में प्रकाशमान है ।

आत्मा का ज्ञान स्वभाव सदा अविनश्वर और स्वतःसिद्ध है । ज्ञानस्वभाव नया नहीं, किन्तु त्रिकाल स्वतःसिद्ध है । ज्ञान किसी पर पदार्थ के कारण से नहीं किन्तु वह आत्मा का स्वतःसिद्ध स्वभाव है, वह अविनश्वर होने से कभी नष्ट नहीं होता, त्रिकाल जैसा का तैसा रहता है । यहाँ पर्याय नहीं बतानी है, क्योंकि पर्याय तो क्षणिक है, मोक्ष मार्ग की पर्याय भी नाशवान है, यहाँ पर्याय को गौण रखकर त्रिकाल ज्ञान स्वभाव सामान्यतया नित्य बना रहता है, इसलिये उसे अविनश्वर कहा है । ऐसा जो भगवान ज्ञान स्वभाव है वही परमार्थ स्वरूप है । मात्र ज्ञाता स्वभाव उसमें विकार नहीं है । ऐसा ज्ञाता स्वभाव परमार्थ स्वरूप है ।

जहाँ अपूर्ण दशा और पूर्ण दशा के बीच भेद होता है वहाँ स्तुति करनी होती है, किन्तु पूर्ण दशा होने के बाद स्तुति करना नहीं होता । इस गाथा में जिस स्तुति का वर्णन किया है उस स्तुति के करनेवाले चतुर्थ गुण स्थानवर्ती सम्यक्दृष्टि जीव हैं । सभी सम्यक्दृष्टियों के यह स्तुति होती है । इससे आगे की जो उच्च स्तुतियाँ हैं वे मुनियों के होती हैं, जिनका वर्णन बत्तीसवीं और तेतीसवीं गाथा में किया गया है । इस प्रकार एक निश्चय स्तुति तो यह हुई । पहले अज्ञानभाव से स्व-पर को एक रूप मानकर, खण्ड-खण्ड रूप ज्ञान की तथा पर की स्तुति करता था, राग में ही अपना स्वरूप मानकर अटक रहा था, उस पर में एकाग्रता करके विकार की स्तुति करता था, उसके स्थान पर इकतीसवीं गाथा में जिस प्रकार कहा गया है, उस प्रकार पर से भिन्न अपने ज्ञान स्वभाव की प्रतीति और अनुभव करना सो यही अखण्ड ज्ञान स्वभाव भगवान आत्मा की निश्चय स्तुति है । आत्मा का ज्ञान

स्वभाव ही भगवान है, और उसकी स्तुति-एकाग्रता ही भगवान की निश्चय स्तुति है, यही सच्चा धर्म है।

आत्मा की परिचय युक्त इस एक निश्चय स्तुति में सामायिक, स्तुति वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान—यह छहों क्रियाएँ समाविष्ट हो जाती हैं।

सामायिक—अपने ज्ञान स्वभाव की एकाग्रता होने पर ऐसा विषय भाव छूट गया कि पुण्य अच्छा और पाप खराब है, और समभाव से उनका इस प्रकार ज्ञाता रह गया कि पुण्य-पाप दोनों मेरा स्वरूप नहीं हैं; यही सच्ची सामायिक है।

स्तुति-पहले पर पदार्थ में एकाग्रता करके ज्ञान स्वभाव को भूल जाता था, और अब ज्ञान स्वभाव की एकाग्रता की सो यही सच्ची स्तुति है। इसी में अनन्त-केवली-सिद्ध भगवन्तों की स्तुति आ जाती है।

वंदना—पहले विकार से लाभ मानकर विकार की ओर झुक जाता था, उसकी जगह अब विकार से पृथक स्वरूप जानकर स्वोन्मुख हो गया सो यही सच्ची वन्दना है। इसमें अनन्त तीर्थंकरों की वन्दना का समावेश हो जाता है।

प्रतिक्रमण—पहले शुभ राग से आत्मा का लाभ मानता था और ज्ञान को पराधीन मानता था, उसमें ज्ञान स्वभाव भगवान का अनादर और मिथ्यात्व के महापाप का सेवन होता था, किन्तु अब सच्ची पहिचान कर ली कि—मेरा ज्ञान पर के कारण से नहीं होता, और शुभ राग से मुझे धर्म नहीं होता, इस प्रकार यथार्थ समझपूर्वक, मिथ्यात्व के महापाप से हटकर लौट आया सो यही सच्चा प्रतिक्रमण है। सच्ची समझ होने पर प्रतिक्षण असत् के अनंत पाप से दूर हट गया है।

प्रत्याख्यान—पहले विपरीत समझ से यह मानता था कि मैं पर पदार्थों का कुछ कर सकता हूँ और पर पदार्थों से तथा पुण्य से मुझे लाभ होता है। और इस प्रकार अनन्त पर द्रव्यों का तथा विकार का

स्वामित्व मानता था, वह महा अप्रत्याख्यान था, अब ऐसी यथार्थ समझ होने पर कि न तो मैं किसी का कुछ करता हूँ, और न पर पदार्थ मेरा कुछ कर सकते हैं, तथा पुण्य पाप मेरा स्वरूप नहीं हैं;-अनन्त पर द्रव्य और विकार का स्वामित्व छूट गया है, सो यही सच्चा प्रत्याख्यान है।

कायोत्सर्ग--पहले शरीर की समस्त क्रियाओं का कर्ता बनता था और अब यह समझ गया कि मैं तो ज्ञाता हूँ, शरीर की एक भी क्रिया मेरे द्वारा नहीं होती, शरीर की किसी भी क्रिया से मुझे हानि लाभ नहीं होता। इसप्रकार शरीर से उदास होकर मात्र ज्ञाता रह गया सो यही कायोत्सर्ग है। इसप्रकार छहों आवश्यक क्रियाएँ एक निश्चय स्तुति में आजाती हैं, और यह निश्चय स्तुति अपने एकत्व स्वरूप और पर से तथा विकार से भिन्न ज्ञान स्वरूप शुद्धात्मा की सच्ची समझ ही है। ऐसी सच्ची समझ वाले सम्यक् दृष्टि जीव जिनेन्द्रदेव के लघु नन्दन हैं ॥ ३१ ॥

अब भाव्यभावक संकर दोष दूर करके स्तुति कहते हैं:—

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥ ३२ ॥

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम्।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विदंति ॥ ३२ ॥

अर्थः—जो मुनि मोह को जीतकर अपने आत्मा को ज्ञान स्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य भावों से अधिक जानता है उस मुनि को परमार्थ के ज्ञाता जितमोह कहते हैं।

इकतीसवीं गाथा में ज्ञेय ज्ञायक को पृथक् करने की बात कही गई है। मैं आत्मा परिपूर्ण आनन्दकन्द हूँ, वह आनन्द मुझसे मेरे द्वारा ही प्रगट होता है, उसमें किसी पर द्रव्य की सहायता नहीं है। स्त्री कुटुम्ब शरीरादिक और पुण्य-पाप के परिणाम मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं।

देव-गुरु-शास्त्र भी मुझसे भिन्न हैं, और मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं; ऐसी प्रतीति और ज्ञान होने पर यह प्रथम कक्षा की भक्ति हुई और तब वह सम्यक्त्वी हुआ कहलाता है।

अब इस गाथा में आचार्यदेव उससे बढ़कर दूसरी कक्षा की भक्ति बतलाते हैं, उच्च भूमिका को विशेषस्थिरता की भक्ति कहते हैं। यहाँ जितमोह की बात है, अर्थात् उपशम श्रेणी की बात है।

जो अपना निर्मल और निर्दोष है वह क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि मलिनताओं से रहित है, ऐसे सम्यक् ज्ञान के द्वारा जो साधु शुभाशुभभाव से अलग होकर अंतरंग में आनन्द घन स्वभाव में विशेष स्थिर होता है-रमणता करता है, उसे परमार्थ के ज्ञाता ज्ञानी जन जितमोह कहते हैं।

आत्मा तो ज्ञान दर्शन और आनन्द की मूर्ति है, जिसे इसकी प्रतीति नहीं हैं वह अज्ञानी जीव पर को अपना मानता हुआ और चैतन्य सत्ता का अनादर करता हुआ मोह कर्म को बाँधता है।

आत्मा स्वयं शरीर, मन, वाणी तथा आठ प्रकार के कर्म रजकणों से सर्वथा भिन्न वस्तु है। वह स्वतंत्र निर्विकारी तत्व है। अज्ञानी को अनादि काल से इसकी खबर नहीं है, इसलिये पन्चेन्द्रियों में सुख मान रहा है, पर में मोह कर रहा है, और यह मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ। इस प्रकार का मोह आत्मा अज्ञान भाव से करता है; किन्तु उसमें कर्म तो निमित्त मात्र है, कर्म पर वस्तु है। पर वस्तु आत्म तत्व को रोके या लाभ पहुँचाये यह तीन लोक और तीन काल में कभी नहीं हो सकता, किन्तु अपने स्वरूप को भूलकर जो यह शरीर कुटुम्बादिक और शुभाशुभ परिणाम हैं सो ही मैं हूँ, यह मानकर स्वरूप की सावधानी को चूक गया और पर में रागी हुआ सो वास्तविक मोह है। उसमें जड़ कर्म निमित्त मात्र है, स्वयं पर में सावधान हुआ और स्वरूप में असावधान हुआ तब जड़ कर्म को निमित्त रूप कहा जाता है; यह द्रव्य मोह है।

मोह कर्म फल देने की शक्ति के द्वारा प्रगट उदय रूप होकर भावकरूप से प्रगट होता है, इसका अर्थ यह है कि-जैसे कच्चे चावलों को पकाने पर उनका भात बनता है इसी प्रकार मोह कर्म पककर फल देने की शक्ति के द्वारा तैयार होता है, अर्थात् उदयरूप प्रगट होता है, तब चैतन्य अपनी प्रतीति न करे और विकार में युक्त हो तो नवीन कर्म बँधता है। वह कर्म पककर फल देने के लिये तैयार होता है, और प्रतीति न करे तो फिर युक्त होता है, वैसा का वैसा प्रवाह अनादि काल से जब तक प्रतीति न करले तब तक चलता रहता है।

जैसे चावल पकते हैं, उसी प्रकार जड़ मोह कर्म भी पककर फल देने को तैयार होता है। चावल तो मात्र परमाणु-धूल हैं, जड़ हैं, और आत्मा चैतन्य है। चावल रूपी हैं, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श वाले हैं, और आत्मा अरूपी ज्ञान घन है। जब कच्चे चावल पककर—भातरूप हो जाते हैं तब उसमें स्वाद तो वही आता है जो उन चावलों में भरा हुआ था। चावल का स्वाद चावल में है। वह स्वाद कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो जाता, तथापि अज्ञानी तो ऐसा ही मानता है। चावल (भात) को जीभ पर रखा और स्वाद आया कि अज्ञानी यह मानता है कि—चावल के स्वाद की अवस्था मेरे आत्मा में आ जाती है, उसका मुझे स्वाद आता है; उस चावल का स्वाद ज्ञान में ज्ञात होता है किन्तु अज्ञानी उस स्वाद के राग में एकाग्र हो जाता है, अर्थात् वह राग का स्वाद लेता है और मानता है कि मुझे चावल का स्वाद आया है; किन्तु कोई पर का स्वाद ले ही नहीं सकता, मात्र अपने राग का ही स्वाद लेते हैं।

जैसे अज्ञानी चावल के स्वाद में एकाग्र होता है, उसी प्रकार आम का रस, खीर, और हलुआ पूरी सबका समझना चाहिये। अज्ञानी यह मानता है कि आम का रस मानों मेरे आत्मा में ही पहुँच रहा है? किन्तु आत्मा तो अरूपी है, उसमें कहीं मिठास प्रविष्ट नहीं हो जाती,

किन्तु उसके अनुसार जिसे राग होता है वह यह मानता है कि ओ हो ! आज का कितना अच्छा स्वाद है । आज खाने में कैसा आनन्द आया ? किन्तु उसे यह खबर नहीं है कि मैं रागादि में रुक गया हूँ। देखो तो सही, अज्ञानी जीव आत्मा में आनन्द न मानकर खाने-पीने में और पर वस्तु में आनन्द मानता है। और जो यह मानता है, वह प्रकारान्तर से अपने आत्मा को सर्वथा निर्माल्य मानता है, और पर पदार्थ को सत्त्व मानता है। वह खीर, पूरी, आम का रस इत्यादि ज्ञान में ज्ञात होते हैं, किन्तु उस रस को खाते समय जीभ पर रखा सो जीभ तो जड़ है, और खीर पूरी तथा आम रस इत्यादि भी जड़ हैं। उन्हें जीभ पर रखकर और चबा कर जिस पेट में उतारा वह पेट भी जड़ है, तब फिर वह स्वाद तेरे भीतर कौन सी जगह पर आता है ? उस जड़ की पर्याय आत्मा में त्रिकाल में भी नहीं आ सकती, किन्तु अज्ञानी जीव मूढ़ होकर यह मानता है कि मुझे पर पदार्थ से स्वाद मिला है; यह उसका अज्ञान है। चावल यह नहीं कहते कि–तू राग कर किन्तु अज्ञानी राग में लग जाता है।

जिसे यह प्रतीति है कि मैं स्व-पर प्रकाशक हूँ, चावल के स्वाद का ज्ञाता हूँ, चावल की पर्याय तीन काल और तीन लोक में नहीं मुझसे आती चावल और चावल की पर्याय चावल में ही है, वह चावल की पर्याय का ज्ञान करने वाला–ज्ञायक है। आत्मा ने स्वयं अनादि काल से जो भूल की है कि मैं आनन्द नहीं हूँ, मैं ज्ञान नहीं हूँ किन्तु मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ, ऐसी भूल का निमित्त पाकर जो कर्म बन्ध हुआ है उस रजकण में जब पाक आता है, तब एक क्षेत्र में एक स्थान पर उदय रूप होकर भावक रूप से प्रगट होता है, जो कर्म का फल आया है, तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है वह मोह कर्म का बन्ध करता है। कर्म कहीं राग-द्वेष, काम भोग नहीं कराते। जैसे चावल पककर तैयार होते हैं तब वे यह नहीं कहते कि तुम मेरे स्वाद में लग जाओ और राग करो, इसी प्रकार जब कर्म पककर फल देने आते हैं तब

वे यह नहीं कहते कि तुम मेरे स्वाद में लग जाओ और राग करो; कर्म तो मात्र विद्यमान रूप में, फल रूप में-विपाक रूप में आते हैं। वे यह नहीं कहते कि तुम मुझ में अटक जाओ; किन्तु तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है, ऐसा जो अपना भाव्य आत्मा है सो (भाव्य का अर्थ है कर्मानुसार होने योग्य आत्मा की अवस्था) जो कर्म का उदय भावक रूप से प्रगट होता है तदनुसार जो विपरीत पुरुषार्थ के द्वारा राग-द्वेष किया करता है, वह मोह कर्म को बाँधता है ।

भावक अर्थात् मोह कर्म, जो फल रूप से प्रगट हुआ है; तदनुसार राग-द्वेष की भावना रूप जो आत्मा की अवस्था हुई सो भाव्य है; उसे भेद ज्ञान के बल से दूर से ही लौटा लिया । यहाँ 'दूर से ही' शब्द यह सूचित करता है कि उसमें किंचित् मात्र भी नहीं मिला । मैं परिपूर्ण चैतन्य भगवान हूँ, मुझ में मलिनता का अंश भी नहीं है, मुझे कोई पर पदार्थ सहायक नहीं है, इस प्रकार भेदज्ञान के बल पूर्वक अपने आत्मा में राग होने से पूर्व ही आत्मा को बलपूर्वक हटाकर मोह का तिरस्कार करता है ।

बल पूर्वक मोह का तिरस्कार किया कि- जगत के किसी भी पदार्थ का मैं कर्ता-हर्ता नहीं हूँ, जगत के कोई भी पदार्थ तथा कोई भी शुभाशुभभाव मुझे सुख रूप या सहायक नहीं हैं, इस प्रकार बल पूर्वक मोह का तिरस्कार करके समस्त भाव्य भावक संकर दोष दूर किया है । यहाँ आचार्यदेव ने 'बल पूर्वक मोह का तिरस्कार' कहकर पुरुषार्थ बताया है । मैं ज्ञायक ज्योति चैतन्य मूर्ति हूँ निर्दोष और निरावलम्ब हूँ । मुझे देव-गुरु-शास्त्र का भी अवलम्बन नहीं है । इस प्रकार पर के अवलम्बन के बिना निरावलम्बन स्वभाव में एकाग्र हुआ और पर में युक्त नहीं हुआ सो इससे सहज ही मोह का बलपूर्वक तिरस्कार होगया । अन्य किसी प्रकार का तिरस्कार नहीं करना है, किन्तु अपने निर्विकल्प वीतराग स्वभाव में स्थिर हुआ कि मोह का

तिरस्कार सहज ही हो जाता है। यही सच्चा पुरुषार्थ है, यही सच्चा धर्म है, और यही भगवान की सच्ची भक्ति है।

पहले इकतीसवीं गाथा में स्त्री; कुटुम्ब, इत्यादि और देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि की ओर होने वाले शुभाशुभभाव से आत्मा को अलग बताकर सम्यक्दर्शन बताया और यहाँ सम्यक् दर्शन होने के बाद जो कर्म का फल हुआ उसमें एकमेक नहीं हुआ; अर्थात् उसमें युक्त नहीं हुआ। तात्पर्य यह है कि अशुभ परिणाम एकमेक नहीं हुआ, इतना ही नहीं किन्तु देव-गुरु-शास्त्र की ओर जो शुभ परिणाम होते हैं उनमें भी नहीं मिला, इसी प्रकार पर से भिन्न होकर मोह में नहीं मिला, और अपने में स्थिर हो गया, इसलिये विशेष स्थिरता हो गई। पहले इकतीसवीं गाथा में द्रव्य को अलग किया है और यहाँ पर्याय को अलग किया है। श्रद्धा में द्रव्य को अलग करने पर भी पर्याय में मलिनता होती थी, इसलिये पर्याय को स्वभाव रूप करके पर्याय में जितने क्रोध, मान, राग द्वेषादि होते थे उनसे अलग होकर विशेष स्थिर अवस्था की। जो कर्म का फल हुआ उसका श्रद्धा में ही नहीं किन्तु पर्याय में भी आदर नहीं है, अर्थात् अस्थिर होते रूप भी आदर नहीं है। भावक अर्थात् मोह कर्म और उसमें मिलते रूप आत्मा की जो अवस्था है सो भाव्य है। उससे अलग होकर अपने में स्थिर हुआ मोह का तिरस्कार किया। अभी यहाँ मोह का तिरस्कार किया है, परन्तु मोह का नाश नहीं किया है, अर्थात् यहाँ उपशम श्रेणी की बात है; जैसे अग्नि को राख से ढँक देते हैं, उसी प्रकार यहाँ मोह को ढँक दिया है, किन्तु उसका समूल-नाश नहीं किया है। यह द्वितीय कक्षा की मध्यम भक्ति है।

प्रथम सम्यक्दर्शन होने पर यह प्रतीति हुई कि—शरीरादिक ही नहीं किन्तु जो शुभाशुभ भावनाएँ उद्भूत होती हैं वह भी मैं नहीं हूँ। मैं ऐसा स्वतंत्र स्वभाव वाला हूँ,—जहाँ ऐसी श्रद्धा हुई वहाँ धर्म का प्रारम्भ होता है। मार्ग को देखा, आत्मा जागृत हो गया, किन्तु पुरुषार्थ की मन्दता से कर्मानुसार अस्थिरता की जो अवस्था होती थी

वह अत्र कर्मानुसार न होकर पुरुषार्थ के द्वारा चैतन्य मूर्ति अमृतसागर आत्मा के अनुसार अवस्था होने लगी, आत्मा के स्वभावानुसार अवस्था होने लगी। वह मुनि एकत्व मे टंकोत्कीर्ण--निश्चल और ज्ञान स्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यों के स्वभावों से होने वाले सर्व अन्य भावों से परमार्थतः भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करते हैं, वे निश्चय से जितमोह हैं, जिन हैं, धर्मी हैं, वीतराग हैं, और केवलज्ञान प्राप्त करने के मार्ग में विद्यमान हैं।

वह ज्ञान स्वभाव कैसा है? समस्त लोक के ऊपर तरता हुआ; अर्थात् राग-द्वेष में एकमेक न होता हुआ, राग-द्वेष और शुभाशुभ परिणाम से भिन्न का भिन्न, अर्थात् अधिक से अधिक रहता हुआ; ऐसा वह ज्ञान स्वभाव सब के ऊपर तरता सा प्रतीत होता है। जैसे हजारों भंगियों के किसी मेले में कोई एक वणिक पहुँच जाये तो भी उसे यह शंका नहीं होती कि मैं भंगी तो नहीं हूँ? उसे यह निःशंक विश्वास है कि मैं भंगी नहीं हूँ। मैं इन हजारों भंगियों के बीच आ अवश्य गया हूँ किन्तु हूँ तो वणिक ही; इस प्रकार वह भंगियों के मेले से अलग ही तरता प्रतीत होता है; इसी प्रकार शरीर रुपया पैसा स्त्री कुटुम्ब आदि और पुण्य-पाप के परिणाम,-सब भंगी मेला है, उससे मेरा ज्ञान स्वभाव आत्मा अलग ही है। वह कभी भी भंगी-मेलारूप में कभी भी परिणत नहीं हुआ है, इसे वह निःशंकतया जानता है; और वह सम्पूर्ण भंगी मेला से अलग तरता का तरता रहता है। जैसे कोयला और अग्नि दोनों अलग हैं, इसी प्रकार शरीरादि से, पुण्यादि से और समस्त लोक से, देह-मन्दिर में विराजमान ज्ञान मूर्ति अलग है। ऐसे आत्मा को जिसने जान लिया है वह समस्त लोक पर तरता है। मेरा स्वभाव स्पष्ट प्रगट निर्मल सबका ज्ञाता है; वह पर रूप नहीं होता, इस प्रकार जिसने जाना है वह समस्त लोक के ऊपर तरता है।

मेरा ज्ञान स्वभाव पर से निराला और प्रत्यक्ष उद्योत भाव से सदा अंतरंग में प्रकाशमान है। लोग कहते हैं कि प्रत्यक्ष हो तो हम उसे

मानें, किन्तु आत्मा स्वयं ही सदा जानने वाला प्रत्यक्ष है। यह सब कुछ जो दृष्टि से दिखाई देता है, उसे जानने वाला प्रत्यक्ष होगा या अप्रत्यक्ष ? यदि जानने वाला तू नहीं है तो कौन जानता है ? और जो ज्ञात होता है सो किसके आधार से होता है ? जड़ को भान नहीं होता, जड़ कुछ नहीं जानता, इसलिये जानने वाला आत्मा स्वयं ही सदा प्रत्यक्ष है। अपनी चैतन्य शक्ति सदा प्रगट प्रत्यक्ष है। सूर्योदय होता है और अस्त होजाता है, किन्तु भगवान आत्मा तो सदा अंतरंग में प्रकाशमान जागृत ज्योति की भाँति विराजमान है, ऐसे आत्मा का जो अनुभव करता है, उसने भगवान और गुरु की सच्ची निश्चय स्तुति की है।

वह आत्मा अविनाशी है। पुण्य-पाप के विकारी भाव और पुण्य-पाप के फल रूप बाह्य संयोग, सब क्षणिक और नाशवान हैं, क्षणभर में बदल जाते हैं, और अध्रुव स्वभाव हैं। इसके विपरीत ज्ञानानन्द आत्मा त्रिकाल स्थायी-ध्रुव और शाश्वत है। उसका कभी नाश नहीं होता ऐसा अविनाशी है।

भगवान आत्मा स्वयं स्वतः ही सिद्ध और परमार्थ रूप ज्ञान स्वभाव है। मैं स्वयं सिद्ध हूँ, मैं अपने से ही सिद्ध हुआ हूँ, मुझे सिद्ध करने में मेरी सिद्धि करने में कोई शरीर, मन, वाणी आदि पर पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। परमार्थ रूप भगवान आत्मा स्वतः सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिये-निश्चित करने के लिये पुण्य का-राग का या पर संयोग का अवलम्बन नहीं लेना पड़ता।

परमार्थ रूप भगवान आत्मा ज्ञान स्वभाव है। आत्मा की ज्ञान से पहिचान कराई है। जैसे गुड़ की मिठास के द्वारा पहिचान कराई जाती है, इसी प्रकार आत्मा की ज्ञान गुण से पहिचान कराई गई है। कर्म के उदय में राग-द्वेष से युक्त होकर जो अस्थिर होता था वह अपने ज्ञान स्वभाव को पहिचान कर स्थिर हुआ, अर्थात् उस भाव्य भावक-संकर-दोष को दूर करके दूसरी निश्चय स्तुति की है। मेरी महिमा ऐसी है कि जो सर्वज्ञ के मुख से भी नहीं कही जा सकती;

उसे जानकर जो उसमें स्थिर होता है उसने अपनी भक्ति की है, केवल ज्ञानी की भक्ति की है और तीर्थंकर भगवान की भक्ति की है।

यहाँ किसी के मन में यह विचार उठ सकता है कि इसमें कौन से भगवान और कौन से तीर्थंकर आगये ? उसका समाधान यह है कि- जो अपने आत्मा को पहिचान कर उसमें स्थिर होगया उसीने आत्मा की सच्ची भक्ति की है, और जिसने आत्मा की भक्ति की है, उसने सभी तीर्थंकरों की सभी केवलियों की और सभी सिद्धों की भक्ति की है। यह द्वितीय कक्षा की मध्यम निश्चय भक्ति है।

जहाँ निश्चय की प्रतीति है वहाँ अपूर्णता को लेकर भगवान की भक्ति का शुभभाव होता है, सो वह व्यवहार स्तुति है, किन्तु शुभराग विकार है, इसलिये वह आत्मा को लाभ नहीं करता, अपने स्वभाव की प्रतीति ही गुणकारी है।

इस गाथा सूत्र में एक मोह का ही नाम लिया है, उसमें मोह पद को बदलकर उसके स्थानपर राग-द्वेष इत्यादि सोलह सूत्र लेना चाहिये। जैसे राग मेरा स्वभाव नहीं है, राग और राग के फल में केवलज्ञान नहीं होता, राग को तोड़ने का स्वभाव जिस श्रद्धा में लिया है, उसके द्वारा आगे बढ़कर राग को तोड़कर केवलज्ञान होगा, इस प्रकार राग में युक्त न हो और अपने में एकाग्रता बढ़ाये सो यह आत्मा की भक्ति हुई।

इसी प्रकार द्वेष भी मेरा स्वरूप नहीं है। रोग आदि प्रतिकूलता के प्रसंग में जो अरुचि होती है वह द्वेष है। उस द्वेष से मेरा निर्मल स्वभाव अलग है, इसी प्रकार अपने स्वभाव में एकाग्र हुआ और द्वेष से अस्थिरता छूटकर स्थिर अवस्था हुई, सो द्वितीय कक्षा की स्तुति है।

इसी प्रकार मैं क्रोध से भी अलग हूँ। पर पदार्थ मुझे क्रोध नहीं कराता। मेरे आत्म स्वभाव में क्रोध नहीं है, वर्तमान अवस्था में पुरुषार्थ की अशक्ति को लेकर क्रोध होता है; पर की ओर जितना

क्रोध में रुकता है इससे अलग होकर गुण में सावधानीपूर्वक एकाग्र होगया सो द्वितीय कक्षा की उच्च भक्ति है। इकतीसवीं गाथा में आत्मा को क्रोधादि से अलग करने को कहा है अर्थात् भेद ज्ञान करने को कहा है, और बत्तीसवीं गाथा में अवस्था में जो अस्थिरता होती थी उससे भी छूटकर विशेष स्थिर होने को कहा है।

इसी प्रकार मान से भी अपने को अलग करे। जगत में जो निन्दा-प्रशंसा होती है सो मैं नहीं हूँ, मेरे आत्मा की कोई निन्दा या प्रशंसा नहीं कर सकता, क्योंकि मैं आत्मा अरूपी हूँ, और निन्दा प्रशंसा के शब्द रूपी हैं। रूपी में मेरा अरूपी आत्मा नहीं आ सकता अथवा मेरे अरूपी आत्मा में रूपी पदार्थ प्रवेश नहीं कर सकता इसलिये कोई मेरी निन्दा या प्रशंसा कर ही नहीं सकता। जिसे जो अनुकूल पड़ता है वह उसी के उल्टे-सीधे गीत गाता है, कोई दूसरे की निन्दा या प्रशंसा कर ही नहीं सकता। निन्दा-प्रशंसा होने से जो राग-द्वेष होता है, वह कोई कराता नहीं है; मेरी अशक्ति के कारण अवस्था में जो राग-द्वेष होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। पर पदार्थ मुझे राग-द्वेष नहीं कराता, मेरे स्वभाव में राग-द्वेष नहीं है, ऐसी प्रतीति होने पर अनन्त राग-द्वेष चला गया, इतना ही नहीं किन्तु अवस्था में जो कुछ लचक आजाती थी उससे भी अब स्थिर होगया। विशेष स्वरूप स्थिरता के द्वारा मोह का अभाव करने लगा सो यहाँ उस वीतरागी स्थिरता की बात है।

पर में अहंकार तब आता है जब यह विचार करे कि–मेरी प्रशंसा की है, मेरी निन्दा की है; और इस प्रकार जो पर में अपनापन मानता है उसके कुछ भीतर से अहंकार होता है, और तीव्र राग-द्वेष होता है। किन्तु हे भाई! न तो तेरा नाम है, और न तेरी जाति पाँत है, फिर भी ऐसे शरीर के नाम से तुझे कोई पहिचाने (सम्बोधन करे) और उस नाम से तेरी निन्दा करे तो तेरा उसमें क्या चला गया? जो यह मानता है कि यह नाम मेरा है, और जिसका यह अनादर

हो रहा है वह मैं हूँ,-वह पर को अपना मान रहा है इसलिये उसके भीतर से राग-द्वेष होता है। जब कोई नाम को गाली देता है तब वह उसे (गाली को) अपने खाते में ले लेता है और तब राग-द्वेष होता है, किन्तु तू अब इसे रहने भी दे। अब तू नाम को अपना मत मान। दूसरे लोग जिस नाम से पुकारते हैं उस नाम में तेरा आत्मा नहीं है। जिसे यह प्रतीति है कि मेरा आत्मा किसी की वाणी में नहीं आ सकता, उसके राग-द्वेष बढ़ता नहीं किन्तु घटता जाता है, तथा आत्मगुण की शांति और स्थिरता बढ़ती जाती है। ऐसी स्थिति में वह भगवान की द्वितीय कक्षा की निश्चय स्तुति करता है।

अनादि काल से अप्रतिवुद्ध शरीर वाणी और मन को अपना मान रहा था, उसे समझाते समझाते निश्चय स्तुति की बात कही गई है।

आत्मा आत्मा रूप से है पर वस्तु रूप नहीं, और न पर वस्तु आत्मा रूप ही है। यदि आत्मा पर वस्तु रूप हो जायें और पर वस्तु आत्मा रूप हो जाये, तो दोनों द्रव्य एक हो जाये स्वतंत्र न रहें।

आत्मा ज्ञान शांति आदि अनन्तगुणों का पिंड है। आत्मा में जो राग-द्वेषादि भाव होता है वह आत्मा का त्रिकाल स्थायी स्वभाव नहीं किन्तु क्षणिक विकारी भाव है। आत्म स्वभाव को भूल कर, पर को अपने रूप में मानना, गुण को भूल जाना है, और गुण को भूल जाना स्वतंत्रता को खो देना है। स्वतंत्रता के खो देने से दुःख भोगना पड़ते हैं। जब अपने गुण जानने में नहीं आते तब कहीं तो अपने को मानेगा ही ? अर्थात् यह शरीर, राग-द्वेष और विकार रूप में हूँ इस प्रकार पर में अपये अस्तित्व को स्वीकार किया मानों यह मान लिया कि मैं परमुखापेक्षी हूँ और सर्वथा निर्माल्य हूँ। यदि मैं शरीरादि, रागादि को छोड़ दूँगा तो मैं नहीं रहेगा, यदि मुझमें से विकार निकल गये तो मुझमें कुछ नहीं रहेगा,-इस प्रकार अपने को निर्माल्य माननेवाला अपने आत्मा का अनादर करता है, और अपने गुणों

की हत्या करता है। और इस प्रकार अपने गुणों की हत्या करने वाला कभी भी पराधीनता को नहीं हटा सकता तथा वह सदा पर-मुखापेक्षी बना रहेगा। आत्मा ज्ञान, दर्शन स्वतंत्र सुख, आनन्द और वीर्य की मूर्ति है; उसे यथावत् न माने और जब तक पर को अपना मानता रहे तो तब तक स्वतंत्र धर्म नहीं हो सकता। और जब स्वतंत्र धर्म नहीं होगा तब तक परतंत्र विकार अर्थात् दुःख होगा।

आत्मा बिल्कुल पृथक्-पर से भिन्न है, उसे पराश्रय की आवश्यकता नहीं होती किन्तु अज्ञानी जीवों का बाह्य लक्ष है, और वे बाह्य से ही देखते हैं, इसलिये उनके मन में यह बात नहीं जमती।

यहाँ अप्रतिबुद्ध को समझाते हैं। अप्रतिबुद्ध वह है जो अपने को किसी प्रस्तुत वस्तु से अलग नहीं जानता और जो इस बात से अजान है कि-स्वयं आत्मा ध्रुव है; और जो अपना अजान है, अर्थात् अपने को नहीं मानता वह अप्रतिबुद्ध अज्ञानी है।

वस्तु स्वभाव को जाने विना कहाँ टिका जाये? और टिके विना चारित्र नहीं होता, तथा चारित्र के विना मोक्ष नहीं होता, इसलिये मोक्ष के लिये चारित्र चाहिये और चारित्र को यथार्थ ज्ञान चाहिये।

इकतीसवीं गाथा में परिचय होने की बात कही है। परिचय होते ही सब वीतराग हो जाते हों सो बात नहीं है। किन्तु जो जाना और माना उसमें पुरुषार्थ करके क्रमशः स्थिर होता जाता है सो यह वीतराग की सच्ची भक्ति है।

यहाँ मान कषाय की चर्चा की जा चुकी है, जहाँ कोई शरीर के नाम का अपमान करता है या प्रशंसा करता है, वहाँ अज्ञानी को कुछ ऐसा लगता है कि यह मेरा नाम है, और जो इस नाम की प्रशंसा की वह मेरी प्रशंसा है; इस प्रकार मान बैठना सो मान है। शरीर की निन्दा स्तुति सुनकर अज्ञानी को राग-द्वेष होता है किन्तु शरीर तो जड़-पुद्गल परमाणुओं का बना हुआ है। वह सदा रहने वाल

नहीं है। जब पूर्वभव से माता के उदर में आया तब तैजस और कार्मण-दो शरीर साथ लेकर आया था। यह स्थूल शरीर तो माता के उदर में आने के बाद बना है। पूर्व भव का नाम कर्म लेकर आया था इसलिये माता के उदर में शरीर की रचना हुई, और फिर बाहर आया; तत्पश्चात् दूध, दाल, भात, रोटी, शाक इत्यादि से इतना बड़ा शरीर हुआ। यह शरीर सदा स्थायी वस्तु नहीं है, किन्तु अमुक समय तक रहने वाली वस्तु है। इसी प्रकार राग-द्वेष विकार भी अमुक समय तक रहने वाले हैं, सदा स्थायी नहीं हैं। इसलिये ज्ञानी समझता है कि-न तो यह शरीर ही मेरा है और न राग-द्वेष ही, तथा मेरे आत्मा की निन्दा स्तुति कोई नहीं कर सकता। तीनलोक और तीनकाल में कोई भी व्यक्ति आत्मा की निन्दा-स्तुति नहीं कर सकता; इस प्रकार ज्ञानी को प्रतीति है और विशेष स्थिरता है इसलिये संसार के चाहे जैसे प्रसंग आयें तो भी उसे कुछ नहीं होता, और स्थिरता बनी रहती है। यह भगवान की द्वितीय कक्षा की भक्ति है।

धर्म वह है कि धर्म को जाना-माना और फिर प्रतिकूल प्रसंग आने पर समझे कि-वह उसी में है और मैं अपने में हूँ, उसमें न मेरा हाथ है न मुझ में उसका। किन्तु अभी जब तक अपनी अशक्ति है तब तक अशुभराग को दूर करके शुभराग होता है। वह शुभराग भी मर्यादा में होता है, क्योंकि स्वरूप की मर्यादा का उल्लंघन करके शुभराग भी नहीं होता। किन्तु यहाँ तो उस मर्यादित शुभराग को भी दूर करने की बात है।

ज्ञानी समझता है कि मैं ज्ञाता हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, वीतराग-स्वरूप हूँ, मेरे आत्मा की कोई जात-पाँत नहीं है। तब फिर मुझे कौन कहेगा कि तू ऐसा है, और तू वैसा है, तू अच्छा है, तू बुरा है। इस प्रकार धर्मात्मा जीव पूर्व कर्म के उदयानुसार जो प्रसंग आता है उसमें मान नहीं होने देता।

अज्ञानी को लगता है कि मेरी जाति-पाँति है, मेरा कुटुम्ब-परिवार है। इस प्रकार वह पर को अपना मानकर परतंत्र बनता है। जब जन्म ग्रहण किया तब कहाँ खबर थी कि मैं अमुक जाति का हूँ, अथवा इस शरीर का यह नाम है? जन्म के बाद माता-पिता ने या स्नेही जनों ने इच्छित नाम रख दिया; तब अज्ञानी उस नाम को पकड़ बैठता है और कहता है कि यह नाम मेरा है। फिर जब कोई बद-नाम लेकर निन्दा करता है, तो क्रोध के मारे उसके शरीर में काँटे खड़े हो जाते हैं। किन्तु भाई! बदनाम तेरा कहाँ है? अज्ञानी जीव ने जहाँ-तहाँ मेरा-मेरा मान रखा है, इसी लिये उसे क्रोधमान आदि होता है, किन्तु ज्ञानी किसी भी प्रसंग में मान नहीं होने देता।

माया भी मेरा स्वरूप नहीं है। माया का अर्थ है दम्भ। उस दम्भ से मैं आत्मा अलग हूँ, इस प्रकार पृथक्त्व तो इकतीसवीं गाथा में बताया जा चुका है; किन्तु जो अवस्था में भी अस्थिरता रूप माया न होने दे और अवस्था की स्थिरता करे उस जितमोह की यहाँ बात है।

लोभ भी मेरा स्वरूप नहीं है। लोभ विकारी भाव है, वह मेरा स्वभाव भाव नहीं है। मैं तो संतोषस्वरूप अनन्त हूँ यह जानकर अपने में स्थिर हो और लोभ प्रकृति का उदय होने पर उसमें युक्त न हो तो उसने लोभ को जीता है।

अष्टकर्म के रजकण भी मेरा स्वरूप नहीं हैं, उनसे मैं अलग हूँ। इसी प्रकार कर्मों के निमित्त से जो अवस्था होती है वह भी मेरा स्वभाव नहीं है। इसलिये अपने स्वभाव में रहना और अवस्था को मलिन न होने देना सो भाव्यभावक-संकर दोष से दूर रहना है।

नोकर्म भी मैं नहीं हूँ। किसी ने गाली दी सो वह नोकर्म है। उस गाली देनेवाले ने गाली नहीं दी है, किन्तु तेरे ही पूर्वकृत अशुभभाव से जो कर्मबन्ध हुआ था उसी के उदयस्वरूप यह प्रति-

कूल संयोग मिला है। दृढ़तापूर्वक यह प्रतीति क्यों नहीं करता कि पहले जो अशुभ परिणाम हुए थे उन्हीं का यह फल है; वह मेरा स्वरूप नहीं है। अज्ञानी जीव या तो कर्म का दोष निकालता है या नोकर्म का। किन्तु तू उसका मात्र ज्ञान ही कर और यह जान कि यह पूर्वकृत भूल का परिणाम है।

जो जो संयोग मिलते हैं वह कर्म का फल नोकर्म है। नोकर्म में अनेक बातों का समावेश हो जाता है। अच्छा अन्न-जल मिले, शरीर अच्छा रहे या न रहे, और बाहर की अनुकूलता हो या प्रतिकूलता यह सब नोकर्म है। जो यह मानता है कि यदि घूमने जायेंगे तो शरीर अच्छा रहेगा, वह नोकर्म को अपना मानता है। अधिकांश मनुष्य यह मानते हैं कि-यदि हम सवेरे चाय न पियें तो हमारा सिर दुखने लगे, यदि चाय पी लें तो मस्तिष्क में शांति रहे और ज्ञान अच्छा काम करे! किन्तु यह तो विचार करो कि चाय की जरा-सी धूल तुम्हारे ज्ञान में कैसे सहायक हो सकती है? यदि चाय के एक प्याले से ज्ञान अच्छा काम करने लगे तो फिर जगत भर की चाय इकट्ठी करके पी लेने से तो केवलज्ञान हो जाना चाहिये। अरे! यह कैसी विपरीत मान्यता है? अपनी विपरीत धारणा से ऐसा मान रखा है कि-यह पर वस्तुएँ मेरे ज्ञान में सहायक हो सकती हैं। ज्ञानी समझता है कि नोकर्म मेरा स्वरूप नहीं है; किन्तु अपने निर्विकार स्वभाव में एकाग्र होकर रहना ही मेरा स्वरूप है।

इसी प्रकार मन, वचन, काय का जो योग है उस योग को कम कर डालना अर्थात् विकल्पों को कम कर देना और स्वरूप में एकाग्र होना भी भगवान की सच्ची स्तुति है।

इसी प्रकार इकतीसवीं गाथा में यह बात आ चुकी है कि-मैं पंचेन्द्रियों से भिन्न हूँ, और इन्द्रियाँ मेरी नहीं हैं।

जैसे यदि रूप को देखकर अस्थिरता की ओर झुकाव होता हो तो उसे दूर करके स्थिर होना चाहिये, उसी प्रकार यदि कोई शब्द सुनकर अस्थिरता होती हो तो दूर करके स्थिर होना चाहिये। इसी प्रकार स्पर्शन, रसना और घ्राण के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

राग-द्वेष को भेदज्ञान के बल से अलग करके अपने में स्थिर होकर उपशांत किया है, नष्ट नहीं किया। पूर्वोक्त ज्ञान स्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मानुभव करने से जितमोह जिन हो गया। यहाँ यह आशय है कि श्रेणी के चढ़ने पर जिसके अनुभव में मोह का उदय न रहे, और जो अपने बल से उपशमादि करके आत्मा का अनुभव करता है, वह जितमोह है। यहाँ मोह को दबा दिया है, नष्ट नहीं किया। यह भगवान की द्वितीय कक्षा कि निश्चय स्तुति है।

भगवान की स्तुति अपने आत्मा के साथ सम्बन्ध रखती है, पर भगवान के साथ सम्बन्ध नहीं रखती। सन्मुख विद्यमान भगवान की ओर जो परोन्मुख भाव है सो शुभभाव है, उससे पुण्य बन्ध होता है, धर्म नहीं। स्त्री पुत्रादि की ओर जाने वाला भाव अशुभभाव है। उस अशुभभाव को दूर करने के लिये भगवान की ओर शुभभाव से युक्त होता है, किन्तु आत्मा क्या है—और धर्म का सम्बन्ध मेरे आत्मा के साथ है, यह न जाने, न माने तो उसे भगवान की सच्ची स्तुति या भक्ति नहीं हो सकती। जो इस पचरंगी दुनियाँमें अच्छा शरीर अच्छे खान-पान और अच्छे रहन सहन में रचा पचा रहता है उसे यह धर्म कहाँ से समझ में आ सकता है? ॥ ३२ ॥

तीसरी स्तुति भाव्य-भावक भाव की अभाव रूप निश्चय स्तुति है, इसे आचार्यदेव समझाते हैं, जो उस स्वरूप को समझ लेता है उसे तत्काल ही ऐसी स्थिरता नहीं हो जाती; किन्तु यहाँ यह समझाते हैं कि निश्चय स्तुति और भक्ति का यह स्वरूप है।

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥ ३३ ॥

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः ।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः ॥ ३३ ॥

अर्थः—जिसने मोह को जीत लिया है ऐसे साधु के जब मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट होता है तब निश्चय के ज्ञाता उस साधु को निश्चय से 'क्षीणमोह' इस नाम से पुकारते हैं ।

अज्ञानी अर्थात् अनादिकाल से अज्ञान और शरीरादि संयोग को अपना माननेवाले जीव से कहते हैं कि हे भाई ! तेरे आत्मा का सम्बन्ध तेरे साथ है, पर के साथ नहीं है । तू अपने आत्मधर्म के सम्बन्ध को पर के साथ मानता हो, देव-गुरु-शास्त्र को भी अपने आत्म-धर्म के सम्बन्ध रूप से मानता हो तो यह सच्ची स्तुति नहीं है; यह समझाते हैं ।

इस निश्चय स्तुति में पूर्वोक्त विधान आत्मा में से मोह का तिरस्कार करके पूर्व कथनानुसार ज्ञान स्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा का अनुभव करने से जो जितमोह हुआ है, उसे अपने स्वभाव भाव की भावना का भली-भाँति अवलम्बन करने से मोह की संतति का ऐसा आत्यंतिक विनाश होता है कि फिर उसका उदय नहीं होता ।

मोह का अर्थ है स्वरूप की असावधानी । उस मोह को स्वरूप की सावधानी से नष्ट कर दिया । पहले तो मोह का तिरस्कार करके उसे दबा दिया था, किन्तु यहाँ स्वभाव भाव की भावना का भली-भाँति अवलम्बन करके मोह का ऐसा नाश किया कि फिर उसका उदय नहीं होगा ।

प्रथम कक्षा की निश्चय स्तुति में मोह से पृथक् जानने और मानने को कहा है ।

द्वितीय कक्षा की स्तुति में बताया है कि मोह में एकमेक नहीं हुआ किन्तु दूर से ही लौट आया, अर्थात् मोह का तिरस्कार कर दिया, और इस प्रकार मोह का उपशम कर दिया है।

तीसरी कक्षा में मोह का क्षय किया है।

इस प्रकार यह जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट स्तुति कही है।

अपने आत्मा की उत्कृष्ट शुद्ध-निर्मल भाव की भावना का अर्थ है आन्तरिक एकाग्रता। निर्विकल्प स्वभाव में स्थिर हुआ, मात्र शुद्ध वीतराग स्वभाव में एकाग्रता करने में लग गया, और उसका भली-भाँति ऐसा अवलम्बन किया कि दो घड़ी में ही केवलज्ञान प्राप्त होजाये, ऐसी यह उत्कृष्ट भक्ति है।

यहाँ ऐसा स्वतंत्र स्वभाव बताया है कि कोई पर पदार्थ कुछ कर नहीं देता। जब तेरा ही आत्मा स्वरूप की जागृति के द्वारा प्रयत्न करे और जब मोह का क्षय करे तभी मोह क्षय होता है, उसे कोई पर पदार्थ या व्यक्ति नहीं कर सकता, ऐसा स्वतंत्र स्वरूप बताया है। बत्तीसवीं गाथा में 'दूसरे में मिले बिना' और 'तिरस्कार करके' ऐसा कहा गया है, किन्तु यह नहीं कहा गया है कि स्वभावभाव की भावना का भली-भाँति अवलम्बन किया है। यहाँ तेतीसवीं गाथा में स्वभावभाव की भावना का भली-भाँति अवलम्बन करने की बात है, अर्थात् स्थिरता की ऐसी जमावट की है कि मोह का एक अंश भी न रहे।

जड़ को अपनी खबर नहीं है। उसकी खबर करनेवाला प्रत्यक्ष उद्योतमान जागृत ज्योति, चैतन्य प्रभु ज्ञायक स्वभाव है। उसका भली-भाँति अवलम्बन करने से मोह ऐसा नष्ट हो जाता है कि फिर वह प्रगट नहीं होता। यदि अग्नि को राख से दबा दिया जाये तो वह पुनः प्रगट हो सकती है, किन्तु यदि नष्ट कर दिया जाये तो वह प्रगट नहीं हो सकती। इसी प्रकार मोह को दबा दिया जाये तो वह पुनः प्रगट हो जाता है, यदि उसे नष्ट कर दिया जाये तो वह फिर प्रगट नहीं

हो सकता। ज्ञानस्वरूप परमात्मा में ऐसा स्थिर हो कि अन्तर मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त हो जाये। जो इस प्रकार मोह का क्षय करता है वह क्षीणमोह जिन कहलाता है। यह बारहवें गुणस्थान की बात है, तथापि सर्वथा अप्रतिबुद्ध को समझा रहे हैं।

परमात्मा को प्राप्त हुआ अर्थात् बारहवें गुणस्थान में परमात्मा हुआ, अपने में युक्त हो गया सो वह निश्चय भक्ति या निश्चय स्तुति है। यहाँ तो अभी परमात्मा की भक्ति और स्तुति है। तेरहवें गुणस्थान में स्तुति का फल है क्योंकि वहाँ सम्पूर्ण परमात्मा हो जाता है।

यहाँ भी जैसा कि पहले कहा गया है उसी प्रकार राग का क्षय किया और द्वेष का क्षय कर दिया; इत्यादि सभी बातें ले लेनी चाहिये।

पहले अपने बल से उपशम भाव के द्वारा मोह को जीता, फिर स्वरूप की सावधानी के द्वारा महा सामर्थ्य से मोह का सत्ता में से क्षय करके जब परमात्मा को प्राप्त होता है तब 'क्षीणमोह जिन' कहलाता है। अन्तरंग में पर से भिन्न होकर एकाग्र हो सो वह स्तुति और धर्म है। निम्नदशा वाले से कहा है कि अपने में जितना सम्बन्ध स्थापित करे उतनी ही सच्ची भक्ति है, परावलम्बन से धर्म नहीं होता किन्तु अन्तरंग स्वरूप में सम्यक् ज्ञानपूर्वक जितनी एकाग्रता स्थिरता होती है, उतना धर्म है। परोन्मुखता का जो भाव है सो शुभभाव-पुण्यभाव है। उस अशुभराग को दूर करके शुभ विकल्परूप राग होता है। यदि शुभराग न हो तो पाप राग होता है, इसलिये ज्ञानी अशुभ राग को दूर करके शुभराग में युक्त होता है, किन्तु वह शुभभाव विकारीभाव है, उससे मेरा स्वभाव विकसित होगा ऐसा वह नहीं मानता। यह जो तीनों वर्ग की निश्चय स्तुति कही है सो तीनों का सम्बन्ध आत्मा के साथ है। अब यहाँ इस निश्चय-व्यवहार रूप स्तुति का अर्थ कलशरूप में कहते हैं:

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-

नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्त्वतः।

स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
ज्ञातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः ॥ २७ ॥

अर्थ—शरीर और आत्मा में व्यवहारनय से एकत्व है किन्तु निश्चयनय से एकत्व नहीं है, इसलिये शरीर के स्तवन से आत्मा-पुरुष का स्तवन व्यवहारनय से हुआ कहलाता है, निश्चयनय से नहीं। निश्चय से तो चैतन्य के स्तवन से ही चैतन्य का स्तवन होता है। वह चैतन्य का स्तवन यहाँ जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह, इत्यादि (उपरोक्त) प्रकार से होता है। अज्ञानी ने तीर्थंकर के स्तवन का जो प्रश्न किया था उसका इस प्रकार नयविभाग से उत्तर दिया है; उस उत्तर के बल से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा और शरीर में निश्चय से एकत्व नहीं है।

शरीर और आत्मा एक ही स्थान पर रहते हैं, इतना सम्बन्ध व्यवहार से है, निश्चय से नहीं शरीर के स्तवन से व्यवहार से स्तवन होता है। उससे पुण्य बन्ध होता है, किन्तु वह आत्मा का धर्म नहीं है। चैतन्य का स्तवन चैतन्य से ही होता है। चैतन्यमूर्ति—पर से भिन्न स्वभाव में एकाग्र होना ही निश्चय स्तवन है। केवली भगवान के शरीर की ओर लक्ष जाये या उनके आत्मा की ओर लक्ष जाये किन्तु दोनों व्यवहार स्तुति हैं। उनसे पुण्य बन्ध होता है, किन्तु आत्मा का धर्म नहीं होता।

अपने स्वरूप में एकाग्र होना भी व्यवहार है, क्योंकि परमार्थ ध्रुव स्वरूप अखण्ड आत्मा ही परमार्थ अर्थात् निश्चय है, किन्तु यहाँ तो पराश्रय को छुड़ाकर स्वाश्रय की अपेक्षा से स्व में एकाग्र होने को निश्चय कहा है। वैसे तो परमार्थ ध्रुव स्वरूप आत्मा ही परमार्थ है। आत्मा की ओर का भाव आत्मा की मूक भक्ति और स्तुति है। पराश्रय के बिना आत्मा में एकाग्र होना सो मूक भक्ति है, धर्म है, और आत्मा का स्वभाव है। भक्ति में बोलने का भाव हो सो विकल्प है, किन्तु स्वरूप एकाग्र होने का दूसरा नाम मूक भक्ति है।

पर से अलग हुआ अर्थात् पर का अभिमान दूर हो गया, फिर अस्थिरता को दूर करने का प्रयास हुआ। यहाँ कोई कह सकता है कि इसे जानने का क्या काम है ? किन्तु भाई ! आत्म विवेक के बिना स्थिर होने का प्रयास नहीं होता; और विवेक, दृढ़ता तथा स्थिरता के बिना मुक्ति नहीं होती।

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजन युक्त्याऽत्यंतमुच्छादितायाम् ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥ २८ ॥

अर्थः—जिन्होंने वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिचय किया है, ऐसे मुनियों ने जब आत्मा और शरीर के एकत्व को इस प्रकार नयविभाग की युक्ति के द्वारा जड़ मूल से उखाड़ फेका है—अत्यन्त निषेध किया है, तब अपने निजरस के वेग से आकृष्ट होकर प्रगट होने वाला एक स्वरूप होकर-किस पुरुष को वह ज्ञान तत्काल यथार्थता को प्राप्त न होगा ?

अब आचार्यदेव एक अद्भुत बात कहते हैं।

जिसने नय-विभाग की युक्ति से पर से आत्मा का पृथक्त्व जान लिया है, परिचय प्राप्त किया है, उसने शरीर के साथ माने गये एकत्व को जड़ मूल से उखाड़ फेका है।

शरीर मन, वाणी और पुण्य-पाप के भाव तेरा कुछ भी नहीं कर सकते। तू इससे पर है, वे तुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। तुझमें पर पदार्थ नहीं है, इस प्रकार आत्यंतिक रूप से निषेध किया है। जिसने पर से पृथक्त्व को जान लिया है उसने पर से एकत्व को उखाड़ फेका है। जब कि ऐसे मुनियों ने पर सम्बन्धी एकत्व का अत्यन्त निषेध कर दिया है, तब फिर किस पुरुष को तत्काल ज्ञान न होगा ?

आचार्यदेव कहते हैं कि हमने अनेक प्रकार से आत्मा को पर से भिन्न बताया है, तब फिर ऐसा कौन पुरुष होगा कि जिसे सम्यक् प्रतीति न हो? अब तो सम्यक् प्रतीति होनी ही चाहिये। ऐसी अद्भुत बात सुनकर भी किसी के मन में यह शंका होसकती है कि—पहले ग्यारह अंग का ज्ञान प्राप्त किया था तब भी आत्म प्रतीति प्रगट नहीं हुई थी तो अब क्या होगी? तो यह उचित नहीं है।

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! पुण्य-पाप के विकारी भाव नाशवान हैं। उनसे तेरा अविनाशी स्वरूप पृथक् है। उस अविनाशी स्वरूप को हमने प्रगट कर लिया है, सो तुम से कह रहे हैं, तब फिर तुम्हारी समझ में क्यों नहीं आयेगा? अवश्य आयेगा, अवश्य प्रतीति होगी। यह वस्तु तुम्हारे कानों में पड़े, तुम्हारी सच्ची जिज्ञासा हो, रुचि हो तब फिर यह बात क्यों समझ नहीं आयेगी? जब कि हमने अनेक प्रकार से आत्मा को भिन्न बताया है तब तत्काल ही आत्म प्रतीति क्यों नहीं होगी? इससे तो आबाल वृद्ध सभी को तत्काल प्रतीति हो ही जाती है।

यह ज्ञान अपने निजरस से आकृष्ट होकर एक रस होता हुआ प्रगट होता है। मैं आनन्द मूर्ति हूँ, ऐसी श्रद्धा के द्वारा उसमें एकाग्र होजाये तो मात्र ज्ञान ही नहीं किन्तु साथ में आनन्द भी प्रगट होगा, और आकुलता तथा पराधीनता भी नहीं रहेगी। आत्म प्रतीति के होने पर शांति होती है, आनन्द होता है, आत्म प्रतीति होने पर आकुलता दूर न हो और शांति प्राप्त न हो, ऐसी बात इस शास्त्र में कहीं है ही नहीं। शरीर और आत्मा दोनों त्रिकाल में पृथक् पदार्थ हैं, शरीर के भाव आत्मा के, और आत्मा के भाव शरीर के आधीन नहीं हैं।

सच्ची सेवा और सच्ची भक्ति तब कहलाती है जब यह प्रतीति होजाये कि—शरीर और इन्द्रियों से मैं ज्ञान स्वभाव ध्रुव आत्मा भिन्न हूँ, जो यह क्षणिक विकार हैं सो मेरा स्वभाव नहीं है। ऐसे स्व-पर विवेक शक्ति वाले ज्ञान से स्वरूप की एकाग्रता रूप सेवा करना सो सच्ची

भक्ति है। आत्मा अकेला, निर्विकल्प, निर्विकार और ध्रुव स्वभाव है, उसका अनुभव करना ही धर्म है; और फिर आगे जाकर स्थिरता करना तथा राग द्वेष का समूल नाश करना सो यही भगवान की सच्ची स्तुति है।

अट्ठाईसवें कलश में आचार्यदेव कहते हैं कि—हमने जो अधिकार कहा है सो अपने स्व-पर के पृथकत्व के विवेक से कहा है।

इसमें अनेक प्रकार बताये हैं। जिस जीव को आत्मधर्म चाहिये है उसे स्वरूप से परिचित ज्ञाता गुरु पहले मिलना चाहिये। यहाँ वक्ता और श्रोता की बात कही जा रही है। जिन धर्मात्मा मुनियों ने वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिचय अर्थात् अभ्यास करके अनुभव कर लिया है, उनसे सुनने के बाद अन्तरंग पुरुषार्थ से एकाग्र हुआ जा सकता है। यहाँ उस पात्र को लिया गया है, जो तत्काल समझ सकता है।

शरीर मन और वाणी से तो धर्म नहीं होता, किन्तु पराश्रय से शुभाशुभ विकल्प की ओर झाँके तो वह भी धर्म का यथार्थ स्वरूप नहीं है। आत्मा ज्ञान मूर्ति ध्रुव स्वरूप है, वह आत्मा का यथार्थ स्वरूप है। ऐसे आत्मा के यथार्थ स्वरूप का परिचय करके, जो केवलज्ञान को प्राप्त करने के लिये बारम्बार स्वरूप स्थिरता करते हैं, ऐसे मुनियों ने आत्मा और शरीरादि के एकत्व को जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया है।

जैसे पत्थर पर टाँकी से उत्कीर्ण अक्षर मिट नहीं सकते इसी प्रकार आत्मा शरीर, मन और वाणी से मिट नहीं सकता। आत्मा का ऐसा टंकोत्कीर्ण ध्रुव स्वरूप है कि वह अन्तरंग में होने वाली शुभाशुभ भावनाओं से भी नहीं मिटता। वस्तु स्वभाव किसी भी बाह्य पदार्थ से या आन्तरिक शुभाशुभ भाव से नष्ट नहीं होता।

भगवान आत्मा शरीर में और शरीर आत्मा में त्रिकाल नहीं रहा है। शरीर शरीर में है और आत्मा आत्मा में है। शरीर का प्रत्येक रजकण पृथक्-पृथक् है। जब शरीर का एक रजकण बदलता है तब उस स्वतंत्र रजकण को इन्द्र भी नहीं बदल सकता।

अन्तरंग स्वरूप चैतन्य शुद्ध मूर्ति पर से भिन्न आनन्दघन है। उसकी प्रतीति होने पर सम्यक्दर्शन होता है। मैं शरीरादिक पर-पदार्थों को ऐसा कर दूँ और वैसा कर दूँ ऐसी मान्यता में रुक जाने से स्वरूप सन्मुख होने की शक्ति रुक जाती है। आत्मा वस्तु, उसका क्षेत्र अर्थात् लम्बाई-चौड़ाई, उसका काल अर्थात् वर्तमान समय की अवस्था और उसका भाव अर्थात् ज्ञान दर्शनादिक अनन्त गुण अपने आपमें हैं, इसी प्रकार जड़ वस्तु और उसका क्षेत्र काल एवं भाव जड़ में है। इस प्रकार परस्पर अपेक्षित ज्ञान की युक्ति से विभाजन के द्वारा शरीर और आत्मा के एकत्व को जड़ मूल से उखाड़ फेंका है। जिसने यह नहीं जान पाया कि आत्मा सर्वथा भिन्न है और जो यह मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, उसे धर्म की गंध तक नहीं मिली।

आचार्यदेव कहते हैं कि हमारी कही हुई इस बात को सुनकर किस पुरुष को यथार्थ ज्ञान न होगा? जब कि कहने वाला ज्ञानी है और समझने वाला पात्र है तो फिर समझ में क्यों नहीं आयेगा? शरीर, मन और वाणी मेरे नहीं हैं, उस ओर होने वाले भाव भी मेरे नहीं हैं, इस प्रकार वीर्य पर में से रुक गया और मेरा ज्ञानानंद का वीर्य मुझमें है यह जान लिया, तो फिर किस पुरुष को यथार्थ प्रतीति शीघ्र-तत्काल न होगी? जिसने पात्र होकर सुना है वह यथार्थता को क्यों नहीं प्राप्त करेगा? आचार्य कहते हैं कि हमारी कही हुई बात जगत को अवश्य मोक्ष दिलायेगी। हमने शरीर और आत्मा की भिन्नता के गीत गाये हैं, पृथक्त्व को स्पष्ट बता दिया है, तब फिर ऐसा कौन पुरुष है जो जड़ चैतन्य के विभाजन को न समझ सके? ऐसी अपूर्व बात को प्राप्त किये बिना पंचमकाल के जीव क्यों रह जाये? इस पंचमकाल में ऐसा शास्त्र रचने का विकल्प उठा और हमारे द्वारा यह शास्त्र रचा गया तो फिर ऐसा कौन पुरुष है जो इसे पढ़कर-समझ कर स्वरूप को प्राप्त न होगा? यह बात सुनकर ऐसा कौन जीव होगा, जिसे आत्म प्रतीति न होगी।

स्व सत्ता के सन्मुख हुआ जीव स्वरूप को पहिचानता है, और पर सत्ता में रहने वाला स्वरूप को भूल जाता है। आचार्यदेव कहते हैं कि पंचमकाल के जीव क्रिया-कांड में फँस गये। हमें इस पुस्तक के रचने का विकल्प उठा तो जगत के जीव क्यों न समझेंगे? अवश्य समझेंगे। समयसार की महिमा क्या कहें? इसे तो जिसने समझा हो वही जानता है। आचार्यदेव ने अद्भुत करुणा रस की वर्षा की है। यह समयसार किनी बलवत्तर निमित्त उपादान के योग से रचा गया है। आचार्यदेव कहते हैं कि-हम अपने स्व-स्वभाव के बल से कह रहे हैं, इसलिये हमारा निमित्त ही ऐसा है कि जीव यथार्थ तत्व को अवश्य प्राप्त करेंगे। कैसा ज्ञान यथार्थता को प्राप्त होगा? अपने निजरस से आकृष्ट होकर अज्ञान में जिस राग और आकुलता के रस का वेदन होता था उस वेदन को तोड़कर अपने ज्ञान आनन्द रस से आकृष्ट होकर प्रगट होता है, ऐसा प्रभु शांत और मधुर रस से भरपूर है। सम्यक्दर्शन के प्रगट होने पर पुण्य-पाप के आकुलतामय भाव को अशंतः नाश करता हुआ अपने में एकाग्र होकर निजरस प्रगट होता है। इसका नाम है सम्यक्दर्शन और इसका नाम है सम्यक्त्व। शेष सब मन गढ़न्त बातें हैं।

व्यवहार का अर्थ है पराश्रित भाव, उससे आत्मा को अलग बताया है। वह पराश्रित भाव से कभी पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं होती, इसप्रकार विभाजन करके आत्मा को अलग बताया है। व्यवहार से परमार्थ कभी प्राप्त नहीं होसकता, यह जानकर ऐसा कौन पुरुष होगा जिसे भेदज्ञान न हो? पंचमकाल के प्राणियों की पात्रता देखकर आचार्यदेव ने शास्त्र लिखे हैं। इनके द्वारा पंचमकाल के पात्र जीव जड़ चैतन्य का विभाजन करके अवश्य स्वरूप को प्राप्त होंगे, एकावतारी होंगे। यह तो सर्व प्रथम सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान की बात है, जो कि धर्म मन्दिर की नींव है और मोक्ष का बीज है। जो वीतराग होगये हैं उनके लिये नहीं किन्तु चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों की यह बात है।

शरीर मन और वाणी की क्रिया है सो मैं नहीं हूँ, और संसार के बहाने से, धर्म के बहाने से या ऐसे ही किसी भी बहाने से होने वाली परोन्मुखा वृत्तियाँ मेरा स्वरूप नहीं हैं; मैं तो एक चैतन्य मूर्ति अखण्ड ज्ञान स्वरूप हूँ। इस प्रकार यहाँ पर से भिन्नत्व की प्रतीति बताई है। जो दीर्घ संसारी हैं उनकी यहाँ बात नहीं है, किन्तु जो यह प्रतीति करके एक दो भव में मोक्ष जाने वाले हैं उनकी बात है। जिसने आत्मा का अनन्त पुरुषार्थ नहीं देखा वह अनन्त संसार में परिभ्रमण करेगा। जो यह कहता है कि कर्म बाधा डालते हैं, काल आड़े आता है, और जड़ मुझे दुष्कर्म कराता है, वह पाखण्ड दृष्टि अनन्त संसारी है; उसकी यहाँ बात ही नहीं है।

'जेम-जेम मति अल्पता अने मोह उद्योत।
तेम-तेम भव शंकरना अपात्र अन्तर ज्योत॥ (श्री मद्राजचंद्र)
ज्यों-ज्यों है मति अल्पता और मोह उद्योत।
त्यों-त्यों भव शंका रहे अपात्र अन्तर ज्योत॥

जिसकी मति में अल्पता है, ज्ञान में विवेक नहीं है, मोह उद्योत अर्थात् जो पर पदार्थ पर भार देता है, और जिसे यह निश्वास नहीं है कि मैं अनन्त पूर्ण शक्ति रूप हूँ, और जो काल, क्षेत्र तथा कर्म को बाधक मानकर दूसरे पर दोषारोपण करता, उसी को भव की शंका होती है। मैं अपने पुरुषार्थ से स्वतंत्र आत्म तत्व के मोक्ष की प्राप्ति कर सकता हूँ जिसे ऐसी श्रद्धा न हो, और जिसकी बुद्धि में यह बात न बैठे कि राग को तोड़ना मेरे आत्मा के हाथ की बात है वह अपात्र अन्तरज्योत है।

मैं आत्म तत्व एक क्षण में अनन्त पुरुषार्थ करके अनन्तकाल की आकुलता को नष्ट करने वाला हूँ क्योंकि मैं अनन्त वीर्य की मूर्ति हूँ, यह बात जिसकी बुद्धि में जम जाती है उसके अनन्त संसार नहीं होता।

भृगु पुरोहित के दो पुत्र कहते हैं कि हे माता? हमें अब दूसरा भव धारण नहीं करना है।

अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो जहिंपवन्नान पुणाम्मवायो।
अणागयं नेवय अत्थि किंचि सद्धारवमंनेविणाइन्तुरागं॥

छोटी आयु के दो बालक जिन्हें जाति स्मरण-ज्ञान हो गया है, आत्म ज्ञान हो गया है, वैराग्य प्राप्त करके अपने माता-पिता से कहते हैं कि–हे माता! और हे पिता! हम आज ही आत्मा की निर्मल शक्ति को अंगीकार करेंगे। और हम यह निश्चय से कहते हैं कि अब हम दूसरा भव धारण नहीं करेंगे। जहाँ आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप की प्रतीति हो गई है इसलिये अब पुर्नजन्म ग्रहण नहीं करेंगे। हे माता! अब हम दूसरी माता के पेट से जन्म नहीं लेंगे, अब दूसरी माता को नहीं रुलायेंगे। हे माता! अब एक मात्र तुझे तो दुःख होगा किन्तु दूसरी माताओं को नहीं रुलायेंगे, हम अब अशरीरी सिद्ध होंगे फिर से इस भव में नहीं आयेंगे। इस प्रकार कहने वाले केवलज्ञानी नहीं किन्तु छद्मस्थ हैं, जिन्होंने सम्यक्दर्शन बल से ऐसा कहा है।

माता कहती है कि हे पुत्रो! तुम अभी छोटे हो इसलिये संसार के सुख भोगकर फिर संसार का त्याग करना, हम सब साथ ही गृह त्याग करेंगे। तुमने अभी विषयों को नहीं देखा है, तुम्हारे मन में तृष्णा रह जायेगी इसलिये मुक्त भोगी होकर फिर गृह त्याग करना।

पुत्रों ने कहा कि हे माता! जगत में अप्राप्त कौन सी वस्तु रह गई है? मात्र आत्म स्वभाव को छोड़कर इस जगत में कोई भी वस्तु अप्राप्त नहीं रही है, केवल आत्मा ही अप्राप्त रह गया है। अहिमिन्द्रादि के सुख भी हमने भोगे हैं, इसलिये हे माता? आज्ञा दो। हमारे प्रति जो राग है उसे तोड़कर श्रद्धा लाइये जो कि आपके आत्मा के श्रेय का कारण है। हमारे प्रति जो राग-लालसा है उसे छोड़कर आत्मा की श्रद्धा करो जो तुम्हारे लिये क्षेम कुशल का कारण है।

माता को सम्बोधन करके उन बालकों ने जागृत होकर यह वचन कहे हैं। जो आत्मा कल्याण को उद्यत हुआ है वह रुक नहीं सकता। उन बालकों ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक बारम्बार कहा कि माता! हमें आज्ञा दो हम आज ही धर्म को अंगीकार करेंगे।

जो क्षत्रिय शूरवीर युद्ध के लिये सन्नद्ध हो जाता है वह कभी पीछे नहीं रहता, और विजय प्राप्त करके ही चैन लेता है। कौरव पांडवों के युद्ध में श्रीकृष्ण ने जो विजय प्राप्त की थी वह किसी से छिपी नहीं है। जो कायर होते हैं वे युद्ध में घबराते हैं, और या तो वे युद्ध में मर जाते हैं या भाग जाते हैं।

इसी प्रकार जो पहले से ही कहते हैं कि आत्मा क्या करे, कर्म बाधा डालते हैं, यदि कर्म मार्ग दें तो धर्म हो; और इस प्रकार जो घबराकर रुदन करने बैठ जाते हैं उन्हें मरा ही समझो, अथवा वे हारे ही पड़े हैं। हे भाई! तू चैतन्यमूर्ति अनन्त शक्ति का स्वामी है, तुझे कर्म की-रंकता की बात शोभा नहीं देती। आचार्यदेव कहते हैं कि हमने इस समयसार में जो भेदज्ञान की बात कही है, वह निर्मल और निःशंक होने की बात है, जो तीनकाल में भी बदल नहीं सकती ऐसी अप्रतिहतता की यह बात है। यह सुनकर जिसे अन्तरंग से श्रद्धा जम जाये उसे भव की शंका नहीं रहती, उसका पुरुषार्थ आगे बढ़े बिना नहीं रहता।

श्री कृष्ण के शंख-चक्र इत्यादि से जैसे युद्ध के सैनिकों का पहला, दूसरा और तीसरा भाग, भाग गया था उसी प्रकार श्री कृष्णरूपी आत्मा अकेला स्वभाव में सन्नद्ध हुआ और श्रद्धापूर्वक रत हुआ कि वहाँ कर्म का पहला भाग, भाग गया और जहाँ ज्ञान किया वहाँ दूसरा भाग, भाग गया, और चारित्र हुआ सो तीसरा भाग एकदम भाग गया। सम्यक्‌दर्शन का शंख फूँका और सम्यक् ज्ञानरूपी धनुष की डोरी खेंची कि वहाँ विवेक जागृत हो गया कि जो जो विकल्प उठते है वह मैं नहीं हूँ। वहाँ कर्म के दो भाग तो दूर हो गये और

जो कर्म का तीसरा भाग शेष रहा सो वह स्वरूप में स्थिर होकर वीतराग होने से एकदम दूर हो गया।

जो जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट आराधना करता है, उसके संसार नहीं रहता, उसमें भी जो उत्कृष्ट आराधना करता है उसके तो निश्चय से भव रहता ही नहीं है, किन्तु जो जघन्य आराधना करता है, वह भी भव रहित हो जाता है। यह आचार्यदेव की वाणी और आत्मा की साक्षी है।

इस मानव जीवन में आत्मकल्याण कर ले। इस पचरंगी दुनियां में व्यर्थ ही मोह करता फिर रहा है, किन्तु हे भाई! जब शरीर का एक रजकण भी इधर से उधर होगा तब तू उसे नहीं रोक सकेगा। तू यह मान रहा है कि मैं उसे रोक देता हूँ, किन्तु यह तो तू अपनी मूढ़ता को ही पुष्ट करता है।

रजकण की जिस समय जो अवस्था होनी है, वह नहीं बदल सकती। किन्तु यहाँ तो लोग यदि हजार पांच सौ रुपये का वेतन पाने लगते हैं तो वे आसमान सिर पर रख लेते हैं और समझते हैं कि मैं सब कुछ करने को समर्थ हूँ। लेकिन क्या कभी बालू का गढ़ बन सकता है? टाट के थैले में हवा भरी जा सकती है? यदि नहीं तो फिर पर पदार्थ को अपना मानकर अभिमानपूर्वक सिर उठा कर चलना भी ठीक नहीं है; पर को अपना मानकर अभिमान करना 'अशंक्यानुष्ठान' है। चैतन्य भगवान अनन्त शक्ति का पिण्ड है, उसे भूल कर पर पदार्थ को अपना मानेगा तो यह भव बृंथा जायेगा। जब कि ऐसा समागम प्राप्त हुआ है तो आत्मकल्याण करता हुआ आगे बढ़।

अज्ञानी जीव अनादि मोह के सन्तान-क्रम से निरूपित जो आत्मा और शरीर का एकत्व है उसके संस्कार को लेकर अत्यंत प्रतिबुद्ध था, अज्ञानी जीव को शरीर सम्बन्धी ऐसा स्वाद लग गया है कि-जो शरीर है सो ही मैं हूँ, ऐसे निरे अज्ञानी जीव को आचार्यदेव ने यह समयसार समझाया है। उसने पात्र होकर सुना कि तत्व ज्ञान ज्योति

प्रगट हो गई, सम्यक् श्रद्धा का उदय हुआ, और यह प्रतीति हुई कि वस्तु पर से निराली है। स्मरण रहे की ऐसी प्रतीति गृहस्थाश्रम में रहने वाले आठ वर्ष के बालक को भी हो सकती है, आबाल वृद्ध सभी को हो सकती है। मैं आत्मा ज्ञान स्वरूप निर्दोष मूर्ति हूँ, ऐसी प्रतीति होने से कर्म पटल हट गये। जैसे नेत्रों में जब विकार था तब वर्णादिक अन्य प्रकार से दिखाई देते थे, और जब विकार मिट गया तब ज्यों के त्यों दिखाई देने लगे. इसी प्रकार वस्तुस्वभाव तो जैसा है वैसा ही है, किन्तु पर का स्वामी बन कर घूम रहा था, इसलिये यह प्रतीति न होने से कि आत्मा पर से भिन्न है--पर को अपना मान रहा था। जब बिल्ली के बच्चे की आँखें खुलती हैं तब वह कहता है कि–माँ यह जगत कब से है ? बिल्ली ने कहा कि बेटा, जगत को तो सब इसी प्रकार ज्यों का त्यों देखते चले आ रहे हैं, तेरी आँखें अभी खुली हैं इसलिए तुझे यह जगत अब दिखाई दिया है। इसी प्रकार अज्ञानी को स्वरूप विपरीत ही भासित हो रहा था, किन्तु स्वरूप तो जैसा है वैसा ही है, और शरीर भी ज्यों का त्यों है, किन्तु इसे यह प्रतीति हुई कि अरे ! मेरा ऐसा स्वरूप है। इसी प्रकार प्रतीति होने पर कर्मों का आवरण भली-भाँति हट जाने से प्रतिबुद्ध होता है। स्मरण रहे कि यहाँ मात्र 'कर्मों का आवरण हट जाने से' न कहकर यह कहा है कि–'भली-भाँति कर्मों का आवरण हट जाने से' प्रतिबुद्ध होता है, इसी प्रकार भविष्य में भी उसे विघ्न का निमित्त नहीं रहेगा। यहाँ अस्ति-नास्ति दोनों का ग्रहण है। तत्व ज्ञान की प्रतीति हुई जो अस्ति है और आवरण का अभाव हुआ सो नास्ति है। कोई कहता है कि–हम पुरुषार्थ तो करते हैं किन्तु कर्म मार्ग नहीं देते; लेकिन भाई ऐसा नहीं हो सकता। जितना प्रबल कारण होगा उतना कार्य बिना नहीं रहता।

जो अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था उसे सम्यक्दर्शन हुआ है। साक्षात् दृष्टारूप अपने को अपने से ही जानकर इस पर भार दिया है कि–

अन्य जो देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि हैं उनमें से किसी से भी नहीं किन्तु अपने से ही जाना है, अपने से ही श्रद्धा की है। देव-गुरु-शास्त्र तो मात्र निमित्त थे, अब जो जाना है उसी के आचरण करने का इच्छुक होता हुआ पूछता है कि-आत्मा राम को अन्य द्रव्य का त्याग करना या प्रत्याख्यान क्या है?

सम्यक् दर्शन होने के बाद ही प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान अर्थात् विरति-निवृत्ति। जो कुछ जाना है उसी का आचरण करने का इच्छुक होकर पूछता है। यहाँ 'उसी का' शब्द पर भार दिया है। इसका अर्थ यह है कि जो जाना है उसी का आचरण करना है दूसरे का नहीं। अर्थात् आत्मा में जो निर्मल स्वभाव है उसी का आचरण-क्रिया करना है। भगवान आत्मा में स्थिर होती हुई जो क्रिया है सो क्रिया है। शिष्य पूछता है कि प्रभो? सम्यक् दर्शन होने के बाद चारित्र क्या होता है? और प्रत्याख्यान किसे कहते हैं? यद्यपि उसे भान तो हो ही चुका है, तथापि वह गुरु से अत्यन्त विनय पूर्वक–बहुमान करता हुआ पूछता है, कि– प्रत्याख्यान कैसे होता है। सम्यकत्व हो जाने के बाद क्या उसे यह खबर नहीं है कि–चारित्र किसे कहते हैं? वह यह भली-भाँति जानता है कि–प्रतीति होने के पश्चात् स्वरूप में कैसे स्थिर होना चाहिये, और वह यह सब कुछ जानता है, तथापि उसने गुरु से यह प्रश्न करने मात्र अपनी आन्तरिक विनय प्रदर्शित की है। उसकी यह नम्रता स्पष्ट प्रगट करती है, कि-निकट भविष्य में ही उसके केवलज्ञान प्रगट होने वाला है। उसे अब चारित्र की उत्कट इच्छा हुई है, और वह गुरु के निकट उपस्थित है, इसलिये पूछे विना नहीं रहा जा सकता, यह विनय का एक प्रकार है। सम्यकत्वी सब कुछ भान होते हुए भी पूछ रहा है, इसका अर्थ यह नहीं है, कि वह चारित्र की परिभाषा जानना चाहता है, किन्तु वह स्थिर होने के लिये विनयपूर्वक पूछता है। और क्योंकि वह चारित्र की उत्कट आकांक्षा से पूछ रहा है, इसलिये शीघ्र ही उसके चारित्र प्रगट होने वाला है।

जब शिष्य अप्रतिबुद्ध था, तब वह शरीर को ही अपना मानता था, और जब उसे आत्म प्रतीति हो गई तब वह उल्लसित हो उठा, और तब अपने को 'आत्मा राम' कहकर पूछता है, कि प्रभो ? आत्मा राम को अन्य वस्तु के त्याग करने को कहा है, सो वह क्या है ? आचार्यदेव ने इसका जो उत्तर दिया है, सो वह आगे कहा जायेगा।

आत्मा और शरीरादि की क्रिया सर्वथा भिन्न है। शरीर और आत्मा दोनों एक वस्तु नहीं हैं, उन दोनों का एक प्रवर्तन नहीं है; उसका अर्थ यह है कि—न तो दो क्रियाएँ एक की हैं, और न दो मिलकर एक क्रिया ही हुई है।

त्रिकाल में भी ऐसा नहीं हो सकता कि यदि अधिक लोग माने तो सत्-सत्रूप कहलाये, और यदि थोड़े मनुष्य माने तो सत् असत्रूप हो जाये: क्योंकि सत् के लिये बहुमत या अल्पमत की आवश्यकता नहीं होती। सत् का माप संख्या पर अवलम्बित नहीं है। जब यह कहा जाता है कि—जड़ की क्रिया स्वतंत्र है, पुण्य से आत्मधर्म नहीं होता, तब ऐसी बात सुनकर सामान्य जनता को विरोध सा मालूम होता है-विचित्रता-सी लगती है; किन्तु कहीं भी कितना भी विरोध मालूम हो, वहाँ तो विरोध को दूर करके आवश्यमेव मुक्ति प्राप्त करनी है। भगवान महावीर के समय में भी सत्य का विरोध करने वाले थे तब आजकल की तो बात ही क्या कहना ?

यहाँ त्याग का सच्चा स्वरूप बतलाया है। समझे बिना त्याग कर करके सूख गया, छह-छह महीने तक उपवास किये और इतना कष्ट दिया गया कि—शरीर की चमड़ी उतार कर उस पर नमक छिड़का गया फिर भी मन से भी क्रोध नहीं किया, ऐसा एक बार नहीं किन्तु अनन्त बार कर चुका है, तथापि भव का अन्त नहीं हुआ। श्रीमद् राजचन्द्र ने एक जगह कहा है कि सन्त के बिना अन्त की बात का अन्त प्राप्त नहीं होता।

आन्तरिक प्रतीति के बिना अन्य समस्त क्रियाएँ कीं; उनसे कषाय मन्द हुई, पुण्य का बन्ध हुआ, और नवमें ग्रैवेयक तक गया किन्तु जन्म-मरण दूर होकर भव का अन्त नहीं हुआ। उन क्रियाओं से मोक्ष नहीं हो सकता। यदि कोई यह कहे कि यह तो सातवें, अथवा बारहवें गुण स्थान की बात है, तो वह मिथ्या है। क्यों कि यहाँ तो अन समझ-अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी को समझाया जा रहा है।

आत्मा पर से भिन्न चैतन्य दल अलग ही है। उसे एक क्षणभर को भी अलग नहीं जाना। और एक क्षणभर को भी कभी ऐसी प्रतीति नहीं हुई कि-मेरी श्रद्धा पर से भिन्न मुझ में है, मेरा ज्ञान भी पर से भिन्न मुझमें है, और मेरी अन्तर रमणता रूप क्रिया अर्थात् चारित्र भी पर से भिन्न मुझमें है। यदि ऐसी प्रतीति हो जाये तो ज्ञान ऐसा प्रगट और स्पष्ट हो जाये जैसे आँख की जाली दूर हो जाने से स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

शरीरादि के प्रत्येक रजकण की क्रिया स्वतंत्र होती है, फिर भी जीवों को वैराग्य प्रगट नहीं होता। यह मनुष्य भव प्राप्त करके ऐसा भाव प्रगट नहीं किया कि जिससे मात्र एक भव रह जाये-और अशरीरी अवस्था प्राप्त हो जाये। जैसा वीतरागदेव ने कहा है, वैसा आत्म परिचय प्राप्त किये बिना भव का अन्त नहीं होता। बिना समझे यह नरभव व्यर्थ जायेगा। ऐसा अवतार तो कुत्ते, बिल्ली की तरह है, ऐसे बहुत से जीव इस जगत में जन्म ग्रहण करते हैं और मरते हैं, किन्तु यदि ऐसा भाव प्रगट करे कि फिर भव ग्रहण न करना पड़े तब जीवन सफल है। यदि कोई यह कहे कि-दुनियाँ के कहने के अनुसार चलने से आत्मा का धर्म होता है या उससे जन्म-मरण दूर हो जायेगा तो यह बात त्रिकाल में भी नहीं हो सकती। दुनियाँ अपना कहा माने तो दुर्गति दूर हो जाये और न माने तो दुर्गति हो जाये, ऐसा त्रिकाल में कभी हो ही नहीं सकता। जीवों ने अनादिकाल से आत्मा के स्वरूप को सुना ही नहीं है, तब वे सुने बिना कहाँ से समझेंगे? उन्हें यह भी

खबर नहीं है कि सच्चा देव किसे कहा जाये, और सच्चे गुरु कौन हैं। यदि आत्मा की पहिचान किये बिना सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान करले तो भी व्यवहार सम्यक्दर्शन है, जो कि पुण्य बन्ध है, धर्म नहीं। देव-गुरु-शास्त्र शरीर, मन, वाणी इत्यादि परवस्तु हैं, और मैं उनकी ओर के होने वाले शुभाशुभ भावों से रहित अकेला, अखण्ड, शुद्ध निर्विकल्प हूँ, ऐसी श्रद्धा और ज्ञान के बिना, आत्मा की ऐसी अन्तरंग शुद्धि किये बिना कभी किसी का जन्म-मरण दूर नहीं हुआ, और न दूर होगा ही।

चैतन्य पिंड पर से पृथक् है उसकी प्रतीति के बिना चतुर्थ गुणस्थान नहीं हो सकता। चतुर्थ गुणस्थान होने के बाद अमुक अंश में स्थिरता बढ़ने पर पंचम गुणस्थान होता है, तत्पश्चात विशेष स्थिरता बढ़ती है और छट्ठा सातवां गुणस्थान होता है, और फिर विशेष स्थिरता बढ़ने पर केवलज्ञान होता है।

आत्मा का ज्ञान—श्रद्धान होने के बाद चतुर्थ गुणस्थान वर्ती शिष्य अन्तरंग एकाग्रता की बात पूछता है। सप्तम गुणस्थान वर्ती नहीं।

सम्यक्दर्शन के बिना सच्चे व्रत नहीं होते, और सच्चा त्याग नहीं होता। चतुर्थ गुणस्थान की खबर न हो और सातवें की बात करे तो व्यर्थ है। यदि सम्यक् दर्शन के बिना व्रत, प्रत्याख्यान आदि के द्वारा कषाय को मन्द करे तो, पुण्य बन्ध करता है। यह बात भले ही कठिन मालूम हो किन्तु यह बदल नहीं सकती। प्रायः लोग त्याग ही त्याग की बात कहते हैं, स्त्री पुत्र धन धान्यादि के छोड़ देने को लोग त्याग समझ बैठे हैं; किन्तु त्याग अन्तरंग से होता है या बाह्य से? यह बात आगे की गाथा में कही जा रही है ॥ ३३ ॥